आचार्यमाधवकरविरचितम्

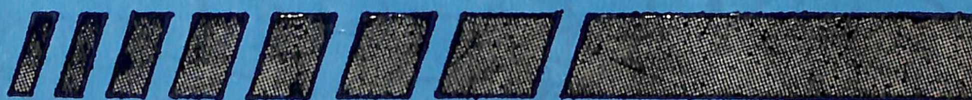
माधवनिदानम्



डॉ॰ रविदत्तत्रिपाठी

आचार्यमाधवकरविरचितम्

माधवनिदानम्



डॉ० रविदत्त त्रिपाठी

आचार्यमाधवकरविरचितम्

माधवनिदानम्

(पूर्वार्द्ध)

आचार्य विजयरक्षित एवं श्रीकण्ठदत्त विरचित मधुकोष व्याख्या सहित

तथा

सरोजहिन्दीव्याख्याविशेषविमर्श सहित

व्याख्याकार

डॉ० रविदत्त त्रिपाठी

बी० ए० एम० एम० एस०, डी० एवाई० एम०, पी-एच० डी०

प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक

राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय

संकायाध्यक्ष, आयुर्वेद संकाय

(सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)



प्रकाशक

वाराणसेय संस्कृत संस्थान

वाराणसी

प्रकाशक
वाराणसेय संस्कृत संस्थान
सी २७/६४, जगतगंज, वाराणसी-२२१००२

प्रथम संस्करण १९९३

मूल्य १५०-००

मुद्रक :
साधना प्रेस
जगतगंज, वाराणसी-२
फोन : ३३३०९४

MADHAVANIDANAM

of

ACHARYA MADHAVKAR

With

Madhukosh Sanskrit Commentary

By

Acharya Vijayarakshit & Shrikanthadutt

VOL. 1

With

Saroj Hindi Commentary & Notes

By

Dr. Ravi Dutt Tripathi

B. A. M. M. S., D. Ay. M., Ph. D.

Principal & Superintendent

Govt. Ayurvedic college & Hospital

Dean., Faculty of Ayurved

(Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi)

Varanaseya Sanskrit Sansthan.

VARANASI

Published By.
Varanaseya Sanskrit Sansthan.
C. 27/64. Jagatganj, Varanasi-221002.

First Edition : 1993

Price : 150.00

Printed By.
SADHANA PRESS
Jagatganj, Varanasi-2
Phone : 333094

प्राक्कथन

क्रान्तदर्शियों ने औषध शास्त्र के विषय में कहा है कि रसायन औषधि अति वीर्यवान् होती है, तभी वह क्षतओज के प्रतिकार करने में समर्थ होती है। परन्तु औषध की तीव्रता का सहन कर पाना क्षीण व्यक्ति के लिए कहाँ तक सम्भव हो सकेगा और वह औषधि किस व्यक्ति को कितनी मात्रा में सात्म्य और असात्म्य होगी, इसका निर्णय कुशल चिकित्सक ही कर सकता है और उसके इस निर्णय का आधार प्रकृति, विकृति, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्व, आहार शक्ति, व्यायाम-शक्ति एवं वय विनिर्णय ही होगा। अतएव चिकित्सक के सामने जैसे ही आतुर उपस्थित हों, वैसे ही औषधि व्यवस्था के पूर्व चिकित्सक को त्रिविध, षडविध, अष्टविध एवं दशविध परीक्षाओं के द्वारा सम्यक् रुप से यह निर्धारित कर लेना चाहिए कि यह रोगी किस व्याधि से पीड़ित है। इसके पश्चात् चिकित्सा के चतुष्पाद् का उपयोग कर उसे स्वास्थ्य प्रदान किया जा सकता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ (च० सू० २०।२०)

इस महत्वपूर्ण रोग निदान के विषय को ध्यान रखते हुए 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ लिखकर 'आचार्य माधवकर' ने रोग-विज्ञान की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया। अतएव यह उक्ति प्रचलित है—'निदाने माधवः श्रेष्ठः। आयुर्वेद वाङ्मय में इस ग्रन्थ की ख्याति इतनी अधिक बढ़ गयी कि इसकी गणना 'लघुत्रयी' में होने लगी। यद्यपि इस ग्रन्थ की अनेक संस्कृत टीकाए हुई है, किन्तु उसमें विजयरक्षित एवं श्रीकण्ठदत्त-कृत मधुकोष टीका उत्तम, सर्वत्र उपलब्ध, ख्यातिलब्ध एवं आयुर्वेद जगत् में सर्वमान्य है।

मधुकोष की दो हिन्दी व्याख्याएँ मुझे उपलब्ध हुई, जिनमें एक 'विद्योतनी' हिन्दी व्याख्या, जो वैद्य सुदर्शन शास्त्री की है और दूसरी 'मधुस्त्रवा' हिन्दी व्याख्या आचार्य नरेन्द्रनाथ शास्त्री की है। दोनों में अपनी-अपनी विशेषता है और उसके अध्ययन से मुझे बहुत लाभ मिला है। अध्ययन काल से ही मेरे मन में यह इच्छा थी कि युगानुरुप सन्दर्भ में इस ग्रन्थ की एक ऐसी हिन्दी व्याख्या लिखी जाय, जिसके पढ़ने से अल्प मेधावी लोग भी विषय को हृदयंगम कर सके। इस प्रकार मुझे इस ग्रन्थ की व्याख्या लिखने हेतु प्रवृत्त होना पड़ा।

प्रस्तुत व्याख्या की विशेषताएँ—इस व्याख्या में मधुकोष टीका की अक्षरशः व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। मधुकोष के शब्दगत अभिप्राय को समझने के लिए इस प्रकार की टीका की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति के लिए मैंने प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े वाक्यों तथा एक विषय की व्याख्या के लिए लिखे गए अनेक श्लोकों एवं गद्यों का अनुवाद करते समय यह ध्यान रखा गया है कि वाक्यों को तोड़कर उनका छोटे-छोटे खण्डों में अर्थ किया जाये, जिससे वाक्य के प्रत्येक अंश का अभिप्राय पाठकों को स्पष्ट हो सके। विषय को समझाने के लिए पर्याप्त चार्ट एवं रेखाचित्र का सहारा लिया गया है। इससे किसी विषय को स्पष्ट रूप में समझने में सुविधा रहेगी तथा विषय को बुद्धिगम्य करने में सहायता मिलेगी।

परमादरणीय श्रद्धेय गुरुवर आचार्य प्रियव्रत शर्मा जी ने ग्रन्थ पर भूमिका लिखकर मेरा जो, मनोबल एवं उत्साह बढ़ाया है, उसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। डा० शिवसागर शुक्ल प्रधानाचार्य एवं अधोक्षक राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ ने समय-समय पर सुझाव एवं सहयोग प्रदान कर मुझे जो प्रोत्साहित किया है, एतदर्थ में उनका कृतज्ञ हूँ।

श्रावण कृष्णपक्ष
एकादशी सम्वत् २०५०

रविदत्त त्रिपाठी

प्रस्तावना

हमारे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य एवं आयुर्वेद संकाय के अध्यक्ष डा० रविदत्त त्रिपाठी के द्वारा राष्ट्रभाषा में विस्तृत व्याख्या, उपपादन एवं टिप्पणियों से परिष्कृत इस ग्रन्थ को विज्ञ पाठकवर्ग के समक्ष प्रस्तुत करने में मुझे असीम हर्ष है। आयुर्वेद के प्रामाणिक साहित्य में माधवनिदान का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि नाना प्रकार के रोगों के निदानों का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। चिकित्सा में सही निदान का महत्व सर्वोपरि है, यह साधारण बुद्धिगम्य है। चिकित्सा के इस मूल सिद्धान्त को महाकवि कालिदास ने भी अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् में' एक पात्र के मुँह से स्पष्ट घोषणा की है—'विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वा अनारम्भः प्रतीकारस्य' अर्थात् जब तक विकार का ठीक-ठीक बोध नहीं होता है, तब तक उसकी चिकित्सा का आरम्भ सम्भव ही नहीं है।

आज के वैज्ञानिक युग में रोग निदान के लिये अनेक प्रकार के आधुनिक साधनों का आविष्कार हो गया है, जिनके माध्यम से एलोपैथी की चिकित्सा पद्धति के अनुसार चिकित्सा का मार्ग प्रशस्त ही है, किन्तु आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का शताब्दियों से परीक्षित अपना विशिष्ट मार्ग हमारे देश में प्रख्यात है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप में उल्लेखनीय बात यह है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करनेवाले यांत्रिक उपकरणों के होते हुए भी आयुर्वेदिक पद्धति के निदान का बिलक्षण मार्ग आज भी प्रासंगिक तथा उपयोगी है। इसका कारण यही है कि इस चिकित्सा पद्धति का सिद्धान्त एवं दृष्टिकोण भी सर्वथा भिन्न है, जो त्रिगुण, पञ्चमहाभूत एवं त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित है। मुझे पूरा विश्वास है कि माधव निदान का यह संस्करण विशेष रूप में वर्तमान पीढ़ी के उन छात्रों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, जिनको ग्रन्थ का मूल संस्कृत स्वरूप एवं उस पर लिखित 'मधुकोष संस्कृत' टोका से प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करने में कठिनाई होती है। प्रस्तुत संस्करण का यह भी पक्ष विशेष रूप में स्वागतार्ह है कि हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या को साथ-साथ मूल ग्रन्थ की विजयरक्षित कृत मधुकोष संस्कृत टीका को भी स्थान दिया गया है।

मैं डा० त्रिपाठी के इस प्रयास की सर्वतोमुखी सफलता की कामना करता हूँ।

प्रो० वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००२

४७ वाँ स्वतन्त्रता दिवस,
१५ अगस्त, १९९३

भूमिका

माधवनिदान रोगविनिश्चय का अग्रणी ग्रन्थ है। वस्तुतः इसका नाम 'रुग्विनिश्चय' या 'रोगविनिश्चय' है, जैसा कि ग्रन्थ के उपक्रम में निर्दिष्ट है, किन्तु ग्रन्थकार के नाम पर यह 'माधवनिदान' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

माधवनिदान एक युगान्तरकारी रचना है। प्राचीन संहिताओं के क्रम को बदल कर इसमें रोगों का एक नवीन क्रम स्थापित किया गया, जिसे परवर्ती ग्रन्थकारों ने सम्मान के साथ अपनाया। वृन्द ने अपने सिद्धयोग में तो स्पष्ट ही कहा है कि वह माधवोक्त क्रम का अनुसरण कर रहा है। इतना ही नहीं, माधव का प्रभाव पड़ने के कारण वृन्द का 'सिद्धयोग' भी 'वृन्दमाधव' कहलाने लगा। यह था माधव के व्यक्तित्व का जादू, जो सबके सिर पर चढ़कर अपना असर दिखला रहा था।

इतिहास में अनेक माधव हुए हैं, आयुर्वेद के क्षेत्र में भी माधव नामधारी अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। प्रायः यह निर्विवाद है कि माधवकर माधवनिदान के प्रणेता थे। मेरे विचार से माधव-चिकित्सा के भी रचयिता वही थे। यह स्वाभाविक ही है कि निदान का लेखक चिकित्सा लिखकर ही अपने प्रयास की सार्थकता एवं पूर्णता का अनुभव करता। एक माधव द्रव्यगुण के कर्त्ता है। द्रव्य, जिसका अक्षरशः उद्धरण (या चौर्य) टोडरानन्द के अन्तर्गत आयुर्वेद-सौख्य में किया गया है। टीकाकारों में भी एक माधव प्रसिद्ध थे, जिनका उल्लेख डल्हण ने टिप्पणकार के रूप में किया है (श्री माधवब्रह्मदेवादीन् टिप्पणाकारां श्चोपजीवा) और स्वयं विजयरक्षित ने भी 'माधवमुखैः' करके प्राचीन व्याख्याकारों में उनका स्मरण किया है। कहते हैं सुश्रुतसंहिता पर 'प्रश्नसहस्त्रविधान' या सुश्रुत श्लोकवार्तिक उनका विस्तृत विद्वत्तापूर्ण टिप्पण था, जिसमें एक सहस्त्र प्रश्नों पर विवेचन किया गया हैं। यह पद्यबद्ध रचना है, जिसके उद्धरण यत्र-तत्र मिलते हैं। श्रीनिश्चलकर कृत रत्नप्रभा (चक्रदत्तव्याख्या) में यह बहुशः उद्धृत हैं।

आठवीं शती में हारुन-अल-रसीद के संरक्षण में जिन आयुर्वेदिक ग्रन्थों का अरबी अनुवाद हुआ था, उनमें माधव-निदान भी था। इससे यह प्रमाणित होता है कि तब तक यह ग्रन्थ विश्वविश्रुत हो चुका था, अतः इसका रचनाकाल सातवीं शती सिद्ध होता है।

माधवकर ने संक्षेप से रोगों का व्यवस्थित क्रम में वर्णन किया, जिससे यह सामान्य चिकित्सकों में अतीव लोकप्रिय हुआ, क्योंकि युगधर्म के प्रभाव के कारण

विस्तृत संहिताओं का अध्ययन सबके लिए शक्य नहीं था। यही ग्रन्थकार का उद्देश्य भी था, जिसमें वह पूर्णतः सफल हुये। 'अल्पमेधसां' का अर्थ 'मन्दबुद्धि' नहीं, अपितु 'मर्यादित बुद्धि' है, जो एक सीमा में रहकर विशिष्ट विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, संहिताओं के समुद्र में सन्तरण जिनका लक्ष्य नहीं है।

रोगों के सुव्यवस्थित वर्गीकरण के अतिरिक्त अनेक तत्कालीन प्रचलित रोगों का वर्णन माधवकर ने अपने ग्रन्थ में निबद्ध किया। यथा-अम्लपित्त, आमवात एवं शूल आदि। संहिताओं में इन रोगों का निर्देश अन्य रोगों के अन्तर्गत कर दिया गया, किन्तु माधवनिदान में उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित हुआ। लोकप्रिय होने के कारण माधवनिदान पर अनेक आचार्यों ने टीका लिखी, जिनमें विजयरक्षित कृत मधुकोष-व्याख्या मूर्धन्य है। इसका कारण यह है कि व्याख्या के प्रसंग में अनेक प्रश्नों पर इन्होंने महत्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, जो इनके असाधारण वैदुष्य का द्योतक हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए भी अपने विवेक का उपयोग अनेक स्थलों पर किया है। इस सन्दर्भ में एक-दो दृष्टान्त देना अनावश्यक न होगा।

दोष के लक्षण के प्रसंग में चक्रपाणि ने अपनी चरक व्याख्या में (च० सू० १।५७) 'स्वतन्त्रदूषणात्मको दोषः' ऐसा लक्षण दिया है। इसका प्रयोजन रक्त आदि की व्यावृत्ति करना था, जो स्वतन्त्र नहीं, अपितु वातादि के द्वारा दूषित होते हैं। विजयरक्षित ने इस पर शास्त्रार्थ किया और 'स्वातन्त्र्य' को हटा दिया, क्योंकि वातादि भी अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है और इसके स्थान पर 'प्रकृतारम्भकत्वे' रक्खा, जो रक्त आदि को व्यावृत्त करता है। तथापि यह दोष के स्वरूप का बोध नहीं कराता। वस्तुतः लक्षण केवल इतरव्यावर्त्तक न होकर स्वरूप बोधक मुख्यतः होना चाहिए। इसी दृष्टि से मैंने दोष का लक्षण प्रस्तुत किया है— 'प्राणात्मकत्वे सति प्रकृतिविकृतिहेतुत्वम् दोषत्वम्'। इससे दोषों के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और इतरव्यावर्तन भी। देखें मेरा लेख—दोष का लक्षण, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर ९०।

इसी प्रकार दोषों के कारणत्व पर विचार करते हुए विजयरक्षित ने इस पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। सारांशतः वह दोष को व्याधि का निमित्त कारण मानने के पक्ष में हैं, किन्तु वह निमित्तकारण यावत्किञ्चित्तकारणस्थायि-कर्म्म होना चाहिए। किन्तु यहाँ भी 'तथाभूताश्च दोषाः प्रायशः' लिखकर प्रायः शब्द से परवर्ती विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित किया है।

इस प्रकार विजयरक्षित ने पूर्व व्याख्याओं का अनुकरणमात्र नहीं किया, अपितु उन्हें परिष्कृत रूप देकर विचार को आगे बढ़ाया।

विजयरक्षित माधवनिदान की टीका—अश्मरीनिदान तक ही कर सके, उसके बाद उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त पूरा किया। कहा जाता है कि विजयरक्षित के दो प्रमुख शिष्य थे—निश्चलकर और श्रीकण्ठदत्त। निश्चलकर ने चक्रदत्त पर रत्नप्रभा व्याख्या लिखी और श्रीकण्ठदत्त ने मधुकोष का अवशिष्ट अंश पूरा किया तथा वृन्दमाधव पर 'व्याख्या कुसुमावली' की रचना की। इनका काल १३वीं शती है।

मधुकोष की भाषा वैदुष्यपूर्ण होने के कारण प्रायः सबका प्रवेश उसमें नहीं हो पाता। इस कारण समय-समय पर विद्वानों ने छात्रों के कल्याणार्थ उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसी क्रम में प्रस्तुत संस्करण डा० रविदत्त त्रिपाठी ने उपस्थापित किया है, जिसमें मूल तथा मधुकोष की हिन्दी के साथ-साथ विमर्श भी दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। डा० रविदत्त त्रिपाठी आयुर्वेद जगत् के सिद्धहस्त लेखक हैं, जिनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशन में आ चुकी है। इस महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय कृति के लिए उन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उनके द्वारा आयुर्वेद भारती का भण्डार भरता रहेगा।

गुरुधाम कालोनी
१३-६-९३

प्रियव्रत शर्मा
भूतपूर्व निदेशक
स्नातकोत्तर आयुर्वेद अनुसन्धानकेन्द्र
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

१. चरक—चरक संहिता, आयुर्वेद दीपिका व्याख्या सहित ।

२. तदैव—चरक संहिता, काशीनाथ पाण्डेय एवं गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत विद्योतनी व्याख्या सहित ।

३. तदैव—चरक संहिता, ब्रह्मानन्द त्रिपाठी कृत चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या सहित ।

४. सुश्रुत—सुश्रुत संहिता, डल्हणकृत 'निबन्ध सग्रह' व्याख्या सहित ।

५. तदैव—सुश्रुत संहिता, हाराणचन्द्र कृत 'सुश्रुतार्थ सन्दीपन' व्याख्या सहित ।

६. तदैव—सुश्रुत संहिता, अम्बिकादत्त शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

७. तदैव—सुश्रुत संहिता, भास्कर गोविन्द घाणेकर कृत 'आयुर्वेद रहस्य-दीपिका' व्याख्या सहित ।

८. वाग्भट—अष्टाङ्ग हृदय, अरुणदत्त कृत 'सर्वाङ्गसुन्दरी' संस्कृत व्याख्या सहित ।

९. वृद्धवाग्भट—अष्टाङ्ग संग्रह, इन्दुकृत शशिलेखा व्याख्या सहित ।

१०. माधवकर—माधवनिदान, सुदर्शनशास्त्रीकृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

११. तदैव—माधवनिदान, नरेन्द्रनाथ शास्त्री कृत 'मधुस्रवा' हिन्दी व्याख्या सहित ।

१२. तदैव—माधवनिदान, लालचन्द्र वैद्य कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

१३. तदैव—माधवनिदान, घनश्यामदास सिंधलकृत हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्या सहित ।

१४. तदैव—माधवनिदान, वाचस्पति वैद्य विरचित आतङ्क दर्पण व्याख्या सहित ।

१५. रामरक्ष पाठक—कायचिकित्सा ।

१६. रमानाथ द्विवेदी—भिषक्कर्म सिद्धि ।

१७. विद्याधर शुक्ल—कायचिकित्सा १-४ भाग ।

१८. रामहर्ष सिंह—आयुर्वेदीय निदान—चिकित्सा के सिद्धान्त १-२ भाग ।

१९. शिवरचरण ध्यानी—कायचिकित्सा ।

२०. शिवचरण ध्यानी—निदान पञ्चक ।

२१. सचित्र आयुर्वेद—१९७८-अद्यावधि अंक ।

२२. आयुर्वेद विकास—१९७८-१९९२ अंक ।

२३. सुधानिधि—१९८०-१९९२ अंक ।

२४. धन्वन्तरि—१९८०-१९९२ अंक ।

विषयानुक्रमणिका

कतिपय महत्त्वपूर्ण तालिका सूची

रोगविनिश्चयापरनामकं

माधवनिदानम्

(मधुकोशसरोजहिन्दीव्याख्याविशेषविमर्शादिभिर्विभूषितम्)

प्रथमोऽध्यायः

पञ्चनिदानलक्षणम्

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

विश्व की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव—जन्म), स्थिति (पालन) एवं संहार (प्रलय) को करने वाले, स्वर्ग (सुख) तथा अपवर्ग (मोक्ष—आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति) के प्रदाता और त्रैलोक्य (पाताल-पृथ्वी-आकाश) के रक्षक भगवान् शिव को (मैं ग्रन्थकर्त्ता माधवकर) नमस्कार कर इस रोगविनिश्चय (नामक ग्रन्थ) की रचना करता हूँ ॥ १ ॥

मधुकोश

शशिरुचिरहरार्धव्यक्तसक्तार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।
त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्य-भ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥ १ ॥

भट्टारजेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्र-श्रीचक्रपाणिवकुलेश्वरसेनभोजैः ।
ईशानकार्तिकसुकीरसुधीरवैद्यैर्मैत्रेयमाधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥ २ ॥

तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः ।
मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥ ३ ॥

तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।
भ्रमरेणेव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥ ४ ॥

उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।
ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥ ५ ॥

अथ प्रथितसर्वायुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादितत्त्वबुभुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्सितग्रन्थसन्दर्भारम्भे तत्प्रत्यूहव्यूहव्यपोहहेतुं परमाप्ताचारपरम्परापरिप्राप्तं स्वेष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत् । ग्रन्थश्रोतॄणामपि विश्वेश्वरमहेश्वरस्य प्रणामानुवादमात्रादपि सर्वविघ्नोपशमो भवतीत्यभिप्रायेण तं ग्रन्थादौ निबद्धवान्—प्रणम्येत्यादि ।

अत्र प्रशब्दो भक्त्यतिशयख्यापकः। निबन्धनक्रियापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालभावित्वात् प्रणमेः क्त्वाप्रत्ययः। जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः पृथिव्यादयोऽभिधीयन्ते; तेषामुत्पत्तौ स्वकारणसमवाये, स्थितौ कतिचित्कालावस्थाने, संहारे प्रध्वंसे, कारणं कर्तारम्। स्वर्गः सुखम्, अपवर्गो मोक्ष आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणः; तयोर्द्वारमुपायं प्रधानकारणम्। एतेन सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तम्; सुखावाप्तिदुःखहानिव्यतिरिक्तस्य पुरुषार्थस्याभावात्। अतएव त्रैलोक्यशरणं त्रैलोक्यरक्षितारम्। न चोक्तजगत्स्थितिकारणत्वेन पौनरुक्त्यम्, जगच्छब्देनोत्पत्तिमतामेवाभिधानात्। अत्र तु त्रैलोक्यशब्दो भुवनत्रयवर्तिचेतनाचेतनसमूहवाची, लोकशब्दस्य भुवनजनयोरभिधायकत्वात्। तथा चाऽमरः—'लोकस्तु भुवने जने' (अ. को. ३ का. ३ व.) इति। त्रैलोक्यमिति स्वार्थे ष्यञ्, चातुर्वर्ण्यवत्। हरादिपर्यायान् परित्यज्य शिवपदनिर्देशेन ग्रन्थस्य तदध्येतॄणां च सकलकल्याणमभिलषन् शिवपदं निबद्धवान्, शिवकारित्वेनैव महेश्वरस्य शिवपदाभिधानमिति ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या--शशिरुचिर अर्थात् चन्द्रमा के समान शुभ्र (श्वेत) वर्ण वाले श्री शिव के शरीर का आधा भाग, मेघ के समान श्यामवर्ण विष्णु के शरीर का आधा भाग एवं ब्रह्मा जी के रूप में गंगा, यमुना एवं सरस्वती अपनी-अपनी श्वेत-श्यामावस्था में बहती हुई एकरूपता धारणकर नाभि के समान आवर्त्त (भँवर) बनाती हुई दिखती हैं। इन गंगा, यमुना एवं सरस्वती की पृथक्-पृथक् धाराएँ जिस प्रकार एकरूपता धारणकर जगत् की श्रीवृद्धि करती हैं; इसी प्रकार शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा के रूप में त्रिशक्तियाँ संसार के संहार, स्थिति एवं उत्पत्ति का कार्य करती हुई एकत्व से संयुक्त होकर हमारी श्रीवृद्धि करें ॥ १ ॥

भट्टार हरिचन्द्र, आचार्य जेज्जट, गदाधर, वाप्यचन्द्र, श्रीचक्रपाणि, बकुल, ईश्वरसेन, भोज, ईशानदेव, कार्तिक, सुकीर, सुधीर आदि वैद्यप्रवर तथा मैत्रेय, माधव आदि प्रमुख आचार्यों द्वारा लिखे हुए साहित्य का अध्ययन कर अन्य तन्त्रों का विवेचन करके मैं इस मधुकोश का निर्माण कर रहा हूँ ॥ २ ॥

देश-कालयुक्त प्रभाव से समय-समय पर मत-परिवर्तन होते रहने से प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं दोष प्राप्त होने पर विद्वान् उसमें दोष-दर्शन की अपेक्षा समयानुसार उचित समाधान कर लेते हैं, अतः यदि इस मेरे प्रयास में कोई दोष प्रतीत हो, तो विद्वज्जनों से नम्र निवेदन है कि वे इसका यथोचित समाधान कर सकते हैं; क्योंकि मैं भी एक असर्वज्ञ मनुष्य ही हूँ ॥ ३ ॥

जैसे भ्रमर स्थान-स्थान पर घूमता हुआ फूलों के रस को सञ्चित करके एक कोश

बना लेता है, उसी प्रकार मैंने भी ग्रन्थरूपी तरुओं के व्याख्या स्वरूप पुष्पों के रस को एकत्र कर मधुकोश व्याख्या का आरम्भ किया है ॥ ४ ॥

आचार्य माधवकर के द्वारा इस माधवनिदान में जो उपयोगी अंश नहीं कहे गये हैं, मैंने उन अंशों को भी मधुकोश में व्याख्या के प्रसङ्ग में लिख दिया है ॥५॥

मंगलाचरण के बाद आचार्य माधवकर ने विषव्याप्त रोगसमूह, उनको उत्पन्न करने वाले निदान एवं निश्चायक पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति आदि तत्वों को जानने के इच्छुक चिकित्सकसमाज पर अनुग्रह की इच्छा से निर्मित किये जाने वाले इस 'रोग-विनिश्चय' नामक ग्रन्थ के सन्दर्भ में आरम्भ से अन्त तक आने वाले अनेक विघ्नों के समूह को नष्ट करने के हेतुभूत तथा महर्षियों द्वारा प्रचारित आप्त-परम्पराप्राप्त प्रथानुसार अपने इष्ट देवता के गुणानुवादपूर्वक शिवस्वरूप को प्रणाम किया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने एवं सुनने वाले व्यक्तियों का भी विश्वपति महेश्वर को माधवकर के द्वारा किये गये प्रणाम, श्रद्धापूर्वक अनुवाद एवं अध्ययनमात्र से भी विघ्नध्वंस हो सकता है। इस अभिप्राय से ग्रन्थारम्भ में अपने इष्ट देवता को प्रणाम किया है। शास्त्र में 'प्र' उपसर्ग प्रकर्ष एवं अतिशय का बोधक होता है। यहाँ भी प्र उपसर्ग अतिशय भक्ति एवं समर्पण भाव का सूचक है। निबन्धन क्रिया की अपेक्षा प्रणाम शब्द का पूर्वकालभावित्वात् (प्र + नम् + क्त्वा) प्र उपसर्ग पूर्वक नम् धातु के क्त्वाप्रत्यय करने से 'प्रणम्य' शब्द बन जाता है। 'जगत्' शब्द से उत्पत्ति धर्म वाले पृथिव्यादि तत्त्वों का ग्रहण किया जाता है। जब पृथिव्यादि तत्व अपने कारण-समवाय से विकसित होते हैं, तो इनकी 'उत्पत्ति', नियत काल तक विद्यमानावस्था में स्थिर रहना 'स्थिति' एवं अपनी स्थिति अवस्था से नष्ट हो जाना 'संहार' कहा जाता है। 'जगत्' और 'संसार' शब्द इसी क्रिया के सूचक हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार के कारण, स्वर्ग एवं मोक्ष के द्वार (प्रधान कारण) अर्थात् जिसकी शरण में पहुँचकर स्वर्ग एवं अपवर्ग सुलभ हो जाते हैं। इससे शिव का सकल पुरुषार्थ सिद्ध होता है। पुरुषार्थ शब्द से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का ग्रहण होता है। इनको पुरुषार्थचतुष्टय भी कहते हैं, जिनके लिये प्रत्येक पुरुष यत्न करता रहता है। मोक्ष अलौकिक सुख को कहते हैं। ये दोनों प्रकार के सुख शिव-सङ्कल्प एवं शिव की कृपा से प्राप्त होते हैं। सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनाश इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ नहीं होता। त्रैलोक्यशरण अर्थात् त्रिलोकी के रक्षक लोक एवं जगत् एकार्थवाचक होने से पुनरुक्त दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि विजयरक्षित के मत में यहाँ जगत् शब्द से उत्पन्न होने वाले द्रव्यों का ही ग्रहण होता है। यहाँ तो 'त्रैलोक्य' शब्द 'स्थावर, जंगम एवं चराचर समूह' का वाचक है। अमरकोश में 'लोक' शब्द से भुवन और मनुष्य-समुदाय का बोध होता है। व्याकरण की दृष्टि से त्रैलोक्य शब्द स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगने से बनता

है, जैसा कि चतुर्वर्ण में ष्यञ् प्रत्यय लगने से चातुर्वर्ण्य बन जाता है। शिव के हर, रुद्र, स्थाणु आदि अनेक नामों को छोड़कर केवल 'शिव' शब्द के निर्देश से ग्रन्थ-रचयिता के अतिरिक्त उसके अध्ययन और अध्यापन करने वाले व्यक्तियों के भी कल्याण की कामना की गई है। कल्याणकारी होने से ही महेश्वर का नाम 'शिव' समझना चाहिए।

अनुबन्धचतुष्टय

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्॥ २॥

अनेक महर्षियों के कथनानुसार सद्वैद्यों (माननीय वैद्यों) की आज्ञा से अब मैं संक्षेप में उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लिङ्ग से युक्त इस 'रोगबिनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ॥ २॥

नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति॥ ३॥

अनेक तन्त्रों (शास्त्रों) के ज्ञान से विहीन (शून्य) अल्पबुद्धि वाले चिकित्सकों को आतङ्क (रोग) का ज्ञान सरलता से कराने में यह ग्रन्थ सहायक होगा॥ ३॥

अभिधेयसंबन्धप्रयोजनोपदेशमन्तरेण प्रेक्षावतां न प्रवृत्तिः, अतस्तदभिधानार्थं श्लोकद्वयमाह—नानेत्यादि। रोगाणां विशेषेण वातजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादिरूपेण निश्चयो ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यतेऽभिधीयते, 'अस्माभिः' इति शेषः। तस्य विशेषणम्–सोपद्रवेत्यादि। सह उपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा; एतेनास्य विशेषणद्वारा उपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गस्वरूपमभिधेयमुक्तं भवति, एतद्व्यतिरिक्तस्याभिधेयस्याभावात्; तथोपद्रवादिभिरभिधेयैः सह ग्रन्थस्य वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोऽप्यभिहितः। तत्र, उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः। उक्तं च चरके—'व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते' इति। नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्; निदानं रोगोत्पादको हेतुः; लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः। तेन 'लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन' इति व्युत्पत्त्या पूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्तयोऽभिधीयन्ते। यद्यपि निदानमपि रोगविशेषं बोधयति, तथाऽप्युत्पत्ति-ज्ञप्तिहेतुत्वेन कारणद्वैविध्यप्रतिपादनार्थं तस्य पृथगभिधानम्। एषां चोपद्रवादीनां विस्तराभिधानं यथावसरं करिष्यते।

ननु, रोगनिदानादितत्त्वमतिसूक्ष्मत्वेन नासर्वज्ञस्य ज्ञानविषयम्, तत् कथं तदुपदेशे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरित्यत आह—नानामुनीनां वचनैरिति। एतेन ग्रन्थस्य प्रामाण्यं प्रवृत्त्यङ्गत्वमुक्तं भवति; मुनयो हि तपोयोगर्धिबलात्त्रैकालिकनिखिलज्ञानशालिनः पुरुषातिशया उच्यन्ते। ननु, यद्येवंभूतः कस्यचिद् ग्रन्थोऽन्योऽप्यस्ति, तेनैव व्यवहारसिद्धेः कृतकार्यत्वेनास्य निष्प्रयोजनता स्यादित्यत आह—इदानीमिति। इदानीमस्माभिरेव प्रथमं नानामुनीनां वचनैरेवंविधो निबन्धः क्रियते। समासत इति संक्षेपतः। एतेनाल्पबुद्धीनामतिविस्तरत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गतादोषः परिहृतो भवति। ननु, कृतेऽपि ग्रन्थेऽनुपादेयपुरुषप्रणीतत्वेन न किञ्चिद्भिषक् प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—सद्भिषजां नियोगादिति। नियोगो नियोजनम्, 'अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियताम्' इत्येवं प्रार्थनेत्यर्थः। अथवा नियोग आज्ञा। एतेनात्मनः सविनयत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः।

ननु, नानामुनिवचनबाहुल्यादल्पमेधसां कथं प्रवृत्तिरित्यत आह--नानातन्त्रेत्यादि। सुखं यथा भवति तथा आतङ्कं रोगं विज्ञातुमयमेव ग्रन्थो भविष्यति, 'कारणम्' इति शेषः। एतेन रोगज्ञानं प्रयोजनमित्युक्तम्, फलं चास्य चिकित्सितमिति मन्तव्यम्। यदुक्तं चरके--'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्'॥ इति (च. सू. २०/२०) ननु, नानामुनीनां वचनैरेव रोगज्ञानं भविष्यति, किमनेन तदुपजीविना ग्रन्थेनेत्यत आह--अल्पमेधसामिति। अल्पबुद्धीनामित्यर्थः। महाबुद्धयो हि अतिविस्तरदुरधिगमनानातन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति, न त्वल्पबुद्धय इति। महाधियामप्यालस्यानासादितदुरुपपादाशेषसंहितानामयमेव रोगज्ञानाय भविष्यतीत्याह--नानातन्त्रविहीनानामिति॥ २-३॥

सरोज व्याख्या--अभिधेयेत्यादि—ग्रन्थारम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय—१. अभिधेय (ग्रन्थ का विषय) २. प्रयोजन (ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन) ३. सम्बन्ध (ग्रन्थ एवं अभिधेय का परस्पर सम्बन्ध) तथा ४. अधिकारी (अध्येता) इन चारों का निर्देश परमावश्यक है। इनके ज्ञान के अभाव में किसी ग्रन्थ के अध्ययन में बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी का विवेचन उपर्युक्त दोनों श्लोकों में आचार्य माधवकर ने किया है।

नानेत्यादि--वातादि दोषों के प्रकोप अथवा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्वरादि रोगों के लक्षण एवं साध्यासाध्य रूप अवस्था का निश्चित ज्ञान जिस

ग्रन्थ से होता है, उस ग्रन्थ का नाम 'रोगविनिश्चय' है और उस 'रोगविनिश्चय' ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है। माधवकर कहते है कि मैं इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ। सोपद्रवेत्यादि--यह 'रोगविनिश्चय' पद का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि इस रोगविनिश्चय ग्रन्थ में उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लक्षण का विस्तार से बर्णन किया जायेगा। इस विशेषण द्वारा इस ग्रन्थ की उपादेयता प्रमाणित हो जाती है।

१. उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लिङ्ग आदि विषयों का विवेचन इस ग्रन्थ का अभिधेय (विषय) है। २. उपद्रव आदि अभिधेय के साथ ग्रन्थ का बाच्य-वाचक स्वरूप सम्बन्ध है। ३. रोगों का ज्ञान प्राप्त करना इसका प्रयोजन है। ४. चिकित्सक इसका अधिकारी है। इस ग्रन्थ के अध्ययन (ज्ञान) का फल चिकित्सा है।

उपद्रव—रोगारम्भक दोष-प्रकोप से उत्पन्न होने वाले अन्य रोग को 'उपद्रव' कहा जाता है। चरक ने कहा है—

व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः।
उपक्रमाबिरोधी च स उपद्रव उच्यते ॥

अरिष्ट—नियतमरणख्यापकं लिङ्गं अरिष्टम्।

निश्चित रूप से मृत्यु को सूचित करने वाले लक्षण को अरिष्ट कहा जाता है।

निदान—निदानं रोगोत्पादको हेतुः।

रोगोत्पादक हेतु को 'निदान' कहते हैं।

लिङ्ग--=लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः।

रोग का ज्ञान कराने वाला हेतु 'लिङ्ग' कहा जाता है। लिङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि जिसके द्वारा रोगों का ज्ञान हो पाता है, उसे 'लिङ्ग' कहते हैं (लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन इति)। इस व्युत्पत्ति से पूर्वरूप, रूप, उपशप और सम्प्राप्ति का भी बोध हो सकता है। अतः एक रोग से दूसरे रोग को भिन्न करने वाले लक्षणों को 'रूप' कहा जाता है तथा रोग के निश्चित रूप को लिङ्ग या लक्षण कहा जाता है।

सामान्य रूप से 'रोगज्ञापक हेतु' को लिङ्ग कहा गया है। इस व्याख्या के अनुसार निदान भी 'लिङ्ग' कहा जा सकता हैं, क्योंकि निदान के लक्षण में 'निदानं रोगोत्पादको हेतुः' 'हेतु' शब्द से कहा गया है। इस शंका का निराकरण करते हुए विजयरक्षित ने कहा है कि यद्यपि निदान एवं लिङ्ग—दोनों ही हेतु कहे गये हैं, किन्तु निदान रोगोत्पादक हेतु है और लिङ्ग रोगख्यापक हेतु है। इस प्रकार हेतु-

द्वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इस कारणद्वैविध्य के प्रतिपादन के लिये इन दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपद्रव आदि का विस्तार से यथास्थान वर्णन किया जायगा।

निदान आदि का तत्त्वज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म होने से असर्वज्ञ (साधारण) व्यक्ति के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता अर्थात् अल्पज्ञ बुद्धिवाले व्यक्तियों के समझ से परे है। अतः मेरे जैसे असर्वज्ञ व्यक्ति द्वारा रचित इस ग्रन्थ में 'प्रेक्षावतां' (सूक्ष्मदर्शी) बुद्धिमानों की प्रवृत्ति कैसे होगी ? उक्त शंका का निराकरण 'नानामुनीनां वचनैः' इत्यादि वाक्य से करते हैं। अर्थात् यहाँ जो मैं कह रहा हूँ, वह मेरे वचन नहीं, बल्कि अनेक आप्त महर्षियों के वचन हैं, जिनका मैं संग्रह कर रहा हूँ। इससे इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्पष्ट होती है और विद्वानों की इस ग्रन्थ की ओर प्रवृत्ति होती है। 'मुनि' तप-योग की ऋद्धि के बल से भूत, वर्तमान एवं भविष्य—इन तीनों कालों में होने वाली सम्पूर्ण घटनाओं का ज्ञान रखने वाले पुरुषातिशय अर्थात् असाधारण व्यक्ति कहे जाते हैं।

यद्यपि ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं उपयोगिता सिद्ध है, किन्तु शंका होती है कि अन्य अनेक ग्रन्थों के रहते हुए पुनः ऐसे ग्रन्थ का निर्माण कर पिष्टपेषण से क्या लाभ ? इस रूप में इस ग्रन्थ की निष्प्रयोजनता सिद्ध हो सकती है ! इस शंका का निवारण करते हुए माधवकर कहते है कि सर्वप्रथम हम ही नानामुनियों के वचनों का इस प्रकार का संग्रह कर रहे हैं।

समासतः—अर्थात् संक्षेप में ग्रन्थ की रचना की गई है, क्योंकि यदि इसे अति-विस्तृत करें तो अल्प बुद्धि वाले वैद्यों की विस्तारभय से इसके पठन पाठन में प्रवृत्ति (रुचि) नहीं होगी। इस दोष के निराकरण हेतु ग्रन्थ को संक्षेप में लिखा गया है।

ननु, कृतेऽपि ग्रन्थे—पुनः माधवकर शंका करते हैं कि ग्रन्थ का निर्माण हो जाने पर भी अनुपादेय (अल्पज्ञ) पुरुष द्वारा प्रणीत होने से इस ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन में बुद्धिमान् भिषक् प्रवृत्त नहीं होंगे, इस कारण ग्रन्थ निरर्थक हो जायेगा ! इस दोष का निराकरण 'सद्भिषजां नियोगात्' से करते हैं। 'नियोग' शब्द का अर्थ है नियोजन अर्थात् किसी व्यक्ति को किसी कार्य हेतु नियुक्त करना। यह नियोजन दो प्रकार का होता है—१. प्रार्थनारूप—वैद्य लोगों ने माधवकर से प्रार्थना की हो कि हमारे उपकार के लिये ग्रन्थ रचना करें। २. आदेशरूप—वैद्य लोगों ने माधवकर को आदेश दिया हो कि इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना करो। इससे माधवकर की आत्मीयता एवं सविनयता स्पष्ट होती हैं।

नानातन्त्रेत्यादि—सुखपूर्वक रोग-ज्ञान के लिये यह ग्रन्थ 'कारण' होगा। यहाँ 'कारण' शब्द जोड़ना होगा। इससे रोगज्ञान का होना ही इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन है और चिकित्सा ही इसका फल है। जैसा कि चरक ने कहा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥

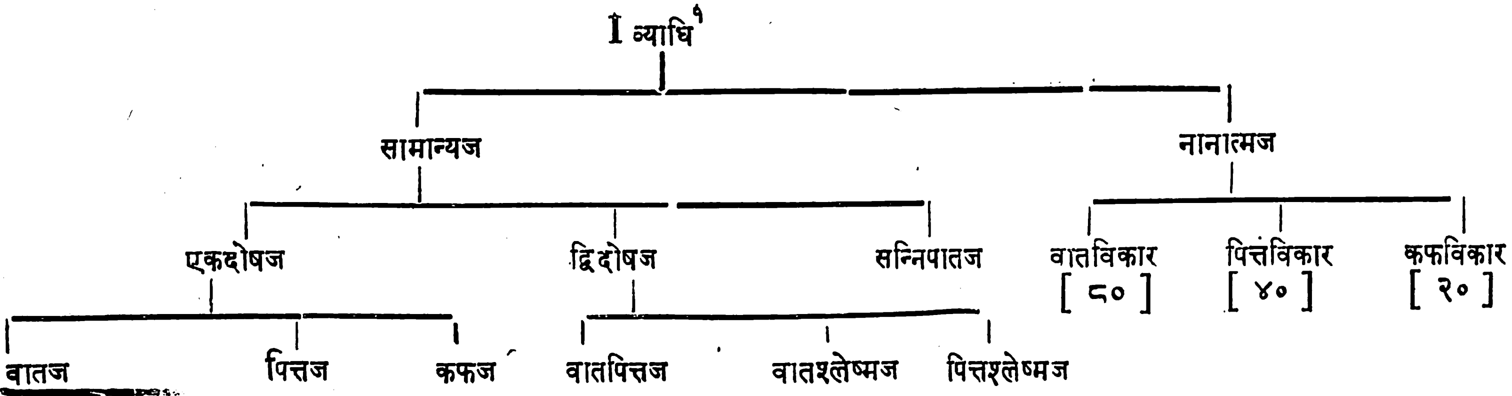
(च० सू० २०/२०)

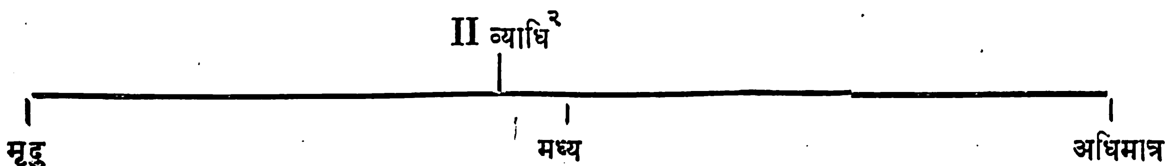
अर्थात् सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करनी चाहिए, इसके पश्चात् औषध की परीक्षा करनी चाहिए। इसके बाद इन दोनों का सम्यक् ज्ञान होने पर ज्ञानपूर्वक सोच-समझकर चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

'ननु'--पुनः शंका होती है कि नाना मुनियों के वचन से ही रोगज्ञान हो जायेगा, तो इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है? इस शंका का समाधान करते हैं--अल्पमेधसाम् इति। अर्थात् अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के लिये इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। महाबुद्धि व्यक्ति अतिविस्तृत, दुरधिगम (अति कठिन) एवं अनेक तन्त्रों के अध्ययन में सक्षम होते हैं। अल्पबुद्धि व्यक्ति ऐसे कठिन शास्त्रों के अध्ययन में असमर्थ होते हैं। अतएव अल्पबुद्धि वालों के लिये यह उपयोगी सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त महाबुद्धि विद्वान् के लिये भी आलस्यवश अथवा साधन-हीनता एवं सम्पूर्ण संहिता-ग्रन्थों की समय पर उपलब्धि न होने के कारण रोगज्ञान के लिये यह ग्रन्थ उपादेय होगा। इसीलिये 'नानातन्त्रविहीनानाम्' ऐसा कहा गया है।

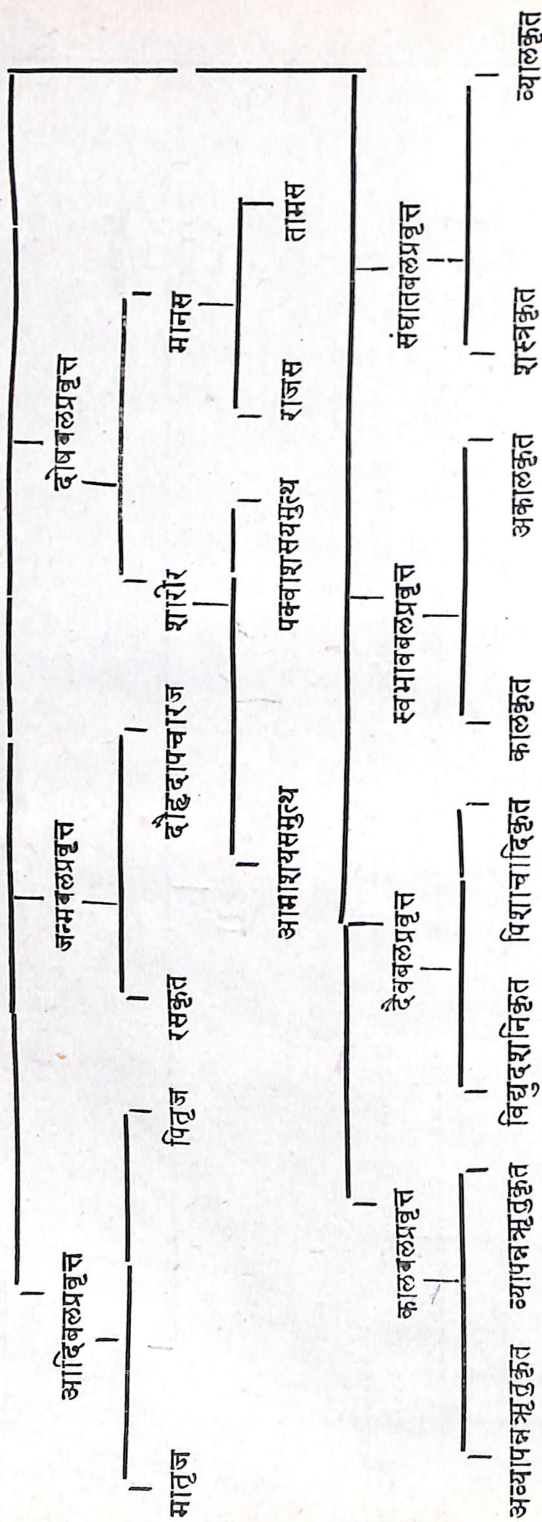
विमर्श--रोग (Disease)—पीड़ार्थक रुज् धातु में घञ्प्रत्यय लगने से 'रोग' शब्द निष्पन्न होता है। रोग वह अवस्था है, जिससे शरीर एवं मन में पीड़ा अनुभव हो। अर्थात् जिनके द्वारा पीडा हो, उनकी 'रोग' संज्ञा है। 'आधीयते अभिनिवेश्यते प्रतीकाराय मनोऽनेन इति व्याधिः' (शब्दस्तोत्रमहानिधि)। जिसके प्रतीकार के लिए मन सदैव प्रयत्नशील रहता हो, वह व्याधि है। 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। (पातञ्जल योग-दर्शन) योगदर्शन में प्रतिकूल वेदना को दुःख (व्याधि) कहा गया है। 'तद्-दुःख संयोगो व्याधयः इति' (सु० सू० १) महर्षि सुश्रुत ने दुःख के संयोग को व्याधि कहा है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान में कहा गया है--

"Disease is a change in that condition as a result of which the organism suffers from discomfort" (William Boyd)

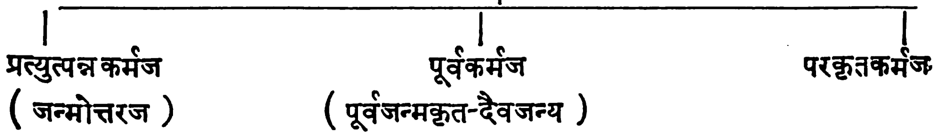


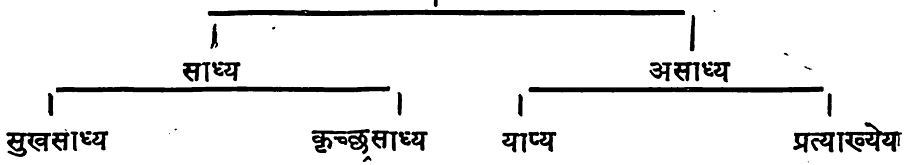


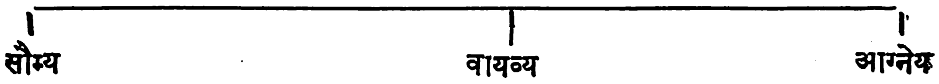
१. (क) च० सू० १९
(ख) अ० सं० सू० २२।७
२. अ० सं० सू० २२।९

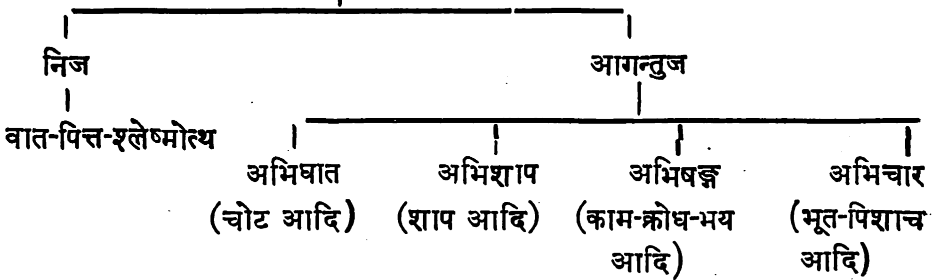

III व्याधि[1]
आदिबलप्रवृत्त
मातृज
पितृज
जन्मबलप्रवृत्त
रसकृत
दौहृदापचारज
दोषबलप्रवृत्त
शारीर
आमाशयसमुत्थ
पक्वाशयसमुत्थ
मानस
राजस
तामस
कालबलप्रवृत्त
अव्यापन्नऋतुकृत
व्यापन्नऋतुकृत
दैवबलप्रवृत्त
विद्युदशनिकृत
पिशाचादिकृत
स्वभावबलप्रवृत्त
कालकृत
अकालकृत
संघातबलप्रवृत्त
शस्त्रकृत
व्यालकृत

१. सु० सू० २४।४-७

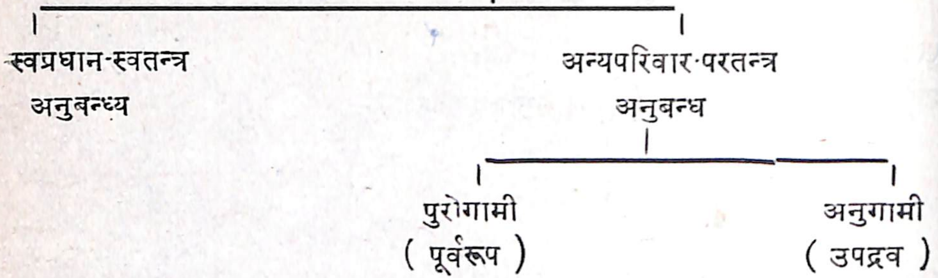


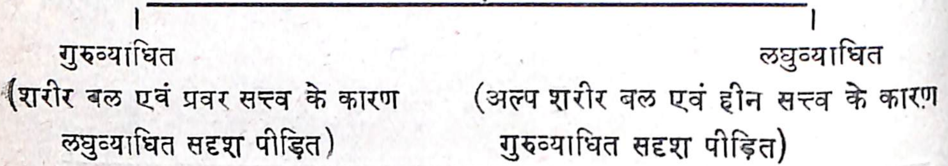






१. अ० सं० सू०२२।६
२. च० सू० १०।११-२०
३. च० नि० १।४
४. च० सू० ११।४५





उपद्रव[3] (Complication)—रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते। यो-ऽन्यो विकारः स बुधैरुपद्रव इहोदितः। (भा० प्र०)

अर्थात् रोग के आरम्भ-दोष से जो अन्य विकार उत्पन्न होता है, उसे उपद्रव कहा जाता है।

"उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः व्याधेर्गुणभूत[4] उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात् तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत"। (च० चि० २१।४०)।

उपद्रव उसे कहा जाता है जो रोग होने के उत्तर (पश्चात्) काल में पैदा हो। रोग के आश्रित हो, उसको रोग ही कहा जाता है। वह छोटा हो या बड़ा हो,

---

१. अ० सं० सू० २२।१६

२. अ० सं० सू० २२।१९-२१

३. (क) उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः।
(ख) व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः।
उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥ (मधुकोश)

४. गुणीभूतः—इति पा०।

किन्तु रोग के पश्चात् होने से उसे उपद्रव कहा जाता है। रोग प्रधान होता है और रोग का अप्रधानभूत लक्षण उपद्रव होता है। प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर अप्रधान उपद्रव अपने आप ही ठीक हो जाता है। यह उपद्रव शरीर में अधिक पीड़ा करने वाला होता है, क्योंकि प्रधान रोग के कारण शरीर के जर्जर हो जाने के पश्चात् यह उत्पन्न होता है। शरीर दुर्बल होने पर जो भी उपद्रव होते हैं, वह कष्टदायक अवश्य ही होते हैं। इसलिए उपद्रव की तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए।

"तत्र औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति, स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञः" (सु-सू० ३५/२१)

अर्थात् जो प्रथम उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तरकाल में उत्पन्न होता है तथा उसी के साथ मिलता है तथा प्रथम व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है, वह औपसर्गिक या उपद्र- संज्ञक व्याधि है।

उपद्रव परतन्त्र तथा अनुबन्ध होता है, क्योंकि जो व्याधि दूसरे व्याधि के कारणों से पैदा हुआ हो और मूल व्याधि की चिकित्सा से ठीक हो, उसे 'परतन्त्र' या 'अनुबन्ध' कहते हैं।

कुछ विद्वान् उपद्रव को व्याधि उत्पन्न करने वाले दोष का ही कार्य मानते हैं; क्योंकि सुश्रुत ने भी कहा है कि "स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञः" अर्थात् रोग उत्पन्न करने वाला मूल दोष ही जिसका मूल (जनक) हो, उसको 'उपद्रव' कहा जाता है। इसलिए व्याधि के समान इसका भी मूल दोष होने के कारण उपद्रव को दोष का कार्य समझना चाहिये। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मूलभूत (व्याधिजनक) दोष की वृद्धि के कारण बढ़ी हुई व्याधि ही उपद्रव को उत्पन्न करती है। इसलिए 'तन्मूल' ऐसा कहा गया है। उपद्रव का प्रत्यक्ष कारण बढ़ी हुई व्याधि ही है। अतः उपद्रव को व्याधि का कार्य कहना चाहिये, न कि दोष का[1]। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥ (च० नि० ८. २१)

कोई रोग दूसरे रोग का कारण होकर अर्थात् दूसरे रोग को उत्पन्न कर अपने आप ठीक हो जाता है तथा कोई रोग ऐसा होता है, जो दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वयं शान्त नहीं होता। अर्थात् स्वयं भी बना रहता है और दूसरे रोग को उत्पन्न करता है।

प्रमेह के उपद्रवों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

---

१. मधुकोश १।७

"उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद् भवन्ति" ॥ (च० नि० ४.४८)

अर्थात् तृष्णा, अतीसार, ज्वर, दाह, दुर्बलता, अनपच, पूतिमांस-पिडिका, (Carbuncles), अलजी एवं विद्रधि प्रमेह रोग के उपद्रव होते हैं।

अरिष्ट (Prognosis)--'रिष हिंसायाम्' धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'रिष्ट' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है--मृत्युसूचक लक्षण। इसी अर्थ में अरिष्ट शब्द का भी प्रयोग होता है। कोषग्रन्थों में 'अरिष्ट' शब्द का अर्थ बतलाया गया है--अरिष्टमशुभे तक्रे सूतिकागार आसवे। शुभे मरणचिह्ने च।

रोगिणो मरणं यस्मादवश्यम्भावि लक्ष्यते।
तल्लक्षणमरिष्टं स्याद् रिष्टमप्यभिधीयते ॥ (भा० प्र०)

अर्थात् जिन लक्षणों से रोगी के अवश्यम्भावी मरण की सूचना मिलती है, उन्हें 'अरिष्ट' कहते हैं। उसी को 'रिष्ट' भी कहा जाता है।

जिस लक्षणों से रोगी के भावी निश्चयात्मक मृत्यु का बोध होता है, उन्हें 'अरिष्ट' कहा जाता है[1]।

जिस प्रकार वनस्पति में खिले फूल को देखकर फल का, धुआँ देखकर अग्नि का एवं बादल देखकर वृष्टि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार रोगी के शरीर में उत्पन्न अरिष्ट के लक्षणों को देखकर मृत्यु होगी, ऐसा अनुभव किया जाता है।[2]

मनुष्य के शरीर और मन की जो स्वाभाविक प्रकृति होती है, उसमें परिवर्तन होने पर अरिष्ट समझना चाहिए।[3] मनुष्य की प्रकृति में विपरीतता दिखाई पड़ना 'अरिष्ट' है।[4]

मरणासन्न व्यक्तियों की प्रकृति अत्यधिक नष्ट हो जाती है--"प्रकृतिहीयतेऽत्यर्थम्"। (च० इ० १२/६०) पुनः वाग्भट्ट ने कहा है कि जिसकी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है, वह स्वस्थ या रोगी छः मास तक ही जीवित रहता है--

---

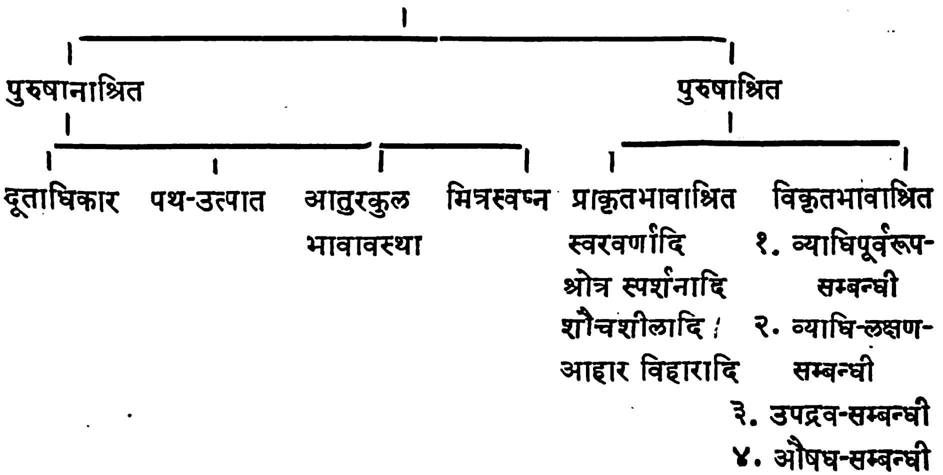
१. नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्। मधुकोश १।२

२. फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा।
ख्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥ सु० सू० २८।३

३. शरीर-शीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन...................... ॥ सु० सू० ३०

४. आरोग्यं हीयते यस्य प्रकृतिः परिहीयते।
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ च० इ० ६।२४

गुणदोषमयी यस्य स्वस्थस्य व्याधितस्य वा।
यात्यन्यथात्वं प्रकृतिः षण्मासान्तं स जीवति ॥ (अ० हृ० शा० ५।६४)



रोग ज्ञान के पञ्चविध उपाय

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ ४ ॥

(अ. हृ. नि. १।२)

निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति इन पाँचों से रोग का विशेष ज्ञान होता है। अर्थात् इन पाँचों से रोग की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह-निदानमित्यादि। एते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः। न च समस्तपक्षे कृतकरणत्वं वाच्यम्, प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वात्। न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते। न वा निदानादीनि प्रेक्षावन्तो ये नैवमालोचयेयुः; एकेनैव प्रतिपादितो व्याधिरिति वयमिहोदास्महे।

किंच, एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः, भिन्नप्रयोजनत्वात्। तथाहि—यदि निदानं नोच्यते तदा तत्परिवर्जनं कथं लभ्येत। उक्तं हि सुश्रुते—'वातादीनां प्रतीकारः प्रोक्तो विस्तरतः पुनः। संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' इति। (सु. उ. १. २५)। किंच, यथा—

मृद्भक्षणात् पाण्डुरोगः, मक्षिकाभक्षणाच्च छर्दिरवसीयते; न तु तथा निदानेन सर्वत्र नियतरोगाध्यवसायः; ज्वरगुल्मादीनामेककारणत्वात् । यदाह चरकः—'एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि । व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा' इति (च. नि. ८. २४) । अपि च कदाचित् प्रत्यासन्न निदानं बाधित्वा विप्रकृष्टनिदानकृतो दोषसंचयो व्याधिं कुर्यात्, तस्मात् केवलान्निदानान्न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानमिति वाप्यचन्द्रः ।

असति पूर्वरूपाभिधाने तत्रोक्तः क्रियाविशेषो न संगच्छते । उक्त हि चरके—'ज्वरस्य पूर्वरूपे लध्वशनमपतर्पणं वा' इति (च. नि. १. ३६), तथा च सुश्रुते--वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति । तथा असाध्यत्वं च नोपलभ्येत । उक्तं च चरके—'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्' (च. इ. ५. ४-५) इति । तथा रक्तपित्तप्रमेहयोर्विशेषज्ञानं च न जायते । उक्तं च चरके--'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः । यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः' इति । (च. चि. ६. ५४) ।

असति रूपाभिधाने व्याधेरशेषविशेषेण स्वरूपमेव न व्यवच्छिद्यते; किंच साध्यासाध्यत्वं च न ज्ञायते । तथाहि सुखसाध्यलक्षणे चरकः--'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्' इति । (च. सू. १०. ११) । कष्टसाध्यलक्षणे चरकः--'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले' (च. सू. १०. १४) इति; तथा--'सर्वसम्पूर्णलक्षणः' । 'सन्निपातज्वरोऽसाध्यः' (च. चि. ३. १०९) इति ।

असत्युपशयाभिधाने संकीर्णलक्षणेऽनभिव्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात् । तदुक्तं चरके--'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत । (च. वि. ४. ८) इति ।

असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात् । तस्मात् पञ्चापि निदानादयो वक्तव्याः ॥

पञ्चविधमप्येतद् व्याध्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते । यदाह सुश्रुतः-- 'हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि'--(सु. सू. ३. १४) इति । तत्रैवं निदानशब्दनिरुक्तिः, 'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्'; 'दिशेः पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः'--इति गदाधरः; 'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' इति जेज्जटः । भट्टारहरिचन्द्रेणापि तन्त्रयुक्त्यादिविवरणप्रस्तावे

एषैव निरुक्तिरुक्ता। निशब्दो निश्चये। तथा च वररुचेरुपसर्गसूत्रम्--'नि निश्चयनिषेधयोः' इति। लोकेऽपि 'अद्य ते निदानं करिष्यामि' इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते। निदानमिति करणे ल्युट्; तेन 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्' इति निदानादिपञ्चकसामान्यलक्षणम्। निदानशब्दोऽयं निदान-विशेषे जातौ च वर्तते; यथा-तृणशब्दः तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते। यत्तु, भट्टारहरिचन्द्रेण निदानस्थाने-'या गौः सुदोहा भवति न तां निददीत'-इति व्यासप्रयोगमुपन्यस्य निबन्धार्थो निदानशब्दो व्याख्यातः 'निदीयते निबध्यते हेत्वादिसंबद्धो व्याधिरनेन' इति कृत्वा; तत्तु निदानस्थानरूपग्रन्थाभिप्रायेण, नहि हेत्वादयो हेत्वादिसम्बद्धं व्याधिं प्रतिपादयन्ति ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या--व्याधेर्ज्ञातव्यस्येत्यादि--ज्ञातव्य रोग के जानने के पाँच उपाय होते हैं, उनको बतलाते हैं--निदानमित्यादि। ये निदान आदि पाँच व्यस्त (अलग-अलग) और समस्त व्याधिबोधक होते हैं। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि निदानादि केवल एक उपाय से ही रोग का ज्ञान हो जाने पर पुनः दूसरे साधनों (जैसे पूर्वरूप आदि) से इसी रोग का ज्ञान करने पर कृतकरणत्व (पिष्टपेषण) दोष आ सकता है ? इसका समाधान मधुकोशकार विजयरक्षित ने प्रमाण का उदाहरण देकर किया है कि जैसे अग्नि का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होने पर भी पुनः प्रत्यक्ष एवं आप्तोपदेश द्वारा करके उसका सम्यक् प्रकारेण निश्चय किया जाता है, उसी प्रकार निदानादि पाँचों पृथक्-पृथक् और सम्मिलित रूप में रोग विनिश्चय कारक होते हैं। विजयरक्षित के विचार से एक उपाय द्वारा रोग का प्रतिपादन हो जाने पर भी अन्य उपायों द्वारा सहायता अवश्य लेना चाहिये। क्यों ? भिन्नप्रयोजनत्वात्, अर्थात् भिन्न प्रयोजन होने से।

निदानपञ्चक

निदान　　पूर्वरूप　　रूप　　उपशय　　सम्प्राप्ति

अतः निदानादि पाँचों का अलग-अलग महत्त्व और प्रयोजन है, जो निम्न-लिखित है—

१. निदान—(i) चिकित्सा--रोग की चिकित्सा के लिये निदान का ज्ञान आवश्यक है। यदि निदान का ज्ञान नहीं होगा, तो 'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरि-वर्जनम्' इस सूत्र के अनुसार रोगों की चिकित्सा 'निदानपरित्याग' कैसे होगा ?

(ii) रोगविनिश्चय—निदान वर्तमान एवं भावी रोग का बोधक होता है।

जैसे मृतिका-भक्षण से वर्तमान पाण्डु रोग और भावी कामला एवं कृमि रोग का ज्ञान होता है।

(iii) साध्यासाध्यता--रोग की साध्यता एवं असाध्यता के ज्ञान में निदान सहायक होता है। अल्प निदान होने पर रोग साध्य तथा अधिक रहने पर रोग असाध्य होता है।

२. **पूर्वरूप**—केवल निदान से रोग का निश्चित ज्ञान नहीं होता; क्योंकि समान कारण से अनेकों रोग होते हैं। जैसे ज्वर एवं गुल्म की उत्पत्ति समान कारण से होती है[1]। इसलिए रोगविनिश्चय में पूर्वरूप की अपक्षा होती है। चरक ने भी कहा है—

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा॥
(च० नि० ८।२४)

निदान दो प्रकार का होता है--(१) सन्निकृष्ट एवं (२) विप्रकृष्ट। इसमें जो कारण अधिक शक्तिशाली होगा, उसी से रोग पैदा होता है। जैसे सन्निकृष्ट (निकटवर्ती) निदान ज्वर का है और विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) ऊरुस्तम्भ का है। ऐसी स्थिति में यदि दूरवर्ती निदान बलवान् हो और निकटवर्ती निदान कमजोर हो, तो ऊरुस्तम्भ ही पैदा होगा।

इसी तरह हेमन्त में संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्यताप से तापित होकर कफज व्याधि पैदा करता है।[2] यहाँ पर निकटवर्ती कारण सूर्यताप और दूरवर्ती कारण हेमन्त ऋतु में कफ का संचित होना है। दूरवर्ती कारण शक्तिशाली होने से वह कफज रोग पैदा करता है, जबकि सूर्यताप निकटवर्ती कारण है, उससे पित्त का प्रकोप होना चाहिये।

इसलिए व्याधि का विनिश्चय करने के लिये पूर्वरूप आदि ज्ञान आवश्यक है--
तस्मात्केवलान्निदानादपि न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानम्। (वाप्यचन्द्र)

(i) चिकित्सा कर्म---यदि पूर्वरूप का ज्ञान न हो तो रोगों के पूर्वरूपावस्था में वर्णित उपचार नहीं किये जा सकेंगे। चरक ने ज्वर की पूर्वरूपावस्था में लघु

---

१. मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्युः रसानुगाः॥ (ज्वरनिदान)
दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्॥

२. हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्तेऽर्कतापतापितकफरोगकृत् (मधुकोश-गुल्म निदान)

भोजन अथवा अपतर्पण तथा सुश्रुत ने वातिक ज्वर की पूर्वरूपावस्था में घृतपान का उल्लेख किया है।[1]

(ii) साध्यासाध्यता---रोग की साध्यता एवं असाध्यता के ज्ञान लिये भी पूर्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता है। जिस रोग में पूर्वरूप थोड़े मिलते हैं, वह साध्य तथा जिसमें सभी पूर्वरूप मिलते है, वह असाध्य होता है।[2] ज्वर में अथवा अन्य रोग में समस्त पूर्वरूप यदि मिलते हों, तो रोगी की मृत्यु निश्चित होती है। चरक ने कहा है--

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ (च. इ. ५।४-५)

(iii) सापेक्ष रोगनिदान—सापेक्ष रोग-निदान में पूर्वरूप ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। पूर्वरूप-ज्ञान के विना रक्तपित्त एवं प्रमेह का सापेक्ष निदान नहीं हो सकता। चरक ने कहा है—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥
(च. चि. ६।५४)

अर्थात् जो व्यक्ति प्रमेह के पूर्वरूप पैदा हुए विना हरिद्रावर्ण और रक्त वर्ण का मूत्रोत्सर्ग करता है, उसे प्रमेह न समझ कर रक्तपित्तजन्य विकार ही समझना चाहिए।

३. रूप—(i) व्याधि का स्वरूप-ज्ञान—निदान एवं पूर्वरूप के रहते हुए भी यदि रूप का वर्णन न किया जाय, तो रोग के सम्यक् स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा। व्याधि के सम्यक् ज्ञान के बिना चिकित्सा भी नहीं की जा सकती।

(ii) साध्यासाध्यता—रूप से रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान होता है। चरक ने रूप के आधार पर सुखसाध्य व्याधि का लक्षण बतलाते हुए कहा कि जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप और रूप अल्प हों, दूष्य दोष के तुल्य गुणों वाला न हो, रोगी की प्रकृति रोगजनक दोष के समान न हो, तो वह रोग सुखसाध्य होता है—

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥
(च. सू. १०।११)

---

१. (क) ज्वरस्य पूर्वरूपे लध्वशनमपतर्पणं वा। (च० नि० १)
(ख) वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति। (सु० उ० ३९)

२. च० सू० १०।११-१४।

रोग के निदान, पूर्वरूप और रूप यदि मध्यबल हो तथा काल, प्रकृति और दूष्य दोष के समान हों, तो व्याधि कष्टसाध्य होती है--

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले।
कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥ (च. सू. १०।१४)

इसी प्रकार यदि सम्पूर्ण लक्षण ज्वर में मिलते हैं, तो वह असाध्य होता है--"सर्वसम्पूर्णलक्षणः सन्निपातज्वरोऽसाध्यः"। (च. चि. ३।१०९-१०)

४. उपशय—रोगविनिश्चय--जिन रोगों के लक्षण संकीर्ण (एक दूसरे से परस्पर मिलते) हो, या किसी रोग का लक्षण अस्पष्ट (अनभिव्यक्त) हो, तब उपशय एवं अनुपशय की सहायता से रोविनिश्चय किया जाता है। इसलिए गूढ़लिङ्ग व्याधि की परीक्षा के लिए उपशय का ज्ञान आवश्यक है। वातव्याधि और ऊरुस्तम्भ का लक्षण अस्पष्ट होने पर अनुपशयभूत तैलाभ्यङ्ग से लाभ न होने पर ऊरुस्तम्भ तथा ज्वर में उपशयभूत क्विनीन से लाभ होने पर मलेरिया ज्वर का निश्चय किया जाता है। चरक ने कहा है--'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत'।

५. सम्प्राप्ति--निदान, पूर्वरूप आदि का ज्ञान होने पर भी, तब तक उचित चिकित्सा नहीं हो सकती, जबतक कि दोषों की अंशांशकल्पना, बल (व्याधि की तीव्रता और मृदुता आदि), काल (ऋतु एवं अहोरात्र) का सम्यक् ज्ञान न हो जाय। विजयरक्षित ने कहा है--"असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्।" अतः निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति बतलाये गये। ये पाँचों व्याधि की उत्पत्ति एवं उनके ज्ञान के कारण होने से इनकी निदान संज्ञा है। जैसा कि सुश्रुत भी कहते है कि हेतु और लक्षणों का निर्देश होने से इनको 'निदान' कहा जाता है।

यहाँ 'निदान' शब्द की निरुक्ति निम्नलिखित ढंग से की गई है--गदाधर ने निदान शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा है--'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' अर्थात् जिससे रोग के विषय में बतलाया या ज्ञान कराया जाय, उसे निदान कहते हैं। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनि-सूत्रका उद्धरण देते हुए निपातन के बल से निदान शब्द की सिद्धि की जाती है। जेज्जट ने भी उक्त विषय में कहा है--'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' अर्थात् जिससे व्याधि का ज्ञान कराया जाय, उसे 'निदान' कहते हैं। इस प्रकार व्युत्पत्ति बताकर नि पूर्वक दा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय दर्शाया गया है। भट्टार हरिचन्द्र ने भी तन्त्रयुक्तियों की व्याख्या में निदान शब्द की जो व्याख्या की है, वह जेज्जट की व्याख्या का समर्थन करती है। निदान शब्द में नि शब्द निश्चयवाचक है। जैसा कि 'नि-निश्चय-निषे-

धयोः' इस कात्यायन के वार्तिक से नि शब्द का निश्चयार्थक होना स्पष्ट है। 'अद्य ते निदानं करिष्यामि' का 'निश्चयं करिष्यामि'---ऐसा लोक में अर्थ समझा जाता है। चूंकि निपूर्वक दा धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है, जो कारणसामान्य एवं विशेष का वाचक है, अतः 'व्याधि का निश्चय करना' ही निदान है 'व्याधिनिश्चय-करणं निदानम्'। यहाँ निदान शब्द निदानसामान्य एवं निदानविशेष अर्थ में शक्त है। जिस प्रकार तृण शब्द तृणविशेष एवं तृणसामान्य को कहता है।

पूर्वपक्ष---'या गौः सुदोहा भवति न तां विददीत'—इस व्यास वाक्य की व्याख्या भट्टार हरिश्चन्द्र ने यों की है कि जो गाय सुदोहा है उसको न बाँधा जाय। यहाँ नि पूर्वक दा धातु का प्रयोग बन्धन अर्थ में है, फिर कैसे निदान शब्द की व्याख्या व्याधिनिश्चयकरण किया गया ?

यहाँ निदान शब्द की व्याख्या 'निदीयते निबध्यते हेत्वादिसम्बद्धो व्याधिरनेन' जो किया गया है, वह निदानस्थानरूप ग्रन्थ के अभिप्राय से है। वह व्याख्या पञ्चनिदानहेत्वादि से सम्बद्ध अर्थ को नहीं बताती। अतः दोषयुक्त नहीं है।

विमर्श—वाग्भट्ट ने कहा है कि परीक्षा दो प्रकार की होती है—

(१) रोगपरीक्षा एवं (२) रोगीपरीक्षा

प्रश्नादि से रोगी परीक्षा और निदानपञ्चक से रोग की परीक्षा की जाती है।[1] वास्तव में चरकोक्त त्रिविध परीक्षा, सुश्रुतोक्त षड्विध परीक्षा, अष्टविध परीक्षा तथा चरकोक्त दशविध आतुरपरीक्षा रोग ज्ञान के उपाय हैं तथा पञ्चनिदान रोग ज्ञान के विषय हैं।

रोगविज्ञानोपाय—

I. त्रिविध परीक्षा—त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानम् चेति। (च० चि० ४।३)

II. षड्विध परीक्षा—षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायाः—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति। (सु० सू० १०।४)

III. दशविध आतुरपरीक्षा—तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः। (च० चि० ८।९४)

---

१. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥ (अ० सं० सू० १।४५)

IV. अष्टविध परीक्षा—रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् ।
नाड़ीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥
(योगरत्नाकर)

V. पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान—(क) प्रश्न (ख) दर्शन (ग) स्पर्शन (घ) अंगुलिताड़न (ङ) श्रवण ।

आप्तोपदेशादि त्रिविध परीक्षा

रोग जानने के लिये तीन प्रकार के उपाय हैं—(१) आप्तोपदेश, (२) प्रत्यक्ष, (३) अनुमान ।

त्रिविध रोगविशेषविज्ञान

आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान
१. शास्त्रज्ञान	१. ज्ञानेन्द्रिय प्रत्यक्ष	१. चरकोक्त अनुमानजन्य भाव
२. पारम्परिक ज्ञान	२. मानस प्रत्यक्ष	२. प्रयोगशालीय परीक्षण
३. गुरूपदेश	३. प्रयोगशालीय परीक्षण	
४. अनुसन्धानजन्य ज्ञान		
५. आतुरोक्त कतिपय भाव		

१. आप्तोपदेश—आयुर्वेदोपदेश अथवा आप्तोपदेश द्वारा रोग की परीक्षा[1] इस प्रकार करनी चाहिए कि यह रोग इस प्रकार का है, इस प्रकार से प्रकुपित होता है, इसकी योनि (कारण, वातादि दोष) इस प्रकार है, रोग की आत्मा (स्वरूप) इस प्रकार है, अधिष्ठान (आश्रय) यह है, इस प्रकार की वेदना (रुजा) होती है, रोग में रूप, शब्द, गन्ध, रस, इस प्रकार का है, रोग-उदर्क[2] (व्याधि का फल मृत्यु अथवा स्वास्थ्य) इस प्रकार है, व्याधि का नाम इस प्रकार है, इस रोग के प्रतिकार में इस प्रकार की प्रवृत्ति (चिकित्सा, पथ्य) एवं इस प्रकार की निवृत्ति (अपथ्य) होती है ।

२. प्रत्यक्ष—इस प्रमाण द्वारा रोग-परीक्षा करते समय रसनेन्द्रिय से रसज्ञान

---

१. तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवं प्रकोपणमेवं योनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवं वेदनमेवं संस्थानमेवं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवं वृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवं नामानमेवं योगं विद्यात् तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्जायते । (च० वि० ४।६)

२. उदर्को व्याधेः फलम्—इतीन्दुः ।

को छोड़कर शेष श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय द्वारा क्रमशः रोगी में पाये जाने वाले इन्द्रियार्थ शब्द, रूप, गन्ध एवं स्पर्श की परीक्षा करनी चाहिये।

२. प्रत्यक्ष परीक्ष्य विषय[2]

इन्द्रियजन्य परीक्षा	आतुरशरीरगत परीक्ष्य
(क) श्रवणेन्द्रिय परीक्षा	आन्त्रकूजन, सन्धिस्फुटन, पर्वस्फुटन, स्वरभेद, रोगी के शरीगत अन्य स्वर जैसे फुप्फुसजन्य एवं हृदयजन्य ध्वनि।
(ख) चक्षुरिन्द्रिय परीक्षा	शरीर का वर्ण, शरीर के अवयवों का गठन और प्रमाण, छाया, शरीर का वैकारिक या स्वाभाविक भाव तथा अन्य दर्शनीय विषयों की परीक्षा।
(ग) घ्राणेन्द्रिय परीक्षा	रोगी के शरीर में व्याप्त स्वाभाविक या विकृत गन्ध की परीक्षा--जैसे मल, मूत्र कफ, रक्त, स्वेद, व्रण एवं पूय आदि।
(घ) स्पर्शेन्द्रिय परीक्षा	प्रकृत या विकृति युक्त स्पर्श की परीक्षा—जैसे शरीर की सुप्तता (शून्यता), शीतलता, उष्णता, स्तब्धता, स्पन्दन, श्लक्ष्णता, खरता (सूक्ष्मता) आदि।
(च) रसनेन्द्रिय परीक्षा	रसनेन्द्रिय से परीक्ष्य भावों की परीक्षा अनुमान से करना चाहिए। इसलिए रोगी से पूछकर जानना चाहिए कि रोगी के मुख का स्वाद कैसा है? (क) जुएँ लीख आदि जन्तु शरीर से अलग हो जाय। } शरीर का रस विकृत (ख) मक्खियों का शरीर पर अधिक बैठना। } शरीर का रस मधुर (ग) रक्तपित्त का रक्त कौवे को खाने को दे। } न खाने पर रक्तपित्त, खाने पर शुद्ध रक्त

१. प्रत्यक्षतस्तु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत अन्यत्र रसज्ञानात्। (च० वि० ४।७)

२. च० वि० ४।७।

३. अनुमान परीक्षा—पाचन शक्ति से अग्नि, व्यायाम की शक्ति से बल, शब्दादिश्रवण से श्रवणेन्द्रिय, चिन्त्य (विचार्य) के चिन्तन एवं विमर्श से मन, व्यवसाय से विज्ञान, आशक्ति से रजोगुण और अज्ञान की परीक्षा की जाती है। क्रोध करने से द्रोह की, दीनता से शोक की, आमोद-प्रमोद से हर्ष की, सन्तोष से प्रीति की, विषाद से भय की, अविषाद से धैर्य की, उत्साह से वीर्य की, भ्रम न होने से मन की स्थिरता की, किसी वस्तु की इच्छा से श्रद्धा की, विषय-ग्रहण से मेधा की, नाम-ग्रहण से संज्ञा की, स्मरण से स्मृति की, लज्जा करने से लज्जा की, लगातार अभ्यास करने से स्वभाव की, मना करने से द्वेष की, अनिष्ट परिणाम से कपट (छद्म) की, लालच न करने से धृति (संतोष) की, आज्ञा मानने से वश्यता की, काल से वय की, देश-विशेष से प्रेम की, उपशय से सात्म्य की, लक्षण से रोग की और वेदना के प्रकार से रोग के कारणों की परीक्षा करनी चाहिए। गूढ़लिङ्ग व्याधियों की परीक्षा उपशय एवं अनुपशय से की जाती है। अपचारविशेष से दोष की मात्रा जाननी चाहिये। अरिष्ट से आयुःक्षय की और कल्याणकारी मार्ग पर चलने से शुद्ध मन की परीक्षा करनी चाहिए।

प्रश्न के द्वारा ग्रहणी की मृदुता या कठिनता, स्वप्न का देखना, किसी विषय में इच्छा रखना, किसी विषय से द्वेष करना तथा सुख और दुःख की परीक्षा करनी चाहिए।[1]

दशविध आतुर-परीक्षा

रोगी के विशेष रूप से बल के प्रमाण को जानने के लिये निम्नलिखित परीक्षा की जाती है।

I. प्रकृति—चरक संहिता में दोषों की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहा गया है। इसलिए प्रकृति शब्द का अर्थ साम्यावस्था है। सांख्यदर्शन में सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। वस्तुतः वातादि दोषों से पहले रज, तम आदि दोषों की सत्ता स्वीकार की गई है, फिर भी आयुर्वेद में देह-प्रकृति का सम्बन्ध दोषों से ही माना गया है और रज आदि से मानस प्रकृति का सम्बन्ध माना जाता है। आयुर्वेद के दोनों आधार स्तम्भ हैं। शरीर एवं मन दोनों की चिकित्सा का लक्ष्य आयुर्वेद का है।

चक्रपाणि ने 'प्रकृतिम् इति स्वभावम्' तथा गंगाधर ने 'प्रकृतिः स्वभावः' कहा है, जिससे मानव के वातात्मक, पित्तात्मक एवं कफात्मक आदि स्वभाव का 'प्रकृति' शब्द से बोध होता है। स्वभाव अर्थात् शरीर का स्वभाव। आगे चलकर चक्रपाणि

१. च० वि० ४।८

ने 'जन्म से जिनकी प्रधानता हो, वे वातादि दोष प्रकृति के कारण होते हैं'--ऐसा कहा है ।[1] इसके विपरीत रसवैशेषिकसूत्र के भाष्याकार नरसिंह ने प्रकृति की परिभाषा यह दी है—

"प्रकृतिर्नाम जन्ममरणान्तरालभाविनी गर्भावक्रान्तिसमये स्वकारणोद्रेकजनिता निर्विकारिणी दोषस्थितिः"।

अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक निरन्तर प्रवाहित होने वाली एवं गर्भावक्रान्ति के समय अपने कारणभूत वातादि की प्रधानता से निर्मित निर्विकारिणी दोषस्थिति ही प्रकृति है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम अष्टांगहृदय के व्याख्याता अरुणदत्त एवं चन्द्रनन्दन का यह वाक्य--'प्रकृतिः शरीरस्वरूपम्' तथा अष्टांगसंग्रह के व्याख्याकार इन्दु का यह वाक्य—'प्रकृतिः स्वरूपम्' देखें तो प्रकृति से समग्र रूप से शरीरस्वरूप परिलक्षित होता है। शार्ङ्गधरसंहिता के गूढ़ार्थदीपिका-व्याख्याकार पं० काशीराम के अनुसार शरीरस्वभाव रूप ही प्रकृति होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने नेचर, टेम्प्रामेंट, कन्स्टीटयूशन आदि नामों से प्रकृति को कहा है। उनके अनुसार भी यह प्रकृति जन्मजात होती है।

प्रकृति के भेद—आयुर्वेद । वाङ्मय में निम्नलिखित प्रकृतियों का उल्लेख पाया जाता है—

प्रकृतियाँ

गर्भ शरीर प्रकृति	जात शरीर प्रकृति	भौतिक प्रकृति	देह प्रकृति	मानस प्रकृति

गर्भ शरीर प्रकृति निर्मापक भाव

शुक्रशोणित प्रकृति	कालगर्भाशय प्रकृति	मातुराहारविहार प्रकृति	पञ्चमहाभूतबिकार प्रकृति

जात शरीर प्रकृति

जातिप्रसक्ता प्रकृति	कुलप्रसक्ता प्रकृति	देशानुपातिनी प्रकृति	कालानुपातिनी प्रकृति	बलानुपातिनी प्रकृति	प्रत्यात्मप्रकृति

१. प्रकृतिश्च जन्मप्रभृतिवृद्धो वातादिरुच्यते। (च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि की व्याख्या)।

भौतिक प्रकृति

वायव्य प्रकृति | आग्नेय प्रकृति | आप्य प्रकृति | पार्थिव प्रकृति | तामस प्रकृति

देह प्रकृति

वातिक प्रकृति | पैत्तिक प्रकृति | श्लैष्मिक प्रकृति | वातपैत्तिक प्रकृति | पित्तश्लैष्मिक प्रकृति | वातश्लैष्मिक प्रकृति | समधातु प्रकृति

मानस प्रकृति (महाप्रकृति)

सात्त्विक प्रकृति | राजसिक प्रकृति | तामसिक प्रकृति | सत्वराजसिक प्रकृति | सत्वतामसिक प्रकृति | रजस्तामसिक प्रकृति | समगुण प्रकृति

देह प्रकृति पीरक्षा

परीक्ष्यभाव	वातिक प्रकृति	पैत्तिक प्रकृति	श्लैष्मिक प्रकृति
१. शरीर	अपचित (कृश)	—	उपचित
	रूक्ष	शुष्क	स्निग्ध
	परुष	सुकुमार	सुकुमार
	दुर्भग (अमनोरम आकार)	दुर्भग	सुभग
	अल्प	मध्य	दीर्घ
	स्तब्ध	शिथिल	संहत
	स्फुटित अंगावयव	—	सुविभक्त गात्र
२. बर्ण	धूसर	पीत	गौर
३. त्वक्	—	वलि (चर्मसंकोच)	—
४. केश	परुष	मृदु	कुटिल
	अल्प	अल्प	—
	धूसर	कपिल	अलिनील, घननील
	—	खालित्य, पालित्य	स्थिर
५. ललाट	—	—	महा

परीक्ष्यभाव	वातिकप्रकृति	पैत्तिक प्रकृति	श्लैष्मिक प्रकृति
६. पक्ष्म	—	तनु	पक्ष्मल
७. नेत्र	तनु	तनु	विशाल
	रूक्ष	—	स्निग्ध
	धूसर	ताम्र, पिंग	रक्तांत, शुक्लाक्ष
	वृत्त (वर्तुल)	—	दीर्घ
	अचारु	—	प्रसन्न
	उन्मीलित	—	व्यक्त
	अनवस्थित	—	—
८. भ्रू	अनवस्थित	—	—
९. ओष्ठ	अनवस्थित	ताम्र	—
१०. मुख	—	ताम्र, गौर	प्रसन्न दर्शनानन
११. जिह्वा	अनवस्थित	ताम्र	स्थिर
१२. दशन	तनु, रूक्ष	—	—
१३. श्मश्रु	परुष	मृदु, कपिल	—
	अल्प	अल्प	—
१४. नख	परुष	ताम्र	मृदु
	अल्प	—	दीर्घ
	रूक्ष	—	स्निग्ध
१५. रोम	रूक्ष	मृदु	—
	तनु	कपिल	—
१६. बाहु	—	—	महा
१७. पाणि	परुष, स्फुटित	ताम्रतल, गौर	स्निग्ध
	अनवस्थित	उष्ण	—
१८. उरु	—	—	महा
१९. पाद	परुष, स्फुटित	ताम्रतल, गौर	स्निग्ध
	अनवस्थित	उष्ण	—
२०. कण्डरा	बहु	—	—
२१. सिरा	प्रतानवती	—	—

परीक्ष्यभाव	वातिक प्रकृति	पैत्तिक प्रकृति	श्लैष्मिक प्रकृति
२२. धमनी	धमनी सतत	—	—
२३. पिडिका	उद्बद्ध	प्रभूत	—
२४. व्यंग, पिप्लु, तिल	—	प्रभूत	—
२५. मांस	—	शिथिल, मृदु	सम, सुविभक्त, स्थिर
२६. सन्धि	अनवस्थित, सतत-सन्धिशब्दगामी	शिथिल, मृदु	स्थिर, सुविभक्त
२७. हनु, शिर, स्कन्ध	अनवस्थित	—	—

(ख) क्रियाशरीरतः परीक्षा

१. स्वर	प्रतत (जर्जर) रूक्ष, क्षाम, सक्त, सन्न, तनु, अल्प	दीन —	प्रसन्न, स्निग्ध, गम्भीर —
२. वाक्	क्षाम, सन्न, सक्त, चल जर्जर		
३. व्याहार	चपल, बहुभाषी, अनिबद्ध	—	मन्द, परिनिष्ठित
४. मुख	—	उष्ण मुख	—
५. आहार	लघु, चपल	प्रभूताशन, प्रभूतपान दन्तशूका	अल्पासन, अल्पपान, मन्दाहार
६. क्षुधा	विषम	अधिक	अल्प
७. अग्नि	विषम	तीक्ष्ण	मन्द
८. कोष्ठ	क्रूर	मृदु	मध्य
९. पुरीष, मूत्र, स्वेद	—	प्रभूत	मन्द
१०. तृषा	—	प्रभूत	अल्प

परीक्ष्यभाव	वातिक प्रकृति	पैत्तिक प्रकृति	श्लैष्मिक प्रकृति
११. गन्ध	—	प्रभूत कक्षा-आस्य शिरःपूति	—
१२. शुक्र	अल्प	मध्य	प्रभूत
१३. व्यवाय	—	अल्प	प्रभूत
१४. अपत्य	अल्प	अल्प	प्रभूत
१५. चेष्टा	चपल	—	अल्प
१६. गति	चपल	द्रुत	अवस्थित
१७. बल	अल्प	मध्य	उत्तम
१८. आयु	अल्प	मध्य	दीर्घ
१९. निद्रा	अल्प	—	निद्रालु
२०. विकार	शीघ्र	—	अशीघ्र

(ग)मानसिक भावतः परीक्षा

१. असहिष्णु	शीत	उष्ण	—
२. अनभिरुचि	शीत	उष्ण	शीत
३. अभिरुचि	गान्धर्वप्रिय	माल्यप्रिय	तन्द्राप्रिय
	इतिहासप्रिय	विलेपनप्रिय	निद्राप्रिय
	हासप्रिय	मण्डनप्रिय	श्रुतिप्रिय
	कलहप्रिय	—	शास्त्रप्रिय
	मृगयाप्रिय	—	संगीतप्रिय
	उद्यानप्रिय	—	—
४. प्रियरस	मधुर, अम्ल, लवण	मधुर, तिक्त, कषाय	कटु, तिक्त, कषाय
५. प्रकांक्षा	स्निग्ध उष्ण अन्नपान	शीत अन्न-पान	रूक्ष अन्न-पान
६. क्रोध	क्रोधी	भूर्य क्रोध	क्रोध
७. क्षोभ	शीघ्र	क्षिप्र	अशीघ्र
८. त्रास	शीघ्र	मध्यम	अशीघ्र
९. राग, विराग	शीघ्र	मध्यम	दृढ़
१०. धृति	चल	मध्यम	धृतिमान्
११. स्मृति	अल्प, चल	मध्यम	स्मृतिमान्
१२. मेधा	—	मेधावी	अल्प

परीक्ष्यभाव	वातिक प्रकृति	पैत्तिक प्रकृति	श्लैष्मिक प्रकृति
१३. विद्या	अल्प	मध्यम	विद्यावान्
१४. मति	चल	निपुण	मतिमान्
१५. ग्राह्यशक्ति	शीघ्र	मध्यम	चिर
१६. कार्यारम्भ	शीघ्र	मध्यम	अशीघ्र
१७. जितेन्द्रिय	अजितेन्द्रिय	मध्यम	जितेन्द्रिय
१८. क्लेश	असहिष्णु	सहिष्णु	सहिष्णु
१९. स्वभाव	चल	मध्यम	गम्भीर
२०. वाक्	अल्प	विगृह्य	अनिष्ठुर
२१. धर्म एवं ईश्वर में आस्था	नास्तिक	मध्यम	आस्तिक
२२. मनोदशा	क्राथी, दन्तखादी, नखखादी	शूर, अभिमानी	शान्त, सौम्य, क्षमावान्, अभियोगवान्

(घ) सामाजिक भावतः परीक्षा

१. धन	अल्प	मध्यम	वसुमान्
२. साधन	अल्प	मध्यम	बहु
३. मित्र	अल्प	मध्यम	बहु
४. व्यवहार	कृतघ्न	मध्यम	कृतज्ञ

(ङ) मानस प्रकृति

सात्त्विक प्रकृति

चरकोक्त लक्षण	सुश्रुतोक्त लक्षण
१. ब्रह्मसत्व--पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, संविभागी (विद्वान्) आत्मज्ञानी, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से युक्त, वाग्मी, उत्तर प्रत्युत्तर देने में दक्ष, स्मृति-शक्तिसम्पन्न, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग से रहित तथा स्वभाव से ही प्राणिमात्र के प्रति समदर्शी होना।	१. ब्रह्मकाय--पवित्रता, आस्तिक बुद्धि, वेदाभ्यासी, गुरुजनों का पूजन करना, अतिथियों का सत्कार करना, यज्ञ करना।

चरकोक्त लक्षण	सुश्रुतोक्त लक्षण
२. आर्षसत्व—यज्ञ, अध्ययन, व्रत, हवन, ब्रह्मचर्य में विशेष संलग्न, अतिथिसेवी, मंद-अहंकार, राग-द्वेष, मोह, लोभ और क्रोधरहित, प्रतिभाशाली, वाग्मी, ज्ञानी एवं धारणाशक्तिसम्पन्न।	२. ऋषिकाय--जप-व्रत, ब्रह्मचर्य, होम-अध्ययनसेवी, ज्ञान एवं विज्ञान से सम्पन्न।
३. ऐन्द्रसत्व--लक्ष्मीसम्पन्न, माननीय वचन वाला, यज्ञप्रेमी, शूर, ओजस्वी, तेजस्वी, अक्लिष्टकर्मा, दीर्घदर्शी, धर्म-अर्थ-काम में सदा तत्पर रहने वाला।	३. महेन्द्रकाय--माहात्म्यवान्, शौर्यवान्, आज्ञावान्, सततशास्त्रबुद्धि, भृत्यभरणशील।
४. याम्यसत्व--कर्त्तव्याकर्त्तव्य की मर्यादा के अनुसार व्यवहार करने वाला, सभी कार्यों में उचित मार्ग का अवलम्बन करने वाला, असम्प्रहार्य्य (अशक्यवारणम्), सदा जागरूक, स्मृतिसम्पन्न ऐश्वर्यशाली, राग-द्वेष-मोह से रहित।	४. याम्यकाय--युक्तकारी, दृढ़ारम्भी, निर्भय, स्मृतिमान्, शुचिमान्, राग-मोह-मद-द्वेष से वर्जित।
५. वरुण सत्व—शूर, धीर, पवित्र, अशुचिद्वेषी, यज्ञ करने वाला, अम्भोविहारी (जलक्रीड़ाप्रेमी), अक्लिष्टकर्मा, यथास्थान क्रोध एवं हर्ष प्रकट करने वाला।	५. वरुणकाय--शीतल पदार्थों के सेवन में प्रेम करने वाला, सहिष्णु, भूरे नेत्र वाला, कपिलवर्ण केश वाला, मधुरभाषी।
६. कौबेर सत्व--स्थानसम्पन्न, मानसम्पन्न, उपभोगसम्पन्न, परिवार, सम्पन्न, धर्म-अर्थ-काम में सदा तत्पर, पवित्र, सुखपूर्वक विहार करने वाला, क्रोध एवं प्रसन्नता को स्पष्ट करने वाला।	६. कौबेरकाय--मध्यस्थ होकर बोलने वाला, सहिष्णु, धनोपार्जन एवं संचय की प्रवृत्ति वाला, महाप्रसवशक्ति सम्पन्न (प्रजोत्पादनसामर्थ्यवान्)।

चरकोक्त लक्षण	सुश्रुतोक्त लक्षण
७. गन्धर्वसत्व--नृत्य-गीत-वाद्य-आलाप प्रिय, श्लोक-आख्यायिका (कहानी)-इतिहास-पुराण पाठ में कुशल, सुगन्धोपयोग-पुष्पाहार-चन्दन-कस्तूरी आदि के लेप एवं सुन्दर वस्त्रधारण में विशेष रुचिवाला, नित्य स्त्री-विहार की इच्छा वाला, दूसरों के गुणों में दोषारोपण न करने वाला हो।	७. गन्धर्वकाय--सुगन्धित पुष्पमाला आदि को चाहने वाला, नृत्य-गीत-वाद्य में प्रवीण तथा भ्रमणशील।

राजस प्रकृति

१. असुरसत्व--शूर, अधिक क्रोधी, असूयक (दूसरे के गुणों में दोष देखने वाला), ऐश्वर्यशाली, औपाधिक (छद्मानुचारी) रौद्र, (उग्रस्वभाव वाला), अनुक्रोशी (दयावान्), आत्मपूजक (स्वार्थी)।	१. असुरकाय—ऐश्वर्यवान्, रौद्र, शूर, क्रोधी, असूयक, अकेला खाने वाला, औदरिक (पेटू)।
२. राक्षससत्व—प्रतिकूल के प्रति असहिष्णु, बहुत दिनों तक क्रोध करने वाला, छिद्र पाकर धोखे से मारने वाला, क्रूर, अति भोजन प्रिय, आमिषप्रेमी, निद्राबहुल, अतिपरिश्रमी, ईर्ष्यालु।	२. राक्षसकाय--एकान्तग्राहिता, रौद्र, असूया, अधर्माचरण, अत्यन्त आत्मश्लाघा।
३. पैशाच सत्व—महा आलसी, स्त्री के वश में रहने वाला, स्त्री के साथ एकान्त में रहने वाला, अपवित्र, पवित्रता से द्वेष करने वाला, भीरु, दूसरों को भयभीत करने वाला, विकृत आहार विहार वाला।	३. पैशाचकाय-उच्छिष्टाहारसेवी, क्रोधी, साहसी, स्त्री-लोलुप, निलज्ज।

चरकोक्त लक्षण	सुश्रुतोक्त लक्षण
४. सर्पसत्व--क्रुद्ध अवस्था में शूर, अक्रुद्ध अवस्था में भीरु, तीक्ष्ण, अति परिश्रमी, भययुक्त होकर कार्य करने वाला, आहार-विहार में सदा व्यस्त।	४. सर्पकाय--तीक्ष्ण (घातक) परिश्रमी, भीरु, क्रोधी, कपटी, विहार-आहार में चपल।
५. प्रेतसत्व--सदा भोजनेच्छुक, अत्यन्त दुःखदायी स्वभाव वाला, दूसरों के गुणों में दोष निकालने वाला, असंविभागी, अतिलोलुप, अकर्मण्य।	५. प्रेतकाय--असंविभागी, आलसी, दुःखशील, असूयक, लोलुप, दान न करने वाला।
६. शकुनसत्व--सदा मैथुन-आसक्त रहने वाला, सदा आहार-विहार में व्यस्त, चञ्चल, असहिष्णु, धनसञ्चय की प्रवृत्ति न रखने वाला।	६. शकुनकाय--अत्यन्त मैथुनपरायण, निरन्तर खाने वाला, असहिष्णु, चञ्चल।

तामस प्रकृति

१. पाशवसत्व--अपने आयी हुई विपत्ति को दूर करने में असमर्थ, स्मरण शक्ति से शून्य, निन्दनीय आचार एवं आहार करने वाला, सदा मैथुन में आसक्त रहने वाला, अति निद्राशील।	१. पशुकाय--बुद्धिहीनता, मन्दबुद्धि, नींद, नित्य कामुक स्वप्न दर्शन, निराकरिष्णुता (स्मृतिहीनता)।
२. मात्स्यसत्व--भीरु, मूर्ख, आहार-लोलुप, चञ्चल, कामी, क्रोधी, भ्रमणशील, जलप्रेमी।	२. मत्स्यकाय--चचल, मूर्ख, भीरु, जल-प्रेमी, आपस में लड़ना-झगड़ना।
३. वानस्पत्यसत्व--आलसी, केवल आहार में व्यस्त, बाह्य एवं आभ्यन्तर ज्ञान से शून्य।	३. वानस्पत्यकाय--एक ही स्थान में रहने की इच्छा वाला, नित्य आहार में लगा हुआ, सत्व-धर्म-अर्थ-काम से विरहित।

II सार परीक्षा[1]--"सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते"। (च० वि० ८/१०२

१. सारतश्चेति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते। तद्यथा--त्वग्रक्तमांस-मेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्वानि। (च. वि. ८-१०२)

पर चक्रपाणि व्याख्या) शरीर निर्माण करने वाली धातुओं के विशुद्ध रूप को 'सार' कहा जाता है। शरीर के बल का प्रमाण जानने के लिये आठ प्रकार के सार बतलाये गये हैं। इन सब सारों से युक्त मनुष्य बलशाली, गौरवसम्पन्न, क्लेशसह, अपने ऊपर विश्वास करने वाले, अच्छे कामों में मन को लगाने वाले, स्थिर एवं संगठित शरीर वाले होते हैं। उन्हें जल्दी वृद्धावस्था नहीं आती, रोग भी कम होता है। असार पुरुष, अर्थात् इन सारों में से कोई भी सार जिन मनुष्यों में नहीं पाया जाता, वे इससे विपरीत गुण वाले होते हैं। मध्यमसार युक्त पुरुषों में कुछ लक्षण पाये जाते हैं, कुछ लक्षण नहीं मिलते।

सारतः आतुरपरीक्षा

सार	शारीरिक लक्षण	क्रियाशरीर, मानस एवं सामाजिक लक्षण
१. त्वक्सार	त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, अल्पलोमा, गम्भीर लोमा, सुकुमार एवं प्रभावान्।	सुखी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्ययुक्त, उपभोगयुक्त, बुद्धिमान्, विद्यावान्, आरोग्यवान्, प्रसन्न, दीर्घायु।
२. रक्तसार	स्निग्ध, रक्तवर्ण, शोभायुक्त एवं भ्राजिष्णु (प्रभावान्)-कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, ओष्ठ, पाणितल, पादतल, नख, ललाट, शिश्न।	सुखी, उदग्रस्वभाव (चण्ड), मेधावी, मनस्वी, सुकुमार, अनतिबल, क्लेशासहिष्णु, उष्णासहिष्णु।
३. मांससार	दृढ़ एवं मांसोपचित (मांस से भरी हुई) शंख, ललाट, कृकाटिका, नेत्र, गण्ड, हनु, ग्रीवा, स्कन्ध, उदर, कक्षा, वक्ष, पाणि, पाद, सन्धि।	क्षमाबान्, धैर्यवान्, अलोभी, धनवान्, विद्यावान्, सुखवान्, सरल, अरोगी, बलवान्, दीर्घायु।
४. मेदःसार	विशेषतः स्निग्ध वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दन्त, ओष्ठ, मूत्र, पुरीष, स्वेद।	वित्तवान्, ऐश्वर्यवान्, सुखी, उपभोगयुक्त, दानी, सरल, सुकुमार।
५. अस्थिसार	स्थूल पार्ष्णि (एड़ी), गुल्फ, जानु, अरत्नि (बद्धमुष्टिररत्नि), जत्रु, चिबुक, सिर, पर्व, अस्थि, नख, दन्त।	महोत्साही, क्रियावान्, क्लेशसह, सारशरीर, आयुष्मान्।

सार	शारीरिक लक्षण	क्रियाशील, मानस एवं सामाजिक लक्षण
६. मज्जासार	मृदुशरीर, बलवान्, स्निग्ध वर्ण-स्वर, स्थूलसन्धि, दीर्घसन्धि, वृत्तसन्धि।	दीर्घायु, बलवान्, श्रुतभाक्, वित्तभाक् (धनी), विज्ञानभाक्, अपत्यभाक्, सम्मानभाक्।
७. शुक्रसार	सौम्य, सौम्यद्रष्टा, धवललोचन, प्रहर्षबहुल, स्निग्धदशन, वृत्तदशन, ससारदशन, समदशन, संहतदसन, शिखरयुक्तदशन प्रसन्नवर्ण, स्निग्धवर्ण, स्निग्ध स्वर, भ्राजिष्णु, महास्फिक्।	स्त्रीभोगी, प्रियोपभोगी, बलवान् सुखभाक्, ऐश्वर्यभाक्, आरोग्यभाक्, वित्तभाक्, सम्मानभाक्, अपत्यभाक्।
८. सत्वसार	—	स्मृतिमान्, भक्तिमान्, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, शुचि, महोत्साही, दक्ष, धीर, समरविक्रान्त-योद्धा, त्यक्तविषाद, सुव्यवस्थित, गति, गम्भीर बुद्धि, गम्भीरचेष्ट, कल्याणाभिनिवेशी।

III. संहननपरीक्षा—संहनन, संहति और संयोजन—एक ही अर्थ के बोधक है। जिसके शरीर में हड्डियाँ सम और पृथक्-पृथक् सुविभक्त हो, सन्धियाँ दृढ़ता से बँधी हो, मांस और रक्त ठीक प्रकार से अपने-अपने स्थानों में स्थित हो, इस प्रकार का शरीर सुसंहत (सुसंगठित) कहा जायेगा। सुसंगठित शरीर वाले पुरुष बलबान् होते हैं। इसके विपरीत लक्षण वाले अल्पबलशाली होते हैं और जो इन दोनों के बीच का होगा, उसे मध्यम बल वाला कहा जाता है।[1] महर्षि सुश्रुत ने भी स्थूल, कृश एव मध्य भेद से तीन प्रकार का देह माना है।[2] स्थूल या कृश आरोग्य की दृष्टि से निन्दित तथा मध्यम देह वाला श्रेष्ठ माना जाता है।

IV. प्रमाणपरीक्षा—शारीरशास्त्री शरीर को षडङ्ग (छः अंगों वाला) मानते है, जिसमें चार शाखाएँ, पाचवाँ मध्य शरीर और छठा सिर है।[3] उक्त छः अङ्गों के छप्पन प्रत्यङ्ग होते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में मनुष्य के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का

१. च० वि० ८।११६।
२. सु० सू० ३५।३३।
३. द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधि, इति षडङ्गमङ्गम्—च० शा० ७। ५

माप उसी की अङ्गुलि के प्रमाण से लेने का उल्लेख मिलता है। शरीर का आयाम (दैर्घ्य Length) और विस्तार (व्यास Breadth) शास्त्रोक्त माप के समान हो, तो उसे सम शरीर कहा जाता है। इस सम शरीर में आयु, बल, ओज, सुख, ऐश्वर्य, धन और अन्य अभीष्ट भाव प्राप्त होते रहते हैं। यदि इस मान से शरीर हीन या अधिक प्रमाण हो, तो उसकी आयु, बल, ओज, सुखादि हीन और मध्य होते हैं।

चरकोक्त अंगप्रमाणपरीक्षा

अंग प्रत्यंग	लम्बाई	चौड़ाई	परिणाह(घेरा)
पाद	१४	६	४
जंघा	१८	—	१६
जानु	४	—	१६
ऊरु	१८	—	३०
अण्डकोष	६	—	८
लिङ्ग	६	—	५
भग	—	१२	—
कटि	—	१६	—
वस्तिशिर	—	१०	—
उदर	१२	१०	—
पार्श्व	१२	१०	—
दोनों स्तनों के बीच का भाग	—	१२	—
स्तन (Nipple)	—	२	—
उरःस्थल	—	२४	१२
हृदय	—	३	—
स्कन्ध	—	८	—
अंस	—	६	—
प्रबाहु	१६	—	—
प्रपाणि	१५	—	—
हाथ	१२	—	—
कक्षा	—	८	—
त्रिकास्थि	—	—	१२
पीठ	—	—	१८

अंग प्रत्यंग	लम्बाई	चौड़ाई	परिणाह (घेरा)
ग्रीवा	४	—	१२
मुखमण्डल	१२	—	२४
मुख	—	६	—
चिबुक	—	४	—
ओष्ठ	—	४	—
कान	४	—	—
नेत्रों का मध्य	—	४	—
नासिका	४	—	—
ललाट	—	४	—
सिर	१६	—	३२
सम्पूर्ण शरीर	८४	—	—

V. सात्म्यतः परीक्षा—'सात्म्य' उसे कहते है जो मन, शरीर तथा आत्मा के साथ अभ्यस्त होने से सुखावह (अनुकूल) होता है। जो सात्म्य के विपरीत होता है, वह अनुपशय या 'असात्म्य' कहलाता है। कुछ अन्य आचार्य प्रकृति, वय, देश, ऋतु, दोष तथा व्याधि के भेद से सात्म्य को अनेक प्रकार का मानते हैं। वे उपशयमात्र को विपरीत गुण वाला होने पर भी उपचार की दृष्टि से सात्म्य मानते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से समान गुण वाला आहार भी अनुपशय होने पर असात्म्य होता है। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—"सात्म्यं नाम तद् यत् आत्मनि उपशेते, सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः"। (च० वि० १।२०)

पुनः कहा है—

"सात्म्यं नाम तत् यत् सातत्येन उपसेव्यमानं उपशेते"। (च० वि० ८।११८)

अर्थात् जो आत्मा (शरीर) के लिये सुखावह हो, उसे 'सात्म्य' कहा जाता है। सात्म्य का जो अर्थ होता है, वही उपशय का अर्थ होता है। निरन्तर सेवन करने पर अपनी प्रकृति के जो अनुकूल हो जाय, वह सात्म्य है। सात्म्य का परीक्षण दो प्रकार से किया जाता है—(क) रसानुसार, (ख) स्निग्ध रूक्ष गुणानुसार।

सात्म्य	लक्षण
१. प्रवर	इन्हें सभी रस सात्म्य होते हैं। समदोष प्रकृति के व्यक्तियों के लिये कहा गया है। ऐसे लोग बलवान्, क्लेशसहिष्णु तथा चिरायु होते हैं।

सात्म्य	लक्षण
२. अवर	इसमें कोई एक रस सात्म्य होता है। ऐसे लोग अल्प बल वाले, अल्पक्लेशसह तथा अल्पायु होते हैं।
३. मध्यम	यह प्रवर एवं अवर सात्म्य के मध्य का होता है। ऐसे लोग मध्यम बल वाले होते हैं।

उपशेते यदौचित्यादोकः सात्म्यं तदुच्यते। (च० सू० ६।४९)

ओकसात्म्यं अभ्याससात्म्यम्। (कविराज गंगाधर)

अर्थात् अनुचित आहार-विहार भी यदि निरन्तर सेवन करते रहते प्रकृति के अनुकूल हो जाय, तो उसे ओकसात्म्य कहा जाता है।

VI. सत्वतः परीक्षा—सत्व मन को कहा गया है। मन ही आत्मा के संयोग से शरीर का प्रेरक होता है। वह तीन प्रकार का होता है।

सत्व	लक्षण
प्रवर (उत्तम) सत्व	ये सत्व सार लक्षण वाले होते हैं, जिनका लक्षण पहले बताया जा चुका है। ये सत्व सार वाले पुरुष छोटा शरीर होने पर भी सत्व गुण की अधिकता के कारण आगन्तुक हेतुओं से पैदा होने वाली बड़ी विमारियों से भी नहीं घबड़ाते।
मध्यम सत्व	ये लोग मनोबल की मध्य स्थिति के कारण दूसरों द्वारा आश्वस्त करने पर सन्तुष्ट होकर मानसिक दुर्बलता पर नियन्त्रण करते हैं।
अवर (हीन) सत्व	ये लोग थोड़ी व्याधि से ग्रसित होने पर बहुत घबड़ाते हैं और दूसरे के आश्वासन का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

बहुत से लोग थोड़े कष्ट से घबड़ा जाते हैं और कुछ लोग बहुत कष्ट होने पर भी दृढ़ सहन शक्ति के कारण गम्भीर बने रहते हैं। अतः व्याधिविनिश्चय, औषधव्यवस्था एवं निदानपरिवर्जन के समय उपर्युक्त सत्व का भी ध्यान रखना चाहिए।

VII. आहारशक्तिपरीक्षा—आहार शक्ति की परीक्षा (१) अभ्यवहरण शक्ति एवं (२) जरण शक्ति या परिपाक शक्ति से करनी चाहिए, क्योंकि बल तथा आयु आहार पर ही निर्भर हैं। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

"आहारशक्तितश्चेति। आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या, बलायुषी हि आहारायत्ते"। (च०-वि० ८।१२०)

आहारशक्ति की परीक्षा वास्तव में अग्नि की परीक्षा है—

अग्नि	लक्षण
समाग्नि (श्रेष्ठ)	निर्विकार, सभी दोषों के साम्य होने का कारण समाग्नि होती है। यह मात्रा में उपयुक्त आहार को समय पर पचा देती है।
विषमाग्नि (वाताधिक्य)	यह अग्नि कभी भोजन को सम्यक् रूप से पचाती है और कभी नहीं पचाती है। वात के कारण बिषम अग्नि होती है। जो अग्नि सम्यक् रूप से कभी अन्न का पाचन करे और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, आन्त्रकूजन, जठरगौरव तथा प्रवाहण उत्पन्न करके अन्न को पचावे, वह विषमाग्नि है। यह वातविकारों को पैदा करती है। (सु. सू. ३५)
तीक्ष्णाग्नि (पित्ताधिक्य)	यह अग्नि अधिक मात्रा में ग्रहण किये गुरु आदि अन्न को पचा देती है। यही बढ़कर 'अत्यग्नि' (भस्मक) का रूप ले लेती है। तीक्ष्णाग्नि पुरुष यदि कम भोजन लेता है तो यह उसके धातुओं का पाचन करने लगती है। (सु० सू० ३५)
मन्दाग्नि (कफाधिक्य)	यह अग्नि अल्प मात्रा में उपयुक्त अन्न को भी पचाने में समर्थ नहीं होती तथा उदर एवं शिरोगौरव, कास, श्वास, प्रसेक, छर्दि व गात्रसदन को उत्पन्न कर देर में अन्न को पचाती है। (सु० सू० ३५)

VIII. व्यायामशक्तितः परीक्षा—कार्य करने की सामर्थ्य के आधार पर व्यायामशक्ति का ज्ञान किया जाता है।

"व्यायामशक्तिश्चेति। व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या। कर्मशक्त्या हि अनुमीयते बलत्रैविध्यम्"। (च० वि० ८।१२१)

कार्य करने की शक्ति से निम्नलिखित तीन प्रकार के बल का अनुभव किया जाता है—

बल	सामर्थ्य
(१) उत्तम बल	अधिक कार्य करने की शक्ति ।
(२) मध्यम बल	मध्यम कार्य करने की शक्ति ।
(३) हीन बल	अल्प कार्य करने की शक्ति ।

चरक संहित सूत्रस्थान (ग्यारहवें अध्याय) में तीन प्रकार का बल कहा गया है—

बल	लक्षण
(१) सहज	जो शरीर मन एवं के अनुसार प्राकृत रूप से होता है ।
(२) कालज	जो ऋतु एवं वयोऽनुसार होता है ।
(३) युक्तिकृत	जो आहार एवं चेष्टा (विहार) से प्राप्त होता है ।

IX. वयतः[1] परीक्षा—कालकृत शरीर की अवस्था को 'वय' कहते हैं। "कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद् वयो यथा—स्थूलभेदेन त्रिविधम्—बालं, मध्यं, जीर्णमिति" । (च० वि० ८।१२७)

विभिन्न मतानुसार वय के भेद—

महर्षि	अवस्था	वर्ष	भेद
चरक	(१) बाल्यावस्था (कफाधिक्य)	जन्म से ३० वर्ष	क–अपरिपक्व धातु–जन्म १६वर्ष ख–विवर्धमान धातु–१६से३०वर्ष
	(२) मध्यमावस्था (पित्ताधिक्य)	३१ से ६० वर्ष	
	(३) जीर्णावस्था (वाताधिक्य)	६१ से १०० वर्ष	
सुश्रुत[2]	(१) बाल्यावस्था (कफाधिक्य)	जन्म से १६ वर्ष	क–क्षीरप–जन्म से १ वर्ष तक ख–क्षीरान्नाद १–२ वर्ष तक ग–अन्नाद–२–१६ वर्ष तक

---

१. एति गच्छति इति आयु । (शब्दकल्पद्रुम) अर्थात् जो चल रहा है, वह आयु (Life or Life span) है ।

२. सु० सू० ३५।३४-३७

(२) मध्यावस्था १७ से ७० वर्ष (पित्ताधिक्य)
- क-वृद्धि-१७ से २० वर्ष तक
- ख-यौवन-२१ से ३० वर्ष तक
- ग-सम्पूर्णता-३१ से ४० वर्ष तक
- घ-हानि (ईषत् क्षीणता)-४१से७०वर्ष तक

(३) वृद्धावस्था ७१ से १०० वर्ष तक
(वाताधिक्य)

शार्ङ्गधर के अनुसार मनुष्य जीवन के प्रत्येक दशक में इस प्रकार ह्रास करता है[1]—

१.	०—१० वर्ष	बाल्य ह्रास
२.	११—२० वर्ष	वृद्धि ह्रास
३.	२१—३० वर्ष	छवि ह्रास
४.	३१—४० वर्ष	मेधा (Intelligence) ह्रास
५.	४१—५० वर्ष	त्वक् ह्रास
६.	५१—६० वर्ष	दृष्टि ह्रास
७.	६१—७० बर्ष	शुक्र ह्रास
८.	७१—८० वर्ष	पौरुष ह्रास
९.	८१—९० वर्ष	बुद्धि (Memory) ह्रास
१०.	९१—१०० वर्ष	कर्मेन्द्रिय ह्रास

X. विकृतितः परीक्षा—दशविध रोगपरीक्षा में इसका स्थान द्वितीय है, किन्तु इसका सम्बन्ध विशेष रूप से रोग से होने के कारण इसे पृथक् से अन्त में बताया जा रहा है।

विकृति 'विकार' को कहा जाता है। विकार का दूसरा नाम रोग है, अतः रोग की परीक्षाहेतु (निदान), दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल, बल तथा लक्षणों द्वारा करनी चाहिए। जिस व्याधि का दोष, दूष्य, प्रकृति, देश एवं काल समान होता है और हेतु तथा लक्षण का बल अधिक होता है, वह व्याधि बलवती होती है। इसके विपरीत होने पर दुर्बल तथा कुछ समानता एवं कुछ असमानता, कारण और लक्षणों का मध्यबल हो, तो वह रोग मध्यबल वाला होता है।

---

१. वाल्यं वृद्धिश्छविर्मेधा त्वग्दृष्टी शुक्रविक्रमौ।
बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेति जीवितं दशतो ह्रसेत्॥ (शा. सं. २।६।१९)

अष्टविध परीक्षा

परीक्ष्य	आयुर्वेदीय विधि	आधुनिक विधि
१. नाड़ी परीक्षा	वातिक विषमा (सर्प-जलौका गति); पैत्तिक तीव्र (मण्डूक-काक गति); कफज मन्द (हंस-कपोत गति); द्विदोषज (कभी मन्द कभी तीव्र) स्थानच्युत होने पर घातक); त्रिदोषज (लावा-तीतर गति)	(क) गतिक्रम—Rate ताल-नियम—Rythem शक्ति—Force पूर्णता—Volume स्पर्श—Touch धमनीगतमितिभार—Tension (ख) उच्चतरंगीय नाड़ी—Anacrotic Pulse निम्नतरंगीय नाड़ी—Dicortic Pulse जलमुद्गर नाड़ी—Water Hammer पर्यापित नाड़ी—Pulse Alternance लुप्तनाड़ी—Pulse Paradoxus
२. मूत्र परीक्षा	१. मात्रा-वर्ण गन्ध—प्रक्षिप्त द्रव्य आदि का परीक्षण ।	१. भौतिक परीक्षा— मात्रा—Quanity वर्ण—Colour पारदर्शकता—Transpirancy गन्ध—Odour विशिष्ट गुरुत्व—Specific Gravity प्रक्षेप द्रव्य—Deposite

परीक्ष्य	आयुर्वेदीय विधि	आधुनिक विधि
मूत्र परीक्षा	२. वातप्रकोप — श्यामवर्ण, अरुणवर्ण, रूक्ष अल्पमात्रा पित्तप्रकोप — हरित, पीत रक्त, उष्ण दुर्गन्धयुक्त कफप्रकोप — श्वेतवर्ण, स्वच्छ, बहुल, पिच्छिल स्निग्ध तैल परीक्षा—मूत्र को किसी चौड़े पात्र में रखकर किसी तिनके से उस पर तैल बिन्दु डालकर देखें । तैल बिन्दु विस्तृत होकर फैल जाय—साध्य तैल बिन्दु ऊपर तैरता हो, फैले नहीं—कष्टसाध्य तैल बिन्दु मूत्र में डूबकर नीचे बैठ जाय---असाध्य	२. रासायनिक परीक्षा— प्रतिक्रिया---Reaction अलब्यूमिन–Albumin एसीटोन---Acetone शर्करा---Sugar पित्त---Bile ३. अणुवीक्षणीय परीक्ष--- कास्ट Casts-Nephritis क्रिस्टल Crystals-Cystinuria विजातीय द्रव्य Foreign-Bodies माइक्रोअरगैनिज्म Micro-Organism पैरासाइट्स--Parasites
३. मल परीक्षण	वात प्रकोप — श्याम वर्ण, अरुण वर्ण, रूक्ष, कृष्ण फेनिल पित्तप्रकोप — हरित वर्ण, पीत वर्ण, उष्ण, द्रवमल दुर्गन्धयुक्त कफ प्रकोप — श्वेत वर्ण, पिच्छिल, द्विदोषज — दो दोषों के लक्षणों वाला त्रिदोषज — सफेद, काला, पीला, पतला, गाँठवाला	भौतिक परीक्षण -- मात्रा---Quantity वर्ण---Colour गन्ध---Odour बनावट--Consistency अश्मरी---Stone अपचित भोजन द्रव्य---Undigested Food Particles

परीक्ष्य	आयुर्वेदीय विधि	आधुनिक विधि
	यदि जल में डालने पर नीचे बैठ जाय, दुर्गन्धयुक्त एवं पिच्छिल हो, तो अपक्व मल समझना चाहिए। इसके विपरीत पक्व मल जल में तैरता है।	रक्त---Blood पूय---Pus श्लेष्मा---Mucous परजीवी---Parasite रासायनिक परीक्षा— प्रतिक्रिया---Reaction संगठन---Constituant
४. जिह्वा परीक्षा	वात प्रकोप — रूक्ष, खर, फटा हुआ, शीत स्पर्शयुक्त पित्त प्रकोप — रक्ता, श्यामवर्ण, उष्ण स्पर्शयुक्त, दाहयुक्त कफ प्रकोप — मलावृत्त आर्द्र, श्वेतवर्ण, पिच्छिल सन्निपात — धूमायित, कृष्ण वर्ण, शुष्क, कण्टकयुक्त, खर	भौतिक परीक्षा (दर्शन परीक्षा)--- वर्ण---Colour शुष्क अथवा आर्द्र---Moist or Dry तल---Surface, —character of Papillas —Paralysis
५. शब्द परीक्षा	वातिक — अस्पष्ट स्वर पैत्तिक — स्पष्ट स्वर श्लैष्मिक — गम्भीर स्वर	शब्द स्वरूप--- रूक्षता---Horseness of Voice मन्दता---Dullness प्रतिस्वनन---Resonance श्रवण यन्त्रणीय परीक्षा--- ---Cracking Sound —Bubbling Sound

परीक्ष्य	आयुर्वेदपि विधि	आधुनिक विधि
६. स्पर्श परीक्षा	वातिक — शीत, रूक्ष पैतिक — उष्ण श्लैष्मिक — आर्द्र शीतल स्पर्श द्वारा परीक्ष्यभाव---शीतता, उष्णता, स्विन्नता, गुरुता, लघुता, सुप्तता, असुप्तता, गुरुता, लघुता, खरता, श्लक्ष्णता, स्तब्धता, अस्तब्धता, अवनतता, उन्नतता, स्थिरता, अस्थिरता, मृदुता. कठिनता, स्पन्दता, अस्पन्दता, घनता, द्रवता, शूलता, एवं निःशूलता ।	त्वक् स्वरूप--- खरता---Roughness श्लक्षणता---Smothness ताप---Temperature अन्य परीक्षा--- आकोठनम्---Percussion परिमर्शन---Palpatiou नाड़ी---Pulse
७. दृक् परीक्षा	वातिक — रूक्ष, धूमवर्ण, अरुण पैत्तिक — हरिद्रावर्ण, रक्तवर्ण, प्रकाशासह, दाहयुक्त श्लैष्मिक — स्निग्ध, श्वेतवर्ण, श्यामवर्ण, आलस्ययुक्त, भयानक सन्निपातज — भयावह, रक्तवर्ण,	भौतिक परीक्षा--- नेत्र---Exophathalmos, Ptosis, Oldema of Lids कंजेक्टाइमा---Anaemia, Jaundice, Inflammation प्यूपिल-- Size, Regularity, Reaction to light, Accommodation नेत्रगति---Strabismus, Nystgmus फण्डस---Acuity of Vision Visual Fields

परीक्ष्य	आयुर्वेदपि विधि	आधुनिक विधि
८. आकृति परीक्षा	मुखाकृति--- (i) वर्ण (क) प्राकृतिक---कृष्ण, श्याम, श्यामावदात, गौर, (ख) वैकारिक---नील, हरित, हारिद्र, ताम्र, श्याव (ii) छाया---नाभसी वायव्या आग्नेयी आप्यसी पार्थिवी (iii) सार-समधातुसार (iv) सहंनन (v) प्रमाण (vi) देह (vii) शरीरस्थिति (viii) शरीरगति (ix) श्वासगति (x) शोथ	---Faclal Expression वर्ण---Blackish ---Whithish ---Yellowish ---Greenish प्रमाण---Hight & Weight

निदान

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः।
निदानमाहुः पर्यायैः, (अ. हृ. नि १-३)

निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय उत्थान तथा कारण इन पर्यायों से निदान कहा जाता है। अर्थात् निमित्त आदि शब्दों से जिस एक ही वस्तु का बोध होता है वही निदान है।

एषां निदानादीनां मध्ये समानासमानजातीयव्यावर्तकं कारणरूपनिदानस्य लक्षणमाह—निमित्तेत्यादिना पर्यायैरित्यन्तेन। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तन्निदानम्; यथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' (न्या. द. प्र. आ. सू. १५) इति। ननु, किं मिलितैरेकैकशो वा ? नाद्यः, एकार्थाभिधायिनां शब्दानां मिलितानामप्रयोगात्; द्वितीयश्चेत्तदा सव्यभिचारः, निमित्तस्य शकुनादौ, हेतोः प्रयोजके कर्तरि, आयतनस्य स्थाने, प्रत्ययस्य लडादौ, उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात् ? नैवम्, शकुनादीनां निमित्तादिभिः सर्वैरनभिधानात्। अत एवाह—पर्यायैरिति। नहि तेषां ते पर्यायाः, यतः क्रमेणैकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते। तस्मान्निमित्तादिशब्दैः पर्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्। एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्।

इदं तु संक्षेपतो लक्षणम्—'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्' इति। यन्मते दोषेतिकर्तव्यतारूपा सम्प्राप्तिरिष्यते तन्मते सम्प्राप्तिव्युदासार्थं 'सेतिकर्तव्यताक' इति पदं, तस्या दोषेतिकर्तव्यतारूपाया इतिकर्तव्यतान्तराभावात्। यन्मते व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः, तन्मते 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' इति लक्षणम्। उभयत्रापि 'उत्पत्ति' पदं ज्ञप्तिहेतुपूर्वरूपादिव्यवच्छेदार्थम्।

स च हेतुरनेकधा; तत्र प्रथमं चतुर्विधः, यदाह उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः-'सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट व्यभिचारि प्राधानिकभेदाच्चतुर्धा' इति। सन्निकृष्टो यथा—नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते। विप्रकृष्टो यथा—'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्' (सु. उ. ६४।३२); किंवा सन्निकृष्टो ज्वरस्य रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः। व्यभिचारी यथा—यो दुर्बलत्वाद् व्याधिकरणासमर्थः। यदाह चरकः—'(यदैते निदानादिविशेषाः) अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति, न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः' इति (च. नि. ४।४)। प्राधानिको यथा—विषादिः।

त्रिविधो वा, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणामभेदात्। तत्र, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्ता रूपरसादयः, प्रज्ञापराधो मिथ्याज्ञानादिः, परिणामोऽयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः। 'अधर्म-

स्य च रोगहेतोरत्रैवान्तर्भावः' इति भट्टारहरिचन्द्रः, तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःखकर्तृत्वात्। चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह; मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्मनोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलम्; बलाबलं त्वत्र न निरूपिप्यते, रोगकारणत्वेनाधर्मस्य सर्वथा सिद्धत्वादिति।

दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च सः त्रिविधः। दोषहेतवो यथा—चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः। व्याधिहेतवो यथा—मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृदपि दोषं प्रकोपयत्येव; यदुक्तं चरके—'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्' इति (च. चि. १६।२७) तथाऽपि तज्जैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति। उभयहेतुर्यथा वातरक्ते—'हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च' (सु. नि. १।४२) इत्यादि। तत्र यद्यपि दोषप्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजननम्, तथाऽपि दोषवद् व्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति। तेन तत्र न व्याधिहरमात्रं भेषजं प्रयोज्यम्, किन्तूभयप्रत्यनीकम्। न च वाच्यं कारणभूतदोषनिवृत्त्यैव कार्यभूतस्य व्याधेर्निवृत्तिरिति; यतः प्रतिनियतशक्तिकानि भेषजद्रव्याणि भवन्ति; कथमन्यथा श्लैष्मिकतिमिरे श्लेष्महरमेव वमनं न प्रयुज्यते ! यदुक्तं सुश्रुते-'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्' (सु. चि. ३३।१४) इति।

स एवोत्पादक-व्यञ्जकभेदाच्च द्विधा। तत्रोत्पादको यथा—हेमन्तजो मधुररसः कफस्य। व्यञ्जको यथा—तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः इति भट्टारहरिचन्द्रः। तत्र व्यञ्जकः प्रेरक इत्यर्थः।

बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा। तत्र बाह्याः--आहाराचारकालादयः। एतदभिप्रायेण तीसटाचार्यः—

'व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद्भङ्गात् क्षयाज्जागराद्,
वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्,
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥
कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-,
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां,
मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥
गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य द्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणस्सम्प्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते॥'
(चि० क० २९-३१)

आभ्यन्तरा यथा—दोषा दूष्याश्च । तत्र, दोषोऽपि प्रकुपितः प्राकृतादिभेदादनेकधा । प्राकृतो यथा–वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं, प्रावृषि वायुः । वैकृतस्तु यथा–वसन्ते पित्तं वायुर्वा, वर्षासु कफः पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा । अस्य प्रयोजनं सुखसाध्यत्वादि । यदुक्तं चरके—'प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' (च. चि. ३। ४२) इत्यादि ।

अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा । अनुबन्ध्यः प्रधानम्, अनुबन्धोऽप्रधानम् । यदाह चरकः–'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः' (च. वि. ६।४२) इति । अस्य प्रयोजनं संसर्गजे व्याधावनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेन । तदुक्तं चरके–'तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधानप्रशमात् प्रशमः' (च. चि. २१।४०) इति । उपद्रवोऽनुबन्धः ।

प्रकृतिविकृतितो यथा—वातप्रकृतेर्वातरोगः कष्टसाध्यो भवति, कफपित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्यः यदाह सुखसाध्यलक्षणे चरकः–'न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्' (च. सू. १०।११) इति ।

आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति तदा स्वमानस्थोऽपि स विकारं जनयति । यदाह चरकः–'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति । तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च' इति (च. सू. १७।४५-४६) । अस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानानयनं कार्यं, नतु पित्तस्य ह्रासनं; 'ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विदन्ति, ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादयन्त आतुरमतिपातयन्ति' इति भट्टारहरिचन्द्रः । अन्ये त्वाहुः—भ्राजकादिभेदेन सर्वदेहस्थिते पित्ते यदा स्वाशयाकृष्टं पित्तमवयवान्तरमनिलेन प्रापितम्, तदा तदवयवान्तरस्थं पित्तमागन्तुपित्तसंबन्धेनाधिकमेव जातम्, ततो वृद्धिलक्षणैवेयं दुष्टिर्न दुष्टचन्तरम्, अन्यथा दाह एव न स्यात्; नहि स्वमानस्थो दोषो विकारं जनयतीति । भट्टारहरिचन्द्रस्य त्वयमभिप्रायः–यद्यप्येवम्, तथाऽपि चिकित्साभेदार्थं वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तस्थानान्तरगतिरूपो दुष्टिविशेषोऽवश्यमेवैष्टव्यः, अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनम् पित्तह्रासनं वा कार्यं, नच तत्तत्र योग्यम्, किन्तु स्वस्थानानयनम् । यच्चोक्तं चरकेण–'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः' (च. सू. १७।११२) इत्यादि, तत् प्रायिकमिति ।

गतितो यथा—गतिर्दोषाणां क्षीणवृद्धत्वादयः। यदुक्तं चरके-'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः। ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधा परा। त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु' (च. सू. १७।११२) इति। अत्र स्थानमिति समत्वम्। तत्र क्षयादिलक्षणं यथा-'दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं, समाः स्वं कर्म कुर्वते' (च. सू. १७।६२) इति। स्वम् लिङ्गमिति कुपितस्य वायौ रौक्ष्यादयो धर्माः, कर्माणि च स्रंसशूलादीनि। यदाह चरकपाठसंवादी सुदान्तसेनः-

'आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः,
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।
पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहाः,
विस्पन्दोद्धट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षों,
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा,
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च॥
विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनम्,
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ।
ऊष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसाः,
वर्णः पाण्डुविवर्जितः क्वथितता कर्माणि पित्तस्य वै॥
तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्।
स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च॥
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात्॥
द्विदोषलिङ्गः संसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः' इति।

लिङ्गज्ञानप्रयोजनं च चिकित्साभेदार्थम्। यदाह सुश्रुतः—'क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः' (सु. चि. ३३।३) इति।

ऊर्ध्वादिगतिर्यथा--ऊर्ध्वगं रक्तपित्तमित्यादि। अस्य प्रयोजनम्-रक्तपित्तस्योर्ध्वगस्य विरेचनम्, अधोगस्य वमनम्। यथोक्तं चरके—'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'—(च. नि. २।१९) इति। यस्तु गतिभेदानभिज्ञः सः 'विरेकः पित्तहराणां' (च. सू. २५।४०) इति वचनादधोगे रक्तपित्ते विरेकं प्रयुञ्जान आतुरस्यानर्थमेवापादयति; ज्वरादिषु तिर्यग्दोषगतिषु

यथोक्तं चिकित्सितमिति। वृद्धा दोषाः कदाचित् कोष्ठं कदाचिच्छाखाः कदाचिन्मर्मास्थिसन्धीनाश्रित्य रुजन्ति; मर्मास्थिसन्धिषु गतिः कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा। कोष्ठ अमाशयादिः, शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् चेति, चरककृता एवैताः संज्ञाः।

कोष्ठाद्यभिधानप्रयोजनं चिकित्साभेदार्थम्। यथोक्तं चरके—'आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च' (च. सू. १४।९); तथा-'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः' (सु. उ. ३९।६७) इत्यादि। तथा-'नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च' (च. चि. २५।१०६) इति।

एते च दोषाः सामत्वनिरामत्वाभ्यामपि ज्ञातव्याः। यदुक्तम्—

'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥
आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥
स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः।
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलभेदारुचिक्लमाः॥
लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः'। (अ.हृ.नि१३।२४-२७)
वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः।
वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत्॥
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि॥
निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीतगुणैः शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषतः॥
दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥
आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम्॥
आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत्॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एवं च॥
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत् इति।

अस्य प्रयोजनं सामे पाचनम्, निरामे शमनमिति।

एते च दोषाः परस्परसंबद्धास्तरतमादिभेदेन द्विषष्टिधा भवन्ति। तदुदाहरणानि विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिख्यन्ते, सौश्रुतदोषभेदविकल्पाध्याये (उ. त. अ. ६६) द्रष्टव्यानि। उक्तहेतुदोषभेदयोः संग्रहश्लोकौ—

'चत्वारो व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकत्वात् पुनः,
तेऽसात्म्येन्द्रियवार्थयुक्परिणतिप्रज्ञापराधात् त्रिधा।
रुग्दोषोभयकारणादपि तथा, द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ,
बाह्याभ्यन्तरभेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी॥

दोषस्य च प्राकृतवैकृताभ्यां, भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात्।
तथा प्रकृत्यप्रकृतित्वयोगात्तथाऽऽशयाकर्षवशाद् गतेश्च॥'

इति निदानम्।

सरोज व्याख्या—समान जाति (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति) तथा असमान (विशिष्ट) जाति के व्यावर्तक (भेदक) लक्षण अर्थात् पूवरूप आदि पाँचों को परस्पर भिन्न (पार्थक्य) करने वाले लक्षणों को बतलाना आवश्यक है, अतः अब कारणरूप निदान का लक्षण बतलाया जा रहा है। निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण—इन शब्दों से जिसका ज्ञान होता है, उसे 'निदान' कहा जाता है। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'इह खलु हेतुनिमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्' (च० नि० १।३) अर्थात् इस प्रकरण में हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान—ये सभी शब्द परस्पर एक दूसरे से अभिन्नार्थक (पर्यायवाची) हैं, जिनका अर्थ निम्नलिखित है—

( ) हेतु—'हिनोति (व्याप्नोति) कार्यम्'। 'हि गतौ' धातु से उणादि 'तुन्' प्रत्यय के मिलने से 'हेतु' शब्द बनता है। अर्थात् जो स्वसम्बन्धित कार्य में व्याप्त हो, उसे 'हेतु' कहा जाता है।

(२) निमित्त—'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः' इति अमरः। हेतु तथा लक्ष्म (शुभ एवं अशुभ चिह्न) के अर्थ में 'निमित्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(३) आयतन—आयतन्तेऽत्र। 'यती प्रयत्ने', अधिकरणे ल्युट्। इस तरह से 'आयतन' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'स्थान' होता है।

(४) कर्त्ता—तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति, स एव हेतुः, स कर्त्ता (च० वि० ८।५६)। जो स्वतंत्र रूप से किसी कार्य को करता है, उसे कारण कहते हैं, वही हेतु है और वही कर्त्ता कहा जाता है।

(५) कारण—'हेतुर्ना कारणं बीजं निदानम्' इति अमरः। अर्थात् हेतु,

कारण, बीज एवं निदान अर्थ में कारण शब्द का प्रयोग होता है। 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्' कार्य से पूर्व निश्चित रूप से रहना अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, जिससे उस कार्य की उत्पत्ति होती है, उसका निश्चित रूप से रहना, उस कार्य का कारण कहा जाता है। यह समवायि कारण, असमवायि कारण एवं निमित्त कारण भेद से तीन प्रकार का होता है। रोग की उत्पत्ति में दोष एवं दूष्य को विकृत करने वाले अभिघात, जीवाणु एवं मिथ्याहार-विहार निमित्त कारण (निदान), दोषों का वैषम्य समवायि कारण तथा दोष-दूष्यों का संयोग असमवायि कारण होता है।

(६) प्रत्यय--'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इति अमरः। अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास एवं हेतु—इन अर्थों में प्रत्यय शब्द का प्रयोग होता है। व्याकरण में प्रत्यय शब्द से लट्, लिट्, लुट् आदि का बोध होता है।

(७) उत्थान--'उत्थान' शब्द का अर्थ उद्गम और उत्सर्ग होता है। चरक ने समुत्थान शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ उठना या उमड़ना होता है।

यहाँ विद्वान् व्याख्याकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या ये निदानादि शब्द मिलकर रोग का कारण बनते हैं अथवा अलग-अलग। यदि मिलकर रोग का कारण बनते हैं--ऐसा कहा जाय, तो यह युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि लोक में एकार्थवाचक शब्द मिलकर प्रयुक्त नहीं किये जाते; क्योंकि उनमें से एक के प्रयोग से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यदि यह कहें कि ये शब्द पृथक्-पृथक् निदान के ज्ञापक हैं, तो व्यभिचार (अतिव्याप्ति) दोष आ जाता है, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। अतः इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्वयं आचार्य विजयरक्षित ने कहा है कि यहाँ निमित्तादि शब्द पर्याय होने से परस्पर एकार्थबोधक हैं तथा रोगोत्पादक कारण अर्थ के ज्ञापक है। शास्त्र में व्यवहारार्थ वर्णनसौकर्य के लिये पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

निदान का लक्षण--'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'।

अर्थात् इतिकर्तव्यतासहित रोगोत्पादक हेतु (कारण) को निदान कहा जाता है। जो आचार्य दोष-दूष्य सम्मूर्च्छनादिजनित कर्त्तव्यतारूप विकारों को ही रोग और विकार के प्रादुर्भाव को 'सम्प्राप्ति' मानते हैं, ज्वरादि रोग तो उनकी विकृति के कार्यमात्र होते हैं, इनके मत से सम्प्राप्ति जो रोगत्पादक हेतु, वहाँ अतिव्याप्ति दोष न हो जाय, इसलिए सेतिकर्त्तव्यता' यह पद कहना चाहिए। सम्प्राप्ति तो दोषेति-कर्त्तव्यता अर्थात् मूर्च्छादिजनित विकाररूप होती है। जैसे--'यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता' अर्थात् कुपित दोष की शरीर के किस-किस अवयव में गति होकर रोग की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार 'दूषित दोष की गति' इतना कह

देने में रोग के प्रादुर्भाव की सम्प्राप्ति 'दोषेतिकर्तव्यता' के अतिरिक्त अन्य कोई 'इतिकर्त्तव्यता' नहीं रह जाती है। निदान में अनेक हित-सेवन तथा उससे जायमान दोष, प्रकोप से जन्य रोगों का प्रादुर्भाव सिद्ध होता है।

जो आचार्य व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति-लक्षण कहते हैं, उनके सिद्धान्त में निदान का लक्षण 'व्याध्युत्पत्ति हेतु' होगा। अर्थात् व्याधि (रोग) को उत्पन्न करने के कारण को निदान कहा जाता है। 'निदान' और 'सम्प्राप्ति' इन दोनों स्थानों में 'उत्पत्ति' इस पद से रोगों के अवगम्य कारण का पूर्वरूप आदि से भेद स्पष्ट हो जाता है।

हेतु का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से निम्नलिखित प्रकार से किया गया है--

I. चार प्रकार का निदान--

(क) सन्निकृष्ट,, (ख) विप्रकृष्ट, (ग) व्यभिचारी, (घ) प्राधानिक।

II. तीन प्रकार का निदान--

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (ख) प्रज्ञापराध, (ग) परिणाम।

III. पुनः तीन प्रकार का निदान--

(क) दोषहेतु, (ख) व्याधिहेतु, (ग) दोष व्याधि-उभय हेतु।

IV. दो प्रकार का निदान--

(क) उत्पादक, (ख) व्यञ्जक।

V. पुनः दो प्रकार का निदान---

(क) बाह्य, (ख) आभ्यन्तर।

दोषावस्था-भेद से निदान के भेद---

I. प्रथम दो प्रकार—

(क) प्राकृत, (ख) वैकृत।

II. पुनः दो प्रकार—

(क) अनुबन्ध्य, (ख) अनुबन्ध।

III. पुनः दो प्रकार—

(क) प्रकृति, (ख) विकृति।

IV. एक प्रकार—

आशयापकर्ष।

V. तीन प्रकार का गतिभेद से—

१. दोषों की विशिष्ट अवस्थाभेद से—

(क) क्षय, (ख) वृद्धि, (ग) सम।

२. प्रकारान्तर भेद से—

(क) ऊर्ध्व, (ख) अधः, (ग) तिर्यक् ।

३. आश्रम भेद से—

(क) वाह्यरोग मार्ग, (ख) मध्यम रोगमार्ग, (ग) आभ्यन्तर रोगमार्ग, ।

VI. पुनः दो भेद—

(क) साम, (ख) निराम ।

I. भट्टार हरिचन्द्र ने उपकल्पनीय अध्याय में निदान के निम्नलिखित चार भेद बतलाये हैं---

(क) सन्निकृष्ट हेतु--सन्निकृष्ट का मतलब सन्निकट (समीप) होता है । दिन-रात, भोजन के आदि, मध्य और अन्त में क्रमशः कफ, पित्त और वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकोप के लिये दोषों के सञ्चय की आवश्यकता नहीं होती । यह स्वभाव से होता है।

(ख) विप्रकृष्ट हेतु—दूरस्थ कारण विप्रकृष्ट हेतु कहा जाता है । जैसे हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुआ कफ वसन्त ऋतु में कफज रोग उत्पन्न करता है । ज्वर का सन्निकृष्ट हेतु रूक्षान्न-पान सेवन एवं विप्रकृष्ट हेतु रुद्रकोप है ।

(ग) व्यभिचारी हेतु---जो हेतु दुर्बल होने से रोग को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, उसे 'व्यभिचारी हेतु' कहते हैं---'अबलीयांसोऽथवा अनुबन्ध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः' (च० नि० ४।५) अर्थात् निर्बल दोष और दूष्य का संयोग होने पर भी रोगोत्पत्ति नहीं होती ।

(घ) प्राधानिक हेतु---उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित कर रोगों को उत्पन्न करने वाला हेतु 'प्राधानिक' कहा जाता है । जैसे---विष आदि ।

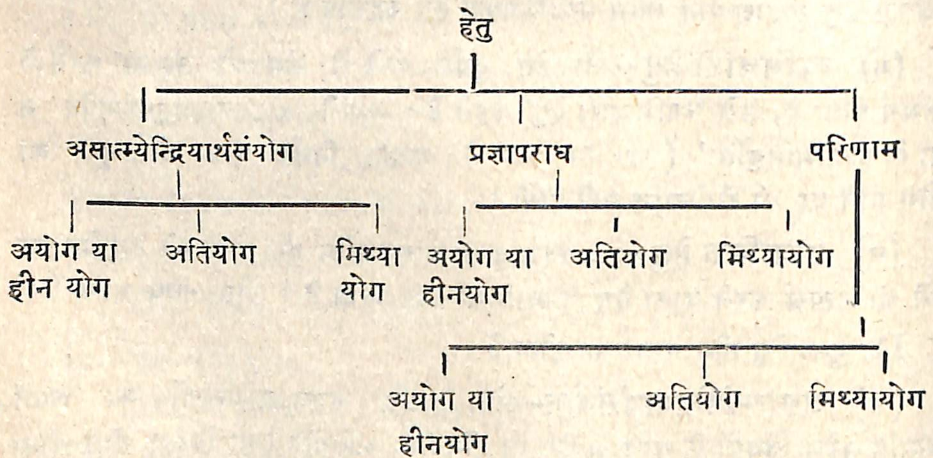
II. पुनः हेतु तीन प्रकार का होता है---

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग---श्रोत्र आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का अपने शब्दादि पाँच विषयों के साथ अयोग या हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्या योग होना असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहलाता है । जैसे---चक्षु आदि इन्द्रियों का रूप आदि विषयों से अत्यधिक संयोग अतियोग है । स्वल्प अथवा बिलकुल ही संयोग न होना अयोग है । अतिसूक्ष्म, अतिदूर, अति निकट, अत्यन्त भास्वर (चमकीला), अतिभैरव (अत्यन्त भीषण), अत्यन्त अप्रिय और विकृति आदि वस्तुओं का दर्शन चक्षु इन्द्रिय का रूप के साथ मिथ्यायोग है ।

(ख) प्रज्ञापराध---शरीर, वाणी और मन---इन तीनों के द्वारा किया जाने वाला अहित कर्म 'प्रज्ञापराध' है । इनमें शरीर, वाणी और मन द्वारा किये हुए कर्मों

की अतिप्रवृत्ति अतियोग है, अल्प प्रवृत्ति अथवा सर्वथा अप्रवृत्ति अयोग कहा जाता है। मल-मूत्र आदि वेगों का उदीरण (बलात् प्रवर्त्तन) अथवा धारण, शरीर के अङ्गों द्वारा विषम चेष्टा करना, स्खलन (गिरना), कण्डूयन (खुजलाना), प्रहार (चोट लगना), प्राणायाम (प्राणों का आयाम-विस्तार) आदि शरीर का मिथ्यायोग है। भूख, प्यास, खाते समय बोलना आदि वाणी का मिथ्यायोग है। दशविध निन्दित कर्म--हिंसा, चोरी, अगम्य स्त्रीगमन, पैशुन्य (निन्दा करना), परुषता (क्रोधयुक्त वचन), असत्य बोलना, सम्भिन्नालाप (फूट डालने वाला वचन), व्यापाद् (बुरा चिन्तन), अभिध्या (पर धन की इच्छा), दृग्विपर्यय (बुरे को अच्छा एवं अच्छे को बुरा समझना) शरीर, वाणी एवं मन का मिथ्यायोग है।

(ग) परिणाम---परिणाम काल को कहते हैं। अर्थात् शीत, उष्ण एवं वर्षा भेद से यह तीन प्रकार का होता है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं में अपने स्वाभाविक लक्षणों से उष्णता आदि का अधिक होना काल का अतियोग कहलाता है, अपने लक्षणों से हीन होना, हीनयोग अथवा अयोग कहलाता है तथा ग्रीष्मादि ऋतुओं में अपने लक्षणों के विपरीत शीत आदि का होना मिथ्यायोग कहलाता है।



III. पुनः हेतु तीन प्रकार का होता है---

(क) दोषहेतु---ऋतुओं के अनुसार दोषों का सञ्चय, प्रकोप और प्रशम होता रहता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में वायु का सञ्चय होता है और वर्षा में प्रकोप होता है। इन ऋतुओं में कटु, तिक्त एवं कषाय रस बलवान् होते हैं, जो वात दोष के प्रकोप का कारण होते हैं।

(ख) व्याधि हेतु---दोष निरपेक्ष निश्चित व्याधि का उत्पादक कारण व्याधिहेतु कहा जाता है। जैसे मिट्टी खाने से पाण्डुरोग होता है। यद्यपि मिट्टी खाने से

दोषप्रकोप होता है किन्तु मृत्तिकाभक्षणजन्य दोषों से पाण्डु रोग ही उत्पन्न होता है, इसलिए मिट्टी खाना निश्चित रूप से पाण्डु रोग का उत्पादक हेतु होने से 'व्याधि-हेतु' कहा जाता है।

(ग) दोष-व्याधि-उभय हेतु—किसी विशिष्ट दोष का प्रकोपक होते हुए किसी विशिष्ट रोग का भी उत्पादक हेतु 'उभय हेतु' कहा जाता है। जैसे हाथी, ऊँट और घोड़ा आदि वाहनों पर चढ़ने से वात की एवं विदाही अन्न के सेवन से पित्त और रक्त की वृद्धि होती है, किन्तु उक्त वाहन एवं विदाही अन्न के सम्मिलित सेवन से 'वातरक्त' उत्पन्न होता है। अतः इन्हें उभय हेतु कहा जाता है। यद्यपि उक्त निदान से दोष प्रकोप होकर ही व्याधि की उत्पत्ति होती है, किन्तु वे जैसे निश्चित दोष के प्रकोपक हैं वैसे ही निश्चित व्याधि के उत्पादक भी होते हैं, अतः इन्हें 'उभय हेतु' कहा जाता है।

इसकी चिकित्सा में न तो केवल व्याधिनाशक औषधि कार्य करेगी और न केवल दोषहर; यहाँ तो उभयहर औषधि का प्रयोग लाभप्रद होगा।

'दोषसाम्यम् अरोगता' के अनुसार प्रकुपित दोष की साम्यावस्था में आने मात्र से व्याधि स्वयं शान्त हो जानी चाहिए; क्योंकि सभी रोगों का कारण दोष माना गया है, इसलिए कारणभूत दोष की निवृत्ति से कार्यभूत व्याधि की निवृत्ति स्वयं हो जानी चाहिए। लेकिन इसका उत्तर देते हुए आचार्य विजयरक्षित ने कहा कि औषधियों की शक्ति प्रतिनियत (सीमित) होती है, अर्थात् कुछ औषधद्रव्यों का प्रभाव दोषों पर एवं कुछ औषधद्रव्यों का प्रभाव रोगों पर होता है और कुछ औषध-द्रव्य ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव दोनों पर समान होता है, इसलिए यह आवश्यक नहीं हैं कि कारणभूत दोष के शान्त होने पर व्याधि शान्त हो जाय। जैसे श्लैष्मिक तिमिर में वमन का निषेध है। वैसे तो वमन कफ-प्रकोप की परमौषधि बतायी गयी किन्तु श्लैष्मिक तिमिर में वमन देने से कफ नष्ट होने पर भी तिमिर रोग बढ़ जाता है, इसलिए महर्षि सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीड़ितम्'।

IV. पुनः हेतु दो प्रकार का होता है—

(क) उत्पादक हेतु—हेमन्त ऋतु में उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक होता है।

(ख) व्यञ्जक हेतु—व्यञ्जक का अर्थ प्रेरक अथवा अभिव्यक्तिकारक होता है। हेमन्त में सञ्चित कफ वसन्त में सूर्यसन्ताप से प्रकुपित होता है। अतः सूर्य-सन्ताप कफ का व्यञ्जक हेतु होता है।

V. पुनः हेतु दो प्रकार का बतलाया गया है--

(क) बाह्य हेतु--आहार, आचार एवं काल आदि बाह्य कारण होते हैं।

(ख) आभ्यन्तर हेतु--शरीरस्थ दोष एवं दूष्य आभ्यन्तर कारण हैं।

प्रकुपित दोष के प्राकृत आदि अनेक भेद हैं---

I. दोष के दो प्रकार के भेद—(क) प्राकृत एवं (ख) वैकृत।

(क) प्राकृत दोष--वसन्त में कफ का, शरद् में पित्त का और वर्षा में वायु का प्राकृत (स्वभावतः) प्रकोप होता है।

(ख) वैकृत दोष--बसन्त में पित्त अथवा वायु, वर्षा में कफ अथवा पित्त और शरद् में कफ अथवा वायु का प्रकोप 'वैकृत' होता है। रोगों की सुखसाध्यता आदि के ज्ञान के लिए इसके जानने की उपयोगिता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा—'प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' (च० चि० ३) अर्थात् वसन्त एवं शरद् ऋतु में होने वाला प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है।

II. पुनः दोष दो प्रकार का होता है—

(क) अनुबन्ध्य एवं (ख) अनुबन्ध।

(क) अनुबन्ध्य—'अनुबन्ध्यः प्रधानम्' अर्थात् अनुबन्ध्य का अर्थ प्रधान हेतु होता है। जो दोष स्वतन्त्र व्यक्त लक्षणों वाला हो, जिसके कारण एवं चिकित्सा भी स्वतन्त्र निर्दिष्ट हो, उसे 'अनुबन्ध्य' (प्रधान) कहते हैं।

'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्व-नुबन्धः'। (च० चि० ६)

(ख) अनुबन्ध—'अनुबन्धोऽप्रधानम्' अर्थात् अनुबन्ध अप्रधान (गौण) हेतु होता है। जो दोष परतन्त्र (अन्य) दोष भी अपेक्षा करने वाला हो, अर्थात् प्रधान दोष के प्रकोप से प्रकुपित एवं उसके शमन से शान्त होने वाला हो, जिसके लक्षण स्पष्ट व्यक्त न हो एवं जिसका प्रकोप तथा प्रशमन शास्त्रोक्त विधि से न हो, उसे 'अनुबन्ध' या 'अप्रधान' कहा जाता है।

इसका प्रयोजन संसर्गज रोगों में चिकित्सा की दृष्टि से है। अनुबन्ध (अप्रधान) दोष का विरोध न करते हुए अनुबन्ध्य (प्रधान) की विशिष्ट चिकित्सा करना ही अनुबन्ध्य-ज्ञान का प्रयोजन है। इसी को महर्षि चरक ने भी कहा है कि प्रधान रोग के प्रशमन से उपद्रव (गौण) स्वयं शान्त हो जाता है। (च० चि० २१) 'उपद्रवोऽनुबन्धः' अर्थात् उपद्रव को अनुबन्ध कहा गया है।

III पुनः दोष दो प्रकार का होता है—

(क) प्रकृतितः एवं (ख) विकृतितः।

(क) प्रकृतितः----जिस व्यक्ति की जो दोष (देह) प्रकृति होती है, उस दोष से होने वाली व्याधि 'प्रकृतिसदृश दोषजन्य' व्याधि कही जाती है। ऐसी व्याधि प्रकृति सदृशजन्य होने से कृच्छ्रसाध्य कही जाती है। वातप्रकृति व्यक्ति की वात व्याधि कष्टसाध्य होती है।

(ख) विकृतितः---मिथ्या आहार-विहार का सेवन करने से अपनी प्रकृति से भिन्न दोष के प्रकुपित होने से होने वाली व्याधि (प्रकृतिविसदृशदोषजन्य) विकृतिजन्य कहलाती है। जैसे वात प्रकृति वाले को पित्त या कफ से होने वाली व्याधि। ऐसी प्रकृतिविसदृश दोष से उत्पन्न व्याधि सुखसाध्य कही जाती है।

IV पुनः दोष एक प्रकार का होता है---आशयापकर्ष।

दोषों के स्थानान्तर-गमन को विजयरक्षित ने 'आशयापकर्ष' कहा है। दोषों के स्थानान्तरण-गमन (आशयापकर्ष) से भी व्याधि उत्पन्न होती है। जब प्रकुपित वायु समान अवस्था में अवस्थित किसी दोष को उसके अपने आशय से आकृष्ट कर स्थानान्तरण को ले जाता है, तब समान अर्थात् साम्यावस्था में रहने वाला वह दोष पित्त अथवा कफ रोगोत्पादक हो सकता है।

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च॥ (च० सू० १७।४५-४६)

अर्थात् जब श्लेष्मा के क्षीण होने पर वृद्ध वायु उचित मात्रा एवं स्थान में स्थित पित्त को उसके प्रधान स्थान ग्रहणी से आकर्षित कर शरीर के जिस भाग में लेकर घूमता है। वह अस्थिर रूप में भेदनवत् पीडा, दाह, श्रम एवं दौर्बल्य को पैदा करता है।

उपर्युक्त स्थिति में यहाँ वातवैगुण्य होता है। अतः विगुण वात को अपने स्थान में लाना चाहिए, दाह आदि लक्षण देखकर पित्त का ह्रास (शमन) नहीं करना चाहिए। जो चिकित्सक विगुण वात द्वारा पित्त का आकर्षण होता है---ऐसा न मानकर, दाह आदि लक्षण देखकर पित्तवृद्धि मानते हैं और पित्तशामक चिकित्सा करते हैं, वे पित्तक्षयजन्य अन्य रोगों को उत्पन्न कर रोगी को मार डालते हैं। ऐसा भट्टारहरिचन्द्र का कथन है।

अन्य आचार्यों का कथन है कि पाचन, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक भेद से पित्त पाँच प्रकार का होता है। इनमें भ्राजक पित्त सम्पूर्ण देह में स्थित

होता है। पुनः जब वायु अपने आशय में अवस्थित पित्त को खींचकर अन्य अवयवों में पहुँचा देता है, तब स्वाशयस्थ पित्त और आगन्तुक पित्त के मिल जाने से पित्त की वृद्धि हो जाती है, जिससे पित्तवृद्धिजन्य पाद-दाह आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, न कि और किसी प्रकार की दुष्टि होती है। चूँकि पित्त की दुष्टि के बिना दाह नहीं हो सकता, क्योंकि साम्यावस्था में रहकर दोष विकार को उत्पन्न नहीं कर कर सकता। इस शंका का निराकरण करते हुए भट्टारहरिचन्द्र ने कहा है, यह सत्य है कि पित्तवृद्धि के विना पाद-दाह आदि रोग उत्पन्न नहीं हो सकते, लेकिन चिकित्सा की दृष्टि से वृद्धि, क्षय के अतिरिक्त स्थानान्तर गतिरूप (आशयापकर्ष) दोष की दुष्टि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। अन्यथा पाददाह में पित्तवृद्धि को देखकर विरेचन अथवा अन्य पित्तशामक चिकित्सा हानिप्रद एवं अनुपयुक्त होगा। ऐसी स्थिति में स्थानान्तरित पित्त को अपने स्थान में लाना ही उपयुक्त चिकित्सा है। स्थानान्तरित पित्त एवं वृद्ध पित्त की चिकित्सा में यही अन्तर है। इसलिए आशयापकर्ष का ज्ञान आवश्यक है।

महर्षि चरक ने क्षय, अपने स्थान में स्थिति एवं वृद्धि तीन प्रकार की दोषों की गति बतलायी है, इसमें स्थानान्तर-गमन (आशयापकर्ष) का नामोल्लेख नहीं है, तो फिर इसका वर्णन क्यों किया गया है ? इसका उत्तर देते हुए विजयरक्षित ने कहा है कि चरक का कथन प्रायिक अर्थात् प्रायः है।

V. दोषों का तीन प्रकार गतिभेद से---

(१) दोषों की गति क्षय, वृद्धि एवं सम अवस्था भेद से तीन प्रकार की होती है। प्रवृद्ध दोष अपने बलानुसार लक्षणों को वृद्ध, वृद्धतर और वृद्धतम रूप में प्रकट करते हैं। इसी प्रकार दोषों का क्षय होता है, जिसमें वे अपने लक्षणों को त्याग देते हैं। यदि दोष साम्यावस्था में रहते हैं, तब वे अपना कार्य ठीक तरह से सम्पन्न करते हैं। दो दोषों के लक्षण हो, तो संसर्ग और तीनों दोष के लक्षणों के मिलने पर सन्निपात होता है। लक्षणों के ज्ञान का प्रयोजन चिकित्साभेद के लिए होता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है---'क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः' (सु० चि० ३३) अर्थात् यदि क्षीण दोष हो जाय, तो उन्हें बढ़ाना चाहिए, यदि दोष बढ़ जाय, तो उन्हें क्षीण करना चाहिए और यदि साम्यावस्था में रहें, तो उनका रक्षण करना चाहिए।

(२) प्रकारान्तर भेद से दोषों की ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिर्यक् गति---ये भी तीन प्रकार की होती हैं। दोषों की ऊर्ध्वादि गति का उदाहरण---रक्तपित्त में वमन लाभप्रद होता है; क्योंकि चरक संहिता में कहा गया है---'प्रतिमार्गं[1] च हरणं

१. प्रतिलोमं इति।

रक्तपित्तो विधीयते'। (च० नि० २) अर्थात् रक्तपित्त में प्रतिलोम की चिकित्सा अभीष्ट है। जो चिकित्सक दोषों के इस प्रकार के जातिभेद-ज्ञान से शून्य होगा, वह विरेचन को पित्त की परमौषधि मानकर अधोग रक्तपित्त में विरेचन का प्रयोग करेगा, जिससे रोग की वृद्धि अथवा रोगी की मृत्यु हो सकती है। ज्वरादि रोगों में दोषो की तिर्यक् गति होने पर यथानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

(३) आश्रयभेद से वृद्ध दोष कभी कोष्ठ, कभी शाखा तथा कभी मर्मास्थिसन्धि में आश्रित होकर पीड़ा करते हैं। दोषों की मर्मास्थिसन्धि में गति कृच्छ्रसाध्य अवस्था की सूचक होने पर एक ही मानी गयी है। अर्थात् मर्मास्थिसन्धि में होने वाला रोग कृच्छ्रसाध्य होता है।

कोष्ठ शब्द से आमाशय आदि, शाखा शब्द से रक्त आदि धातुएँ तथा त्वचा का ग्रहण करना चाहिए। कोष्ठशाखा आदि का कथन चिकित्सावैशिष्ट्य और चिकित्साभेद के लिये किया गया है। विभिन्न कोष्ठों एवं धातुओं में दोष की उपस्थिति होने पर चिकित्सा भी विभिन्न प्रकार की होती है। जैसा कि चरक ने कहा है—

'आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ (च० सू० ४।६)

अर्थात् यदि आमाशय में वातप्रकोप हो जाय, तो रुक्षपूर्वक स्वेदन तथा यदि पक्वाशय में कफ का प्रकोप हो जाय, तो स्नेहपूर्वक स्वेदन करना चाहिए। चूँकि आमाशय कफ का स्थान है, इसलिए आमाशय में वात का प्रकोप होने पर पहले कफजदोष को दूर करना चाहिए, जिसका वह स्थायी आशय है और बाद में बाहर से आये हुए दोष वात की चिकित्सा करनी चाहिए। इसलिए पहले रूक्षस्वेद द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिए। इसके पश्चात् आगन्तुक वात दोष के प्रतिकार के लिये स्निग्ध स्वेदन करना चाहिए। जैसा कि वाग्भट्ट ने कहा है--

'आगन्तुं शमयेद् दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य च'। (अ० सं० सू० १६)

इसी प्रकार पक्वाशय में वात का स्थान है, तद्गत कफ की शान्ति के लिये वातशामक स्नेहन करने के पश्चात् वात एवं कफ शामक स्वेदन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने कहा है—'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः'। (सु० उ० ३९) अर्थात् सन्तत ज्वर रस-धातु में, सतत ज्वर रक्त-धातु में और अन्येद्यु मांसधातु में रहता है, इन ज्वरों की आश्रयभूत धातु का ज्ञान होने पर धातु एव दोष दोनों पर क्रिया करने वाली औषधि का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। पुनः चरक ने कहा है--'नाग्निकर्मोपदेष्टव्य स्नायुमर्मव्रणेषु च'। (च. चि. २५)

अर्थात् स्नायु एवं मर्मस्थ व्रणों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। चिकित्सासौकर्य के लिये उपर्युक्त ज्ञान परमावश्यक है।

दोष के (क) साम एवं (ख) निराम भेद से भी दो प्रकार है--

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ (अ० सं० सू० २१।३६-३७)

ऊष्मा (जाठराग्नि) के निर्बल हो जाने से रस नामक आदि धातु परिपक्व (जीर्ण) नहीं होता। तब यह दूषित रस जब आमाशय में पहुँच जाता है, तो उस रस को 'आम' कहते हैं। उस आम से संयुक्त होने पर दोष और दूष्य दूषित हो जाते हैं, तो उन सबको 'साम' कहा जाता है। उनसे होने वाले रोग को भी 'साम' कहते हैं।

साम एवं निराम दोष का लक्षण

साम दोष[1]	निराम दोष
१. स्रोतोरोध (ऊर्ध्व-अधो दोष-अप्रवृत्ति)	१. स्रोतःशुद्धि
२. बलहानि	२. बल-प्रादुर्भाव
३. शरीर में भारीपन	३. शरीर में हलकापन
४. वायु की मूढ़ता (सम्यक् असंचार)	४. वायु का अनुलोमन
५. आलस्य (अनुत्साह)	५. स्फूर्ति
६. आहार का अपाक	६. अन्नपाक
७. निष्ठीव (मुखस्राव)	७. कफ का अनुद्गिरण
८ मलसङ्ग (अप्रवृत्ति)	८. मलप्रवृत्ति
९. अरुचि (अन्नविद्वेष)	९. आहार में रुचि
१०. क्लम (ग्लानि)	१०. उत्साह

१. स्रोतोरोध-बलभ्रंश-गौरवानिलमूढताः।
आलस्यापक्तिनिष्ठीव-मलसङ्गारुचिक्लमाः॥
लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ॥ (अ० हृ० सू० १३।२३-२५)

त्रिदोषों के अनुसार साम निराम लक्षण

वात		पित्त		कफ	
साम	निराम	साम	निराम	साम	निराम
विबन्ध	निर्विबन्ध	दुर्गन्ध	गन्धरहित	आविल (गँदला)	फेनवान्
अग्निमान्द्य		हरित वर्ण	ताम्रवर्णाभ	तन्तुल	पिण्डित
तन्द्रा		श्याव वर्ण	पीत वर्ण	स्त्यान (गाढा)	पाण्डुवर्ण
आन्त्रकूजन		अम्ल रस	कटु रस	कण्ठप्रदेश में	निःसार
वेदना	अल्प वेदना	स्थिर	अस्थिर	अवस्थित दुर्गन्ध	गन्धरहित
शोथ		गुरु	अत्युष्ण	क्षुधा(भूख)-विघातकृत्	छेदवान्
निस्तोद		अम्लिका(Acidity)	रुचिप्रद	उद्गार (डकार)-	मुखशोधक
समस्त शरीर में	विशद	कण्ठदाहकर	पाचन	विघातकृत्	
संचरण करता हुआ	रूक्ष	हृद्दाहकर	बलप्रद		
प्रकुपित होकर					
जकड़ाहट उत्पन्न					
करना					
स्नेह-सूर्योदयवर्षाकाल					
एवं रात्रि में वृद्धि	स्नेह से शान्ति				

साम निराम का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि सामावस्था में पाचन-चिकित्सा एवं निरामावस्था में शमन-चिकित्सा करनी चाहिए। इससे चिकित्सा में सुविधा होती है।

वात का स्वरूप, प्रकोपक हेतु, प्राकृत वैकृत कर्म एवं सामान्य उपक्रम

वात का स्वरूप	प्राकृत वात का कर्म	तीसटाचार्योक्त वातप्रकोपक हेतु	वृद्ध वात का कर्म	क्षीण वात का कर्म	सुदान्तसेनोक्त प्रकुपित वात के लक्षण	वायु का सामान्य उपक्रम
रूक्ष शीत लघु चल सूक्ष्म विशद खर	उच्छ्वास निःश्वास उत्साद प्रस्पन्दन इन्द्रियपाटव (विषयग्रहण सामर्थ्य) वेगप्रवर्तन	अतिव्यायाम, अपतर्पण, ऊँची जगह से गिरना, अंग-भंग होना, क्षय, रात्रिजागरण, वेगविधारण, पञ्चकर्म द्वारा अतिसंशोधन, शीत, अतिभय, रूक्ष क्षोभ, कषाय - तिक्त - कटु पदार्थों का अधिक सेवन, वर्षा ऋतु, भोजन-परिपाककाल के पश्चात् तथा अपराह्न काल	कार्श्य कार्ष्ण्य गात्रकम्प स्फुरण उष्णकामिता संज्ञानाश निद्रानाश बल का उपघात इन्द्रिय उपघात अस्थिशूल मज्जाशोष मलसङ्ग आध्मान आटोप मोह, दैन्य शोक, प्रलाप	लालास्राव अरुचि मिचली संज्ञामोह अल्पवाक् अल्पचेष्टा अप्रहर्ष अग्नि वैषम्य	आध्मान, स्तम्भ, रौक्ष्य, अङ्गस्फुटन, विमथन, क्षोभ, कम्प, तोद, कण्ठोद्ध्वंस, अवसाद, श्रम, प्रलाप, स्रस (शिथिलता), शूल, अंगभेद, पारुष्य, कर्णनाद, भोजन का परिणाम भ्रंश[1], दृष्टिभ्रम, प्रमोह, विस्पन्दन, उद्वृट्टन (अंगों का टूटना), ग्लानि, निद्रानाश, ताड़न, पीड़न, नामोन्नाम (अंगों का उत्क्षेपणावक्षेपण), विषाद, भ्रम, परिपतन, जृम्भण, रोमहर्ष, विक्षेप, आक्षेप, शोष, ग्रहण (जकड़ना), शुषिरता, द्वेष, उद्वेष्टन, वर्ण का श्याव एवं अरुण होना, अतितृष्ण, अंगस्वाप, अंगविश्लेषण, अंग-ग्राह (जुड़जाना) कषाय रसत्व।	स्नेहन, स्वेदन, मृदु-स्निग्ध - उष्ण-मधुर, अम्ल एवं लवण रस प्रधान आहार एवं औषध का सेवन, अभ्यंग, उपनाह, उपवेष्टन, उन्मर्दन, परिषेक, संवाहन, पीड़न, वित्रासन, विस्मरण, बस्ति, विशेषतः तैल, मांसारस अनुवासन बस्ति तथा सुख से रहना, मैथुन के अतिरिक्त हेमन्त ऋतुचर्या।

१. विषयपरिणति भ्रंश।

पित्त का स्वरूप, प्रकोपक हेतु, प्राकृत-वैकृत कर्म एवं सामान्य उपक्रम

पित्त का स्वरूप	प्राकृत पित्त का कर्म	तीसटाचार्योक्त पित्त प्रकोप हेतु	वृद्ध पित्त का लक्षण	क्षीण पित्त का लक्षण	सुदान्तसेनोक्त प्रकुपित पित्त के लक्षण	पित्त का सामान्य उपक्रम
ईषत् स्निग्ध उष्ण तीक्ष्ण द्रव अम्ल सर कटु।	पक्ति (पाचन) ऊष्मा अभिलाष क्षुधा पिपासा प्रभा कान्ति प्रसाद दर्शन मेधा शौर्य मार्दव।	कटु-अम्ल-उष्ण, विदाही-तीक्ष्ण पदार्थ एवं लवण रस, क्रोध, उपवास, आतप, मैथुन, तिल, अलसी, दही, सुरा, सिरका तथा काँजी का अधिक सेवन, भोजन की पच्यमानावस्था, शरद्-ग्रीष्मऋतु, मध्याह्न काल, अर्धरात्रि।	त्वचा, नेत्र, मूत्र एवं पुरीष में पीतता, ग्लानि, इन्द्रिय-दौर्बल्य, ओजोविस्त्रंसन, शीतल आहार-विहार की इच्छा, दाह, मुख में तिक्तता का अनुभव, प्यास, मूर्च्छा, अल्पनिद्रा, क्रोध।	स्तम्भ, शैत्य, अनियत तोद, दाह, अरुचि, अविपाक, अङ्गपारुष्य, कम्पन, भारीपन, नख एवं नेत्रों में शीतता।	विस्फोट, अम्लपित्त, छाती में जलन या धूँआ सा निकलना, प्रलाप, अधिक पसीना, मूर्च्छा, दुर्गन्ध, अंगों का फटना, मद, विसरण, पाक, बेचैनी, दाह, तृष्णा, भ्रम, उष्णता, अतृप्ति, तमः प्रवेश, कटु-अम्ल-लवण-रसत्व, पाण्डु विवर्जित वर्ण, सड़न।	सर्पि-पान, विरेचन, मधु-तिक्त-कसाय रस प्रधान औषध आहार-विहार, मृदु, सुगन्धित, शीतवीर्य, एवं प्रिय गन्ध वाले द्रवों का सेवन, शीतल एवं सुगन्धित जल में गोता लगाना, शीतल गृह तथा वायु का सेवन, मनोहर संगीत एवं वाद्य यन्त्र का श्रवण, शिशुओं से वार्ता एवं आलिङ्गन, विशेषतः घृत-दुग्ध एवं विरेचन, दिवास्वाप के अतिरिक्त ग्रीष्म-ऋतुचर्या।

कफ का स्वरूप, प्रकोपक हेतु, प्राकृत वैकृत कर्म एवं सामान्य उपक्रम

कफ का स्वरूप	प्राकृत कफ का कर्म	तीसटाचार्योक्त कफ प्रकोपक हेतु	वृद्ध कफ का कर्म	क्षीण कफ का कर्म	सुदान्तसेनोक्त प्रकुपित कफ का लक्षण	कफ का सामान्य उपक्रम
गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिल।	स्थैर्य स्नेह सन्धिबन्धन वृषता क्षमा धी बल अलौल्य।	गुरु, मधुर रस, अतिस्निग्ध पदार्थ, दुग्ध एवं इक्षु-विकार, द्रव पदार्थ, दधि, दिवास्वाप, अपूप (मालपूवा), घृत से बनी पूड़ियों तथा घेवर का अधिक सेवन, शीत, काल, पूर्वाह्न, भोजन के पश्चात्, वसन्त ऋतु।	श्वैत्य शैत्य स्थौल्य आलस्य गौरव अङ्गसाद स्रोतोविघात मूर्च्छा निद्रा तन्द्रा श्वास कास प्रसेक हृल्लास अग्निसाद सन्धिविश्लेष।	भ्रम उद्वेष्टन अनिद्रा अंगमर्द परिप्लोष तोद दव स्फोटन वेपन धूमायन सन्धिशैथिल्य हृदय द्रव श्लेष्माशय में शून्यता का अनुभव।	तृप्ति तन्द्रा गौरव स्तैमित्य कठोरता मलों का अधिक बनना शरीर का स्निग्ध होना मन्दाग्नि चिपचिपाहट शीतता कण्डू, प्रसेक चिरकर्तृत्व शोथ निद्राधिक्य लवण-मधुर रसत्व श्वेत वर्ण आलस्य।	तीक्ष्ण संशोधन (वमन-विरेचन) रूक्ष-कटु-तिक्त एवं कषाय रस प्रधान आहार का सेवन तीक्ष्ण, पुरानी, हृदय मद्य का सेवन धावन लाघव प्लवन जागरण नियुद्ध व्यवाय (मैथुन) व्यायाम विशेषतः मधु मूंग का यूष, वमन, उपवास तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का धूम एवं गण्डूष वसन्त ऋतुचर्या।

पूर्वरूप—

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥ ६ ॥

(अ. हृ. नि. १।३-१४)

दोषविशेष के ज्ञान से रहित उत्पित्सु अर्थात् भावी रोग जिस लक्षण से जाना जाता है, उसे प्राग्रूप या 'पूर्वरूप' कहते हैं। अथवा व्याधि के अल्प मात्रा में अभिव्यक्त रूप उस व्याधि के पूर्वरूप कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

निदानानन्तरीयकत्वात् पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि। द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च। तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः। यथा—'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्' (सु. उ. ३९।२५); इत्यादि, तथा गुरुवाक्यबालप्रद्वेषादि;[1] सामान्याभिप्रायेणैव। तन्त्रान्तरम्—

'व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते।

भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि' ॥ इति।

तथाऽऽह पराशरः—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः' इति।

विशिष्टं यथा—उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि। यदुक्तं तत्रैव—'अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्' (च. चि. ११।१२) इति। तथा सुश्रुतः—'सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्।

पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा' इति ॥

(सु. उ. ३९।२७)।

हारीतेऽप्युक्तम्—'इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाऽङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्' इत्यादि।

ननु, चात्यर्थं व्यक्तत्वं ततश्च जृम्भादेरपि रूपत्वं प्रसज्येत; यद्वक्ष्यति—'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' इति (वा. नि. १।५) ? इति उच्यते; यथा श्रमादय इतररोगव्यतिरिक्तं भाविज्वरमात्रं बोधयन्ति, न तु वातजत्वादिविशेषमित्यतस्तेषामव्यक्तत्वं; तथा पित्तादिज्वरव्यतिरिक्तं भविष्यद्वातज्वरमात्रं बोधयन्ति जृम्भादयः, न तु वातस्य रूक्षशीतधातुक्षयावरणादिजन्यत्वरूपविशेषं बोधयन्ति; इत्यतोऽव्यक्तवातज्वरबोधकत्वादव्यक्तत्वमेव

---

१. देवगुरुविप्रद्वेषादि।

जृम्भादीनामिति जेज्जट-वाप्यचन्द्र-माधवकर-कार्तिककुण्डादयो व्याचक्षते।

अन्ये त्वाहुः-प्रभूताव्यक्तपूर्वरूपसहचरितस्य व्यक्तस्यापि जृम्भादेः पूर्वरूपव्यपदेशः, यथा—माषराशिः; छत्रिणो गच्छन्त्येवमादि। न च व्यक्तत्वेन रूपादभेदः; नियमेन पूर्वरूपरूपयोर्भाविवर्तमानव्याधिबोधकत्वादिति। तत्र विशिष्टं प्राग्रूपं रूपावस्थायामनुवर्तत एव, तस्यैवाभिव्यक्तस्य रूपत्वात्; न तु दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितं रोमहर्षगुरुवाक्यबालप्रद्वेषादिकं नियमेनानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत तदा सर्वज्वराणामसाध्यत्वं प्रसज्येत। एतदभिप्रायेण,

'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।

यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः (च. इ. ५।४)।

इति--चरकवचनमित्याहुः।

तदेवं द्विविधे पूर्वरूपे व्यवस्थिते सामान्यपूर्वरूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि। येन श्रमादिना, उत्पित्सुः सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः, आमयो रोगः, दोषविशेषेण वातादिजन्यासाधारणवेपथ्वादिना, अनधिष्ठितोऽसंबद्धः, लक्ष्यते ज्ञायते, तत् प्राग्रूपमिति।

विशिष्टप्राग्रूपमाह-'लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथम्' इति। प्राग्रूपमित्यनेन पूर्वोक्तेन संबन्धः। लिङ्गं लक्षणम्, अव्यक्तं नात्यभिव्यक्तम्। अत्र हेतुरल्पत्वादणुत्वात्, नत्वावरणादियोगादव्यक्तमित्यर्थः। यथायथं यस्य व्याधेर्यद्रूप तदेवाव्यक्तं तस्य पूर्वरूपमित्यर्थः।

अन्ये तु पूर्वरूपलक्षणमाहुः-

'स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषा कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते'॥ इति।

तन्नातियुक्तं, राजयक्ष्मणः पूर्वरूपस्य तृणकेशनिपातादेरदृष्टजन्यस्याव्यापकत्वात्। यदाह चरकः--

'यक्ष्मिणा घूणकेशानां तृणानां पतनानि च।
प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चातिवर्धनम्'॥

(च. चि. ८।३५) इति।

न च तदपि दोषजं, दोषाणां तृणादिभिरसंबन्धात् असंबद्धस्य च भावस्य कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु संबन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात्, सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्। एतद्दोषपरिजिहीर्षयैव परमकुशलेन वाग्भटेनादृष्टदोषजसकलपूर्वरूपसंग्राहकं येनेतिपदं निबद्धमिति मत्वा तदीयपूर्वरूपलक्षणमेव माधवकरो लिखितवान्।

संक्षेपतस्तु लक्षणं 'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्' इति। एवकारेण निदानोपशययोः संप्राप्तेश्च दोषेतिकर्तव्यतारूपाया व्यवच्छेदः, तेषां तज्जातीयानामुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्। तथा हि-निदानं मृद्भक्षणरूपं भाविपाण्डुरोगमनुपशयरूपं च वर्तमानविशिष्टव्याधिं बोधयति; उपशयोऽपि पूर्वरूपावस्थाप्रयुक्तो भाविविशिष्टव्याधिं रूपावस्थाप्रयुक्तश्च वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति, सम्प्राप्तिश्च पूर्वरूपस्य मध्याह्लादावुत्पत्तिप्रकोपाभ्यां भविष्यद्विशिष्टव्याधिं, रूपस्य च मध्याह्नप्रकोपादिना वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; इत्येषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वम्।

ननु यदा पूर्वरूपविशेषं स्मृत्वोत्पन्नव्याधेर्विशेषावधारणं तदा पूर्वरूपमपि वर्तमानव्याधिबोधकं, यथोक्तं रक्तपित्तप्रमेहरूपसंदेहे चरकेण—'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः' (च. चि. ६।५४)—इत्यादि? अत्रोच्यते-किं व्याधिजन्मनः पूर्वं पूर्वरूपं गृहीतं न वा? आद्ये भाविव्याधिबोधकत्वमेव; द्वितीये स्मरणोत्पत्तिरेव न स्यात्, अनुभवाभावात्।

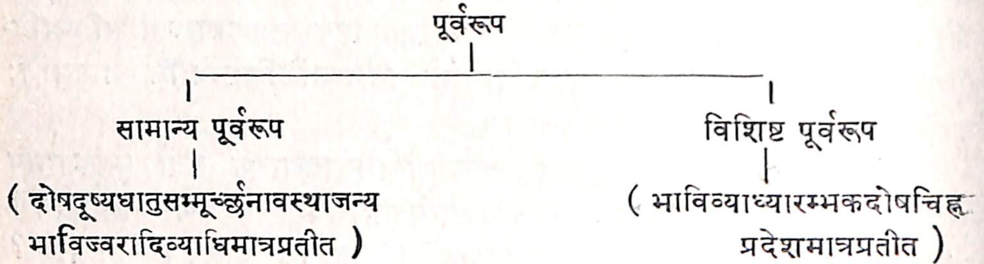
अथोच्यते-पूर्वरूपं दन्तादीनां मलाढ्यत्वादिरूपं स्वरूपेणानुभूतमेव, किंतु प्रमेहपूर्वरूपतया न प्रतिभातम्; उत्पन्ने तु व्याधौ तत् स्मृतं प्रमेहविशेषमवधारयति। एवं पूर्वरूपस्मरणं तर्हि कारणं न तु पूर्वरूपम्, रूपावस्थायां तस्य व्यपगतत्वात्। स्मरणं न प्रमाणमिति चेत्, सत्यं; किंतु पूर्वानुभवजनितसंस्कारोपस्थितस्मरणसहकृतं पूर्वरूपं व्याधिविशेषबोधकं,न तु केवलं स्मरणम्; यथा—संस्कारोपस्थापितस्मरणसहकृतं चक्षुःप्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टघटावबोधकं—'सोऽयं घटः' इति।

एवं स्मरणवदाप्तोपदेशेऽपि वाच्यं, तस्य च लिङ्गपदेन व्युदासः, भाविपदेन रूपस्य; लिङ्गपदेन चक्षुरादेः; तस्य घटज्ञानादिसाधारणत्वेनालिङ्गत्वात्। असाधारणं हि लिङ्गं भवति। एतच्च पूर्वरूपमविद्यमानस्यापि व्याधेर्लिङ्गं भवत्येव; यथा—विशिष्टमेघोदयो वृष्टेः॥ इति पूर्वरूपम्॥ ५-६॥

सरोज व्याख्या—पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य पूर्वरूप, एव (२) विशिष्ट पूर्वरूप।

सामान्य पूर्वरूप—उसे कहा जाता है, जिसमें दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना की अवस्था में उत्पन्न होने वाले भावी ज्वरादि मात्र का बोध हो, किन्तु उसमें वातादिजनित दोषों का विशेष अवबोध न हो। जैसे ज्वर के पूर्वरूप में श्रम, अरति (बेचैनी) एवं विवर्णत्व आदि सामान्य पूर्वरूप सुश्रुत ने बताये हैं; इससे ज्वर मात्र का ज्ञान हो सकता है, किन्तु यह ज्ञान नहीं होगा कि इसमें किस दोष की प्रधानता है। इसी प्रकार देव, द्विज एवं गुरु से द्वेष आदि मानसिक विकृतियाँ भी किसी विशिष्ट

दोष का अवबोध नहीं करा पाती। इसके लिए तन्त्रान्तर में भी कहा गया है—व्याधि की जाति[1] (ज्वर आदि) तथा उसका भविष्य प्रकट होना सामान्य पूर्वरूप के द्वारा जाना जाता है। पराशर[2] भी कहते हैं कि जिसके द्वारा भावी व्याधि मात्र का ही ज्ञान होता है, न कि किसी दोषविशेष का, उसे सामान्य पूर्वरूप कहा जाता है।



विशिष्ट पूर्वरूप--उरः क्षत आदि में वातादिजन्य लक्षण अव्यक्त होते हैं और ये अव्यक्त लक्षण ही इसके विशिष्ट पूर्वरूप हैं। सुश्रुत ने कहा है ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप में वातप्रकोप से जम्भाई, पित्तप्रकोप से नयनदाह एवं कफ से अन्न में अरुचि होती है (सु. उ. ३९)। हारीत ने भी आठ प्रकार के ज्वरों का सामान्य पूर्वरूप बताने के पश्चात् वातिक ज्वर का विशिष्ट पूर्वरूय जृम्भा, अंगमर्द एवं हृदयोद्वेग कहा है।

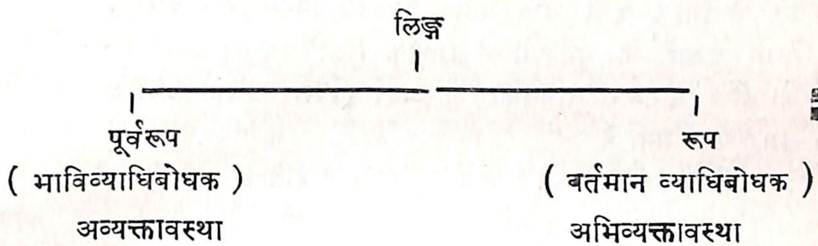
यहाँ पर आचार्य ने एक शंका उत्पन्न कर दी है कि यदि विशिष्ट पूर्वरूप में जृम्भादि के लक्षण से वातादि दोषों के प्रकोप का ज्ञान होता है, तब उनको 'रूप' कहना चाहिये, क्योंकि कहा गया है--'तदेव व्यक्ततां यातं रूपं इति अभिधीयते'? पुनः शंका का समाधान करते हुए कहा है--जैसे 'श्रमोऽरति विवर्णत्वं' इत्यादि ज्वर के पूर्वरूप किसी इतर (अन्य) रोग के अतिरिक्त भावी ज्वर मात्र का बोध कराते हैं न कि व्याधि-जनक दोष का अर्थात् न कि वातज, पित्तज कफज आदि ज्वर की विशिष्ट अवस्था का। इससे भावी व्याधि के अव्यक्त स्वरूप का ही ज्ञान होता है; इसी प्रकार जृम्भादि विशिष्ट पूर्वरूप पित्तादि ज्वरों से भिन्न केवल वातिक ज्वर मात्र का ही बोध कराते हैं; न कि वात के रूक्ष, शीत, धातुक्षय, आवरण आदि जन्य रूपविशेष का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार रूप की अपेक्षा ये लक्षण भी अव्यक्त होते हैं। अतः अव्यक्त होने से जृम्भादि को पूर्वरूप ही कहना चाहिये। जेज्जट, वाप्यचन्द्र, माधव एवं कार्तिककुण्ड का उपर्युक्त मत है।

---

१. व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते।
भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि॥ (तन्त्रान्तर)

२. पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते, तु दोष विशेषः। (पराशर)

अन्य आचार्यों का मत है अनेक अव्यक्त पूर्वरूपों के साथ होने के कारण व्यक्त जृम्भादि को भी पूर्वरूप में माना जा सकता है। जैसे--'माषराशि' कहने से उसमें रहने वाले अन्य अन्न मूँग आदि का समावेश उसके अन्तर्गत हो जाता है; वैसे ही 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस वाक्य के कहने से मात्र छत्रधारियों के अतिरिक्त छत्र-विहीन व्यक्ति का भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार 'व्यपदेशस्तु भूयसा' न्याय के अनुसार एक जृम्भामात्र के व्यक्त होने के कारण शेष पूर्वरूप के लक्षणों से पृथक् नहीं कहा जा सकता। व्यक्त होने से विशिष्ट पूर्वरूप एवं रूप में भेद (अन्तर) बताया गया है कि पूर्वरूप भावी व्याधि का बोधक एवं रूप वर्तमान व्याधि का बोधक होता है।



विशिष्ट पूर्वरूप का रूपावस्था में परिवर्तन हो ही जाता है और उसकी अभिव्यक्ता-वस्था को 'रूप' कहा जाता है। इसमें दोषदूष्यसम्मूर्च्छनावस्था से उत्पन्न होने वाले रोमहर्ष आदि पूर्वरूप के सभी लक्षण नियमानुसार सदैव व्यक्त नहीं होते। यदि नियमानुसार सभी लक्षण व्यक्त हो, तो सभी ज्वर असाध्य हो जायेंगे। इसीलिए चरक ने कहा है--

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुःरसरः॥ (च. इ. ५।४)

अर्थात् विभिन्न ज्वर-भेदों में जितने पूर्वरूपों का वर्णन निदान प्रकरण में किया गया है, वे पूर्वरूप जब अधिक मात्रा में ज्वर के साथ जिस मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, उसका वह ज्वर मृत्युकारक होता है।

अन्य विद्वान् ने पूर्वरूप का लक्षण यह बतलाया है--

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥

अर्थात् कुपित होकर स्थानसंश्रय को प्राप्त हुए दोष भावी व्याधि का बोध कराने वाले जिन लक्षणों को पैदा करते हैं, वे लक्षण ही पूर्वरूप है। यहां पर दोषज अर्थात् दोष उत्पन्न करने वाले लक्षणों को पूर्वरूप कहा गया है। उपर्युक्त परिभाषा

के अनुसार राजयक्ष्मा की पूर्वरूपावस्था में अन्न और पेय पदार्थों में तृण, केश, घुण आदि का अचानक गिरते रहना अदृष्टजन्य होने से यह लक्षण ठीक नहीं मालूम पड़ता है, क्योंकि दोषों से तृणादि का सम्बन्ध नहीं है। ये दोषकृत् नहीं है। जैसा कि चरक ने कहा—

यक्ष्मिणां घुणकेशानां तृणानां पतनानि च।
प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चातिवर्धनम्॥ (च० चि० ८।३५)

असम्बद्ध भाव का कारण रूप से दृष्टिगोचर होना नहीं पाया जाता। यदि परम्परा द्वारा सम्बन्ध-कल्पना की जाय, तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् सभी चीजें कारण हो जायेंगी। इसी दोषपरिहार के लिए परमकुशल वाग्भट्ट ने अदृष्ट एवं दोषज सभी प्रकार के पूर्वरूपों के संग्राहक 'येन' पद का प्रयोग किया है। इसी लक्षण को ठीक मानकर माधवकर ने यहाँ पूर्वरूप लक्षण लिखा है। पूर्वरूप का संक्षिप्त लक्षण कहा गया है—

'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्'। इति।

अर्थात् भावी व्याधिबोधक लक्षण ही पूर्वरूप होता है। यहां 'एव' शब्द से निदान, उपशय एवं दोषेतिकर्त्तव्यतारूप (दोष-व्यापार स्वरूप) सम्प्राप्ति से पूर्वरूप का भेद बताया गया है। इन तीनों की अपनी अपनी जाति के अनुसार उत्पन्न अथवा अनुत्पन्न व्याधि का बोधक होने से पृथक्त्व हो जाता है।

जिस प्रकार मृद्भक्षणरूप निदान (कारण) भावी पाण्डुरोग का अनुपशय रूप एवं वर्तमान विशिष्ट व्याधि का बोध करता है; इसी प्रकार उपशय भी पूर्वरूपावस्था में प्रयुक्त होकर भावी विशिष्ट व्याधि का तथा व्याधितावस्था में प्रयुक्त उपशय वर्तमान विशिष्ट व्याधि का ज्ञान कराता है। प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल तथा विशिष्ट ऋतु में व्याधि की उत्पत्ति एवं प्रकोप के कारण सम्प्राप्ति भी भावी और विशिष्ट व्याधि का बोध कराती है, इस प्रकार भावी विशिष्ट व्याधि का ज्ञान कराने के कारण सम्प्राप्ति भी पूर्वरूप का कार्य करता है। इसी तरह रूप भी मध्याह्न प्रकोपादि के कारण वर्तमान विशिष्ट व्याधि का ज्ञापक होता है। इस प्रकार इनमें उत्पन्न एवं अनुत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने की शक्ति होती है।

यहां पुनः एक शंका होती है कि जब पूर्वरूप विशेष का स्मरण करके उत्पन्न व्याधि का विशेष अवधारण (निश्चय) होता है, तो पूर्वरूप भी वर्तमान व्याधि का बोधक हो सकता है। जैसा कि महर्षि चरक ने रक्तपित्त एवं प्रमेह के सापेक्ष निदान के समय कहा है—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥
(च० चि० ६।५४)

अर्थात् विना प्रमेह रोग के पूर्वरूप हुए ही हल्दी के समान रक्त मिला हुआ मूत्र निकलता हो, तो इस प्रकार मूत्र-त्याग करने वाले पुरुषों को प्रमेह रोग नहीं है—ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार का मूलोत्सर्ग रक्तपित्त का प्रकोप है।

यहाँ कहा गया है कि व्याधिजन्म के पूर्व ही पूर्वरूप ग्रहण किया गया या नहीं ? प्रथम अवस्था में भावी व्याधि का बोधकत्व ही पूर्वरूप होता है और द्वितीय पक्ष में अनुभव के अभाव से स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि प्रमेह की पूर्वरूपावस्था में दन्त आदि का अतिमलयुक्त होना स्वरूप से जाना जाता है; किन्तु प्रमेह की पूर्वरूपावस्था द्वारा उसका अवबोध नहीं हो पाता। जब रोग उत्पन्न हो जाता है, तो उसका स्मरण प्रमेह का विशेष ज्ञान करा देता है।

इस तरह उस समय पूर्वरूप का स्मरण कारण है, न कि पूर्वरूप; क्योंकि रूपावस्था में तो पूर्वरूप की सत्ता ही नहीं रहती। यदि स्मरण को प्रमाण न माना जाय तो ? पूर्व अनुभवजनित संस्कारों के कारण उपस्थित स्मरणसहकृत (सहयोगी) पूर्वरूप व्याधिविशेष का बोधक होता है, न कि स्मरणमात्र। जैसे उद्बुद्ध संस्कार द्वारा प्राप्त स्मरण का और साथ ही चक्षु द्वारा अभिज्ञात पूर्वरूपावस्था से जो विशिष्ट घट इत्यादि का बोधक, यथा "सोऽयं घटः" यह कह देने से प्रागवस्था विशिष्ट वह घट होता है। उसी प्रकार से स्मरणवत् अर्थात् स्मरण के समान आप्तोपदेश भी कहना चाहिए और उसका लिङ्ग पद के द्वारा व्युदास (निषेध) किया जाता है। 'भाविपदेन' यह कहने से वर्तमान व्याधिबोधक रूप का लक्षण घट जायेगा। व्याधिबोधक रूप में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी और लिङ्ग पद से चक्षुरादि के अन्य साधनों द्वारा निराकरण ही होता है। निश्चितरूप से असाधारण ज्ञापक लक्षण को ही 'लिङ्ग' कहते हैं। यदि असाधारण ज्ञापक को लिङ्ग नहीं कहेंगे, तो 'सोऽयं घटः' इसमें जो घट ज्ञानादि है, उसका साधारणत्व के द्वारा अलिङ्ग होने से लक्षण नहीं जायेगा। इसलिए यहां पर असाधारण पद जोड़ा गया। इसी प्रकार से पूर्वरूप जो अविद्यमान व्याधि, उसका असाधारण लक्षण होता है। जैसे विशिष्ट मेघ का प्रादुर्भाव वृष्टि का हेतु होता है, अर्थात् विशिष्ट बादल के उदय होने पर निश्चित रूप से वृष्टि होती है।

रूप—

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।
संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥ ७ ॥

(अ. हृ. नि. १।५)

वही पूर्वरूप व्यक्त (प्रकट) होकर 'रूप' कहलाता है। संस्थान, व्यंजन, लिंग, लक्षण, चिह्न एवं आकृति-उस रूप के पर्याय हैं ॥ ७ ॥

यद्यपि पूर्वरूपानन्तरं संप्राप्तिर्भवति तथापि व्याधिस्वरूपज्ञानार्थं रूपमाह- तदेवेत्यादि। तदेव पूर्वरूपमेव व्यक्ततामुद्भूतताम्।

ननु व्यक्तत्वं पूर्वरूपस्य किं कात्स्न्येंन ? एकदेशेन वा ? आद्ये सर्वज्वरा- णामसाध्यत्वं स्यात्, यदुक्तं चरके–'पूर्वरूपाणि सर्वाणि' (च. इ. ५।४) इत्यादि; द्वितीयेऽपि 'जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः' (सु. उ. ३९।२६) इत्यादेरपि पूर्वरूपस्य रूपत्वप्रसङ्गः ? नैवम्, अनभ्युपगमान्न कृत्स्नस्य नाप्येकदेशस्य, किंत्वनिर्धारितैकत्वानेकत्वविशेषस्य पूर्वरूपमात्रस्य व्यक्तस्य व्याधिलिङ्गत्वम्; यथा–तार्णपार्णादिविशेषविरहेण धूममात्रस्य वह्निबोध- कत्वम्। एवं व्यवस्थिते यदा सर्वस्याभिव्यक्तिस्तदा न साध्यत्वम्, अन्यथा तु साध्यत्वम्। न च जृम्भादे रूपत्वप्रसङ्गः, तस्य प्रागेव व्यक्तत्वात्; अव्यक्तं सद्यद्व्यक्ततां यातं तस्य रूपत्वेनाभिधानात्, अपरप्रभूताव्यक्तलिङ्गसहचरितत्वेन पूर्वरूपरूपयोरसमानकालत्वेन च रूपत्वायोगादिति।

ईश्वरसेनस्त्वाह–'व्याधेः स्वरूपमव्यक्तं पूर्वरूपं, यद् व्यक्तं तद्रूपम्' इति। तन्न, विकल्पासहत्वात्। तथा हि–स्वरूपमिति किं स्वं रूपं स्वरूपम् ? आहोस्वित् स्वीयं रूपं स्वरूपम् ? स्वीयमपि धर्मं कार्यं वा ? न तावत् स्वरूपं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्; रूपं हि व्याधिप्रतिपत्तिनिमित्तमुक्तं तच्चेद् व्याधि- स्वभाव एव तर्हि व्याधिस्वभावादेव व्याधिस्वभावः प्रतीयत इति व्यक्तः स्वात्मनि क्रियाविरोधः। नापि धर्मः, चरकोक्तकृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रत्वा- देरर्शोरूपत्वानुपपत्तेः। नहि कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रत्वादिकमर्शोधर्मः, अतन्निष्ठत्वात्; धर्माणां च धर्मिनिष्ठत्वात्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। नापि कार्यम्, उपद्रवादेरपि रूपत्वप्रसङ्गात्। तदपि कृच्छ्रसाध्यासाध्यव्याधेर्लिङ्गमिति चेत् ? नैवम्, असाध्यत्वादेरेव तल्लिङ्गं, न तु व्याधेः; तस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात् भेदेनोपादानाच्च; तदुक्तं—

'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्' इति।

ननु, उपद्रवो न व्याधेः कार्यं किन्तु व्याध्यारम्भकदोषस्य; यदुक्तं सुश्रुते– 'स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञकः' इति (सु. सू. ३५।२१); व्याचक्षते च टीकाकृतः–'तन्मूलं तद्दोषरूपं मूलं यस्स स तन्मूलः' इति। नैवम्, अपचारेण मूलभूतदोषोपबृंहणलब्धबलश्चेद् व्याधिरुपद्रवं करोति तेन 'तन्मूल' इत्युक्त- वान्। अत एवाह चरकः–'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति' (च. नि. ८।२१) इत्यादि।

सर्वमेवैतत्स्वरूपशब्दवाच्यं क्वचित्किञ्चिदिति; तथा सति न व्यभिचार इति केचित्। तदपि व्यवस्थामात्रं स्यान्न तु लक्षणम्, एकस्य सकलरूपसंग्राह-

कस्य धर्मस्याभावात्, उपद्रवस्य च व्याधिस्वरूपत्वापत्तेश्चेति। तस्मात् 'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम्' इति लक्षणम्।

'उत्पन्न' इति पदं पूर्वरूपव्यवच्छेदार्थम्; एवकारोऽपि निदानसंप्राप्त्युपशयान् व्यवच्छिनत्ति, तेषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्; तच्च दर्शितमेव; लिङ्गपदेन चक्षुरादेर्व्युदासः। यन्मते व्याधिजन्मरूपा सम्प्राप्तिस्तन्मते तस्या लिङ्गपदेन व्यवच्छेदः, न हि सा व्याधिज्ञाने लिङ्गम्, किन्तु कारणमात्रम्।

शास्त्रे व्यवहारार्थं निदानवल्लक्षणार्थं च रूपपर्यायानाह–संस्थानमित्यादि।

ननु, रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, न च रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते; यतो मिलिता अरुच्यादय एव ज्वरः, कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा ? उच्यते–नैवं, तथाविधदोषदूष्यसंमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्यश्चारुच्यादयः; किंच अरुच्यादय एव प्रत्येकशो रूपाणि, तत्समुदायो व्याधिः, यतः समुदायिभ्योऽन्य एव समुदायः, यथा–खदिरतरूणां वनमिति; अन्ये तु राहोः शिरः, शिलापुत्रस्य शरीरमितिवदसत्यपि भेदे भेदविवक्षया समर्थयन्ते; नैयायिकास्तु तत्रापि भेदमापादयन्ति।

ननु 'विकारो दुःखमेव च' इति (च. सू. ९।४) चरकवचनाद् दुःखस्यात्मगुणस्य कथमरुच्यादिसमुदायत्वम् ? नैवं, दुःखयतीति दुःखमिति व्युत्पत्त्या दुःखहेतोर्धातुवैषम्यादेर्व्याधित्वस्वीकारात्। अरुच्यादयस्तु स्वरूपेण विकारा एव, यदा त्वन्यप्रतिपादकास्तदा लिङ्गान्येवोच्यन्ते। यदाह चरकः—

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः'॥ इति (च. नि. ८।४)।

इति रूपलक्षणम्॥ ७॥

सरोज व्याख्या—रूप के पर्यायवाचक शब्दों का निम्नलिखित अर्थ कोषकारों ने किया है—

(१) संस्थान—संस्थानम् आकृतौ। (मेदिनीकोश)। रुकना, स्थिर होना एवं आकृति इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। कहा गया है 'आकृतिः अवयवसंस्थानविशेषः'। संस्थान अर्थात् स्थान-विशेष से रोग की बिवेचना करना। जैसे हृदयशूल, वस्तिशूल या आमाशयशूल आदि।

(२) व्यञ्जन—व्यज्यते अनेन इति। व्यञ्जनं तेमते चिह्ने। (मेदिनीकोश) भक्ष्यभेद तथा चिह्न अर्थ होता है। व्यंजन विशिष्ट चिह्न; जैसे ज्वर में सन्ताप, गुल्म में गोला, अश्मरी में पथरी आदि।

(३) लिङ्ग—लिङ्गं चिह्नशेफसोः। (अमरकोश)। लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च साङ्ख्योक्तप्रकृतावपि। शिवमूर्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम् ॥ (मेदिनीकोश)। अर्थात् लिङ्ग शब्द का चिह्न, पुरुषमूत्रेन्द्रिय, अनुमान, शिवमूर्ति (शिवलिङ्ग) आदि अर्थों में प्रयोग होता है। लिङ्ग अर्थात् रोगी का विशिष्ट लक्षण जिसका अनुभव रोगी को स्वयं होता है। जैसे वेदना, कण्डू एवं शूल आदि।

(४) लक्षण—लक्षणं नाम्नि चिह्ने च। (मेदिनीकोश)। इसका अर्थ चिह्न होता है।

(५) चिह्न—चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्। यह यह-परिकल्कने धातु से बना है, इसका अर्थ है विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ। जैसे—अन्त्रकूजन आदि।

(५) आकृति—आकाराविङ्गिताऽऽकृती। (अमरकोश) आकार जैसे कपाल-कुष्ठ या मण्डल-कुष्ठ आदि जिसे नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष देख लिया जाता है।

(६) रूप—रोपयति, विमोहयति, रूपयते, स्तूयते वा'। चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान् गुणो रूपम्। (तर्ककौमुदी) अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य ज्ञान को 'रूप' कहते हैं।

पूर्वरूप के पश्चात् सम्प्राप्ति होती है, किन्तु व्याधि का स्वरूप जानने के लिए रूप का वर्णन किया जा रहा है—तदेव इत्यादि। अर्थात् वही पूर्वरूप जब व्यक्तावस्था में जब उद्भूत होता है, तब उस पूर्वरूप को 'रूप' कहा जाता है।

यहाँ यह शंका उठती है कि क्या पूर्वरूप अपने सम्पूर्ण लक्षण के साथ व्यक्त होता है, अथवा कुछ लक्षणों के साथ? यदि पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षणों की व्यक्तता को 'रूप' कहा जाय, तो सभी रोगों को असाध्य कहना पड़ेगा, जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है--

> पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
> यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरस्सरः॥ (च० इ० ५।४)

अर्थात् ज्वर के सम्पूर्ण पूर्वरूप अतिमात्रा में प्रकट होने पर रोगी को मुमूर्षु समझना चाहिए। यदि पूर्वरूपावस्था के कुछ लक्षणों को व्यक्त देखकर 'रूप' कहा जाय, तो वातप्रकोप से अत्यधिक जम्भाई, पित्तप्रकोप से नेत्रों में जलन और कफ-प्रकोप से अरोचकसदृश विशिष्टपूर्वरूप को 'रूप' कहना होगा,

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए आचार्य विजयरक्षित ने कहा है कि सम्पूर्ण अथवा आंशिक अभिव्यक्ति का कोई नियम नहीं है, अपितु एकत्व-अनेकत्व-विशेषता-रहित पूर्वरूपमात्र की अभिव्यक्ति (व्यक्तावस्था) रूप है। अर्थात् किसी रोग में कतिपय या किसी रोगी में सम्पूर्ण पूर्वरूप व्यक्त होकर 'रूप' कहलाते हैं। जैसे धुएँ-मात्र को देखकर अग्नि का बोध हो जाता है। उसमें यह जानना आवश्यक नहीं है

कि वह अग्नि घास में लगी है अथवा पत्तों में। इसी प्रकार कतिपय अथवा सम्पूर्ण पूर्वरूपों की संरचना का कोई नियम नहीं है। यदि सारे पूर्वरूप व्यक्त हो जाते हैं, तो रोग असाध्य एवं अल्प पूर्वरूप होने पर रोग साध्य माना जाता है। जृम्भा आदि विशिष्ट पूर्वरूपों को 'रूप' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे पहले से ही व्यक्त होते हैं; रूप तो उसको कहा जाता है, जो अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में प्रकट हो। इसके अतिरिक्त अनेक अव्यक्त लक्षणों सहित केवल जृम्भादि एक लक्षण के व्यक्त होने से तथा पूर्वरूप एवं रूप कालभिन्न होने से जृम्भादि को रूप नहीं कहा जा सकता। आचार्य ईश्वरसेन कहा है—

व्याधेः स्वरूपं अव्यक्तं पूर्वरूपं, यद् व्यक्त तद् रूपम्। इति

अर्थात् व्याधि का अव्यक्त स्वरूप पूर्वरूप एवं व्यक्त स्वरूप रूप कहा जाता है; किन्तु उपर्युक्त परिभाषा विजयरक्षित को मान्य नहीं है, क्योंकि इसमें विकल्प है, जो तर्कपूर्ण नहीं है। इस लक्षण में स्वरूप शब्द का प्रयोग किया गया है। क्या स्वरूप शब्द का अर्थ 'स्व रूपं स्वरूपम्' है अथवा 'स्वीयं रूपं स्वरूपम्' अथवा 'स्वीयं अपि धर्मः कार्यं वा'? अर्थात् स्वरूप शब्द से अपने आप (व्याधि) का ग्रहण किया जाय, या अपने से सम्बन्ध रखने वाले किसी रूप का अथवा स्वीय धर्म या अपने किसी कार्य विशेष को समझा जाय? यदि व्याधि के स्वरूप को रूप कहा जाय, तो यह लक्षण उपयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें स्वात्मनि क्रियाविरोध हो सकता है; क्योंकि रूप व्याधि के प्रतिपादन में निमित्त (कारण) बताया गया है। यदि वह रूप व्याधि का स्वभाव ही है, तो इनके विचार से रोग के रूप (स्वभाव) से ही रोगस्वभाव (रोग) का निर्णय हो जाता है—इस व्याख्या से स्वात्मनि क्रियाविरोध प्रकट होता है। यह तो स्पष्ट है कि रोगपरिचायक लक्षण रोग से भिन्न होते हैं। यदि इनके मतानुसार व्याधि के स्वरूप को ही व्याधि का लक्षण मान लिया जाय, तो रोग स्वयं लक्षण बन जायेगा।

यदि स्वरूप रोग का धर्म कहा जाय, तो चरकोक्त त्वचा, नख, मल, मूत्र एवं नेत्र का कृष्णत्व आदि अर्श के लक्षणों को रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्म धर्मी में ही रहता है, अन्य में नहीं। नख आदि का कृष्णत्व अर्श का धर्म नहीं है, वह दोष का ही धर्म है। धर्म और धर्मी का परस्पर नित्य सम्बन्ध होता है। अर्थात् धर्म धर्मी में नित्य अवस्थित होता है, किन्तु अर्श में कहे गये कृष्णनखादि लक्षण कभी पूर्ण एवं कभी आधे होते हैं। अर्थात् ये सब लक्षण निश्चित रूप से नहीं रहते हैं। यदि ऐसे लक्षणों को धर्म कहा जाय, तो धर्मलक्षण में अतिप्रसंग (दोष) आ सकता है।

यदि स्वरूप शब्द से कार्य ग्रहण किया जाय, तो उपद्रव को भी व्याधि का रूप

मानना होगा। उपद्रव व्याधि के उत्तरकाल में होने से उसके कार्य माने जा सकते हैं। यदि उपद्रव को भी रूप मान लिया जाय, तो वह भी कष्टसाध्य एवं असाध्य व्याधि के सूचक होते रोग की असाध्यावस्था के ज्ञापक लक्षण होते हैं, न कि रोग के लक्षण। व्याधि का ज्ञान उपद्रव उत्पन्न होने से पहले ही हुआ रहता है। इसके अतिरिक्त माधव ने उपद्रव आदि का कथन रूप से पृथक् करते हुए कहा है—'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्' अर्थात् उपद्रव, अरिष्ट, निदान और लक्षणों से युक्त 'रोग-विनिश्चय' नामक ग्रन्थ निबद्ध किया जा रहा है। यहाँ उपद्रव और लिङ्ग (रूप)--दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उपद्रव (मूलरोग का कार्य) रूप नहीं हो सकता।

अब यहाँ पर उपद्रव के विषय में शंका उत्पन्न की है कि क्या उपद्रव व्याधि का कार्य है अथवा व्याधिजनक दोष का ? जैसा कि कुछ लोग कहते हैं उपद्रव व्याधि-जनक दोष का ही कार्य है। सुश्रुत ने भी कहा है--'स तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः' (सु० सू० ३५।१८) अर्थात् व्याधि का मूल दोष ही जिसका मूल या जनक हो, उसे उपद्रव कहते हैं।। जिस दोष के प्रकोप से रोग की उत्पत्ति होती है, उसी दोष के प्रकोप से उपद्रव की उत्पत्ति होती है, न कि रोग से उपद्रव की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि मूलभूत दोष की वृद्धि से बढ़ी हुई व्याधि ही उपद्रव को पैदा करती है। इसलिए उपद्रव को 'तन्मूलमूल'—ऐसा कहा गया है। अतएव उपद्रव को व्याधि का कार्य समझना चाहिए, दोष का नहीं। जैसा कि चरक ने भी कहा है--

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ॥ (च० नि० ८।२१)

अर्थात् कोई रोग अन्य रोग का कारण बनकर स्वयं शान्त हो जाता है तथा कोई रोग अन्य रोग का कारण बनकर भी शान्त नहीं होता। यहाँ रोग को रोगान्तर का उपद्रव का जनक बतलाया गया है, दोष को नहीं।

कहीं-कहीं उपर्युक्त सम्पूर्ण अथवा कुछ को ही स्वरूप शब्द का बोधक माना जाता है। ऐसा मान लेने से अर्थ में व्यभिचार (दोष) नहीं होता, ऐसा कुछ आचार्यों का बिचार है। यद्यपि यह ठीक है, किन्तु इसको व्यवस्थामात्र कहा जा सकता है, लक्षण नहीं। सम्पूर्ण रूपों के संग्राहक एक धर्म के अभाव से उपद्रव को भी व्याधि का स्वरूप मानना पड़ेगा।

उत्पन्नव्याधिबोधकमेब लिङ्गम् रूपम्।

इसलिए केवल उत्पन्न व्याधि का बोध कराने वाले लक्षण को ही रूप कहते हैं।

यह लक्षण उचित है। इस लक्षण में उत्पन्न शब्द से पूर्वरूप का व्यवच्छेद हो जाता है; क्योंकि पूर्वरूप भावी व्याधि का ज्ञापक होता है। एवं शब्द का प्रयोग करने से निदान, सम्प्राप्ति एवं उपशय का व्यवच्छेद हो जाता है; क्योंकि ये उत्पन्न एवं अनुत्पन्न उभयविधि व्याधि के बोधक है। 'लिङ्ग' शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों से भेद स्पष्ट हो जाता है। जिन विद्वानों के मत से व्याधि जन्म रूप सम्प्राप्ति मानी जाती है, उनके मत से 'लिङ्ग' पद कहने से भेद स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि सम्प्राप्ति रोग के ज्ञान में लिङ्ग (चिह्न) नहीं होती, बल्कि कारणमात्र होती है।

शास्त्र के व्यवहार के लिये निदान के समान लक्षण वताने के लिये रूप का पर्याय संस्थान, लक्षण आदि बताया गया है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया है—रूप द्वारा व्याधि का ज्ञान हो सकता है, रूप को छोड़कर रोग को उपलब्धि (सत्ता) नहीं हो सकती, क्योंकि जब अरुचि आदि लक्षण मिल जाते हैं, तभी ज्वर होता है अर्थात् अरुचि आदि के लक्षण समुदाय को ज्वर कहा जाता है। कास आदि एकदश लक्षणों के समुदाय को राजयक्ष्मा कहा गया है। इस प्रकार रूप एवं व्याधि में अन्तर नहीं।

इसका समाधान करते हुए बिजयरक्षित ने कहा है—'तथाविधदोषदूष्यसम्मूर्च्छनाविशेषों ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्याश्चारुच्यादयः'। अर्थात् दोषदूष्य सम्मूर्छना से होने वाले अवस्था विशेष को ज्वरादि रोग कहते हैं तथा आरोचक आदि इसके कार्य होते हैं। अरुचि आदि प्रत्येक की रूप संज्ञा होती है, उनके समुदाय को व्याधि कहा जाता है। इससे स्पष्ट हो गया है कि लक्षणों के समुदाय को ही 'रोग' कहा जाता है, किन्तु समुदाय से समुदायी पृथक् होता है। जैसे खदिर वृक्षों की अपेक्षा खादिर बन पृथक् होता है। कुछ आचार्य राहु का शिर और शिलापुत्र के शरीर के समान रोग और उसके लक्षणों में भेद न होने पर भेद वर्णन करने के विचार से इस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन (समर्थन) करते हैं, किन्तु नैयायिक लोग इसमें भेद बताते हैं।

अब एक प्रश्न पुनः उपस्थित किया गया है कि चरक ने कहा है—विकारो दुःखमेव च। (च० सू० ९) अर्थात् दुःख को विकार अथबा रोग कहते हैं और दुःख आत्मा का गुण है, तो यह यह अरुचि आदि का समुदाय कैसे बन सकता है? क्योंकि अरुचि आदि का शरीर से सम्बन्ध है। इसका समाधान करते हुए बिजयरक्षित ने कहा है—दुःखयति इति दुःखम्। अर्थात् जो शरीर एवं आत्मा को दुःखी करें, उसे दुःख कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख का कारण धातुवैषम्य आदि को व्याधिरूप में स्वीकार कर लिया गया है। जैसा कि कहा भी गया है—विकारो धातुवैषम्यम्।

अरुचि आदि स्वरूपतः अथवा स्वतंत्र अवस्था में रोग कहलाते हैं और जब मिलकर अन्य रोग का प्रतिपादन करते हैं, तब उस रोग का लक्षण कहे जाते हैं। जैसा कि महर्षि चरक ने भी कहा है--

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥ (च० नि० ८।४०)

अर्थात् रोगों का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने के लिये जो अरुचि आदि व्याधियों के लक्षण बताये गये हैं, यदि वे रोग स्वतंत्र रूप से होते हैं, तो उन्हें व्याधि कहना चाहिए, पर ज्वर आदि रोगों के अधीन होकर उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें लक्षण ही माना चाहिए, रोग नहीं।

विमर्श—व्याधि एवं लक्षण में निम्नलिखित भेद अवलोकनीय है—

व्याधि	लक्षण
१. लक्षणों का समुदाय	१. एक लक्षणमात्र
२. अवयवी	२. अवयव
३. प्रधान	३. अप्रधान
४. अनुबन्ध्य	४. अनुबन्ध
५. अनुगत	५. अनुगामी
६ व्यज्यमान	६. व्यंजक

उपशय—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ८ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ॥ (अ.हृ.नि. १।८-९)

हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधि उभय विपरीत तथा हेतुविपरीत अर्थकारी, व्याधिविपरीत अर्थकारी और हेतुव्याधि उभयविपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार के सुखदायक उपयोग को 'उपशय' कहते हैं। इसी को सात्म्य भी कहते हैं ॥ ८ ॥

उपशयमाह—हेतुव्याधीत्यादि। हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, व्याधिर्ज्वरादिः, एतयोर्हेतुव्याध्योर्व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्ता विपरीताः एतयोरेव व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्तार्थकारिणो निदानसमानधर्मिणोऽपि प्रभावाद्रोगप्रशमकारिणः, एवंविधा ये औषधान्नविहारा भेषजाहाराचारास्तेषामुपयोगमाचरणं सुखावहं सुखकरमुपशयं विद्यादुपशयाख्यं जानीयाद्व्याधेः।

तस्य पर्यायमाह—स हि सात्म्यमिति स्मृत इति। चरकेप्युक्तम्-'सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः' इति (च. नि. अ. १)। हिशब्दः पादपूरणे। सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणम्; यथा व्यपदिशन्ति लोके--भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इति, तत् सुखमावहति सम्यगायत्याऽनुबन्धेन च करोतीति सुखावहम्। एतेन सदाहतृष्णानवज्वरिणः शीतलजलपानं तदात्वसुखकरमपि नोपशय इति तात्पर्यार्थः। अत्र, औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणम्; तेन देशकालावपि बोद्धव्यौ। अत एव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय 'एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ'-(वृ. वा. नि. अ. १) इत्याख्यातम्।

सुदान्तसेनोऽप्याह-'सुखानुबन्धो यो हेतुव्याध्यादिविपरीतकः।
देशादिकश्चोपशयो ज्ञेयोऽनुपशयोऽन्यथा' ॥ इति।

संक्षेपतस्तु लक्षणम्-'औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति। स्रक्चन्दनवनितादिजनितसुखनिवृत्त्यर्थमौषधादिपदम्, अनुबन्धशब्दश्चापथ्यजनिततदात्वसुखव्यवच्छेदार्थः। एतदप्युदाहरणदर्शनपरम्, न तु लक्षणम्; औषधादीनां हेतुविपरीतादीनां च परस्परव्यभिचारेण लक्षणत्वायोगात्। तस्मात् 'सम्यग्व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुपशयः' 'सात्म्यमुपशयः' इति वा लक्षणम्; 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति वा लक्षणं; चरके आहाराचारदेशकाललङ्घनादीनां द्रव्याद्रव्यभूतानामौषधत्वेनाभिधानात्।

अथैषामुदाहरणानि; तत्र हेतुविपरीतानि। औषधं यथा-शीतज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम्। यदुक्तं-'शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्वराः। ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्'-इति (च. वि. ३।४१)। अन्नं यथा-श्रमानिलजे ज्वरे रसोदनः। विहारो यथा-दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जागरणमिति। अथ व्याधिविपरीतानि। औषधं यथा-अतिसारे स्तम्भनं पाठादि, तथा शिरीषो विषं हन्ति, खदिरः कुष्ठं, हरिद्रा प्रमेहमिति; नैते दोषमपेक्षन्ते प्रभावाद्रोगप्रशमकारिण इति।

वाप्यचन्द्रस्त्वाह-'ज्वरादिव्याधिहरं यद् द्रव्यं तदपि दोषप्रत्यनीकं, किन्तु दोषप्रत्यनीकादस्यायं भेदः--यद्दोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरम्; यथा-वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं हरतः; उक्तं हि-'कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च संमतम्'-इति; तथा-'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्' इति (सु. चि. ३३।१४) 'यत्तु व्याधिहरं तदवश्यं दोषहरं, तद्व्याधिं शमयेत्तदारम्भकदोषमपि शमयतीति; अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणस्य तादवस्थ्यात्' इति। तन्नातिसङ्गतमित्यन्ये; यतो दोषस्तत्र समवायी निमित्तं वा; न च समवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः; किंत्वसमवायिकारणा-

भावप्रयुक्तोऽपि, यथा—कपालमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य विनाशादपि घटाभावः। तथा-रोगेऽपि सम्प्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य विनाशाद्रोगस्यापि विनाशः, दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते। यदि व्याधिप्रत्यनीकमवश्यं दोषं निवर्तयेदिति स्वीक्रियते, तदोभयप्रत्यनीकाद्भेदो दुरुपपादः स्यादिति।

ननु यदि निमित्तकारणं दोषस्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते ? नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति ? उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायिकार्यं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा-वर्तितैलनाशादपि प्रदीपनाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायश इति। अन्नं यथा-अतिसारे स्तम्भनं मसूरादि। विहारो यथा-उदावर्ते प्रवाहणं, मन्त्रौषधिधारणवल्युपहारनियमप्रायश्चित्तहोमगुरुदेवशुश्रूषादयोऽपि व्याधिविपरीता विहारा इति वाप्यचन्द्रः।

अथ हेतुव्याधिविपरीतानि। औषधं यथा-वातशोथे दशमूलं वातहरं शोथहरं च। यदुक्तं चरके षड्विरेचनशताश्रितीयेऽध्याये-'पाटला' इत्यादि यावत्-'दशेमानि शोथहराणि' इति (च. सू. ४।३८)। अन्नं यथा--वातकफग्रहण्यां तक्रं, शीतवातोत्थे ज्वरे पेया; सा ह्युष्णवीर्यत्वाद्वातं हन्ति प्रभावाज्ज्वरं च। यदुक्तं चरके-'ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्' इति (च. चि. अ. ३) सुश्रुतेऽपि-'ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता' इति (सु. उ. अ. ४०)। विहारो यथा-स्निग्धदिवास्वप्नप्रजातायां तन्द्रायां रूक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणमिति।

अथ हेतुविपरीतार्थकारीणि-ओषधं यथा-पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः। अन्नं यथा-पच्यमाने व्रणशोथेऽन्नं विदाहि। विहारो यथा-वातोन्मादे त्रासनमिति।

अथ व्याधिविपरीतार्थकारीणि। औषधं यथा--छर्द्यां वमनकारकं मदनफलादि। अन्न यथा- अतिसारे विरेचनं क्षीरम्। विहारो यथा-छर्द्यां वमनार्थं प्रवाहणमिति।

अथ हेतुव्याधिविपरीतार्थकारीणि। औषधं यथा-अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः, विषे वा विषम्। अन्नं यथा-मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम्। विहारो यथा-व्यायामजनितसंमूढवाते जलप्रतरणरूपो व्यायाम इति।

ननु, छर्द्यां बहुश्लेष्मजायां वमनयोग्यायां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो वा स्यात्, ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति; यदुक्तं सुश्रुते--'छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते' (सु. उ. अ.

४९) इति, तथा आमातिसारे क्षीरस्य विरेकित्वेनामनिःसरणाद्धेतुप्रत्यनीकमेव भवति; एवमग्निप्लुष्टेऽप्युष्णक्रियया रक्तस्य विलयनेन स्थानान्तरगमनाद्धेतुप्रत्यनीकतैव; अन्यथा दाहप्रकुपितं रक्तं तत्रस्थं पाकमारभेत्; यदुक्तं सुश्रुते–'अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति। ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते' इति (सु. सू. १२।१७), शीतक्रिया च तत्र निषिद्धा, रक्तस्य स्त्यानत्वहेतुत्वात्। यदाह सुश्रुतः–-'प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्। तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन' इति (सु. सू. १२।२०), स्कन्दयति स्त्यानीकरोति; तथा जङ्गमविषे ऊर्ध्वगस्वरूपे मौलविषमधोगस्वरूपं हेतुविपरीतमेव, यदुक्तं चरके–-'विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्। ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्'–इति (च.सू.२६।६९); अस्यायमर्थः–विषत्वाविशेषेऽपि कुतो गतिभेद इत्यत उक्तम्–-तत् प्रभावप्रभावितमिति; तथा मद्यकृते मदात्यये यन्मद्यं तदपि मातुलुङ्गचुक्रादियुतं सुश्रुतादिभिर्विहितं केवलाच्च द्रव्यान्तरसंयुक्तमन्यदेव, अथवा वातमदात्यये रूक्षमाध्वीकादिना जनिते स्निग्धपैष्टिकादिमद्ये प्रयुज्यमानं हेतुविपरीतमेव; यच्चोक्तं सुश्रुते–-यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः। ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः' इति (सु. उ. ४७।४८), तन्मद्यजातीयाभिप्रायेणैव; यच्चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं, तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिरगच्छन् देहोष्मा कुम्भकारपवनन्यायेनान्तःपिण्डितौ मेदःश्लेष्माणौ विलाययति, व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः स्वमार्गप्रतिपन्नो भवतीति हेतुप्रत्यनीकतैव; अनेन न्यायेन सर्वमेव तदर्थकारि यथासंभवं हेतुप्रत्यनीकादावेवान्तर्भवतीति ?

उच्यते–-यद्यप्येवं तथाऽप्यवान्तरवैधर्म्यप्रतिपादनार्थमाचार्यैः पृथग्दर्शितम्। तथा चरकेऽप्युक्तम्–-'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः' इति (च. नि. १।१०) वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोगप्रशमकत्वमिति ॥ ८॥

सरोज व्याख्या–-रूप के वर्णन के पश्चात् उपशय के विषय में कहते हैं–- हेतुव्याधीत्यादि। हेतु दो प्रकार का होता है–-(१) बाह्य, (२) आभ्यन्तर। आगन्तुक कारण हेतु बाह्य और दोषप्रकोपक हेतु (निज कारण) आभ्यन्तर माना जाता है। ज्वर, गुल्म एवं अर्श आदि व्याधियाँ कही गयी है, इन हेतु और व्याधि व्यस्त (पृथक्-पृथक्) और समस्त (मिलित) के अर्थात् इन दोनों निदान एवं रोग के विपर्यस्त (विपरीत) और इन हेतु और व्याधि की पृथक् एवं मिलित अवस्था में विपर्यस्तार्थकारी अर्थात् निदान के समान धर्म (गुण) होने पर भी अपने प्रभाव से रोग का उपशमन करने वाले औषध (भेषज), अन्न (आहार) और

विहार (आचार) के सुखावह (सुखकर) अवस्था को रोग का उपशय जानना चाहिए।

उपशय का पर्यायवाचक कहा गया है—'स हि सात्म्यम् इति स्मृतः' अर्थात् उपशय को 'सात्म्य' कहा गया है। चरक में कहा गया है--'सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः' (च० नि० १) अर्थात् सात्म्य और उपशय दोनों का एक ही अर्थ होता है। 'हि' शब्द पादपूरणार्थ प्रयुक्त किया गया है।

सुखावहम्--रोगनिवृत्तिजनक सुख को देने वाले उपयोग को उपशय कहा जाता है। जैसे कि लोक में कहा जाता है कि "भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः" अर्थात् सिर का बोझ (भार) उतर जाने से सुखी हो गये।

सुखावहम्--जिसके सेवन से चिरकाल तक रोगरहित सुख की प्राप्ति हो, उसे 'सुखावह' कहते हैं। दाह एवं तृष्णा से युक्त नवज्वर में शीतल जलपान क्षणिक सुखकारक होने पर भी परिणाम में रोगवृद्धिकारक होने के कारण उपशय नहीं है।

यहाँ औषध, अन्न और विहार तो उपलक्षण मात्र है, इसके साथ देश एवं काल को भी ग्रहण करना चाहिये। अतएव वृद्धवाग्भट्ट ने व्याधि आदि विपरीत का वर्णन कर "एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ" अर्थात् देश एवं काल का ग्रहण करने को कहा है।

सुदान्तसेन ने भी कहा है—हेतु और व्याधि आदि के विपरीत औषध, अन्न और विहार परिणाम में सुख देने वाले सभी देश-काल आदि 'उपशय' कहलाते हैं और इसके विपरीत 'अनुपशय' है।

संक्षेप में कहा गया है—'औषधादिजनितः सुखानुबन्धः उपशयः' अर्थात् औषधादिजनित आरोग्य एवं सुखप्राप्ति को उपशय कहा जाता है। किन्तु माला, चन्दन, स्त्री-संभोग आदि से प्राप्त सुख के परिहार के लिये औषध आदि पदों का प्रयोग किया गया है। कभी-कभी अपथ्य सेवन से भी तात्कालिक अधिक सुख की प्राप्ति होती है, पर उसे उपशय नहीं कहा जायगा। इसलिए उसके परिहारार्थ अनुबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ परिणाम में सुखदायक होता है।

वास्तव में यह लक्षण केवल उदाहरणमात्र है, न कि लक्षण, क्योंकि हेतु आदि में विपरीत औषधादि का परस्पर व्यभिचार होने से लक्षण ठीक-ठीक नहीं घटता है। जैसे द्रव्य रूप शीतल जल वातकारक होने से वातव्याधि में अपथ्य, किन्तु ऊरुस्तम्भ रोग में शीतल जल में तैरना लाभप्रद होता है। अतः इस व्यभिचार के कारण पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं मालूम पड़ता। इसलिए व्याधिजन्य दुःख की सम्यक् शान्ति का जो हेतु (उपाय) होता है, उसे उपशय कहते हैं।

अथवा सात्म्य (अनुकूल) पदार्थ उपशय है। यही लक्षण ठीक प्रतीत होता है। अथवा औषधजनित सुखानुबन्ध को उपशय होते हैं। चरक में आहार, आचार, देश, काल, लंघन आदि द्रव्यभूत अथवा अद्रव्यभूत समस्त पदार्थों की औषध रूप में प्रयोग का विधान है।

उपर्युक्त ढंग से उपशय के अठारह भेद बन जाते हैं—(१) हेतुविपरीत औषध—जैसे शीत ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध का प्रयोग। शुण्ठी उष्ण होने के कारण शीत ज्वर को नष्ट करती हैं। इसलिए कहा जाता है कि चिकित्सक उष्ण पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोग को शीतल पदार्थों द्वारा एवं शीतल पदार्थों से होने वाले रोग को उष्ण पदार्थों से शमन करते हैं।

२. हेतुविपरीत अन्न—श्रम तथा वातजन्य ज्वर में मांसरस के साथ भात का सेवन। यह दोनों स्निग्ध होने के कारण श्रमजन्य क्षीणता एवं वातजन्य रूक्षता को नष्ट करते हैं।

३. हेतुविपरीत विहार—दिवास्वाप से उत्पन्न कफ में रात्रि-जागरण करने से प्रकुपित कफ की शान्ति होती है।

४. व्याधिविपरीत औषध—अतिसार में पाठा स्तम्भक होने से व्याधिविपरीत औषध है। शिरीष विष को, खदिर कुष्ठ को एवं हरिद्रा प्रमेह को नष्ट करती है। ये औषध दोषविशेष की अपेक्षा किये विना प्रभाव से रोग को शान्त करते हैं।

आचार्य वाप्यचन्द्र का विचार है कि जो द्रव्य ज्वर आदि व्याधियों को दूर करता है, वह भी दोषप्रत्यनीक (हेतु विपरीत) होता है, किन्तु जो दोषप्रत्यनीक औषध, अन्न या विहार होता है, वह आवश्यक नहीं है कि वह व्याधिप्रत्यनीक (व्याधिहर) भी हो। दोषप्रत्यनीक एवं व्याधिप्रत्यनीक में यही भेद है। जैसे वमन और लंघन कफहर होते हुए भी कफज गुल्म का नाश नहीं करते। इसीलिए चरक ने कहा है—

कफे लंघनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः।
तुल्येऽपि देशकालादौ लंघनं न च सम्मतम्॥

अर्थात् कफ लंघन साध्य होता है, ज्वर तथा गुल्म को उत्पन्न करता है, किन्तु देश, काल, प्रकृति आदि के तुल्य होने पर भी लंघन कफज ज्वर को नष्ट करता है किन्तु कफज गुल्म को नहीं। इसी प्रकार कफजन्य कतिपय रोगों में महर्षि सुश्रुत ने लंघन का निषेध लिखा है—

'न वामयेत् तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्।'

(सु० चि० ३३)

किन्तु जो द्रव्य व्याधिहर होता है, वह अवश्य दोषहर होता है, वह व्याधि का

शमन करते हुए व्याधि-आरम्भक दोष को भी शान्त करते हैं। अन्यथा दोष-रूप कारण के नष्ट न होने पर इससे उत्पन्न होने वाली कार्यरूप व्याधि का नाश (शमन) कठिन है। ऐसा आचार्य वाप्यचन्द्र का मत है।

अन्य आचार्य उपर्युक्त मत को अति संगत नहीं मानते। उनका कथन है कि यद्यपि दोष व्याधि का समवायिकारण या निमित्त कारण होता है तथा व्याधि-नाश के लिए पूर्वोक्त दोनों कारणों का नाश (अभाव) होना आवश्यक है, किन्तु केवल समवायि या निमित्त कारण के नष्ट (अभाव) होने से कार्य का विनाश कहना असंगत है; क्योंकि असमवायि कारण के विनाश (अभाव) से भी कार्य का नाश (अभाव) होता है। जैसे घड़े के दोनों कपालों का संयोग, जो कि असमवायि कारण होता है, उस संयोग के विनाश अथवा संयोग से घड़े का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार रोग के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए कि सम्प्राप्तिरूप संयोग के विनाश (विघटन) से रोग का विनाश हो जाता है। दोष स्वतः अथवा निदान परिवर्जन आदि अन्य उपायों से नष्ट हो जाते हैं।

यदि व्याधिप्रत्यनीक (व्याधिविपरीत) द्रव्य दोष को भी अवश्य शान्त कर देगा, ऐसा मान लिया जाय, तो उभयप्रत्यनीक (हेतु व्याधि उभय विपरीत) उपशय का पृथक् प्रतिपादन करना कठिन हो जायगा, क्योंकि दोनों का एक ही कार्य होने से कोई एक अनावश्यक हो जायेगा।

यदि दोषों को व्याधिरूप कार्य का निमित्त कारण मान लिया जाय, तो दोषारब्ध (दोषजन्य) विकार के दोष का वमन-विरेचन द्वारा निर्हरण या विनाश करने पर व्याधिरूप कार्य का शमन कैसे हो सकता है, क्योंकि यह देखा जाता है कि निमित्त कारणरूप दण्ड कुलाल आदि के नष्ट होने पर घट का नाश नहीं होता है। अर्थात् कार्य और कारण दोनों भिन्न-भिन्न होने से यह आवश्यक नहीं है कि जो द्रव्य कार्य को नष्ट करेगा, वह कारण को भी नष्ट करे। अथवा जो द्रव्य कारण को नष्ट करे, वह कार्य को भी नष्ट करे। इसका उत्तर देते हुए आचार्य विजयरक्षित ने कहा है—जहाँ-जहाँ निमित्त कारण का स्थायी कार्य होता है, वहाँ-वहाँ कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है। जैसे तैल और वर्ति का नाश होने से दीप का नाश हो जाता है, प्रायः इसी तरह दोषनिमित्त कारणता को भी जानना चाहिए।

५. व्याधिविपरीत अन्न—जैसे अतिसार में स्तम्भन के लिए मसूर आदि का प्रयोग।

६. व्याधिविपरीत विहार--जैसे उदावर्त में प्रवाहण (अधोमार्ग से मल-निर्हरण के लिए प्रयत्न करना)।

इसके अतिरिक्त मन्त्र, औषधि धारण, वलि, उपहार, नियम, प्रायश्चित्त, हवन, गुरुसेवा एवं देवार्चना आदि को भी व्याधि विपरीत विहार आचार्य वाप्यचन्द्र ने माना है।

७. हेतुव्याधि-विपरीत औषध—वातिक शोथ में वातहर एवं शोथहर दशमूल का प्रयोग। चरक ने षड्विरेचनशताश्रितीय (च० सू० ४) अध्याय में पाटला आदि दशमूल के द्रव्यों का निर्देश किया है।

८. हेतुव्याधिविपरीत अन्न—वातकफजन्य ग्रहणी में तक्र का प्रयोग। तक्र वात कफ दोष एवं ग्रहणी विकार दोनों को नष्ट करता है। शीतवातजन्य ज्वर में पेया का प्रयोग। पेया उष्ण होने से वायु को तथा प्रभाव से ज्वर नष्ट करती है। चरक में कहा गया है कि पेया ज्वर में सात्म्य होने से ज्वर को शान्त करती है। (च० चि० ३)। सुश्रुत ने कहा है ज्वर एवं अतिसार में यवागू हितकर है। (सु० उ० ४०)

९. हेतुव्याधिविपरीत विहार—दिन में सोने से शरीर में कफादिस्निग्धांश के बढ़ जाने से उत्पन्न तन्द्रा में उसके विपरीत रूक्ष रात्रिजागरण से तन्द्रा नष्ट होती है।

१०. हेतुविपरीतार्थकारी औषध—पित्त प्रधान व्रणशोथ में पकाने के लिए पित्त-कारक उष्ण उपनाह का प्रयोग किया जाता है।

११. हेतुविपरीतार्थकारी अन्न—पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न का प्रयोग।

१२. हेतुविपरीतार्थकारी विहार—वातोन्माद में रोगी को त्रास (भय) दिखाना। यद्यपि त्रास से वायु की वृद्धि होती है, जैसा कि कहा गया है—'कामशोक-भयाद् वायुः' किन्तु वातजन्य उन्माद में त्रास से लाभ होता है।

१३. व्याधिविपरीतार्थकारी औषध—छर्दि में वमनकारक मदनफल का प्रयोग। वमन द्वारा का निर्हरण होने से शीघ्र लाभ होता है।

१४. व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न—अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर का प्रयोग। क्षीर अतिसारजनक होते हुए भी शोधन कर तद् विपरीत कार्य करता है।

१५. व्याधिविपरीतार्थकारी विहार—छर्दि में वमन कराने के लिए प्रवाहण।

१६. हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध—अग्निदग्ध में उष्ण अगुरु आदि का लेप हेतु और व्याधि के समान होने पर उसके विपरीत कार्य करता है। इसी प्रकार एक विष को शान्त करने में दूसरे प्रकार के विष का प्रयोग। अर्थात् स्थावर विष में जङ्गम एवं जङ्गम बिष में स्थावर विष का प्रयोग होता है। कहा भी गया है—'विषस्य विषमौषधम्'।

१७. हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी अन्न—जैसे मद्यपान से होने वाले मदात्यय में मदकारक मद्य का प्रयोग लाभप्रद होता है।

१८. हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहार—व्यायाम से उत्पन्न समूढ़वात में जल प्रतरण (प्लवन) से लाभ होता है।

उपयोग	उपशय भेद		
	औषध	अन्न	विहार
१. हेतुविपरीत	शीत कफ ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध ।	श्रम तथा वातजन्य ज्वर में मांसरस एवं भात ।	दिवास्वाप से उत्पन्न कफ में रात्रि-जागरण ।
२. व्याधिविपरीत	अतिसार में स्तम्भनार्थ पाठा, कुष्ठ में खदिर, प्रमेह में हरिद्रा ।	अतिसार में स्तम्भनार्थ मसूर ।	उदावर्त में प्रवाहरण ।
३. हेतुव्याधि उभय विपरीत	वातिक शोथ में वातहर तथा शोथहर दशमूल क्वाथ ।	वातकफजन्य ग्रहणी में तक्र, शीतवातजन्य ज्वर में पेया, ज्वर एवं अतिसार में यवागू ।	दिवास्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष रात्रि-जागरण ।
४. हेतु विपरीतार्थकारी	पित्तप्रधान व्रणशोथ में पित्तकर उष्ण उपनाह ।	पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न ।	वातोन्माद में त्रासन ।
५. व्याधि विपरीतार्थकारी	छर्दि में वमनकारक मदनफल ।	अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर ।	छर्दि में वमनार्थ प्रवाहण ।
६. हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी	अग्नि से जल जाने पर अगुरु सदृश उष्ण पदार्थों का लेप, विषजन्य रोग में विष का प्रयोग ।	मद्यपानोत्थ मदात्यय में मदकारक मद्य का प्रयोग ।	व्यायाम जनित संमूढ़ वात में जल प्रतरण ।

अब यह शंका उत्पन्न होती है कि विपरीतार्थकारी चिकित्सा का अन्तर्भाव यथा-योग्य हेतुविपरीत आदि में हो जाता है, इसलिए उनका पृथक् से निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे श्लेष्मबहुल छर्दि में जो कि वमनसाध्य होती है वमन न कराने से रोग दीर्घकालानुबन्धी हो जायेगा, अथवा उसका विनाश असम्भव हो जायेगा। प्रकृति में कफ की बहुलता को विनष्ट करने के लिये वमन (परमौषधि) का प्रयोग होने से छर्दि रोग के शमन हेतु वमन कहा गया है। अतः यह वमन विधि भी विपरीतार्थकारी न होकर केवल हेतुविपरीत चिकित्सा कही जायेगी। जैसा कि सुश्रुत ने भी कहा है— छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते।

(सु० उ० ४६।१७)

अग्नि से जल जाने पर दग्ध स्थान पर उष्ण उपचार करने से सञ्चित रक्त का विलयन होकर स्थानान्तर गमन करने से भी हेतुप्रत्यनीकता ही सिद्ध होती है। अन्यथा दग्ध स्थान पर दूषित रक्त रुककर पाक प्रारम्भ कर देता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते॥ (सु० सू० १२।१७)

अर्थात् किसी अङ्ग प्रत्यङ्ग के दग्ध होने से अग्नि उस स्थान के रक्त को अत्यन्त प्रकुपित कर देती है और उसके साथ उसी वेग से पित्त का भी प्रकोप हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में शीतोपचार निषिद्ध है, क्योंकि शीतोपचार से रक्त वहीं जम जाता है। जैसा कि महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यति शोणितम्।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथञ्चन॥ (सु० सू० १२।२०, २१)

अर्थात् जल स्वभावतः शीतल होता है, जिसके प्रयोग से दग्ध स्थान का रक्त जम जाता है। इसलिए दाह में उष्णोपचार ठीक रहता है, शीतल जल या शीतल पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'स्कन्दयति-स्त्यानीकरोति' अर्थात् शीतल जल रक्त को जमा देता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वग जङ्गम विष में अधोगामी मौल विष का प्रयोग हेतुविपरीत ही है। जैसा कि चरक में कहा गया है—

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्॥ (च० सू० २६।६६)

अर्थात् विष को जो विष नाशक कहा गया है, इसमें भी प्रभाव ही कारण होता है। इसके अतिरिक्त एक विष की गति ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर होती है और

दूसरे की आनुलोमिक अर्थात् नीचे की ओर होती है, इससे भी प्रभाव का ही प्रभाव होता है।

विजयरक्षित ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि दोनों प्रकार के विषों में विषत्व सामान्य होने पर भी ऊर्ध्व एवं अधोगति, को उनके प्रभावविशेष के कारण से ही समझना चाहिए।

इसी प्रकार मद्यपानजन्य मदात्यय में प्रयोग किये जाने वाले मद्य को सुश्रुत आदि ने बिजौरा नीबू एवं चुक्र आदि अम्ल द्रव्यों का समावेश कर पिलाने का विधान किया है। केवल मद्य की अपेक्षा द्रव्यान्तर संयुक्त अर्थात् अम्लद्रव्य संयुक्त मद्य का गुण ही बदल जाता है। अथवा रूक्ष माध्वीकादि मद्यजनित वातमदात्यय में स्निग्ध पौष्टिक आदि मद्य का प्रयोग हेतुविपरीत ही होता है। मदात्यय में मद्यपान के महत्व को बतलाते हुए सुश्रुत ने कहा है कि जिस प्रकार राजा से दण्डित व्यक्ति राजा की आज्ञा से ही मुक्त हो सकता है, अन्य से नहीं; उसी प्रकार मद्यपानजनित मदात्यय से भी छुटकारा मद्यपान से ही हो सकता है, अन्य औषधि से नहीं।

इसी प्रकार ऊरुस्तम्भ में जलप्रतरण भी हेतुप्रत्यनीक ही है; क्योंकि कुम्भकार-पवनन्याय से अर्थात् जैसे कुम्हार अपने बर्तनों को पकाने के लिये आँवे में आग लगाकर उस आँवे को ऊपर से राख-मिट्टी से अच्छी तरह लेप कर देता है और अग्निताप को बाहर निकलने नहीं देता, वैसे ही ऊरुस्तम्भ में पानी में तैरने से जल की शीतलता के कारण शरीर की अग्नि शरीर से बाहर नहीं निकलने पाती, जो ऊरुस्थान में सञ्चित कफ और मेद को पिघला देती है और व्यायाम उनको सुखा देता है, जिससे वायु आवरणरहित होकर स्वमार्गगामी हो जाती है। इस प्रकार विकृत वात को प्राकृत करना हेतुप्रत्यनीक ही है। इस कार्य से सम्पूर्ण तदर्थकारी चिकित्सा का भेद हेतुप्रत्यनीक आदि भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। पुनः इसको पृथक् से क्यों कहा गया है ?

इसका समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि यह ठीक (युक्तिसंगत) है तो भी इनमें कुछ अवान्तर वैधर्म्य (सूक्ष्म भेद) प्रतिपादन करने के लिये आचार्यों ने इनका पृथक् प्रतिपादन किया है। चरक ने भी इसे स्वीकार करते हुए उपशय का लक्षण इस प्रकार किया है--उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः। (च० नि० १)

रोगोत्पादक हेतु के समान धर्म होने पर भी रोग का प्रशमनकारित्व होना ही हेतुप्रत्यनीक से हेतुविपरीतार्थकारी का वैधर्म्य है। अर्थात् हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा में औषध आदि हेतु के विपरीत होते हैं। उनका प्रत्येक धर्म परस्पर पृथक् होता है, जबकि विपरीतार्थकारी में दोनों के धर्म समान होते हैं।

अनुपशय

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यमिति स्मृतः ॥ ६ ॥

(अ० हृ० नि० १।७)

उपशय के विपरीत अनुपशय होता है। इसे 'व्याध्यसात्म्य' भी कहते हैं ॥ ६ ॥

विपरीतोऽनुपशय इति औषधादीनां दुःखकर उपयोगोऽनुपशय इत्यर्थः। तत्पर्यायमाह—व्याध्यसात्म्यमिति स्मृत इति। व्याधिग्रहणेन दोषोऽपि बोध्यः। ननु, अनुपशयः किं व्याधिविशेषं बोधयति ? नो वा ? नेति चेत्, निदाने तदुपन्यासो व्यर्थः; प्रतिपादयतीति चेत्, 'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्'—इति व्याहन्यते, तस्य षष्ठत्वापत्तेः ? नैवं; प्रतिपादयत्येव; यदाह चरकः—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' इति (च० वि० ४।८)। किन्तु निदाने तस्यान्तर्भावः, दोषस्य रोगस्य वा वर्धकत्वात्। (इत्यनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावान्न षष्ठत्वापत्तिः, वक्ष्यति च—'निदानोक्तानुपशयः' इति।) ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—उपशय से बिपरीत अनुपशय होता है। अर्थात् औषध, अन्न एवं विहार के दुःखकर उपयोग को 'अनुपशय' कहते हैं। अथवा जिन औषध आदि के उपयोग से रोग की वृद्धि हो, उसको 'अनुपशय' कहते हैं। इसे व्याधि-सात्म्य भी कहा गया है। 'व्याधि' शब्द से यहाँ दोष का ग्रहण कर लेना चाहिये। अर्थात् जो औषध, अन्न एवं विहार प्रकृति के प्रतिकूल होकर दोषों के लिए असात्म्य हो, इससे उनका प्रकोप होता है, वे भी अनुपशय कहे कये हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या अनुपशय किसी व्याधिविशेष का बोध कराता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तो इस निदानप्रकरण में उसका समावेश व्यर्थ है। यदि वह रोगविशेष का बोधक है, तो 'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्' माधवोक्त रोगविज्ञान के निदानपञ्चक का खण्डन हो जायेगा, क्योंकि अनुपशय के कथन से पाँच की जगह छः रोगज्ञान के साधन हो जायेंगे ! इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य विजयरक्षित ने कहा है कि यह बात नहीं है, अनुपशय भी रोग का प्रतिपादन किया करता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत'। (च० नि० ४)

अर्थात् गूढ़ (अव्यक्त-संदिग्ध) लक्षण वाली व्याधि की परीक्षा उपशय एवं अनुपशय से करनी चाहिये। 'अनुपशय' का निदान में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि जैसे निदान दोष एवं रोग का वर्द्धक होता है, इसी प्रकार अनुपशय से रोग एवं दोष की वृद्धि होती है। इसलिए अनुपशय का निदान में अन्तर्भाव हो

जाने से रोग ज्ञान के छः उपाय न बनकर पाँच ही रह जाते हैं। इसी आशय से आगे कहा है--'निदानोक्तानुपशयः' अर्थात् रोगोत्पादक कारण को 'अनुपशय' कहा जाता है ॥ ९ ॥

सम्प्राप्ति

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ १० ॥

(अ० हृ० नि० १।८)

जिस प्रकार से दूषित (कुपित) हुए वातादि दोष, जिस तरह शरीर में गति (विसर्पण) करते हुए रोग की उत्पत्ति करते हैं, उसे 'सम्प्राप्ति' कहा जाता है। 'जाति' और 'आगति' उस के पर्याय हैं।

संप्राप्तिमाह—यथेत्यादि। नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा, रौक्ष्यादिभि सर्वैर्भावैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा संप्राप्तिरुच्यते। यथा चानुविसर्पतेति। अनेकधा दोषाणां विसर्पणं गतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन; तथा विसर्पता। संप्राप्तिपर्यायावाह शास्त्रो व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च—जातिरागतिरिति। जात्यादिभिः शब्दैर्याभिधीयते सा संप्राप्तिरिति। 'जातिरागतिरिति जन्मापि ज्ञानकारणम्, अजातस्य ज्ञानाभावात्' इत्याह भट्टारहरिचन्द्रः। एतेनैतदुक्तं भवति--न हि निदानादिवद् बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, किन्तु बोधविषयत्वेन। तन्न इत्यन्ये; आलोकचक्षुरादेरिव एवंविधसंप्राप्तेश्चिकित्सायामनुपयोगात्। न चास्ति नियमो जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात्। अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यज्जन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव; तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः, जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः, तैरपि विना ज्ञानाभावात्। तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिः, न तु केवलं जन्मेति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः। वाग्भटेनापि 'यथा दुष्टेन' (वा० नि० १।८) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता। तथा च सति क्रियाविशेषो लभ्यते; यथा--ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिबोधे लङ्घनपाचनस्वेदादिकरणमिति। संप्राप्तिश्चैवंविधा यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते, तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते, यथा--ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात् पृथगिति। तस्माद् 'दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिः' इत्येव लक्षणम् ॥ १० ॥

सरोज व्याख्या--दोषों की दुष्टि अनेक प्रकार की होती है—प्राकृत या वैकृत, अनुबन्ध्यरूप अथवा अनुबन्धरूप, एकदोषदुष्टि, द्विदोषदुष्टि अथवा समस्तदोषदुष्टि। यह दोषदुष्टि वातादि प्रकोपक रूक्ष आदि सम्पूर्ण या अल्प (कुछ) गुणों से तत्सदृश होती है। इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से दुष्ट हुए दोषों द्वारा जब रोग की निर्वृत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है, तो उसे 'सम्प्राप्ति' कहा जाता है।

यथा चानुविसर्पता इति--दोषों का अनेक प्रकार से विसर्पण शरीर में होता है, अर्थात् दोष विकृत होकर ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् आदि गतिभेद से सारे शरीर में फैलकर रोगों को उत्पन्न करते हैं।

'जाति' और 'आगति'—ये दोनों सम्प्राप्ति का पर्यायवाचक है। ये दोनों शास्त्र-व्यवहारार्थ एवं लक्षण के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं; 'जाति' आदि पर्यायों द्वारा वर्णित अर्थ 'सम्प्राप्ति' कहलाता है।

'जाति' शब्द जन्म का बोधक है, 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'जाति' शब्द बनता है। भट्टारहरिचन्द्र का कथन है कि रोग का जन्म भी रोग के जानने का कारण होता है, अजात अथवा अनुत्पन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि अज्ञात वस्तु अभावावस्था में रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार निदान, पूर्वरूप आदि रोगज्ञान के कारण हैं, उसी प्रकार सम्प्राप्ति रोगज्ञान का कारण न होकर बोध का विषय होने से इसे ज्ञान का कारण मान सकते हैं। अर्थात् सम्प्राप्ति सीधा ज्ञान का कारण न होकर उसका विषय अथवा मार्ग होने से ज्ञान का कारण कह दिया जाता है।

अन्य विद्वान् उपर्युक्त विचार को नहीं मानते, क्योंकि ज्ञान के साधन आलोक (प्रकाश) और चक्षु के समान इस प्रकार की सम्प्राप्ति का भी चिकित्सा में किसी प्रकार का उपयोग नहीं हो सकता। अर्थात् रोगज्ञान में प्रकाश एवं चक्षु का होना आवश्यक है। अतः उनको निदानादि के समान पृथक् रोगज्ञापक स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है, अतः उनका कथन अनपेक्षित है। व्यवहार में उनका ही कथन अपेक्षित है, जो चिकित्सा में उपयोगी हो, क्योंकि निदानादि का प्रयोजन रोगज्ञान के साथ-साथ चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी नहीं है।

इस बात का भी कोई नियम नहीं है कि जात अर्थात् उत्पन्न वस्तु का ही ज्ञान हो; क्यों कि मेघदर्शन से भावी (अज्ञात) वृष्टि के ज्ञान के समान निदान एवं पूर्वरूप आदि के द्वारा अनुत्पन्न व्याधि का ज्ञान होता है।

यदि यह कहा जाय कि जात का अर्थ जन्मावच्छिन्न (जन्मयुक्त) है, जैसे वर्षा

भावी होते हुए भी जन्मावच्छिन्न है और मेघ आदि पूर्वरूपों से भविष्यद् वृष्टि का ज्ञान हो सकता है, किन्तु जिस वस्तु का त्रिकाल में जन्म नहीं होता, उसका ज्ञान भी कभी नहीं होता।

ऐसा कुछ होने पर भी व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति नहीं कहा जा सकता है; अन्यथा जन्म के समान, प्रकाश और चक्षु आदि का ज्ञापक मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके बिना भी ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए दोषों की इतिकर्त्तव्यता से उपलक्षित व्याधिजन्य को सम्प्राप्ति कहते हैं, न कि केवल रोगजन्म मात्र को। आचार्य वाग्भट ने इसी अभिप्राय से 'यथा दुष्टेन दोषेण' इत्यादि श्लोक द्वारा एक विशिष्ट प्रकार के व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति कहा है। ऐसा लक्षण करने पर दोषों का क्रियाविशेष भी पाया जाता है; न कि केवल व्याधिजन्म मात्र। जैसे ज्वर की सम्प्राप्ति में आमाशय के दूषित हो जाने पर पाचक अग्नि के नाश आदि का बोध हो जाने पर लंघन, पाचन एवं स्वेदनादि द्वारा चिकित्सा करने का ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि इस प्रकार की सम्प्राप्ति, दोषों का अवान्तर व्यापार होने से दोषग्रहण से ही प्राप्त हो जाती है, तथापि चिकित्साविशेष के ज्ञान के लिए इसका पृथक् निर्देश किया है। जैसे पूर्वरूप और रूप—दोनों ही सामान्यतया व्याधि का बोध कराते हैं, तो भी पूर्वरूप को रूप से भिन्न ही कहा गया। वह इसलिए कहा गया है—

'दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः'। (विजयरक्षित)
'तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः'।
(चक्रपाणि)

सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा का सम्बन्ध

सम्प्राप्ति	चिकित्सा
१. निदान से दोषवृद्धि।	१. निदान परिवर्जन, दोषों का शोधन/शमन (दोषप्रत्यनीक)।
२. दूष्य दुष्टि/क्षय।	२. दूष्यों को ठीक करना (दूष्यप्रत्यनीक)।
३. दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना।	३. दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना को तोड़ना (व्याधिप्रत्यनीक)।
४. स्रोतोदुष्टि।	४. स्रोतस् शुद्ध करना (स्त्रोतःशुद्धि)
५. अग्निमान्द्य एवं आम।	५. दीपन, पाचन।
६. रोग का अधिष्ठान।	६. अधिष्ठान को ठीक करना।

संप्राप्तिभेदानाह—

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ११ ॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ १२ ॥
हेत्वादिकात्स्न्यवियवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ १३ ॥
(अ० हृ० नि० १।९-१०)

संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषता के आधार पर सम्प्राप्ति का भेद किया जाता है। जैसे अन्यत्र (ज्वर निदान में) कहेंगे कि ज्वर आठ प्रकार का होता है। अर्थात् रोगों की संख्या का निर्देश संख्या-सम्प्राप्ति कहलाती है। रोगोत्पत्ति में सम्मिलित दोषों की अंशांशकल्पना (न्यूनाधिक्य) का विवेचन विकल्प-सम्प्राप्ति एवं व्याधि की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का विचार करके उसकी प्रधानता अथवा अप्रधानता का निश्चय करना प्राधान्य-सम्प्राप्ति मानी जाती है। निदान, पूर्वरूप आदि की सम्पूर्णता या दुर्बलता (अल्पता) के द्वारा रोग के बल या अबल का विवेचन बल-सम्प्राप्ति और रात्रि, दिन, ऋतु एवं भुक्त आहार के अंश (आदि, मध्य और अन्त) के अनुसार दोषविकृति का ज्ञान काल-सम्प्राप्ति समझना चाहिए ॥११-१३॥

तस्या औपाधिकभेदमाह—संख्येत्यादिना सा भिद्यत इत्यन्तेन। अत्र च प्राधान्योपादानादप्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यम्, अतएव च विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति। एवं बलेऽपि व्याख्येयम्। संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि। अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम्। अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात्; एकजास्त्रयोः, द्वन्द्वजास्त्रयः, सन्निपातज एकः, आगन्तुजश्चैक इति। यद्यपि वृद्धैर्दोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरकेण—'द्वयुल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश (च० सू० १७।४१) इति; तथाऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात् सान्निपातिक एकत्वेन गणितः। एवं कामशोकभयाद्यनेककारणजोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति।

विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि। समवेतानां परस्परसम्बद्धानां; तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम्। अंशांशकल्पनेति-अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः, तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं कल्पना। यदुक्तं सुश्रुते—"सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषो-

ऽनुधावति" इति (सु० सू० २१।३८)। एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति । तद्यथा—वातस्य रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यादिगुणस्य एवंगुणः कषायरसः कलायश्च सर्वैर्भावैर्वर्धकः, रौक्ष्यशैत्यलाघवैस्तण्डुलीयकः रौक्ष्यशैत्याभ्यां काण्डेक्षुः रौक्ष्येण सीधुः; तथा पित्तस्य सर्वैर्भावैर्वर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटूष्णतीक्ष्णत्वैः, दीप्यकस्तैक्ष्ण्यौष्ण्याभ्याम्; औष्ण्येन तिलाः तथा श्लेष्मणः सर्वैर्भावैर्वर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेहगौरवमाधुर्यैं राजादानफलं, कशरुः शैत्यगौरवाभ्यां, शैत्येन क्षीरिणां फलानीति । अपरगुणोदाहरणप्रकारा जेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रव्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः । प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति । अनुबन्ध्यानुबन्धभावेनेत्यर्थः । अत्रापि 'दोषाणां समवेतानाम्' इत्यनुवर्तनीयम् । 'अप्राधान्यं च' इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपदर्शितम् । तेन स्वातन्त्र्यात् प्राधान्यम्, पारतन्त्र्यादप्राधान्यमिति सिध्यति ।

बलं विवृणोति—हेत्वादीत्यादि । हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्याद्व्याधेर्बलवत्त्वं, तेषामवयवेनैकदेशेनाबलवत्त्वम् । कालं विवृणोति—नक्तमित्यादि । नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरेकदेशैः; व्याधिकालो व्याधिवृद्धिहानिहेतुः कालः । अत्र, ऋतोरंशाः कतिपयान्यहोरात्राणि, यदाह वाग्भटः—'ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसंधिरिति स्मृतः' इति (वा० सू० ३।५८); संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोऽशः ऋत्वंश इत्येवमपि योज्यं, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशाः; ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात् । यथामलं यथादोषं; तद्यथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः; एवं दिनस्य; वसन्ते कफस्य, शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः; एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य; मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते सम्यक्परिणते भुक्ते वायोः प्रकोप इति । तदुक्तं वाग्भटेनैव—'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्' इति (वा० सू० १।७) । अत्र ते इति क्रमेण वातपित्तश्लेष्माणः ।

ननु, संप्राप्तिभेदे चरकेण संख्यादिवद्विधिरप्युक्तः; यथा—'द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन' (च० नि० अ० १); 'त्रिविधं रक्तपित्तम्' (च. सू. अ. १६) इत्यादि; तत् कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः ? उच्यते; संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात् । विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽप्यूर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि;

यथा—चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वरा इति। अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते। तथा च न्यायविदो ब्रुवते—'समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रम्' इति। वैयाकरणा अपि व्याचक्षते—'अन्वयवान् प्रकारः, निरन्वयो भेदः'—इति वाप्यचन्द्रो लिखितवान्। ननु, यथांऽशांश-विकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्यया ? उच्यते—संख्याभेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः ? इति; तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परम्परया कारणत्वं संख्यायाः। तत्र यद्युत्पद्यमान एवासौ दोषभेदाद्भिन्नो जा(ज्ञा)-तस्ततो युक्तमस्य पर्येषणम्—कतमोऽयमिति ! कुतः ? चिकित्साविशेषार्थम्। इति संप्राप्तिलक्षणम् ॥ ११-१३ ॥

सरोज व्याख्या—सम्प्राप्ति के औपाधिक भेदों का वर्णन किया जा रहा है। अर्थात् संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल तथा काल के भेद से सम्प्राप्ति पाँच प्रकार की होती है। यहाँ पर प्राधान्य के निर्देश से तत्प्रतियोगी अप्राधान्य का बोध हो जाता है ! इसीलिए प्राधान्य-सम्प्राप्ति बतलाते समय स्वातन्त्र्य से प्राधान्य और पारतन्त्र्य से अप्राधान्य-सम्प्राप्ति की ओर निर्देश किया गया है। इसी प्रकार बल और अबल सम्प्राप्ति को जानना चाहिए। अर्थात् यदि रोगोत्पादक हेतु पूर्ण प्रबल होंगे, तो बल-सम्प्राप्ति और यदि दुर्बल होंगे, तो अबल-सम्प्राप्ति होती है।

१. संख्यासम्प्राप्ति—'अष्टौ ज्वराः' अर्थात् ज्वर आठ प्रकार का होता है। इस प्रकार की रोगगणना को संख्या-सम्प्राप्ति कहते हैं। ज्वरों के आठ भेद वातादि दोषों के कारण होते हैं। जैसे एकदोषज तीन, द्वन्द्वज तीन, सन्निपातज एक एवं आगन्तुज एक। इस प्रकार ज्वर आठ प्रकार का होता है। यद्यपि वृद्ध दोषों से सन्निपात के तेरह भेद होते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है—'द्व्युल्वणैकोल्वणैः' इत्यादि। अर्थात् दो उल्वण और एकोल्वण दोषों से छः भेद, हीन-मध्य तथा अधिक दोषों से छः भेद, समदोषों से एक भेद। इस प्रकार सन्निपात के तेरह भेद होते हैं। तथापि त्रिदोषजत्व सामान्य से सन्निपात को एक ही माना जाता है। सन्निपात के तेरह भेद निम्नलिखित हैं—

द्व्युल्वण एवं एकोल्वण सन्निपात से छः भेद

क्रमसं०	वृद्ध	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतर	
१	वात	—	पित्त	कफ	द्व्युल्वण
२	पित्त	—	कफ	वात	
३	कफ	—	वात	पित्त	

क्रमसं०	वृद्ध	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतर	
४	वात	पित्त	कफ	—	एकोल्वण
५	पित्त	कफ	वात	—	
६	कफ	वात	पित्त	—	

हीन-मध्य-अधिक सन्निपात से छः भेद

क्रमसं०	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम
७	वात	पित्त	कफ
८	वात	कफ	पित्त
९	पित्त	कफ	वात
१०	पित्त	वात	कफ
११	कफ	वात	पित्त
१२	कफ	पित्त	वात

समदोष सन्निपात से एक भेद

क्रमसं०	वृद्ध	वृद्ध	वृद्ध
१३	वात	पित्त	कफ

इसी प्रकार काम, शोक, भयादि अनेक कारणों से होने वाला आगन्तुज ज्वर भी आगन्तुजत्वसामान्य होने से एक ही माना गया है। इस प्रकार आठ ज्वर होते हैं।

२. विकल्पसम्प्राप्ति—परस्पर सम्बद्ध अर्थात् व्याधि में मिले हुए दोषों की अंशांशकल्पना को विकल्पसम्प्राप्ति कहते हैं। समवेत शब्द से द्वन्द्व और सन्निपात समझना चाहिये। वातादि दोषों में रौक्ष्य, शैत्य लघुता आदि गुणों को अंश कहा जाता है। उनमें से एक, दो, तीन अथवा समस्त अंशों के समावेश के अनुसार दोषों के अल्प अथवा अधिक प्रकोप की अवधारणा को विकल्प कहा जाता है। सुश्रुत ने भी कहा है कि रौक्ष्य आदि सम्पूर्ण, तीन, दो या एक गुण से भी संसर्ग में कुपित दोष दूसरे कुपित दोष का अनुगमन करता है (सु० सू० २१।३७)। इस प्रकार का दोषप्रकोप निदानवैचित्र्य अर्थात् विविध प्रकार के कारणों के सेवन से होता है।

द्रव्य और इनके रसों में दोषों की तरह (सभी या कुछ) गुण विद्यमान रहते

हैं, इसलिये द्रव्य या रस में दोषप्रकोपक जितने अंश उपस्थित रहते हैं, उतने अंश से दोष का प्रकोप होता है। जैसे कषाय रस एवं कलाय (मटर) रौक्ष्य आदि सभी गुणों से युक्त होने के कारण रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, वैशद्य आदि गुण से युक्त वात को सभी अंशों में बढ़ाता है। तण्डुलीयक (चौलाई) के रौक्ष्य, शैत्य और लाघव—ये तीन गुण होते हैं। इसके सेवन से तीन गुणों से युक्त वात का प्रकोप होता है। काण्डेक्षु रूक्षता और शीतता—इन दो गुणों से ही वात को बढ़ाता है। सीधु (शराब भेद) केवल रौक्ष्य गुण से ही वात का प्रकोपक है।

कटु रस और मद्य में पित्तवर्धक सभी गुण होते हैं, अतः वह पित्त का सर्वांश वृद्धिजनक होता है। हिंगु कटु, तीक्ष्ण एवं उष्ण इन तीन गुणों से पित्त को बढ़ाता है। अजवाइन तीक्ष्ण तथा उष्ण दो गुणों से एवं तिल केवल उष्ण गुण से पित्त को प्रकुपित करता है।

मधुर रस एवं माहिष क्षीर शैत्य, गौरव, पैच्छिल्यादि सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने के कारण कफ का सर्वांश वर्धक होता है। राजादनफल स्नेह, गौरव और माधुर्य तीन गुणों से कफ को बढ़ाता है। कशेरू शैत्य और गौरव दो गुणों से एवं क्षीरिवृक्ष के फल केवल शैत्य गुण से कफ को प्रकुपित करते हैं।

अन्य गुणों के उदाहरण जेज्जट, गदाधर एवं वाप्यचन्द्र की विशिष्ट व्याख्या में दिये गये हैं, वे विस्तारभय से यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

३. प्राधान्यसम्प्राप्ति—स्वातन्त्र्य एवं पारतन्त्र्य का अर्थ अनुबन्ध्य और अनुबन्ध भाव होता है। अर्थात् दोषों की संसर्ग एवं सन्निपातजन्य समवेतावस्था में प्रधान दोष को स्वतन्त्र अथवा अनुबन्ध्य और गौण (अप्रधान) दोष को परतन्त्र अथवा अनुबन्ध कहेंगे। ज्वर, अतिसार आदि द्वन्द्वज या त्रिदोषज व्याधि में जिस दोष की प्रधानता होती है, उसे ही प्राधान्यसम्प्राप्ति कहा जाता है। इसके विपरीत अप्राधान्यसम्प्राप्ति कही जाती है। जहाँ दो या तीन दोष व्याधि उत्पन्न करने वाले होते हैं, वहाँ दो दोष व्याधिजनक हो, तो प्रधान दोष के लिए 'तर' प्रत्यय का प्रयोग होता है। त्रिदोषज व्याधि में सबसे बढ़े हुए दोष के लिए 'तम' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसाकि महर्षि चरक ने कहा है—"प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तमः" इति। (च० नि० १)

४. बलसम्प्राप्ति—हेतु, पूर्वरूप, रूप की अधिकता (पूर्णरूपता) अथवा अल्पता के कारण बलाबल का ज्ञान जिससे होता है, उसे बलसम्प्राप्ति कहते हैं। जब हेतु, पूर्वरूप एवं रूप सम्पूर्णता से किसी व्याधि में मिलते हैं, तब वह व्याधि बलवान् होती है और जब हेतु आदि अल्प होते हैं, तब व्याधि अल्पबल या हीनबल होती है।

चरक ने बलसम्प्राप्ति को पृथक् न मानकर कालसम्प्राप्ति से ही उसे मिलाकर

'बलकाल' नाम से उल्लेख किया है। तथा विधिसम्प्राप्ति का पृथक् से निर्देश किया है।

५. कालसम्प्राप्ति--जिस सम्प्राप्ति में काल के द्वारा अर्थात् रात्रि, दिन, ऋतु एवं आहार परिपाक काल में व्याधि की वृद्धि और हानि के द्वारा दोषविशेष का ज्ञान होता है, उसे काल-सम्प्राप्ति कहते हैं।

यहाँ पर ऋत्वंश से अभिप्राय ऋतु के अंश स्वरूप कुछ ही दिनों से है, जैसाकि वाग्भट ने कहा है कि पहली ऋतु का अन्तिम सप्ताह एवं दूसरी ऋतु का प्रथम सप्ताह ऋतुसन्धि कहा जाता है। अथवा सम्वत्सररूपी काल का ऋतु रूप जो अंश होता है, उसे ऋत्वंश कहते हैं। केवल एक ही ऋतु के दिन-रात्रि के समान आदि, मध्य और अन्त में विभिन्न दोषों के प्रकोप की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि सम्पूर्ण ऋतु को ही दोष के प्रकोप का कारण कहा गया है, उसके अंश को नहीं।

दिन, रात्रि, ऋतु, आहार परिपाक काल, शरीर एवं वय से दोषों का सम्बन्ध

	वात	पित्त	कफ
दिन	अपराह्न (2-6 P.M.)	मध्याह्न (10 A.M.-2 P.M.)	पूर्वाह्न (6-10 A.M.)
रात्रि	अपररात्रि (2-6 A.M.)	मध्यरात्रि (10 P.M.-2 A.M.)	पूर्वरात्रि (6-10 PM)
ऋतु	वर्षा	शरद	वसन्त
आहारपरिपाककाल	अन्त(पक्वावस्था)	मध्य(पच्यमानावस्था)	आदि(आमावस्था)
शरीर	हृदय एवं नाभि के नीचे	हृदय एवं नाभि के मध्य	हृदय एवं नाभि के ऊपर
वय	वृद्धावस्था	युवावस्था	बाल्यावस्था

संख्या एवं विधिसम्प्राप्ति

महर्षि चरक ने संख्यासम्प्राप्ति के समान विधिसम्प्राप्ति का उल्लेख किया है; जैसे निज आगन्तुज भेद से व्याधि दो प्रकार की होती है, ऊर्ध्व एवं अधोग भेद से रक्तपित्त दो प्रकार का होता है, तो यहाँ माधवकर ने विधिसम्प्राप्ति को क्यों नहीं माना? इसका समाधान करते हुए विजयरक्षित कहते हैं कि संख्या-सम्प्राप्ति में ही विधि-सम्प्राप्ति का अवरोध हो जाता है। अर्थात् संख्या के कहने मात्र से विधि का ग्रहण हो जाता है; क्योंकि विधिसम्प्राप्ति भी अव्यभिचरित रूप से संख्या का ही संकेत करती है। विधि और संख्या में यही भेद है कि विधि-सम्प्राप्ति रोगों के प्रकार का ज्ञान कराती है। यह विधि-सम्प्राप्ति अभिन्न अर्थात् एकजातीय रोगों में से कुछ

धर्मान्तर का अन्वय (समन्वय) होने से होता है। जैसे रक्तपित्त एक व्याधि होने पर ऊर्ध्वग-अधोग आदि मार्ग भेद से उसमें भेद माना गया है। संख्या का प्रयोग तो भिन्न जातियों में होता है, जैसे—चार घड़े, आठ ज्वर, पाँच गुल्म, सात कुष्ठ इत्यादि। आचार्य वाप्यचन्द्र का कथन यह है कि विधि प्रकार को कहा जाता है। यह प्रकार भिन्नजातीय द्रव्यों में नहीं प्रयुक्त किया जाता। अतः संख्या द्वारा रोगों के भेद स्पष्ट कर देने पर भी कारणधर्मानुसार 'प्रकार' प्रयोग किया जाता है। जैसा कि नैयायिकों का मत है कि "जहाँ समान धर्म से भेदों का परिग्रह (निर्णय) किया जाता है, उसे विधि कहते हैं। संख्या तो भेदमात्र है" इति। वैयाकरण भी कहते हैं—अन्वयवान् (समानजातीय) प्रकार होता है और निरन्वय (विजातीय) को भेद कहते हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि जैसे अंशांशकल्पना द्वारा ज्वर का विशेष ज्ञान होता है, वैसे संख्या द्वारा नहीं? इसके लिये कहते हैं कि संख्या भेद से व्याधि का दोष-भेद जाना जाता है, जिससे ज्वरादि का स्वरूप जानकर उसकी चिकित्सा के लिये जिज्ञासा होती है कि यह कौन सा ज्वर है? इस प्रकार उस ज्वर का ज्ञान हो जाने पर चिकित्सा में भी वैशिष्ट्य किया जाता है। इसी परम्परा से संख्या को कारण कहा जाता है। किसी भी कारण से उत्पन्न रोग दोषभेद से विशिष्ट रूप में पाया जाता है और चिकित्साविशेष के लिये उस भेद को जानना आवश्यक होता है। यह भेद संख्या के ज्ञान से ही जाना जा सकता है।

निदानपञ्चक का उपसंहार

इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते।

(अ. नि. हृ. १।१२)

इस प्रकार पञ्च निदानादि के सामान्य अर्थ (अभिधेय) को कह दिया गया और आगे उसका विस्तार से उपदेश किया जायगा।

उक्तं निदानपञ्चकमुपसंहरति—इतीत्यादि। इतिशब्दः समाप्तौ। निदानशब्दोऽत्र सामान्यवचनः, अर्थोऽभिधेयः। तन्निदानं संक्षेपेण स्वरूपलक्षणमात्रेणोक्तम्, अधुना व्यासेन विस्तरेणोपदेक्ष्यते कथयिष्यते, सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तत्तद्विशेषैर्वक्तव्या इत्यर्थः॥

सरोज व्याख्या—'इति' शब्द समाप्ति का सूचक है। 'निदान' शब्द का अभिप्राय केवल निदान हेतु से नहीं, अपितु निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति आदि रोग जानने के सभी उपायों से है। 'अर्थ' शब्द अभिधेयवाचक है। ऊपर इन पाँचों का स्वरूपबोधक लक्षण संक्षेप में दिया गया है। अब सम्पूर्ण निदान ग्रन्थ द्वारा निदान, पूर्वरूप आदि का विस्तृत वर्णन प्रतिरोग की विशेष अवस्था के अनुसार किया जायगा।

सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट भेद से निदान के दो भेद

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।
(अ. नि. हृ. १।१२-१३)

सभी रोगों का हेतु (कारण) प्रकुपित दोष ही होता है और अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन दोष के प्रकोप का कारण होता है ।

द्विविधं हि रोगस्य कारणं विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च । तत्र विप्रकृष्टं [1]विरुद्धाहारादि; सन्निकृष्टं वातादि । तस्य वातादेः सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—सर्वेषामित्यादि । यदुक्तं सुश्रुते—'नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः । अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिनुपाचरेत्' इति[2] (सु० सू० ३५।२३) । आगन्तुव्याधिषु यद्यप्युत्पत्तौ दोपकोपो नास्ति, तथाऽप्युत्पत्त्यनन्तरमवश्यंभावी; उत्पन्नद्रव्ये गुणयोगवत् । यदुक्तं चरके—'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति' (च०सू० २०।७) । निदानं कारणम् । मला दोषाः, मलिनीकरणात् । ननु, वातादीनां किमिदं दोषत्वम् ? अत्राहुरेके—स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वं; रसादिदूष्यव्यवच्छेदार्थं 'स्वातन्त्र्येण' इति पदं, ते हि वातादिदुष्टाः सन्तो दूष्यान्तरदूषकाः । अत्राहुरन्ये—किमिदं स्वातन्त्र्यम् ? किं दोषान्तरनिरपेक्षत्वं, हेत्वन्तरनिरपेक्षत्वं वा ? आद्ये वातस्यैव दोषत्वं स्यात्, नतु वातसापेक्षयोः कफपित्तयोः, यदुक्तं—'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मालधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।' इति; द्वितीये वातस्यापि न दोषत्वं, कफपित्तयोरिव निदानसापेक्षस्यैव तस्य दूषकत्वात्; तस्मात् 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' इति लक्षणम् । रसरक्तादिनिवृत्त्यर्थं 'प्रकृत्यारम्भकत्वम्' इति विशेषणम् । नहि वातादिप्रकृतिवच्छास्त्रे रसरक्तादिप्रकृतिरुक्ता; वातादिप्रकृतित्वं च शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वम् । यदाह चरकः—'दोषानुशायिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते; तथा—'वातलाद्याः सदाऽऽतुराः' इति (च०सू० ७।४०) । सुश्रुतेनापि प्रकृतिलक्षणे 'वातप्रकृतिः स्फुटितकरचरणो जागरूकोऽनवस्थितचित्तः' (सु० शा० ४।६३) इत्याद्युक्तम् । प्रकृतिरोगयोश्चायं भेदः—प्रकृतिरपथ्यसेवया नात्यन्तं बाधते, यदुक्तम्—'विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते । तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न

---

१. आहारादि इति क. ख. ।

२. अस्याग्रे क. पुस्तके 'ननु, आगन्तुके कथं दोषपूर्वकत्वम् ? यतस्तत्प्रकोपकारणमहारादिकं नास्ति । उच्यते अभिचाराभिघातादिना व्यथोत्पद्यते, तेन दोषोत्पत्तिः, तथा च व्याधिरिति; तथाऽभिचारादिनाऽदृष्टप्रेरितदोषोत्पत्तिः, एवंप्रकारे दोषपूर्वकत्वम् इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

बाध्यते'। (सु०शा० ४।७८) इति संक्षेपः। विस्तरस्तु सुश्रुतश्लोकवार्त्तिके प्रश्नविधानाख्ये टीकासु च द्रष्टव्यः। ननु प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्, इत्येवास्तु ? सत्यं, विपक्षाद्व्यावृत्तिर्भवत्येव, किंतु दोषस्वरूपं नोक्तं स्यादिति। सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकाल-प्रकोपण-निर्हरण-स्थानविशेष-रोगविशेष-लिङ्गविशेष-चिकित्साविशेषाणामभिधानाद्रक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैराषाढधर्मस्वामिदासादिभिः स्वीकृतं तदप्येतेन व्यवच्छिन्नम्, अधुनातनैरस्वीक्रियमाणत्वात्। ननु, दोषाश्चेत् कारणं तर्हि तेषां सर्वदा देहे सद्भावात् सर्वदा रोगोत्पादकत्वप्रसङ्गः ? इत्यत आह—कुपिता इति, विकृतिमापन्नाः। ननु तत्प्रकोपः स्वभावात्, कारणान्तराद्वा ? नाद्यः, पूर्ववत्प्रसङ्गात्, अथ कारणान्तरादिति किं तदित्याह—विविधाहितसेवनमिति। विविधस्य नानाविधस्य, अहितस्य असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग–प्रज्ञापराध–परिणामलक्षणस्य सेवनमिति ॥

सरोज व्याख्या—रोग का कारण दो प्रकार का होता है—(१) सन्निकृष्ट, (२) विप्रकृष्ट। इनमें विरुद्ध आहार आदि का सेवन करना विप्रकृष्ट कारण बतलाया है तथा प्रकुपित वातादि दोष सन्निकृष्ट कारण कहे गये हैं। वातादि दोषों की सभी रोगों में अव्यभिचारी कारणता होती है। अर्थात् इनकी दुष्टि (प्रकोप) के बिना रोग नहीं होते। इसीलिए 'सर्वेषामित्यादि' वाली बात कही गयी है। इस विषय में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात् तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ (सु० सू० ३५)

अर्थात् कोई भी रोग दोषों की विकृति के बिना नहीं होता है, इसलिए बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि यदि शास्त्र में किसी रोग का नाम-निर्देश न किया हो, तो भी दोषों के लक्षणों को देखकर तदनुसार रोग की चिकित्सा करें।

आगन्तुज रोगों में यद्यपि उत्पत्ति के समय दोषप्रकोप नहीं होता है, तथापि रोग की उत्पत्ति के अनन्तर दोषप्रकोप अवश्यम्भावी है। जैसे उत्पन्न द्रव्य में गुण का योग हो जाता है। इसीलिए महर्षि चरक ने कहा है––"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्य वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति" (च० सू० २०)। अर्थात् आगन्तुक रोग व्यथापूर्वक उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् वात-पित्त-कफ दोषों में बिषमता उत्पन्न कर देता है। जैसे सर्पदंश से पूर्व व्यक्ति बिलकुल स्वस्थ रहता है, किन्तु अचानक सर्पदंश होने पर हल्का रक्तस्राव होता होता है, पुनः बिष शरीर में पहुँचकर कुछ काल पश्चात् दोषों को प्रकुपित कर विभिन्न लक्षण उत्पन्न कर देता है।

'निदान' शब्द से अभिप्राय रोगोत्पादक कारण से है। यहाँ 'मल' शब्द से

दोषों का ग्रहण करना चाहिए। मलिनीकरणात्—अर्थात् शरीर को मलिन करने से दोषों को मल कहा गया है। इसके अतिरिक्त 'दूषणात् दोषाः', तथा 'देहधारणात् धातवः' अर्थात् कार्य भेद से दोष तथा धातु भी दोषों को कहा गया है।

अब प्रश्न किया गया है कि वातादि को दोष क्यों माना जाय? इनका दोषत्व किस प्रकार होता है? इसका उत्तर देते हुए कुछ आचार्य कहते हैं कि 'स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम्' अर्थात् स्वतन्त्र रहकर धातु को दूषित करना ही दोषत्व है अथवा स्वतन्त्र दूषक को दोष कहा जाता है। यहाँ पर रस-रक्तादि दूष्यों (धातुओं) का वातादि दोषों से व्यवच्छेद (भेद) कहने के लिये स्वतन्त्र पद का प्रयोग किया है। क्योंकि रस-रक्तादि धातु भी दूषित होकर एक दूसरे को दूषित करती है, लेकिन ये धातुएँ स्वतंत्र रूप से नहीं, अपितु दोषों से दूषित होकर ही एक दूसरे को दूषित करती हैं, इसलिए स्वातन्त्र्येण पद का प्रयोग किया है। यहाँ अन्य आचार्य कहते है कि दोषलक्षण में 'स्वातन्त्र्येण' पद का जो प्रयोग किया गया है, इसका क्या अर्थ है? क्या स्वातन्त्र्य शब्द से दोषान्तरनिरपेक्षता अथवा हेत्वन्तरनिरपेक्षता पाया जाता है; अर्थात् दोष अन्य दोष की सहायता के बिना ही कार्य करता है अथवा दोषातिरिक्त अन्य सहायक कारणों के बिना?

यदि दोषान्तरनिरपेक्षता को माना जाय, तो केवल वात का ही दोषत्व सिद्ध हो सकता है, वात की अपेक्षा रखने वाले पित्त और कफ को दोष की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता है, क्योंकि कहा गया है—

पित्तं पंगु कफः पंगु पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

अर्थात् अन्य दोषों की अपेक्षा किये बिना केवल वायु ही रोगों का कारण हो सकता है। यदि दूसरा पक्ष हेत्वन्तरनिरपेक्षता (अन्य कारणों की पूर्णतः उपेक्षा करना) कहा जाय, तो स्वयं वायु भी दोष की श्रेणी में नहीं आ पायेगा, क्योंकि वात भी रोगोत्पत्ति के लिये वातप्रकोपक निदान की अपेक्षा रखता है। इसीलिए दोष की परिभाषा निम्नलिखित बतलायी गयी—

"प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्" (मधुकोष)।

अर्थात् जिसमें प्रकृतिनिर्माण करने की क्षमता हो और जिसमें स्वतंत्रतापूर्वक शरीर को दूषित करने की प्रवृत्ति हो, उसी को 'दोष' कहा जाना चाहिए। रस रक्तादि धातुओं की निवृत्ति के लिए 'प्रकृत्यारम्भ' विशेषण शब्द का प्रयोग किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र में वात प्रकृति आदि के समान रस प्रकृति, रक्त प्रकृति आदि नहीं कही गयी है। शरीर की वातादि प्रकृति के मूल वात आदि दोषों से दूषित गर्भ के आरम्भक शुक्र और शोणित हैं। इसीलिए चरक ने कहा है—'दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते' (च० सू० ७।४०) अर्थात् दोषों का अनुशय (जन्मकाल से शरीर में रहने से

अनुकूलता) होने से इसे 'देहप्रकृति' कहा जाता है। इनमें सम प्रकृति वाले स्वस्थ तथा वातलादि प्रकृति वाले मनुष्य सदैव रोगी रहते हैं। सुश्रुत ने भी प्रकृति का लक्षण बतलाया है कि वातप्रकृति व्यक्ति के हाथ-पैर फटे रहते हैं, निद्रा कम आती है, चित्त चंचल होता है, आदि।

प्रकृति एवं रोग में भेद बतलाते हुए कहा है कि अपथ्य-सेवन करने पर भी प्रकृति अधिक कष्ट नहीं पहुँचाती, किन्तु रोग में अपथ्य सेवन करने पर वह अधिक कष्टप्रद होता है। इसलिए कहा गया है—

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते॥ (सु० शा० ४)

अर्थात् जैसे विषजात (विष में उत्पन्न होने वाला) कृमि विष में रहने पर भी उस विष से नहीं मरता, इसी प्रकार देह प्रकृतियों से उत्पन्न होने के कारण इन प्रकृतियों के द्वारा अधिक पीड़ित नहीं होता। इसको यहाँ संक्षेप में कहा गया है, इनका विस्तृत वर्णन प्रश्नविधान नामक सुश्रुत के श्लोकवार्तिक एवं टीकाओं में द्रष्टव्य है।

'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' अर्थात् प्रकृति के आरम्भक दोष हैं। यह लक्षण ठीक है। इसको लक्षण मान लेने से विपक्ष रूप व्यावृत्ति अर्थात् रस-रक्त आदि के दोषत्व की निवृत्ति हो जाती है। सुश्रुत आदि के वातादि दोषों के समान रक्त के प्रकोपकाल-प्रकोपण-निर्हरण-स्थानविशेष-रोगविशेष-लक्षणविशेष और चिकित्साविशेष का अभिधान (वर्णन) करने से आषाढ धर्मदास आदि पूर्व टीकाकारों ने रक्त को दोष माना है; किन्तु 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' लक्षण द्वारा रक्त के दोषत्व का खण्डन हो जाता है। आयुर्वेद के आधुनिक (अब तक के) आचार्य रक्त को दोष नहीं मानते।

अब प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि दोष ही रोग के कारण है, तो वे हमेशा शरीर में उपस्थित रहते हैं, अतः प्रत्येक मनुष्य को सदैव रोगी रहना चाहिए ? इसका उत्तर दिया है कि 'कुपिताः' अर्थात् विकृति को प्राप्त हुए दोष रोग का कारण होते हैं। पुनः प्रश्न किया है कि दोषों का प्रकोप स्वभाव से होता है अथवा किसी कारण से ? यदि दोष प्रकोप स्वाभाविक है, तो रोग भी स्वभावतः सर्वदा होगा। यह ठीक नहीं लगता। अतः कारणान्तर क्या है ? 'विविधाहितसेवनम्'। अर्थात् विविध (नाना प्रकार) के अहित–असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम का सेवन।

व्याधियों का निदानार्थकर्तृत्व—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते॥ १५॥

(च. नि. ८।१६)

कभी-कभी रोग भी रोग का निदान या कारण का कार्य करने वाला हो जाता है। अर्थात् रोग से रोग पैदा हो जाता है ॥१५॥

ननु, किमेतदेव निदानम्, उतान्यदप्यस्तीत्यतश्चरकवचनमुपन्यस्यति—निदानार्थकर इत्यादि। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। रोगोऽपि निदानार्थकरो रोगस्य। अस्यायमर्थः—निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याध्याख्यः, स रोगेणापीति। रोगो रोगकर इति वाच्ये तन्निदानार्थकर इत्यकरोत्, तेनैवं गमयति रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोतीति। (एवं रोगो रोगस्य निदानमुपजायत इत्येव योजना[1])॥ १५ ॥

सरोज व्याख्या—अब प्रश्न पैदा होता है कि क्या यही निदान है या अन्य भी होता है, जिसको चरक के वचन द्वारा बतलाया गया है—निदानार्थकर इत्यादि। यहाँ अपि शब्द भिन्न क्रम बोधक है। अर्थात् केवल निदान ही नहीं, रोग भी अन्य रोग का निदान अथवा कारण बन जाता है। अर्थात् निदान का जो अर्थ या कार्य रोगोत्पत्ति है, रोग भी वही कार्य करता है। रोग भी किसी अन्य रोग को पैदा करता है—ऐसा न कहकर 'निदानार्थकर' कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है जिस समय एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करता है, उस समय अन्य निदान से अत्यधिक बलवान् होकर एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक रोग अन्य रोग का निदान बन जाता है—यही अर्थयोजना है ॥१५॥

निदानार्थकर रोगों के कतिपय उदाहरण—

तद्यथा ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥
(दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते।)
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ १८ ॥

(च. नि. ८।१७-१९)

जैसे ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। रक्तपित्त से ज्वर हो जाता है। रक्तपित्त एवं ज्वर से शोष रोग हो जाता है। प्लीहा बढ़ने से हुए उदर रोग से शोथ हो जाता है। अर्श से उदर रोग तथा गुल्म की उत्पत्ति होती है एवं प्रतिश्याय से कास और कास से धातुक्षय हो जाता है। यह क्षय शोषरोग का कारण हो जाता है।

तत्रैव दृष्टान्तमाह—तद्यथेत्यादि। ताभ्यामिति रक्तपित्तात् ज्वराच्च। दुःखमिति दुःखयतीति दुःखं पीडाकरम्। अयं च दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरादिषु योज्य इति वाप्यचन्द्रः। गुलमश्चाप्युपजायत इति

१. अयं पाठः क. ख. पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

अर्शोभ्य एव। कासात् संजायते क्षय इति 'ओजःप्रभृतीनाम्' इति शेषः। स च क्षयो रोगस्य हेतुत्वे उपजायते। कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति। राजयक्ष्मणः। अत्र केचित् हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति, 'क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते' इति। अस्यार्थः—क्षयो राजयक्ष्मा, उरोग उरःक्षतं, समाहारद्वन्द्वेनैकवचनं, तस्य हेतुत्वे शोषो धातुक्षय उपजायत इति। ननु, चरके सर्वं निदानं त्रैविध्येन संगृहीतम् 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' (च. सू. ११।४३) इत्यादिना, ततश्च रोगस्यापि निदानत्वमाचक्षाणः [1]स्वोक्तं निदानत्रैविध्यसंग्रहं कथं न विरुणद्धि? अत्रैके समाधिमभिदधति–त्रिविधं यन्निदानमुक्तं तत् सर्वव्याधिविषयम्, इदं तु प्रतिनियतविषयम्; यतो न सर्वे रोगा रोगाज्जायन्ते, किं तर्हि? कश्चिदेव व्याधिः कुतश्चिद्रोगादिति चतुर्थमेवैतन्निदानं रोगाख्यमिति। अन्ये त्वाहुः—रोगोऽपि रोगस्य निदानं भवत्त्रिविधनिधानव्यतिरेकेण न भवत्येव; यतो यावदयं ज्वरोऽसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभिरुपबृंहितबलो न भवति न तावद्रक्तपित्तमारभते, तस्माद् व्याध्युत्पादे त्रिविध एव हेतुः साक्षात् पारम्पर्येण वेति ॥ १६-१८ ॥

सरोज व्याख्या—यहाँ दृष्टान्त प्रस्तुत करते है कि ताभ्याम् अर्थात् रक्तपित्त और ज्वर इन दोनों से शोष रोग होता है। 'दुःखयतीति दुखम्' अर्थात् दुःख देने वाले अथवा पीड़ा (कष्ट) करने वाले को दुःख कहा जाता है। वह दुःख शब्द लिङ्ग (लक्षण) भेद से ज्वरादि सभी रोगों में समझना चाहिए, ऐसा वाप्यचन्द्र का कथन है। अर्श से उदर रोग के अतिरिक्त गुल्म भी होता है। कास से ओज आदि धातुओं का क्षय होता है। वही क्षय रोग का हेतु हो जाता है। यहाँ प्रश्न किया है किस रोग का? पुनः उत्तर दिया है कि शोष अर्थात् राजयक्ष्मा का हेतु बन जाता है। यहाँ हरिचन्द्र आदि कुछ विद्वान् पाठान्तर को मानकर 'क्षयोरोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते' वाक्य से क्षय से राजयक्ष्मा एवं उरोग शब्द से उरःक्षत अर्थ करके उरःक्षत और राजयक्ष्मा दोनों से शोष अर्थात् धातुक्षय हो जाता है—ऐसा अर्थ करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि आचार्य चरक ने सम्पूर्ण निदान को असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध एव परिणाम भेद से तीन प्रकार का माना है। अब यहाँ पर रोग को भी निदान मानने से उपर्युक्त त्रैविध्य कथन का विरोध होता है? इस पर कुछ विद्वान् कहते है कि चरकोक्त तीन प्रकार का जो निदान बतलाया गया है, वह सभी रोगों के सम्बन्ध में है, किन्तु रोगरूप निदान का विषय विशिष्ट रोग है। सभी रोग, रोग से नहीं उत्पन्न होते हैं, अपितु कुछ रोग ही किसी रोग से उत्पन्न होते हैं, इसलिए रोगरूप चतुर्थ निदान मानना चाहिए। इसके विपरीत दूसरे

१. 'त्रैविध्यं कथं' इति क।

आचार्यों का कथन है कि एक रोग, दूसरे रोग का निदान होते हुए भी पूर्वोक्त त्रिविध निदान को छोड़कर नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक ज्वर असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादि कारणों से बलवान् नहीं होता, तब तक वह रक्तपित्त को उत्पन्न नहीं कर सकता। इस लिए साक्षात् या परम्परया त्रिविध हेतु ही व्याधि की उत्पत्ति में कारण होता है ॥१६-१८॥

व्याधियों का निदानार्थकर्तृत्वकाल

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।

(च. नि. अ. ८।२०)

उपर्युक्त रोग प्रारम्भ में केवल (स्वतंत्र) रोग रहते हैं, उसके पश्चात् वे दूसरे रोग के कारण बन जाते हैं।

ननु, य इमे रोगा रोगान्तरस्य निदानत्वेनोक्तास्ते किमुत्पन्नमात्रा एव रोगं जनयन्ति, उतानन्तरकालमित्यत आह—ते पूर्वमित्यादि। ते व्याधय उपबृंहकहेत्वलाभात् प्राक् केवलाः स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव रुजाकर्तृत्वात्, पश्चादुपबृंहकहेतुलाभात्, हेतोर्निदानस्य योऽर्थो यत् प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत् कुर्वन्ति। यथा ज्वरो रक्तपित्तमिति ॥

सरोज व्याख्या—अब प्रश्न पैदा होता है कि ये रोग, जो अन्य रोगों के कारण होते हैं, वे क्या उत्पन्न होते ही रोग को उत्पन्न करते हैं या कुछ समय बीतने पर ? इसका उत्तर आचार्य विजयरक्षित ने दिया है कि वे व्याधियाँ उपबृंहक अर्थात् बलवान् कारणों के मिलने के पूर्व तक केवल स्वतंत्र पीड़ाकर होने से रोग होते हैं, तत्पश्चात् बलवान् कारणों से उपबृंहित होकर रोगोत्पत्तिरूप निदान (हेतु) बन जाता है। जैसे ज्वर बलवान् कारणों से उपबृंहित होकर रक्तपित्त पैदा करता है। प्रारम्भ में केवल स्वतंत्र रूप से ज्वर होता है।

व्याधिसांकर्य (रोग वैचित्र्य)

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ १६ ॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च।
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥ २० ॥

(च. नि. अ. ८।२१-२२)

कोई रोग, रोग की उत्पत्ति का कारण बनकर स्वयं शान्त हो जाता है। इसके विपरीत कोई रोग अन्य रोग का कारण बनकर शान्त नहीं होता है। इस प्रकार रोगी व्यक्ति व्याधिसांकर्य (सम्मिलित रोग) से कष्टप्रद देखे जाते हैं।

तस्यैव रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—कश्चिदित्यादि। एवमुक्तप्रकारेण, व्याधिसंकरा व्याधिमेलकाः दृश्यन्ते। यथा—प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्चोत्पद्यते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ भवत इति। कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखजनकत्वात्, प्रायो विरुद्धोपक्रमाच्चेति ॥ १९-२० ॥

सरोज व्याख्या—रोगोत्पादक रोग की विचित्रता को कहते हैं। उपर्युक्त

प्रकार से व्याधिसंकर अर्थात् व्याधिमेलक देखे जाते हैं। जैसे प्रतिश्याय ठीक नहीं होता, साथ में कास हो जाता है। इसी तरह अर्श ठीक नहीं होता, उसके साथ उदर रोग एवं गुल्म रोग पैदा हो जाता है। इस रोगों की कृच्छ्रतमता अत्यन्त दुःखप्रद एवं विरुद्ध उपक्रम (उपचार) के कारण मानी जाती है। महर्षि चरक ने कहा है—उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः। (च० नि० ८।२०) अर्थात् रोगोत्पादक रोग दो प्रकार का होता है। कुछ रोग अन्य रोगों को पैदा करके स्वयं शान्त हो जाते हैं, उन्हें एकार्थकारी (स्वतंत्र) रोग कहा जाता है, किन्तु कुछ रोग, अन्य रोग को उत्पन्न करके बने रहते हैं, उन्हें उभयार्थकारी (स्वतंत्र रूप से रोग रूप में रहने वाला तथा दूसरे रोग को उत्पन्न करने वाला) कहा जाता है।

निदानपञ्चक ज्ञान की आवश्यकता—

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम्।
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः॥ २१॥

इसलिए चिकित्सा में सफलता की कामना करने वाले सद्वैद्यों को ज्वरादि का विनिश्चय भलीभाँति जानना चाहिए॥ २१॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम्॥१॥

उक्तनिदानपञ्चकस्य रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्धिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यतामाह—तस्मादित्यादि। उद्धतां बहुविषयत्वेन महतीम्। विनिश्चयो निदानमिति। अथ वक्ष्यमाणविकारेषु प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमवायादिज्ञानार्थं चरकोक्ता वातादिगुणा लिख्यन्ते—

'रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति॥
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमलं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः'॥ इति
(च. सू. १।५९-६१)॥ २१॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां
पञ्चनिदानलक्षणंसमाप्तम्॥ १॥

सरोज व्याख्या—उपर्युक्त निदानपञ्चक, रोगनिवृत्तिलक्षण की सिद्धिहेतु अवश्य ज्ञातव्य बातों को कहा। बहुत विषयों के संग्रह के कारण विनिश्चय अर्थात् निदान विस्तृत हो गया है। अब ज्वरादि रोगों में प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषम समवायादि के ज्ञान के लिये वातादि दोषों के गुणों को लिखते हैं।

दोषों के विषय में पूर्व में विस्तार से कहा जा चुका है, अतः अब पुनः उसको विस्तार रूप से नही कहा जा रहा है॥ २१॥

रसादि धातुओं के प्राकृत-वैकृत लक्षण[1]

धातु	प्राकृत लक्षण	वैकृत लक्षण	
		वृद्धि	क्षय
१. रस	तुष्टि, प्रीणन (तर्पण) एवं रक्त धातु की पुष्टि ।	लालास्राव, अरुचि, मुख में विरसता, मिचली, स्रोतोरोध, स्वादुद्वेष, अङ्गमर्द एवं प्रायः कफ वृद्धि के विकार ।	शब्दासहत्व, हृदय-द्रव (हृतकम्प), कम्पन, शोष, शूल, अङ्गशून्यता, स्पन्दन, घट्टन (विलोडन), थोड़ी चेष्टा से थकावट तथा प्यास ।
२. रक्त	जीवन (प्राणधारण), वर्ण प्रसादन एवं मांस धातु का पोषण ।	कुष्ठ, विसर्प, पिटिका, असृग्दर, नेत्र-मुख-मेढ्र-गुद में दाह, प्लीहारोग, गुल्मरोग, विद्रधि, व्यङ्ग, कमला, अग्निनाश, तमःप्रवेश, शरीर तथा नेत्रों में लालिमा, वातरक्त एवं पित्त-वृद्धि से उत्पन्न होने वाले विकार ।	त्वचा में रूक्षता, अम्ल एवं शीतल पदार्थों की इच्छा, सिरा शैथिल्य ।
३. मांस	देह लेप, मल एवं मेदोधातु का पोषण ।	गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि-रोग, तालुरोग, जिह्वारोग, कण्ठ रोग, स्फिक्-गण्डस्थल ओष्ठ-बाहु-उदर-उरु-जंघा में भारीपन और वृद्धि तथा प्रायः कफ एवं रक्तजन्य विकार ।	स्फिक् एवं गण्डस्थल आदि में शुष्कता, तोद, रूक्षता, इन्द्रियदौर्बल्य, सन्धि स्फोटन, धमनी-शैथिल्य ।

१. अ० सं० सू० १९

धातु	प्राकृत लक्षण	वैकृत लक्षण	
		वृद्धि	क्षय
४. मेद	नेत्रों एवं शरीर में स्निग्धता, स्नेह, दृढ़ता तथा अस्थि पोषण।	प्रमेह के पूर्वरूप, स्थौल्य के उपद्रव तथा कफ-रक्त-मांस वृद्धि के लक्षण।	प्लीहा वृद्धि, कटिस्वाप, सन्धियों में शून्यता, अङ्गों में रूक्षता एवं कृशता, थकावट, शोष, मेदुर मांस अभिलाषा तथा मांसक्षय के लक्षण।
५. अस्थि	शरीर को सीधा रखना तथा मज्जा पोषण।	अध्यस्थि एवं अधिदन्त।	दन्त, नख, रोम एवं केश का गिरना, रूक्षता, कर्कशता, सन्धिशैथिल्य, अस्थितोद, अस्थिबद्ध मांस के सेवन की इच्छा।
६. मज्जा	स्नेह, बल, अस्थियों का पूरण तथा शुक्र का पोषण।	नेत्र एवं अङ्गों में लालिमा तथा भारीपन, पर्व-स्थानों में स्थूल मूल-वाली एवं वेदना-वाली पिडिकाओं का उत्पन्न होना।	अस्थि सौषिर्य, निस्तोद, दौर्बल्य, भ्रम, तमोदर्शन (आँखों के सामने अँधेरा)।
७. शुक्र	हर्ष (आनन्द), बल तथा गर्भ पालन।	अतिमैथुनेच्छा एवं शुक्राश्मरी।	थकावट, दौर्बल्य, मुखशोष, तिमिर-दर्शन, अङ्गमर्द, पाण्डुता, सदन, क्लैब्य, मुष्क में वेदना, मेढ़् धूमायन, मैथुन करने पर विलम्ब से वीर्य स्खलन अथवा रक्तमिश्रित वीर्यस्खलन।
८. ओज	तुष्टि, प्रहर्ष, पुष्टि एवं बल का उत्कर्ष।	—	भय, हीनबल, इन्द्रिय-वेदना, मलिन-कान्ति उत्साह हानि, रौक्ष्य एवं कार्श्य।

पुरीषादि मलों के प्राकृत-वैकृत लक्षण

मल	प्राकृत लक्षण	वैकृत लक्षण — वृद्धि	वैकृत लक्षण — क्षय
१. पुरीष	अवष्टम्भ (देह धारण) तथा वायु एवं अग्नि का धारण।	कुक्षि में शूल, आटोप और भारीपन करना।	अपान वायु शब्द के साथ उदर में भ्रमण, आँतों में ऐंठन, वेदना एवं अल्पमात्रा में पुरीष का निकलना।
२. मूत्र	अन्न के द्वारा प्राप्त क्लेद (जलीयांश) को शरीर से बाहर निकालना।	बस्ति में तोद तथा आध्मान।	बस्ति में भीषण वेदना, मुखशोष, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, मूत्र में विवर्णता अथवा रक्तमिश्रित मूत्र का आना।
३. स्वेद	शरीर-क्लेद (आर्द्र), त्वचा को स्निग्ध एवं रोम धारण करना।	शरीर में कण्डू तथा दुर्गन्ध।	स्तब्धरोमता, रोमच्यवन, त्वक् परिपाटन, त्वक् स्वाप, पारुष्य तथा स्वेद का न होना।
४. नेत्र, नासा, एवं कर्ण आदि के मल	—	मलों की अधिकता, द्रवता, सम्बन्धित अंग में कण्डू तथा भारीपन।	मलायनों में विकार, तोद, शोष, शून्यता तथा लघुता।

१. अ० सं० सू० १९

द्वितीयोऽध्यायः

ज्वरनिदानम्

ज्वर की उत्पत्ति एवं उसके भेद

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भवः ।
ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसङ्घातागन्तुजः स्मृतः ॥ १ ॥

दक्ष प्रजापति द्वारा किये गये अपमान से क्रुद्ध (कुपित) रुद्र (शंकर) के निःश्वास से ज्वर की उत्पत्ति हुई। वह ज्वर पृथक्-पृथक् दोषों से, द्वन्द्वज, त्रिदोषज तथा आगन्तुज भेद से आठ प्रकार का होता है ॥ १ ॥

अथ सर्वरोगप्राधान्यात् प्रथमं ज्वरो वाच्यः। प्राधान्यं चास्य सर्वशारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात्, बलवत्त्वात्, देहेन्द्रियमनस्तापित्वात्, जन्मनिधनयोरवश्यंभावित्वात्, स्थावरजङ्गमरूपसर्वभूतव्यापित्वाच्च; नैवमन्ये विकाराः। यदुक्तं चरके—'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥ तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये' इत्यादि यावद् 'भगवन् ! वक्तुमर्हसि' (च. चि. ३।४-८) इति। तथा 'ज्वरेणाविशता भूतं न हि किंचिन्न तप्यते' (च. चि. ३।३१) इत्यादि। उक्तं च पालकाप्ये 'पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम्। गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत्। हारिद्रो महिषीणां तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः। पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंज्ञितः' इत्यादि। तथाऽन्यत्र 'जलस्य नीलिका भूमेरूषरो वृक्षस्य कोटरः' इत्यादि।

तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—दक्षापमानेत्यादि। दक्षापमानेन दक्षप्रयुक्तपरिभवेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य निःश्वासात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स तथा। निःश्वासोऽत्र क्रोधलिङ्गत्वेन निर्दिष्टः, अत एव सुश्रुतेन—'रुद्रकोपाग्निसम्भूतः' (सु. उ. तं ३९।९) इत्युक्तम्। क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तृतीयमाग्नेयं चक्षुः सृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मितः। यदाह चरकः—'सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम्।' (च. चि. ३।२०) इति। अत्र सत्रनाशनं यज्ञनाशनम्। एषा ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या। एतेन रुद्रकोपस्य विप्रकृष्टकारणत्व-

मुक्तम्; यदि हि ततो ज्वरो नोदपत्स्यत तदाधुनाऽप्यपचारान्नोत्पद्यत इति भट्टारहरिश्चन्द्रः। एतदभिधानस्य चिकित्सानुपयोगित्वेनान्ये टीकाकृतोऽन्यथा व्याचक्षते-कोपोद्भवत्वेन तैजसत्वं प्रकाश्यते। क्रोधो ह्याग्नेयः; यदाह चरकः- 'क्रोधात् पित्तं' (च. चि. ३) इति। तेन सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति। यदुक्तं वाग्भटेनैव—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्' (अ. हृ. चि. १।१६) इति। अत एव चरके कट्वम्ललवणान् परित्यज्य तरुणज्वरे पाचकत्वेन तिक्तको रसः पित्तघ्नो निर्दिष्टः। यदा—'लङ्घनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे' (च. चि. ३।१४२) इति। (कालोऽत्राष्टाह इति)। अन्ये त्वाहुः—रुद्रकोपसम्भवत्वेन देवतात्मकत्वात् पूजार्हत्वमुपदर्शितम्। यदाह विदेहः—'ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति' इति। हरिवंशेऽपि 'ज्वरस्त्रिचादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः। भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः' इति मूर्तिमानेवोक्तः।

बहुविधमपि ज्वरं संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्टधेत्यादि। अष्टत्वं विवृणोति-पृथगित्यादि। तच्च सम्प्राप्तौ विवृतम् ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—निदानपञ्चक के पश्चात् सर्वरोगों में प्रधान होने से ज्वर का वर्णन किया जा रहा है। सर्व शारीर रोगों में उसकी प्रधानता निम्न कारणों से है—

१. शारीर रोगों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है।
२. सब से बलवान् होता है।
३. देह, इन्द्रिय एवं मन को समान रूप से संतप्त करता है।
४. जन्म और मरण के समय अवश्य रहता है।
५. स्थावर तथा जङ्गम सभी में व्याप्त होता है।
६. इस प्रकार की व्यापकता (गुण) अन्य रोगों में नहीं पायी जाती।

जैसाकि महर्षि चरक ने कहा है—

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ (च० चि० ३।४)

पुनः कहा है—

ज्वरेणाविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते।

अर्थात् ज्वर से आविष्ट होने पर, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, है जो सन्तप्त न होता हो। पालकाप्य तन्त्र में कहा गया है कि हाथियों के ज्वर को पाकल, घोड़ों के ज्वर को अभिताप, गायों के ज्वर को ईश्वर, मनुष्यों में ज्वर, बकरी एवं भेड़ों में प्रलाप,

ऊँट में अलस, भैंसों में हरिद्र, मृगों में ज्वर को मृगरोग, पक्षियों में अभिताप, मछलियों में इन्द्रमद, पतङ्गों में पक्षपात तथा ब्याल में अक्षिक कहा जाता है। अन्यत्र कहा गया है कि जल का ज्वर नीलिका, भूमि का ज्वर ऊषर (रेह) और वृक्षों का ज्वर कोटर होता है।

ज्वर की प्रागुत्पत्ति की पौराणिक कथा बतलायी गयी है कि दक्ष के अपमान से कुपित हुए रुद्र के निःश्वास से ज्वर की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर निःश्वास शब्द से क्रोध का लक्षण किया गया है। इसीलिए सुश्रुत में 'रुद्रकोपाग्निसम्भूतः' (सु. उ. ३९.) अर्थात् ज्वर रुद्र की कोपाग्नि से उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा गया है। क्रुद्ध होकर रुद्र ने अपने मस्तक में तृतीय आग्नेय नेत्र की रचना कर उससे आग्नेय बाण बनाया। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः।
बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम् ॥

अर्थात् मस्तक पर तृतीय नेत्र की रचना करके और उसके द्वारा राक्षसों को ध्वस्त कर दक्षयज्ञ को नष्ट करने वाले भगवान् रुद्र ने क्रोधाग्नि सन्तप्त वाण को उत्पन्न किया। यहाँ सत्र शब्द से यज्ञ अर्थ होता है। सत्रनाशन का अभिप्राय है यज्ञ-विध्वंस। इस ज्वरोत्पत्तिकथा का विशेष उल्लेख चरक-चिकित्सास्थान में देखना चाहिये।

उपर्युक्त कथानक से रुद्रकोप को ज्वर का विप्रकृष्ट कारण कहा गया है। भट्टार हरिचन्द्र का कथन है कि यदि उस समय उपर्युक्त अपचार से ज्वर की उत्पत्ति न होती, तो आज भी उसी प्रकार के अपचार से ज्वर नहीं पैदा होता। इस प्रकार की व्याख्या की चिकित्सा में उपयोगिता न होने से दूसरे टीकाकार इसकी अन्य ढंग से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—क्रोध से उत्पन्न होने के कारण ज्वर का तैजसत्व (तेजोगुण) प्रकाशित होता है। क्रोध आग्नेय होता है। जैसा कि चरक ने कहा है—क्रोधात् पित्तं (च० चि० ३)। अर्थात् क्रोध से पित्त उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्वर में पित्त को प्रकृतिस्थ रखने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। आचार्य वाग्भट्ट ने भी इसी आशय से कहा है—

ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना।
तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम् ॥ (अ० हृ० चि० १।१६)

अर्थात् पित्त के बिना ऊष्मा (सन्ताप) नहीं होता है और ऊष्मा के बिना ज्वर नहीं होता, इसलिए सभी ज्वरों में विशेषतः पित्तप्रधान ज्वर में पित्त को कुपित करने वाले औषधादि द्रव्यों का त्याग करना चाहिए। इसलिए चरक में कटु, अम्ल, लवण रस प्रधान पाचनद्रव्यों को छोड़कर तरुण ज्वर में केवल पित्तघ्न तिक्त रस का

पाचन के लिये निर्देश किया गया है। जैसा कि कहा गया है कि लंघन (उपवास), स्वेदन, काल (आठवाँ दिन) और तिक्त रस से सिद्ध यवागू ये सब अविपक्व अर्थात् आमदोष तरुणज्वर के पचाने वाले होते हैं (च० चि० ३।१४२)। काल से यहाँ पर ज्वर के प्रारम्भ से आठ दिन का समय अभिप्रेत है।

लंघनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥ (च० चि० ३।१४२)

अन्य आचार्य कहते हैं कि ज्वर रुद्रकोप से उत्पन्न होने के कारण देवतात्मक होने से पूजा के योग्य है। जैसा कि विदेह ने कहा है कि ज्वर पूजन से सहसा ही शान्त (नष्ट) हो जाता है। हरिवंशपुराण में कहा गया है कि ज्वर तीन पैरों, तीन सिर, छः भुजाओं और नौ नेत्रों वाला, भस्म का शस्त्र लिये हुए, रौद्र (भयानक) एवं काल, अन्तक और यम के समान होता है। इस प्रकार ज्वर को मूर्तिमान् कहा गया है। ज्वर अनेक प्रकार का होते हुए भी संक्षेप में वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज एवं आगन्तुज भेद से आठ प्रकार का होता है।

विमर्श—मस्तिष्क में हाइपोथैलमस के अन्दर ऊष्मानियन्त्रक केन्द्र होता है। इसका पिछला भाग ऊष्मोत्पत्ति तथा अगला भाग ऊष्मा-विनाश का नियामक होता है। एक तरफ धातुओं में विशेष रूप से मांस तथा यकृत आदि ग्रन्थियों में धातु-पाक के कारण ऊष्मा की वृद्धि तथा दूसरी तरफ त्वचा में हवा के लगने, स्वेद, श्वास वायु तथा मल-मूत्र-विसर्जन के द्वारा ऊष्मा नष्ट होती रहती है। इस प्रकार ऊष्मा-नियामक केन्द्र इन दोनों में साम्य स्थापित करता है। जब कोई जीवाणु अथवा विषाणु (Virus) धातुओं में वृद्धि करने लगता है और शरीर का एक अवयव (Tissue) विनष्ट हो जाता है, तो वहाँ शोथ हो जाता है। रक्त की श्वेत रक्त-कणिकाएँ वहाँ आकर विनष्ट अवयव का भक्षण करने लगती है। इस प्रक्रिया में बहुत सी श्वेत कणिकाएँ मर जाती है, जिससे पालीमार्फ आदि से एक ज्वर जनक (Pyrogen) पदार्थ पैदा होता है, जो लसीकावाहिनी एवं रक्त द्वारा मस्तिष्क के उपर्युक्त तापनियन्त्रक केन्द्र को प्रभावित करता है, जिससे धातुओं में ऊष्मोत्पत्ति बढ़ जाती है। अर्थात् शरीर पचन कर्म (Basal Metabolism) बढ़ जाता है। पूय में (Euglobin) होता है, जिसे Pyrexine कहा जाता है, इसका त्वक् से सम्पर्क होने पर ज्वर हो जाता है। तापनियन्त्रक केन्द्र के प्रभावित होने से त्वचा तथा श्लेष्मकलाओं में सिरासंकोच (Vosoconstriction) हो जाता है, जिससे त्वचा तथा श्वास आदि द्वारा ऊष्मा-विनाश की मात्रा घट जाती है। स्वेदावरोध होने से त्वचा शुष्क हो जाती है, जिससे शरीर का तापक्रम बढ़

जाता है। इस प्रकार ज्वर में ऊष्मोत्पत्ति की अधिकता की अपेक्षा ऊष्माविनाश की न्यूनता अधिक कारण होती है। संक्रमण के अतिरिक्त मैलिगनेन्सी (Malignant Disease), रोग-प्रतिरोध-क्षमता में कमी, हीमोलाइसिस (Haemolysis) तथा कतिपय विष एवं चयापचय में गड़बड़ी होने से भी ज्वर होता है।

मिथ्याऽतियुक्तैरपि च स्नेहाद्यैः कर्मभिर्नृणाम्।
विविधादभिघाताच्च रोगोत्थानात् प्रपाकतः॥
श्रमात्क्षयादजीर्णाच्च विषात्सात्म्यर्त्तुपर्य्ययात्।
ओषधीपुष्पगन्धाच्च शोकान्नक्षत्रपीडया॥
अभिचाराभिशापाभ्यां मनोभूताभिशङ्कया।
स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः।
स्तन्यावतरणे चैवं ज्वरो दोषैः प्रवर्त्तते॥
(सु०उ० ३९।१९-२२)

महर्षि सुश्रुत ने ज्वर के उपर्युक्त कारण बतलाये हैं—

१. स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्म के मिथ्यारूप में या अतिमात्रा में करने से।

२. विविध अभिघात (Trauma)।

३. प्रपाक (Inflammation)।

४. श्रम, क्षय, एवं अजीर्ण।

५. विष (Poisoning)।

६. सात्म्य एवं ॠतु परिवर्तन।

७. ओषधि पुष्प गन्ध (Allergy)।

८. शोक, जन्म-नक्षत्र या लग्नस्थान में विशिष्ट ग्रह द्वारा उत्पन्न पीड़ा, अभिचार, अभिशाप, मनोभिषङ्ग (काम-क्रोध आदि) तथा देवादिग्रहरूप भूताभिषङ्ग।

९. असम्यक् रूप से प्रसूता स्त्रियों द्वारा मिथ्या आहार-विहार।

१०. स्तन्यावतरण (स्तन में पहिली बार दुग्ध के निकलने पर)।

इस प्रकार सुश्रुतोक्त एवं आधुनिक ज्वर के कारणों में पर्याप्त साम्य देखा जा सकता है॥ १॥

ज्वर की सम्प्राप्ति

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥ २॥

मिथ्या आहार-विहार के सेवन से आमाशय में आश्रित वातादि दोष रस के अनुगामी होकर (रस से मिलकर) एवं कोष्ठाग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं॥ २॥

संप्राप्तिमाह—मिथ्येत्यादि । आहारस्य मिथ्यात्वं प्रकृत्यादीनामाहारोपयोगहेतूनां विरुद्धत्वेनोपयोगः । यदाह चरकः—'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि' (च. वि १।२१) इति । अत्र प्रकृतिर्द्रव्याणां स्वाभाविकगुरुत्वलघुत्वादिगुणयोगः, यथा माषमुद्गयोः; करणं संस्कारः यथा—व्रीहेर्गुरोर्लघवो लाजाः; संयोगः संहतीभावः, यथा क्षीरमत्स्ययोः; राशिराहारद्रव्यस्वावयवेन समुदायेन च परिमाणं, देशो द्रव्योत्पत्तिप्रचारादिस्थानं; कालो नित्यगश्चावस्थिकश्च; उपयोगसंस्था उपयोगनियमः, यथा जीर्णान्न एव भुञ्जीत; उपयोक्ता स्वयं निरूपितात्मप्रकृत्यादिकः पुरुष इति । विहारस्य मिथ्यात्वमयथाबलमारम्भादि । आमाशयाश्रया इत्यनेनामाशयप्राप्तिव्यतिरेकेण दोषा ज्वरं नारभन्त इति प्रतिपादयति । अमाशयश्च 'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' (च. वि. २।१७) इति चरकेणोक्तः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निमिति कोष्ठाग्निरेव दोषोत्क्षिप्तो बहिर्निर्गत ऊष्मतया प्रतिभाति । कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम् । ज्वरदा ज्वरकारिणः । रसानुगा रससंबद्धाः; अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति । एषा च संप्राप्तिः शारीराणामेव न त्वागन्तूनाम्, तेषां व्यथापूर्वकत्वं ततो वाताद्यनुबन्धः—इति जेज्जटः । अतएव सुश्रुते आगन्तुसंप्राप्तिः पृथगेव पठ्यते । 'श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः । पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम्' (सु. उ. ३९।८०) इति । अत्र न आमाशयगत एव वायुः, किंतूर्ध्वाधस्तिर्यग्रसवाहिस्रोतश्चराः । चरकेऽप्युक्तम्—'तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् । सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्' (च. चि. ३।११३) इति ।

ननु आगन्तुज्वरेऽप्यूष्मोपलभ्यते, ऊष्मा च पित्तादृते नास्ति (अ. हृ. चि. १) इत्युक्तम्, अत आगन्तुरपि शारीरः स्यात् ? नैवम्; उत्तरकालं तदुत्पत्तेः । यदुक्तं 'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति; स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद्दोषैरनुबध्यते' (च. नि. १।३०); तथा 'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमतिप्रवृद्धः' (च. सू. १९।७) इति । ननु मिथ्याहारेत्यादिनैकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तम्; यतः संप्राप्तिः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगिभेदनिबन्धनः, संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तेरपि नानात्वं स्यात्, न हि वातपित्तयोर्यः संयोगः स एव कफपित्तयोरिति ? उच्यते-अनेकैव संप्राप्तिः किंत्वेकजातीया; आशयदुष्ट्यादेः सर्वत्राविशेषेणाभिधानात् । एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद् भिन्नेति ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—आहार का मिथ्यायोग—प्रकृति आदि आठ आहारोपयोगी कारणों से विरुद्ध (विपरीत) उपयोग को आहार का मिथ्यायोग कहा जाता है। चरक ने कहा है—

तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोग-राशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि। (च० वि० १)

१. प्रकृति—द्रव्यों का स्वाभाविक गुरुत्व एवं लघुत्व आदि गुण प्रकृति कहलाता है। जैसे मूँग स्वभाव से लघु एवं माष गुरु होता है।

२. करण—संस्कार को करण कहा जाता है। जैसे व्रीहि अर्थात् धान भारी होता है और उस को भूनकर बनायी गयी लाजा (खील) हल्की होती है।

३. संयोग—द्रव्यों के संहतीभाव (मिश्रण) को संयोग कहते हैं। जैसे दूध एवं मछली का एक साथ खाना हानिकर होता है।

४. राशि—द्रव एवं अद्रव (दुग्ध आदि द्रव एवं चावल आदि ठोस अद्रव) के पृथक्-पृथक् एवं सम्मिलित परिमाण (मात्रा) को राशि कहते हैं। महर्षि चरक ने इसे सर्वग्रह एवं परिग्रह भेद से दो प्रकार का बतलाया है। सभी आहार द्रव्यों का अनियमित मात्रा से एक साथ मिलाकर पिण्डरूप में ग्रहण सर्वग्रह एवं सभी द्रव्यों का पृथक्-पृथक् नियत मात्रा से ग्रहण करना परिग्रह कहलाता है।

५. देश—द्रव्य की उत्पत्ति तथा प्रचार आदि स्थान को देश कहा जाता है।

६. काल—नित्यग एवं आवस्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। मास, अयन एवं ऋतु आदि नित्यग तथा बाल्य, यौवन एवं वार्धक्य आदि आवस्थिक काल है।

७. उपयोगसंस्था—उपयोग के नियम को उपयोगसंस्था कहते हैं। जैसे—भोजन के जीर्ण (पाचन) होने पर ही पुनः भोजन करना चाहिए।

८. उपयोक्ता—आहार को सेवन करने वाला उपयोक्ता होता है। उसको अपनी प्रकृति एवं हित-अहित का विचार करके भोजन करना चाहिए।

उपर्युक्त आठ प्रकार के नियमों का न पालन आहार का मिथ्यायोग कहलाता है। आतंकदर्पणकार ने अकाल में, अधिक मात्रा में, असात्म्य एवं विषम आहार को मिथ्याहार कहा है।[1]

---

१. अकाले चातिमात्रं च ह्यसात्म्यं यच्च भोजनम्।
विषमं चापि यद् भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते॥ (आ० द०)

विहार का मिथ्यायोग[1]—अपनी शक्ति से अधिक अथवा बहुत कम कार्य करना विहार का मिथ्यायोग कहलाता है। जैसे अपने से अधिक बलवान् से लड़ना, अधिक भार उठाना, व्यायाम, उपवास, धातुक्षय एवं रात्रिजागरण आदि अधिक मात्रा में करना विहार का मिथ्यायोग समझना चाहिए।

आमाशयाश्रयाः—इसका अभिप्राय यह है कि आमाशय में गये बिना दोष ज्वर को नहीं उत्पन्न करेंगे। वास्तव में सभी प्रकार के ज्वरों में आमाशय में विकृति अवश्य होती है। आमाशय का स्थान (Surface Anatomy) नाभि एवं स्तन के मध्य में आचार्य (च० वि० २) ने माना है।

बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निम्—उपर्युक्त कारणों से दूषित दोष कोष्ठाग्नि को कोष्ठ से बाहर उत्क्षिप्त कर (निकाल) देता है। अर्थात् यही कोष्ठाग्नि आमाशय में आहार-पाचन के परिणामस्वरूप आद्य रस धातु से मिलकर रसवह एवं स्वेदवह स्रोतों को बन्द कर अग्नि को नष्ट (मन्द) कर पक्तिस्थान से अग्नि को बाहर कर ज्वर को उत्पन्न करती है। कोष्ठाग्नि शब्द से धात्वग्नि का निरास हो जाता है।

ज्वरदाः स्युः—ज्वरकारिणो भवेयुः। अर्थात् इस प्रकार का दोष ज्वर का कारण होता है।

रसानुगाः—रस से सम्बद्ध दोष अवश्य ही रस को दूषित करके ज्वरोत्पादक होते हैं।

सम्प्राप्ति—

दोषप्रकोप
↓
आमाशय में स्थिति
↓
ऊष्मासम्पर्क
↓
रससम्पर्क (रस के साथ संसक्ति)
↓
रसवह एवं स्वेदवह स्रोतोदुष्टि
↓
अग्नि-उपघात
↓

---

१. अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमान्न करोति यः।
मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा तं परिवर्जयेत्॥ (आ० द०)

सम्पूर्ण शरीर में अधिष्ठान



ज्वर-अभिव्यक्ति

(च० नि० १)

अधिष्ठान—सम्पूर्ण शरीर एवं मन।
दोष—त्रिदोष (पित्त प्रधान)।
दूष्य—कोष्ठाग्नि, आद्य रस धातु।

जेज्जट का कथन है कि यह सम्प्राप्ति शारीर ज्वर की ही है, आगन्तुक की नहीं। आगन्तुक ज्वर में पहले व्यथा होती है, इसके पश्चात् दोषानुबन्ध होता है। इसलिए सुश्रुत ने आगन्तुक ज्वर की सम्प्राप्ति पृथक् से कही है—

श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः।
पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम्॥ (सु० उ० ३९)

यहाँ केवल आमाशयस्थ वायु का ही प्रकोप नहीं पाया जाता है, बल्कि ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् रसवाही स्रोतों में व्याप्त रहने वाले वायु का भी प्रकोप होता है। चरक ने भी कहा है कि अभिघात से उत्पन्न वायु प्रायः रक्त को दूषित करता हुआ व्यथा, शोथ, विपन्नता तथा पीड़ा के सहित ज्वर को उत्पन्न करता है (च० चि० ३)।

अब प्रश्न होता है कि आगन्तुक ज्वर में भी ऊष्मा पायी जाती है और ऊष्मा पित्त के बिना नहीं होता, इससे मालूम पड़ता है कि आगन्तुक भी शारीर होता है? इसका उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है। आगन्तुक ज्वर उत्तरकाल में चोट आदि लगने से कुछ समय पश्चात् होता है। जैसा कि कहा गया है कि आगन्तुक ज्वर आठवाँ होता है। वह कुछ काल तक केवल आगन्तुक रहकर तत्पश्चात् दोषों से अनुबद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रवृद्ध आगन्तुक निज (दोषानुबद्ध) तथा प्रवृद्ध दोषज भी कभी-कभी आगन्तुक रूप में भी परिवर्तित हो जाता है (च० सू० १९)।

मिथ्याहार-विहारादि द्वारा एक ही सम्प्राप्ति कही गयी है, जो युक्त नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि संयोग-भेद (विशेष) को सम्प्राप्ति कहा जाता है। संयोगी के भेदों से सम्प्राप्ति में भी भेद होता है और संयोगी वात आदि दोष अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए सम्प्राप्ति भी अनेक प्रकार की होनी चाहिये; क्योंकि जो वात-पित्त का संयोग होता है, वह कफ-पित्त का नहीं होगा? इस शंका का समाधान किया है कि सम्प्राप्ति अनेक प्रकार की होती है, किन्तु वह एकजातीय है, क्योंकि आशय-(आमाशय-) दुष्टि आदि सर्वत्र विशेष (समान) रूप से होती है, किन्तु आगन्तुक सम्प्राप्ति संयोगभेद से भिन्न होती है॥ २॥

ज्वर का सामान्य लक्षण

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥

(सु. उ. त. ३९।१३-१४)

जिस रोग में स्वेदावरोध, सन्ताप, एवं सर्वाङ्ग में पीड़ा—ये लक्षण एक साथ उत्पन्न हो—उसे ज्वर कहते हैं।

ज्वरलक्षणमाह—स्वेदावरोध इत्यादि । स्वेदावरोधो धर्मानिर्गमः । ताप इति वक्तव्ये संतापग्रहणाद् देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति । तदुक्तं चरके 'देहन्द्रियमनस्तापी' (च. चि. ३।४) इति; 'इन्द्रयाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्' (च. चि. ३।३७) इति); तथा वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनः-सन्तापलक्षणम्' (च. चि. ३।३६) इति । सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवेदना । युगपदिति मिलितमेतल्लक्षणम्; प्रत्येकशो व्यभिचारात् । स्वेदावरोधो हि कुष्ठपूर्वरूपे तथा सन्तापो दाहाख्ये रोगे, सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवातरोगे इति ।

ननु पैत्तिके स्वेदागमात्, वातिके विषमारम्भविसर्गित्वात् सर्वाङ्गग्रहणा-व्यवस्थितेश्चाव्यापकं लक्षणमिति ? अत्र जेज्जटकार्तिककुण्डादयः समादधुः उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थिते । तन्न संगतमित्यन्ये, विधौ ह्युत्सर्गापवाद-भावो न तु लक्षणे, अव्याप्त्तिव्याप्त्योर्लक्षणदोषात् ; तस्मात् स्वेदोऽग्निः 'स्विद्यतेऽनेन' इति व्युत्पत्त्या ; तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः । वातज्वरे यद्यपि वायोश्चलत्वेनारम्भविसर्गयोर्वैषम्यम्, तथाऽपि सर्वदेहगतज्वरारम्भकदोष-दुष्ट्य निवृतेरनुद्भूतसर्वाङ्गग्रहणस्य विद्यमानत्वेति न व्यभिचारः । चरके तु ज्वरलक्षणं ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः' (च. चि. ३।३१) इति । ननु 'शरीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः' (च. चि. ३।३६) इति चरकवचनाद्देहमनसोरन्योन्यव्यभिचारादलक्षणमिति चेत् न; सूक्ष्मतरकालव्य-वहितस्यान्यतररूपस्यावश्यम्भावित्वात् । यथा—गुणवद् द्रव्यमिति द्रव्य-लक्षणमिति ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—स्वेदावरोध का अर्थ है घर्मानिर्गम । अर्थात् शरीर से पसीना न निकलना अथवा स्वेद का रुक जाना स्वेदावरोध कहा जाता है । ताप कहने की जगह सन्ताप ग्रहण से देह, इन्द्रिय और मन में ताप की अनुभूति होती है । चरक में कहा गया है—'देहेन्द्रियमनस्तापी' (च०चि० ३) । मन के सन्ताप का लक्षण कहा गया है—चित्त का न लगना, बेचैनी एवं मन में ग्लानि (च०चि० ३।३६) । सर्वाङ्गग्रहणम्–सर्वाङ्ग में वेदना होती है । युगपत्–उपर्युक्त तीनों लक्षण एक काल

में जिस रोग में दिखलाई पड़ते हो। प्रत्येकशः अर्थात् पृथक्-पृथक् वे लक्षण व्यभिचारी हो जाते हैं; जैसे अकेला स्वेदावरोध कुष्ठ के पूर्वरूप में, दाहरोग में संताप तथा सर्वाङ्गवात में सर्वाङ्गग्रहण होता है। इसलिए तीनों लक्षण एक साथ (मिलितावस्था में) जिस रोग मे हो, वह ज्वर कहा जायेगा।

अब एक शंका हो सकती है कि पित्तज्वर में स्वेद आता है, वातज्वर में विषमारम्भविसर्गी होने से सर्वाङ्गवेदना की स्थिति अव्यवस्थित (अनिश्चित) होती है; इसलिए उपर्युक्त स्वेदारोध आदि ज्वर का व्यापक लक्षण नहीं मालूम पड़ता ? जेज्जट, कार्तिककुण्डादि आचार्यों का मन्तव्य है कि उत्सर्ग एवं अपवाद विधि से यह लक्षण घट जाता है, किन्तु अन्य विद्वान् इसको संगत (उचित) नहीं मानते, क्योंकि विधि में ही उत्सर्ग–अपवाद भाव होता है, लक्षण में नहीं। अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोनों लक्षण के दोष होते हैं। इसलिए 'स्विद्यतेऽनेन इति स्वेदः अग्निः, तस्यावरोधः' यह अर्थ किया गया है। अर्थात् स्वेद शब्द से अग्नि (कोष्ठाग्नि) माना गया है; क्योंकि 'स्विद्यतेऽनेन इति स्वेदः' अर्थात् इस अग्नि के ताप से रोगी स्विन्न हो जाता है।

यद्यपि वातज्वर में वायु के चल होने के कारण ज्वर के प्रारम्भ और विसर्ग (मोक्ष) काल में विषमता होती है, तब भी सर्वदेहगत ज्वरारम्भक दोषदुष्टि की निवृत्ति न होने तक सर्वाङ्गग्रहण लक्षण की उपस्थिति रहती है। इसमें व्यभिचार दोष नहीं होता।

चरक में ज्वर का प्रत्यात्मलक्षण 'शारीरिक एवं मानसिक सन्ताप' कहा गया गया है। शारीरिक सन्ताप का आगमन प्रथम देह में, तत्पश्चात् मन में और मानस सन्ताप पहले मन में इसके बाद शरीर में दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार अर्थ करने से ज्वर का चरकोक्त प्रत्यात्मलक्षण सदोष प्रतीत होता है ? किन्तु यह दोष (शंका) ठीक नहीं है क्योंकि सूक्ष्मतर (अत्यल्प) काल का व्यवधान (अन्तर) मन के पश्चात् शरीर अथवा शरीर के पश्चात् मन के सन्ताप में होता है। जैसे उत्पत्ति के समय निर्गुण द्रव्य में कुछ क्षण पश्चात् गुणोत्पत्ति होने से 'गुणवत् द्रव्यम्' लक्षण सदोष नहीं माना जाता।

विमर्श—शरीर का सामान्य तापक्रम ३७° से०ग्रे० से ३६.६° से०ग्रे०या ९८.४° फा० है। ३७° से.ग्रे. या ९९° फा० से ऊपर तापक्रम होने पर ज्वर (Pyrexia) कहा जाता है। ४१.६° से.ग्रे. या १०७° फा० से ऊपर तापक्रम होने पर उच्च तापक्रम (Hyper Pyrexia) तथा ३५° से.ग्रे. या ९५° फा० से कम तापमान होने पर निम्न तापक्रम (Hypothermia) समझना चाहिए। भोजन करने, गर्म जल से स्नान, अत्यधिक परिश्रम तथा स्त्रियों में Ovulation के समय थोड़ा शरीर का ताप-

क्रम बढ़ जाता है, जिसे विकृति नहीं समझनी चाहिए। सायंकाल ज्वर के रोगी का तापक्रम थोड़ा बढ़ जाता है। हाइपोथरमिया की स्थिति अधिक देर ठण्डक लगने पर, अत्यधिक शाक (Shock) में रहने पर तथा हाइपोथायराडिज्म (Hypothyroidism) में होता है, जबकि मलेरिया एवं अधिक गर्मी, लू आदि लगने से हाइपर पायरेक्सिया हो जाता है।

तापक्रम की तेजी के साथ वृद्धि ४०-४१° से०ग्रे० या १०४-१०६° फा० तक न्योमोनिया, तीव्र पायलोनेफ्राइटिस (Acute Pyelonephritis) तथा कतिपय मलेरिया में होता है तथा धीमी गति से तापक्रम वृद्धि टायफायड एवं फैलसीपैरम मलेरिया (Falciparum Malaria) में होता है। इसी तरह से चिकित्सा द्वारा तेजी से तापक्रम में गिरावट मलेरिया तथा न्यूमोनिया में दिखलाई पड़ती है।

चौबीस घण्टे के अन्दर १° से०ग्रे० या १.५° फा० से ज्यादा अन्तर न होने तथा सामान्य तापक्रम पर न पहुँचने वाले ज्वर को Continued Fever कहा जाता है। यह स्थिति कुछ दिन चलती है। यह स्थिति सामन्यतः टाइफायड में तथा पूय (Pus) इकट्ठा होने पर तथा कभी-कभी राजयक्ष्मा में होती है। जब नित्य २° से०ग्रे० तापक्रम घटता-बढ़ता हो, उसे Remittent Fever कहा जाता है। जब ज्वर दिन में कुछ घण्टों तक उपस्थित हो, तो उसे Intermittent Fever अर्थात् पारी से आने वाला ज्वर कहा जाता है। इस प्रकार ज्वर मलेरिया में होता है। तृतीयक ज्वर में तीसरे दिन निश्चित समय पर तथा चतुर्थक ज्वर में चौथे दिन ज्वर दिखलाई पड़ता है ॥ ३ ॥

ज्वर का सामान्य पूर्वरूप

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः।
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ७ ॥

(सु. उ. तं. ३९।१ २५-२८)

ज्वर का सामान्य पूर्वरूप—थकावट, बेचैनी, विवर्णता, मुख का स्वाद खराब होना, आँखों से पानी गिरना, शीत-वायु एवं धूप में बैठने की कभी इच्छा

एवं कभी उससे द्वेष होना, जम्भाई, शरीर में पीड़ा एवं भारीपन, रोमाञ्च होना, अरुचि, आँखों के सामने अँधेरा होना, आनन्द का अभाव होना एवं शीत का लगना।

ज्वर का विशिष्ट पूर्वरूप—वात ज्वर का जम्भाई का अधिक आना, पित्त ज्वर का आँखों में जलन एवं कफज ज्वर का अन्न में अरुचि होना, विशिष्ट पूर्वरूप होता है।

द्वन्द्वज एवं त्रिदोष ज्वर का पूर्वरूप—किन्हीं दो दोषों के सम्मिलित लक्षण को द्वन्द्वज का एवं सर्वलक्षण का एक साथ मिलना, त्रिदोषज ज्वर का पूर्वरूप होता है ॥ ४-७ ॥

पूर्वरूपमाह—श्रम इत्यादि। श्रमः श्रान्तत्वमिव। अरतिरनवस्थितचित्तत्वम्, अरतिः क्रीडाभाव इति कार्तिकः। विवर्णत्वं म्लानगात्रत्वम्। यत्तु 'दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः'—इत्यारभ्य 'स्वकालेषु ज्वरागमम्। जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णांश्च त्वगादिषु'–(सु. उ. ३९।१८) इति संप्राप्तौ वृद्धसुश्रुतवचनम्, तदत्यर्थजृम्भादिवद्विशिष्टपूर्वरूपाभिप्रायेण, संप्राप्त्यवस्थापन्नदोषजन्यत्वात् पूर्वरूपस्येति। वैरस्यमिति मुखस्य विरुद्धरसता। नयनप्लवोऽश्रुपूर्णनेत्रत्वम्। यदुक्तं चरके–'आलस्यं नयने सास्रे' (च. चि. ३।२८) इत्यादि। आदिशब्दादम्बुज्वलनयोरप्यनिश्चितेच्छाद्वेषयोर्ग्रहणम्। उक्तं हि चरके—'ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ'–(च. चि. ३।२८) इति। अन्ये तु शैत्यौष्ण्यसाधर्म्याज्जलानलौ ग्राहयन्ति, आदिशब्देन च शयनादिकम्। तमः अन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः। अप्रहर्षः प्रीत्यभावः। ज्वलनेच्छया शीते लब्धे शीतं चेति वचनं शीतस्य विशेषेण बोधनार्थम्। चकारेण बालविद्वेषादिग्रहणमित्याहुः।

उत्पत्स्यतीति भविष्यति ज्वरे। उत्पत्स्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वेन। तच्च चक्षिङः इकारेण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (पा. अ. ६।३।१२) इत्यात्मनेपदे सिद्धे तदर्थं ङित्करणेन ज्ञापितमिति शाब्दिकाः। गदाधरस्तु–'उत्पित्सति'–इति पठित्वा 'पद गतौ' इत्यस्य सन्नन्तस्य 'सनि मीमाघुरभलभशकपतपदाम्' (पा. अ. ७।४।५४) इत्यादिना इसि कृते 'पूर्ववत् सनः' (पा. अ. १।३।६२) इत्यत्र भिन्नवाक्यतया परस्मैपदमिति व्याचष्टे इति ॥ ४–७ ॥

सरोज व्याख्या—विना कारण के थकावट का होना, चित्त का अनवस्थित होना एवं शरीर का म्लान होना आदि ज्वर के पूर्वरूप का लक्षण है।

दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम्॥

स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ।
निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु स्वरागमम् ।
जनयन्त्यथ वृद्धिं वा स्ववर्णाञ्च त्वगादिषु ॥
(सु० उ० ३९।१६-१८)

सुश्रुत ने उपर्युक्त सम्प्राप्ति का निर्देश 'जृम्भात्यर्थं समीरणात्' इत्यादि ज्वर की तरह विशिष्ट पूर्वरूप निर्देश के अभिप्राय से किया है। पूर्वरूप भी सम्प्राप्ति की अवस्थाा तक पहुँचे हुए दोषों से उत्पन्न होता है। मुख की विरुद्धरसता को 'मुख वैरस्य' कहा जाता है। 'नयन-प्लवः का अभिप्राय अश्रुपूर्ण नेत्रों से है। जैसा कि चरक ने कहा है—

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः ।
ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः ।
शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥ (च०चि० ३)

शीत, वात, आतप आदि में कभी-कभी इच्छा-द्वेष होता है। ऐसी बात चरक ने भी कही है कि अग्नि, आतप, वायु एवं जल में इच्छा एवं द्वेष अनिश्चिततावस्था में मिलते हैं। अन्य विद्वान् शैत्य एवं उष्णता के समान गुण वाले जल एवं अग्नि का ग्रहण करते हैं। 'आदि' शब्द से शयन (सोना) एवं आसन (बैठना) के लिए इच्छा एवं द्वेष अभिप्राय है। तमः—अन्धकार में प्रविष्ट के समान रोगी अपने को समझता है। प्रीति (प्रसन्नता) के अभाव को 'अप्रहर्ष' कहा जाता है। शीत आदि से बार-बार इच्छा-द्वेष होने से पुनः 'शीत' शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे शीत की अधिकता का बोध होता है। चकार शब्द से बालप्रद्वेष समझना चाहिए। अर्थात् बालकों को देखकर चिढ़न होती है। आगे आने वाले ज्वर में उपर्युक्त पूर्वरूप के लक्षण पाये जाते हैं।

'उत्पस्यति' यहाँ आत्मनेपद अनित्य होने के नाते परस्मैपद हुआ है। अनित्य कैसे है?—इसको बता रहे हैं कि चक्षिङ् धातु का इकार अनुदात्त है, अतः अनुदात् इत् होने से ही आत्मेनपद सिद्ध है, पुनः ङित् क्यों पढ़ा? वह ङित् व्यर्थं होकर ज्ञापन करता है कि अनुदात् को इत् मानकर जो आत्मनेपद होता है, यह व्यवस्था अनित्य है। इसलिए परिभाषा निकली—'अनुदातेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यम्'। ऐसा वैयाकरणों का मत है। गदाधर तो ऐसा कहते हैं—'उत्पित्स्यति' यह पढ़कर 'पद गतौ' को सन्नन्त मानकर "सनि मीमाधुरभलभशकपतपदाम्" (अ० ७ पा० ४ सू० ५४) इस सूत्र से इसे करके "पूर्ववत्सनः' यहाँ पर भिन्न वाक्य होने से परस्मैपद हुआ है ॥ ४–७ ॥

वातज्वर लक्षण

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ ८ ॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥ ९ ॥
(सु. उ. ३९।१ २९-३०)

शरीर का काँपना, ज्वर का अनियमित चढ़ना-उतरना, कण्ठ एवं ओष्ठ का सूखना, निद्रानाश, छींक का न आना, शरीर में सूखापन, शिर-हृदय एवं शरीर में पीड़ा, मुख में फीकापन, मल का कठोर होना, शूल, आध्मान तथा जम्भाई वातिक ज्वर के लक्षण हैं ॥ ८-९ ॥

वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन प्राधान्यम्; यदुक्तं चरके-'अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकाराः' (च. सू. २०।१०) इति; तथा दारुणाश्च वातविकारा आक्षेपकपक्षाघातादयः; अतः प्राधान्यात् प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह—वेपथुरित्यादि । एवमन्यत्रापि वातादिक्रमनिर्देशे वेदितव्यम् । विषमो वेग इति वेगो ज्वरस्य प्रवृत्तिर्वृद्धिर्वा, तस्य वैषम्यमनियतकालत्वम्, अङ्गेषु चौष्ण्याद्यानियतत्वम् । क्षवश्छिक्का, स्तम्भो गात्राणां जडिमा, रौक्ष्यमपि गात्राणामेवेति गदाधरादयो व्याचक्षते; तच्चानवधानाद्व्याख्यातमिति लक्ष्यते, क्षवस्य स्तम्भः क्षवस्तम्भ इत्येकपदताऽत्र युज्यते । यदाह वाग्भटः—'हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विलापश्चानिलज्वरे'—(अ. हृ. नि. २।१७) इति । चरकेऽपि निदाने 'क्षवथूद्गारविनिग्रहः' (च. नि. १।२१) इति पठितम् । विनिग्रहशब्दस्तु तत्र तत्र निरोधार्थ एवाचार्येण निर्दिष्टः; यथा वातगुल्मनिदाने—'रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च' (च. चि. ५।९) इति; तथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे 'दोषवर्चोविनिग्रहः'—(च. चि. ३।४०) इति । एतेन, ज्वरमुक्तिलक्षणे क्षवस्य पठात् कथमेतल्लक्षणमिति यदाशङ्कितं कार्तिककुण्डेन, तदपि निरस्तम् । आध्मानं वायुना सवेदनमुदरपूर्णत्वम् ।

शिरोहृद्गात्ररुगित्यत्र गात्रग्रहणेन शिरोहृद्ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि हृदि च वेदनार्थम् । एतानि रूपाणि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि सुश्रुतेन, तेन चकारेणान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि । तान्येव गद्येनोक्तानि सुखग्रहणार्थं श्लोकेन मया प्रदर्श्यन्ते—'भवन्ति विविधा वातवेदनाः पादसुप्तता । पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता ॥ ऊरुसादो हनुस्तम्भो

विश्लेषः संधिजानुनोः। शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षः श्रमभ्रमौ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि तृट्प्रलापोष्णकामिताः' इति॥ ८-९॥

सरोज व्याख्या—वात, पित्त एवं कफ तीनों दोषों में यथापूर्व (अर्थात् सबसे अधिक वात, फिर पित्त, तत्पश्चात् कफ) अधिक एवं दारुण (कष्टकारी) विकार उत्पन्न करने के कारण प्रधान होता है। जैसा कि चरक ने कहा है—अस्सी वात के रोग, चालीस पित्त के रोग एवं बीस कफ के रोग होते हैं (च० सू० २०)। वात-विकार संख्या में सबसे अधिक एवं कष्टकारी भी होते हैं। जैसे आक्षेपक एवं पक्षाघात आदि। अतः वात दोष के प्रधान होने से सर्वप्रथम वात ज्वर का लक्षण कहते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी वातादि क्रम निर्देश से यही सिद्धान्त समझना चाहिए। विषमो वेगः—यहाँ 'वेग' का तात्पर्य ज्वर की प्रवृत्ति एवं वृद्धि से है। वातज्वर में ज्वर का वेग विषम अर्थात् कभी कम एवं कभी अधिक होता है और समय भी निश्चित न होने से अनियत काल अर्थात् ज्वर की प्रवृत्ति कोई नियत समय से नहीं होती। इसी तरह शरीर में ज्वर की उष्णता भी अनियत होती है। 'क्षव' का अर्थ छींक है। 'स्तम्भो गात्राणां' अर्थात् शरीर जड़वत् हो जाता है एवं शरीर में रूक्षता भी हो जाती है। ऐसा गदाधर आदि का मत है, किन्तु ऐसा अर्थ असावधानीवश किया गया है। 'क्षवस्तम्भ' शब्द से 'क्षवस्य स्तम्भः' अर्थात् छींक का स्तम्भ (रुक जाना) अर्थ उचित प्रतीत होता है। जैसा कि वाग्भट्ट ने कहा है कि वातज्वर में रोम, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, और दाँतों में हर्ष होता है, वेपथु (कम्प), क्षवथोर्ग्रहः (छींक का अनिर्गमन—रुकना), भ्रम, प्रलाप, घर्मेच्छा (धूप की इच्छा) और विलाप (बकवास) रोगी करता है (वा० नि० २)। चरक ने भी निदान स्थान-१ में छींक एवं डकार विनिग्रह लिखा है। 'विनिग्रह' शब्द का प्रयोग 'निरोध' अर्थ में आचार्यों द्वारा किया गया है। जैसे वातगुल्म के निदान में रूक्ष अन्न-पान का सेवन, अतिमात्रा में विषम चेष्टाओं का करना एवं वेगविनिग्रह (निरोध-रोकना) (च० चि० ५) कहा गया है। इसी तरह अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण में दोषों एवं मल का विनिग्रह च० चि० ३ में कहा गया है। 'क्षवस्य स्तम्भ' अर्थात् 'छींक रुकना' अर्थ करने से ही ज्वरमुक्ति के लक्षण में 'छींक होना पाया जाना' यथोचित प्रतीत होता है तथा इसमें कार्तिककुण्ड की शंका का समाधान भी हो जाता है। आध्मान—वायु उदर में भर जाने से उदर वेदनायुक्त हो जाता है। 'शिरोहृद्गात्ररुक्' इसमें गात्र शब्द से सिर एवं हृदय का ग्रहण हो जाता है, शिर एवं हृदय कहने से इन दोनों अङ्गों में विशेष पीड़ा का बोध होता है। वातज्वर में उपर्युक्त लक्षण प्रायः मिलते हैं, इसलिए सुश्रुत ने इनका निर्देश किया है। च शब्द से चरकोक्त वातज्वर के अन्य लक्षण को मधुकोषकार ने अपने शब्दों में श्लोक के माध्यम से कहा है—अनेक प्रकार की वात वेदना, पाद में सुप्तता (शून्यता),

पिण्डलियों में उद्वेष्टन, कर्ण में आवाज सुनाई पड़ना, मुख का कसैलापन, टांगों का शिथिल होना, हनुस्तम्भ, जानु सन्धि का ढीला होना, सूखी खाँसी, वमन, लोमहर्ष, दन्तहर्ष, थकावट, भ्रम, नेत्र एवं मूत्र का लाल होना, तृषा, प्रलाप एवं उष्ण पदार्थ की इच्छा करना ॥ ८-९ ॥

पित्तज्वर-लक्षण

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥ १० ॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ११ ॥

(सु. उ. ३९।३१-३२)

ज्वर का तीक्ष्ण (तीव्र) होना, अतिसार, निद्रा की कमी, वमन, कण्ठ-ओष्ठ-नासा एवं मुंह का पकना, पसीना आना, प्रलाप, मुख में कडुआपन, मूर्च्छा, दाह, मद, प्यास, मल-मूत्र एवं नेत्र का पीला होना तथा भ्रम पैत्तिक ज्वर का लक्षण है ॥ १०-११ ॥

पित्तज्वरलक्षणमाह--वेगस्तीक्ष्ण इत्यादि । अतिसारः पित्तस्य सरत्वेन सद्रवा प्रवृत्तिर्न त्वतिसार एव, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात् । निद्राल्पत्वं स्वल्पनिद्रात्वम् । उक्तं हि सुश्रुते—'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्' (सु. शा. ४।४१) इत्यादि । वमिः पित्तस्य कफस्थानगमनात् । स्वेदो घर्मागमनं, प्रायेण सामदोषेण स्रोतसां निरोधात् सर्वज्वरेषु घर्मनिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवति ।

प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम् । वक्त्रकटुता मुखतिक्तत्वम्, चरके हि पैत्तिकनानात्मजचत्वारिंशद्विकारेषु तिक्तास्यतायाः पाठादनुभवाच्च । कार्तिकस्त्वरोचके 'कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्' (च.-चि. २६)। इति वचनं दृष्टान्तमुपन्यस्य कटुमुखत्वमपीच्छति । तन्न; तत्रापि संदेहात् । यदुक्तम्—कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति । मूर्च्छेति मूर्च्छा रूपाद्यविज्ञानम्, तमःप्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः । मदो मत्तत्वमिव, यथा—पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादौ । भ्रमश्चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमित्याहुः; अन्ये तु स्वदेहभ्रमणज्ञानम् । ननु भ्रमस्याशीतिवातविकारपठितस्य वातनानात्मजत्वात् कथं पित्तविकारे पाठः ? उच्यते; 'न रोगोऽप्येकदोषजः' इति वचनात् पैत्तिके वातानुबन्धाद् भ्रम इति जेज्जटः समाधानमुक्तवान् । अथवा दोषदूष्यसंमूर्च्छनप्रभावात् कारणादृष्टस्यापि रूपस्य कार्य उपलम्भः; यथा—अरूपवातारब्धातिसारादाविवारुणत्वम्, हरिद्राचूर्णसंयोग इव लौहित्यम् । यत्तूक्तं सुश्रुते—'रजःपित्तानिलाद् भ्रमः' (सु. शा. ४) इति, तत्रापि वातानु-

गतपित्तजत्वमेव बोद्धव्यम्; अन्यथा भ्रमस्य वातिकनानात्मजत्वमेव न स्यादिति। अपरे तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन विपर्ययस्तज्ज्ञानं भ्रमः, पीतः शङ्ख इत्यादिवत्। चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः। तद्यथा—तीव्रोष्मता रक्तकोठाः शीतेच्छताऽरुचिरिति ॥ १०-११ ॥

सरोज व्याख्या—पित्त के सर एवं द्रव होने के कारण अतिसार शब्द से यहाँ पतला मल समझना चाहिए, न कि अतिसार (Diarrhoea)। अतिसार तो ज्वर के उपद्रव स्वरूप होता है। निद्राल्पत्व से स्वल्प निद्रा समझना चाहिए। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—वायु एवं पित्त के प्रकोप से निद्रानाश होता है (सु०शा० ४)। वमिः—पित्त जब कफस्थान (आमाशय) में आ जाता है, तब कफ उसे लेकर बाहर निकलता है। स्वेदः—अर्थात् घर्म (पसीना) निकलना। प्रायः सभी ज्वरों में दोषों की सामावस्था में रहने के कारण स्रोतों के निरोध (बन्द) होने से पसीना नहीं निकलता, किन्तु पैत्तिक ज्वर में पित्त की तीक्ष्णता से अथवा ज्वर के प्रभाव से पसीना अधिक निकलता है। प्रलाप—असम्बद्ध भाषण। वक्त्रकटुता—मुख का कडुआपन। चरक ने पित्त के चालीस विकारों में 'तिक्तास्यता' का निर्देश किया है। आचार्य कार्तिक ने आरोचक विकार में 'कट्वम्लमुष्णम्' (च०चि० २६) इत्यादि वचन का दृष्टान्त देकर पित्तज्वर में मुँह की कटुता अर्थात् कडुवापन कहा है। तात्पर्य यह है कि 'कटु' शब्द से कडुवा और तीता—दोनों का ग्रहण होता है। किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि इसमें भी शंका है। जैसा की कहा गया है—'कटु स्यात् कटुतिक्तयोः' अर्थात् कटु शब्द से कटु और तिक्त दोनों रसों का ग्रहण होता है। इसलिए सुश्रुत ने कहा है—

योऽग्लं भृशोष्णं कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः ॥

(सु०उ० ३६)

पित्तप्रकोपजन्य छर्दि में 'कटुतिक्तवक्त्र' अर्थात् कटु (कडुवापन) एवं तिक्त (तीखापन) मुख में होता है। यदि यहाँ 'कटु' शब्द से कड़वापन एवं तीतापन दोनों अर्थ गृहीत होते, तो कटु के साथ तिक्त शब्द का प्रयोग न किया जाता।

मूर्च्छा से रूपादि विषयों का ज्ञान न होना, जानना चाहिए। तमःप्रवेश—अंधकार में डूबा हुआ सा रोगी को प्रतीत होता है। स्मरण शक्ति ठीक नहीं रहती। मदः—रोगी मत्त के समान पड़ा रहता है। जैसे सुपारी, कोद्रव अथवा धतूरा के भक्षण से नशा हो जाता है, वैसे ही रोगी हो जाता है। भ्रम—रोगी अपने को चक्र पर बैठकर घूमता हुआ सा समझता है एवं सभी वस्तुएँ घूमती हुई समझता है। अन्य विद्वान् कहते हैं कि केवल स्वदेह-भ्रमण का ज्ञान होता है अब यहाँ शंका उपस्थित होती है कि भ्रम तो अस्सी वात विकारों में से एक है, तो यहाँ पित्त-

विकार क्यों कहा गया है ? इसका समाधान जेजट ने यह किया है कि "कोई भी रोग एकदोषज नहीं होता।" इस सिद्धान्त से पैत्तिक ज्वर में वातानुबन्ध होने से भ्रम होता है, अथवा दोष-दूष्य के सम्मूर्च्छनजन्य प्रभाव से अदृष्टकारण भी कार्य रूप में प्राप्त होता है। जैसे रूपरहित वातजनित अतिसार में अरुणता पायी जाती है। इसी तरह हल्दी एवं चूना के संयोग से एक नवीन लाल वर्ण पैदा हो जाता है। सुश्रुत ने कहा है—'रजःपित्तानिलाद् भ्रमः' (सु० शा० ४) अर्थात् रजोगुण पित्त एवं वायु के संयोग से भ्रम हो जाता है। वहाँ भी वातानुगत पित्तजन्य ही भ्रम को जानना चाहिए। अन्यथा भ्रम को वात के नानात्मज विकार में कहा ही नहीं जा सकता है। अन्य आचार्य भ्रम का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि पित्तज रोगों में नेत्र पीले हो जाने से प्रत्येक वस्तु के वास्तविक ज्ञान में भ्रम हो जाता है, जिससे शुभ्र वर्ण शंख भी पीला दिखलाई पड़ता है।

चकार से पूर्ववत् अनुक्त लक्षण का समुच्चय कर लेना चाहिए। जैसे तीव्रोष्मता (ताप का अधिक बढ़ना), रक्त-कोठ (रक्त वर्ण का चकत्ता), शीतेच्छुता (शीतल पदार्थों की इच्छा) एवं अरुचि ॥ १०–११ ॥

कफज्वर-लक्षण

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
[स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता।
नात्युष्णगात्रताच्छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता ॥]
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥ १३ ॥

(सु०उ० ३९।३३–३४)

शरीर गीले कपड़े से ढँका सा प्रतीत होता है, वेग मन्द रहता है, आलस्य, मुख में मीठापन, मूत्र-पुरीष में श्वेतता, शरीर में जकड़न, तृप्ति (पेट भरा सा ज्ञात होना), शरीर में भारीपन, शीत लगना, जी मिचलाना, रोमाञ्च होना, नींद अधिक आना, स्रोतोरोध, शरीर में अल्प पीड़ा, प्रसेक (मुख में पानी भरा रहना), मुख का स्वाद नमकीन होना, शरीर का अधिक उष्ण नहीं होना, वमन, अपचन, प्रतिश्याय, अरुचि, खाँसी एवं आँखों में सफेदी कफज ज्वर के लक्षण हैं ॥१२–१३॥

कफज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि। स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव। स्तिमितो वेगो मन्दो वेगः आलस्यमिति 'समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते' (सु. शा. ४।५१)—इत्यालस्यलक्षणमाहुः। स्तम्भः अङ्गस्तब्धता। तृप्तिः तृप्तस्येवान्नानभिलाषः। उत्क्लेदः कण्ठोपस्थितवमनत्वमिव। अरुचिरत्र सत्यप्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः। चकारः पूर्ववत्।

तेन 'तथाऽङ्गे पिडकाः शीतं प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके। हृदुपलेप उष्णाभिलाषिता वह्निमार्दवम्' इति ॥ १२-१३ ॥

सरोजव्याख्या—स्तैमित्यम्—शरीर गीले कपड़े से आच्छादित प्रतीत होना। स्तिमितो वेगोः--ज्वर का वेग मन्द होना। आलस्य—सामर्थ्य होने पर भी उत्साह न होना। सुश्रुत ने (शारीर स्थान-४ में) कहा है कि 'समर्थ होने पर काम में अनुत्साह आलस्य का लक्षण है।' स्तम्भ अर्थात् शरीर का जकड़ना। तृप्ति—विना भोजन किये भोजन से तृप्त प्रतीत होना और अन्न की अभिलाषा (इच्छा) न होना। उत्क्लेद--वमन द्रव्य कण्ठ में उपस्थित रहता है, जिससे मिचली जैसा प्रतीत होता है। अरुचि—अन्न ग्रहण में अभिलाषा (इच्छा) होते हुए भी रोगी अन्न ग्रहण करने में असमर्थ होता है। चकार से पूर्ववत् लक्षण यथा--शरीर पर शीतल पिडिकाओं का होना, प्रसेक, छर्दि (वमन), तन्द्रा, हृदय-उपलेप (हृदय का भारी सा प्रतीत होना), उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा एवं अग्नि का मन्द होना जानना चाहिए ॥ १२-१३ ॥

वातपित्तज्वर-लक्षण

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः।

(सु. उ. तं. ३९।४७-४८)

प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, शिर में पीड़ा, कण्ठ एवं मुख का सूखना, वमन, रोमहर्ष, अरुचि, आँखों के सामने अँधेरा होना, सन्धियों में फटने जैसी पीड़ा एवं जम्भाई वातपित्तज्वर के लक्षण है ॥ १४ ॥

वातपित्तज्वरलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि। पर्वाणि भिद्यन्त इव वेदना पर्वभेदः। एतानि च लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य बोद्धव्यानि। विकृतिविषमसमवायारब्धत्वं चैषां केवलवातिकपैत्तिकज्वरलक्षणानां मध्ये केषांचिदेव नियमेन पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च बोद्धव्यम्। यथा—अत्रैव वातपैत्तिकेऽरुचिरोमहर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेदः सन्तापश्च, एवं कफपैत्तिके अनवस्थितशीतदाहौ एवं सन्निपातजे सास्रकलुषादिनेत्रत्वशिरोलोठनादि। प्रकृतिसमसमवायारब्धे तु वातजादिज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति। अतएव चिकित्सते चरको विकृतिविषमसमवायारब्धानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणानि साक्षात् पठित्वा निदानस्थानोक्तवातादिज्वरलिङ्गातिदेशेन प्रकृतिसमसमवेतानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणमुक्तवान्। यदाह—'निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः।

संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम्' (च. चि. ३।११०) इति। एवं वक्ष्यमाणं द्वन्द्वसन्निपातलक्षणं व्याख्येयम्। प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषम-समवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः। यथा—शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम्। विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः, यथा—हरिद्राचूर्ण-संयोगजं लौहित्यमिति ॥ १४ ॥

सरोजव्याख्या—पर्वभेद—पर्व (सन्धियों) में वेदना। यह लक्षण विकृत विषम समवाय से आरम्भ होने वाला समझना चाहिये। क्योंकि इसमें वात एवं पित्त के कुछ लक्षण मिलते हैं और कुछ लक्षण ऐसे होते हैं जो न वातज्वर में पाये जाते हैं न पित्तज्वर में। जैसे वात एवं पित्त ज्वर में रोमहर्ष एवं अरुचि—ये दोनों लक्षण न वात के लक्षण हैं और न पित्त के। इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले वातश्लैष्मिक ज्वर में स्वेद एवं संताप, कफपित्तज्वर में अनवस्थित शीत और दाह तथा सन्निपातज्वर में आँखों में मलिनता तथा शिरोलोठनादि।

प्रकृतिसमसमवायारब्ध ज्वरों में वातजादि ज्वरों के समस्त अथवा कतिपय लक्षण मिलते हैं, अतएव (चिकित्सास्थान में) चरक ने विकृतिविषमसमवायारब्धद्वन्द्वज एवं सन्निपातज ज्वरों के लक्षण स्पष्ट रूप से वर्णन करके निदानस्थान में वर्णित वातादि ज्वरों के लक्षण के अनुसार प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर के लक्षण कहे हैं—

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः।
संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ॥ (च०चि० ३)

अर्थात् निदानस्थान में जो वातादि तीन प्रकार के ज्वरों के पृथक् पृथक् लक्षण कहे गये हैं, उन्हीं लक्षणों के संयोग के अनुसार संसर्गज (द्वन्द्वज) या सन्निपातज ज्वरों के लक्षण कह दिये हैं। इसी तरह आगे कहे गये द्वन्द्व एवं सन्निपात ज्वरों के लक्षण की व्याख्या करनी चाहिए।

प्रकृतिसमसमवाय एवं विकृतिविषमसमवाय का अर्थ—

"प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृति-समसमवायः"—हेतुभूत प्रकृति द्वारा सम अर्थात् कारणानुरूप समवाय या कार्यकारण-भाव सम्बन्ध को 'प्रकृतिसमसमवाय' कहते हैं। जैसे श्वेततन्तु से बना हुआ कपड़ा भी श्वेत होता है। अर्थात् कारण के अनुरूप कार्य का होना ही प्रकृतिसमसमवाय है।

"विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतविषमसमवायः।" अर्थात् हेतुभूत विकृति के कारण विषम अर्थात् कारण के विपरीत समवाय को 'विकृतिविषमसमवाय' कहते हैं। जैसे—हल्दी एवं चूने के संयोग से लालवर्ण की उत्पत्ति होती है ॥ १४ ॥

वातश्लेष्मज्वर-लक्षण

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ।। १५ ।।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।। १६ ।।

(सु० उ० ३९।४८-४९)

शरीर गीले कपड़े से ढँका सा रहना, सन्धियाँ फटने सी पीड़ा, निद्रा, शरीर में भारीपन, शिर की जकड़न, प्रतिश्याय (नासास्राव), कास, स्वेद की अधिकता, संताप (ज्वर) का वेग मध्यम वातश्लेष्म ज्वर का लक्षण है ॥ १५–१६ ॥

वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि । स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवर्तनं विकृतिविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्तिकः । युक्तं चैतत् ; यदाह हारीतः—'शिरोग्रहः स्वेदभवो ज्वरस्य कासश्च लिङ्गं कफवातजस्य'--इति । स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः । मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥ १५–१६ ॥

सरोजव्याख्या—स्वेदप्रवर्तनम्--स्वेद की अकारण प्रवृत्ति होती है । ऐसा विकृतिविषमसमवाय से होता है—ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है । यह उचित भी है; क्योंकि हारीत ने भी कहा है कि कफवातज्वर से शिरोग्रह (शिर का जकड़न), पसीना और खाँसी होती है । 'स्वेदभवः' का अभिप्राय स्वेदोत्पत्ति है । 'मध्यवेगः' अर्थात् ज्वर का वेग न अधिक तीक्ष्ण (तीव्र) और न अधिक मृदु (मन्द) होता है । वातकफ दोनों स्रोत-अवरोधक हैं, किन्तु यहाँ विकृतिविषम समवाय से स्वेद की अति प्रवृति कही गयी है ॥ १५–१६ ॥

श्लेष्मपित्तज्वर-लक्षण

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ १७ ॥

(सु. उ. तं. ३९।५०)

मुख में चिपचिपाहट तथा कड़ुवापन, तन्द्रा, मोह (मूर्च्छा), कास, अरुचि, प्यास एवं बार-बार दाह तथा शीत का अनुभव होना—श्लेष्मपित्त ज्वर का लक्षण है ॥ १७ ॥

श्लेष्मपित्तज्वरलक्षणमाह--लिप्तेत्यादि । श्लेष्मणा लिप्तं पित्तेन तिक्तं च आस्यं मुखं यस्य, तस्य भावो लिप्ततिक्तास्यता । तन्द्रा निद्रावत्क्लान्तिः । मोहो मूर्च्छा । एतानि लिङ्गानि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि, तेनान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि । यथा--'तथा स्तम्भश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्तनम्'-इति ॥ १७ ॥

सरोजव्याख्या—लिप्ततिक्तास्यता--अर्थात् श्लेष्मा से लिप्त एवं पित्त से तिक्त (कड़ुवा) जिसका मुख हो, उसे लिप्ततिक्तास्यता कहेंगे । तन्द्रा—निद्रा की तरह

क्लान्ति, मोह-मूर्च्छा—ये उपर्युक्त लक्षण प्रायः मिलते हैं, इसलिये इनका निर्देश माधव ने किया है। इसके अतिरिक्त चरकोक्त अन्य लक्षण द्रष्टव्य हैं। यथा—स्तम्भ, स्वेद तथा वमन के साथ कफ एव पित्त की प्रवृत्ति।

तन्द्रा का लक्षण—

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ (सु० ४।४४)

अर्थात् इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयों का ग्रहण न होना, शरीर का भारीपन, जम्भाई तथा थकावट प्रतीत हो तथा निद्रा से पीड़ित की भाँति जिसकी चेष्टा हो, उसको 'तन्द्रा' कहना चाहिये॥ १७॥

सन्निपातज्वर-लक्षण

क्षणे दाह क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने॥ १८॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः॥ १९॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥ २०॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः॥ २१॥
कृशत्वं नातिगात्रःणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्॥ २२॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः॥ २३॥

(च० चि० ३।१०३-१०९)

क्षण भर में दाह एवं क्षण भर में शीत का अनुभव, अस्थि-सन्धि-शिर में पीड़ा, नेत्रों का अश्रुपूर्ण-मलिन-लाल तथा धँसा होना, कानों में सांय-सांय शब्द तथा पीड़ा होना, गले में यव-शूक भरे रहने के समान अनुभव होना, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वा का जली हुई एवं खुरदरी होना, अङ्गों की बहुत अधिक शिथिलता, रक्त-पित्त एवं कफ मिश्रित ष्ठीवन, शिर को हिलाते रहना, तृष्णा, निद्रा-नाश, हृदय में पीड़ा, स्वेद-मूत्र एवं पुरीष का देर से एवं अल्प मात्रा में निकलना, शरीर का अत्यधिक कृश न होना, कण्ठ में निरन्तर घुरघुराहट होना, सम्पूर्ण शरीर पर श्याम एवं लाल रंग के चकत्तों का निकलना, रोगी का मूक (बोलने में असमर्थ) होना, स्रोतों (मुख-नासा-कर्ण) आदि में पाक हो जाना, उदर में भारीपन तथा दोषों का परिपाक विलम्ब से होना सन्निपातिक ज्वर का लक्षण है॥ १८-२३॥

सान्निपातिकज्वरलक्षणमाह—क्षणे दाह इत्यादि। रुजा शूलम्, अस्थ्या-

दिभिः सम्बध्यते। सास्रावे साश्रुणी। कलुषे आविलवर्णे। निर्गता भुग्नता संकुचितता ययोस्ते निर्भुग्ने, 'बिस्फारिते इत्यर्थः' इति जेज्जटः,' अन्तः-प्रविष्टे'—इत्यन्ये, 'अतिकुटिले'—इति चक्रः। शूकैः शूकशिम्बि (म्बा) धान्यादेः। परिदग्धा दग्धवत्कृष्णवर्णा। खरस्पर्शा खरो गोजिह्वावत् स्पर्शो यस्यां सा तथा। स्रस्ताङ्गता निःसहायावयवता। ष्ठीवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम्। शिरसो लोठनमितस्ततश्चालनम्। कृशत्वं नाति-गात्राणां दोषपूर्णत्वेन। प्रततं निरन्तरम्। कोठो भालुकितन्त्रे पठितः। तथ्या—'वरटीदष्टसंकाशः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्। क्षणिकोत्पाद-विनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः'—इति। मूकत्वं मन्दवचनता, अवच-नता वा। गुरुत्वमुदरस्य च उदरगौरवम्, चिरात् पाकश्च दोषाणामिति अतिसामतारब्धत्वेन। चकारादन्यान्यपि बोद्धव्यानि। यदाह वाग्भटः—'तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽथवा न वा॥ गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्'—(अ. हृ. नि. २।२७-२८) इति। एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु मध्ये स्वमानाद् वृद्धैर्दोषस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य चरकेण पठितम्; द्व्युल्बणादीनां च द्वादशानां लक्षणं तत्रैव द्रष्टव्यम्। तथा च काश्मीरपाठे चरकः—

'भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्।
वातपित्तोल्वणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे॥
शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहहृद्व्यथाः।
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः॥
छर्दिः शैत्य मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना।
मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे॥
सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः।
वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता॥
रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः।
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि॥
आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः।
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत्॥
प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्।
हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥
हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः।
हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम्॥
शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः।

हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥
शीतता गौरव तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक् ।
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ॥
वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ।
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥
श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् ।
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्' ॥

(च. चि. ३।९१-१०२) इति ।

विकृतौ नियमो नास्ति; तेन विकृतिविषमसमवायादनेकप्रकारा भवन्ति[1] । अतः सुश्रुतेनाप्यन्यादृशं सन्निपातलक्षणं पठितम्—

'नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तपेक्षी हतप्रभः ।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥
साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः ।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे ।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः' ॥

(सु. उ. ३९।३९-४१) इति ।

तथा मालुकितन्त्रे द्व्युल्बणैकोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम् । [2]तद्यथा—

'वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।
तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः ॥
आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः ।
पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥
अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते ।
तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः ॥
निष्ठीवेत् कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते ।
विड्भेदश्वासहिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः ॥

---

१. ''अस्याग्रे क पुस्तके—प्रकृतिसमवाये तु सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरलक्षणं ज्ञेयं; हीनमध्याधिकक्रमेण सन्निपाता एव षट्, द्व्युल्वणत्वेन त्रयः, एकोल्वणत्वेन त्रयः, समत्वेनैकः, एवं त्रयोदश प्रकृतौ' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

२. अस्याग्रे क पुस्तके—'वातः पित्ताधिकोऽयं प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे, श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत् कोपयेत् पित्तमन्तः सम्मूर्च्छर्यान्योन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम्' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

विभुफल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ ।
श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥

तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहः ।
शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः ॥

उदरं दह्यते चास्य कटिर्वस्तिश्च दूयते ।
सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः ॥

वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ।
तस्य [4]तृष्णाज्वरग्लानिपार्श्वरुग्दृष्टिसंक्षयाः ॥

पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः ।
सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥

निर्भिद्यते गुदं चास्य वस्तिश्च परिकृत्यते ।
आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥
मूर्च्छते स्फायते रौति नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः ।
पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥
तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च बर्धते ।
शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ ॥
ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः ।
विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥
नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते ।
स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते ॥
शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा दाहश्च वर्धते ।
असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥
नहि जीवत्यहोरात्रमेतेनाविष्टविग्रहः ।
कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥
तस्य शीतज्वरस्वप्नगौरवालस्यतन्द्रयः ।
छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृप्त्यरोचकहृद्ग्रहाः ॥
ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः ।
श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥
तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात् सोपद्रवं ज्वरम् ।
निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यते ॥
निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते ।
अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं न हि जीवति ॥

मेदोगतः सन्निपातः कफ्फणः स उदाहृतः ।
कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चायं प्रपद्यते ॥
मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत् ।
तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः ॥ इत्यादि ।

ननु, वातादयः परस्परं विशुद्धगुणाः; विरुद्धगुणानां च सम्भूयैककार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते, परस्परोपघातात्तुहिनदहनयोरिव; तत् कथं सान्निपातिकविकारोत्पत्तिरिति[1] ? अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन यथा—'विरुद्धैरपि

१. अस्याग्रे क पुस्तके तद्यथा—वातस्य शीतरूक्षादिगुणयुक्तस्य उष्णस्निग्धादिगुणयुक्तेन पित्तेन, तथा कफस्य गौरवस्निग्धात्मकस्योभाभ्यां विरोधः । 'तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम् । स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ॥ कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः । कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः' इति । किञ्च, मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा युगपदुत्पद्यन्ते, आहोस्वित्कालव्यवधानेन ? आद्ये समबलत्वेन तारतम्येन वा ? नाद्यः; सर्वेषां समबलत्वेन परस्परघातकानां युगपदुत्पत्तिर्न स्यात् । अथ भिन्नाश्रयतया साऽस्तु; तदपि न, कुपितानां सर्वदेहव्याधित्वेन परस्परसंबन्धात् । यदुक्तं—'व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्' इति । किंच ज्वरोत्पत्तौ तावत् कुपितानामामाशयगतानां रसदूषकाणां ज्वरोत्पादकत्वं, तन्मिलितानामेव स्याद्यथादृष्टेनेति । न द्वितीयः, पूर्वदोषाधिकत्वात् । किंच तारतम्येनोत्पत्तौ मूषकमार्जारवद्विरोधे प्रागेव तेन प्रबलेन दुर्बलाघातः सुकरः; दृश्यते च मात्स्यो न्यायः ।

अथ युगपदुत्पादका आहारादयो न भवन्ति; तत्र युगपदुत्पादकद्रव्यमेकमनेकं वा ? तस्य पाञ्चभौतिकत्वेन विरुद्धगुणाधिकार(करण)स्य त्रिदोषोत्पादकत्वं न स्यात् । अस्तु वाऽविचारितरमणीयम् । एकमेवाभ्यवह्रीयत इति कथम् ? अस्तु वा साधकत्वेन सहकारिणि द्रव्याभ्यवहारे तस्य विरुद्धगुणवत्त्वेन दोषान्तरघातकत्वेनानुत्पत्तिः तदवस्थतयैव जायमानः केवलैकदोषजो न संसर्गसन्निपातजो ज्वर इति । अथादृष्टाधीनत्वेन सहकारिणो भावे (संभवे) एकाभ्यवहारे सन्निपातः, तर्हि सर्वेषां समबलत्वेनेत्यत्रोक्तदोषः स्यात् । अथानेकद्रव्याणामभ्यवहारे त्रिदोषप्रकोपणं न संभवति । तत्र तुल्यानामेवाभ्यवहारः कथम् ? यतो भिन्नरुचित्वात् । यथारुच्यभ्यवहारे तारतम्यसंबन्धात् । तारतम्येनैव भवति प्रकोपो न युगपदिति प्रतिज्ञाहानिः । अत्राप्यदृष्टाधीनत्वात्तुल्याभ्यवहारे प्रतिघातकत्वाभावेऽपि; यौगपद्यं, तर्हि स एव दोषः । अथ कालव्यवधानेन, तत्र पूर्वस्मादुत्तरस्य भिन्नः कालो भवेत्; समबलो वा न्यूनाधिकबलो वा ? नाद्यः, उपसञ्जातविरोधित्वेनोत्पत्तुमेव न शक्नोति । न द्वितीयः, न्यूनबलत्वेन पूर्वप्रबलेनैव विनाशितत्वात्, अकिञ्चित्करत्वाच्च । न तृतीयः, विचारासहत्वात् । तत्र वक्तव्यमधिकबलत्वमुत्पत्तेः पूर्वं पश्चाद्वा ? नाद्यः, अनुत्पन्नस्याधिक्याभावात् । अधिकत्वं धर्मः, स तु सति धर्मिणि चिन्त्यः । अथ पश्चात् ? तन्न, उत्पत्त्यधिके अधिकेन घातस्योपसंजातविरोधिन उत्पत्तिरेव न, कुतोऽधिकत्वम् । अत्राप्यधिकत्वं न सम्भवति । तस्माद्विरुद्धगुणानां सम्भूय कर्तृत्वं घटघटाभावयोरिव घटघटप्रध्वंसयोरिव सदावस्थायित्वं नास्ति दहनतुहिनवत् ?

अत्रोच्यते—सर्वे विकल्पा अनङ्गीकारपाशहताः, सन्निपातस्तु स्यादेव, मिथ्याहारादिना कुपिता दोषा युगपत् कालव्यवधानेन वा समबलत्वेन तारतम्येन वा परस्परविरुद्धा अपि स्वस्थानादामाशयमागत्य रसं दूषयित्वा द्वन्द्वसन्निपातोत्पादका भवन्ति, उक्तं च—मिथ्याहारेत्यादि । कालव्यवधानेनोत्पन्नानामपि कालान्तरेण यौगपद्यमेव भवतीति न कदा (का) चिदनुपपत्तिः । ननु, कथमादिपश्चाद्भावेनोत्पन्नानां यौगपद्यमिति चेत् ? तन्न; दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तेः । तदुक्तं—'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत् । एकः प्रशमितो दोषः सर्वान् दोषान्निवारयेत्' इति । तथा च चरकः—'कश्चिद्धि रोगो

न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्धोरं विषमहीनिव' इति (च. चि. २६।२९३) एतच्चान्ये दूषयन्ति—सहजत्वादित्यनैकान्तिकं, यतः सहजानपि धातून् दोषा उपघ्नन्ति; सात्म्यत्वादित्यपि साध्याविशिष्टं, यतः सात्म्यत्वमबाधकत्वं, तदेव च दोषाणामिह साध्यम् ? अत्रोच्यते—दोषा नोपघ्नन्तीति कोऽयमनुपघातः साध्यते ? विकृतेरकारकत्वं वा ? अविनाशकत्वं वा ? नाद्यः, दोषाणां परस्परं विकृतिकर्तृत्वात्। यथोक्तं चरके—'विशोषयेद् वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा। यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव[1] रोचना गोः' इति (च. चि. २६।३६)। तथा चोक्तं वाग्भटेन—'सश्लेष्मभेदः पवनः साममत्यर्थसञ्चितम्। अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते ॥ सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च। तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ' (वा. नि. १५) इति। अविनाशकत्वं तु विद्यत एव, धातुदोषयोः परस्परं च दोषाणां सर्वथोच्छेदप्रतिपादकागमाभावात्, मरणप्रसङ्गात्; दोषाणामपि देहधारकत्वात्; तस्मात् सर्वथोच्छेदनिरासाभिप्रायेणैव दृढबलवचनमिह द्रष्टव्यं; ततः कुतोऽनैकान्तिकता। न चैवं सति विषस्य विषादकर्तृत्वेन दृष्टान्तविफलत्वं, विषस्य विषादादवान्तरव्यापारस्य[2] प्राणविनाशकत्वात्; न च सर्वात्मना दृष्टान्तो भवतीति। सात्म्यत्वादित्यस्यायमर्थः—सात्म्यत्वेन प्रतीयमानत्वात्। दोषाः परस्परं नोपघ्नन्ति, अनुपघातकत्वेन प्रतीयमानत्वात्; यद्यथा प्रतीयते तत्तथा निर्दिश्यते, यथाऽग्निकार्यो धूमोऽग्निकार्यत्वेनेति तत् कुतः साध्याविशिष्टत्व-

---

रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति'—इति। अत्र रुजाकरत्वाद्दोषोऽपि रोग इति टीकाकृतो व्याचक्षते, 'विकृतो दोषो रोग' इति समुदायसमुदायिनोरभेदवादिनां मतं पूर्वमेवोक्तम्। अन्यच्च तथा—'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च' इति। विकृतानां घातकत्वं रोगरूपेणैव भवति, या विकृतिः स एव रोग इति न दोषरोगयोर्भेदः। अस्तु वा भेदः, मिलितैर्दोषै रोगः क्रियत इति। कथञ्चिदपि एकानेकद्रव्याभ्यवहारे सहकारिणो दैवात् त्रयाणां प्रकोपो भवत्येव। उक्तं च—'दृष्टापराधजः कश्चित् कश्चित्पूर्वापराधजः। तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः' इति, तथा—'पित्तक्षोभे तिलाभ्यङ्गो रात्रौ च दधिभोजनम्। अनिद्रा मैथुनं यस्य सन्निपातो भवेद् ध्रुवम्' इति। ननु, दोषाणां बाध्यबाधकभावेनादिपश्चाद्भावेनोत्पत्तिर्दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्वा न सम्भवतीत्यनुपदमेवोक्तम्' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते।

१. अस्याग्रे क पुस्तके—'न द्वितीयः दोषादोषान्तरोत्पत्तिर्दर्शितैवानुपदम् 'एकः प्रकुपितो दोष'' इत्यादिना, अतो दोषस्त देशान्तरविल(ग)ति (?) कारणत्वादन्य एवानुपघातः' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते।

२. अस्याग्रे क. पुस्तके 'अतः सात्म्यत्वात् सहजत्वादविरोधित्वमिति यदुक्तमनैकान्तिकत्वं तन्न, उपघातशब्दस्य न्यूनाधिकपर्यायविरोधित्वात्। आहार दोषा उपघ्नन्तीति दूष्यरसधातुदूषकत्वं दोषाणां; तच्च रसदूष्यप्रकृत्यन्यथापादकत्वं नान्यदिति कुतो नाशः। साध्याविशिष्टता तु निरस्ता स्पष्टतरा' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते।

मिति। चक्रस्तु सहजसात्म्यत्वादित्येकमेव हेतुं व्याख्यातवान्—सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वमिति। दृढबलोक्तहेतुद्वयास्वरसेन गयदासस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्, 'दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके। विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्' इति संक्षेपः ॥ १८-२३ ॥

सरोज व्याख्या—'रुजा' का अर्थ शूल होता है। शूल अस्थि, सन्धि और शिर में होता है। सास्रावे—अर्थात् नेत्र अश्रुयुक्त होते हैं। कलुष आविल वर्ण (गन्दा) को कहा जाता है। निर्भुग्ने—जिसमें भुग्नता अर्थात् संकुचित होने का सामर्थ्य न हो, इसका अर्थ नेत्र का विस्फारित होना है। ऐसा जेज्जट का कथन है। अन्य लोग निर्भुग्ने का अर्थ नेत्र का अन्तः प्रविष्ट होना करते हैं। अर्थात् नेत्र अन्दर की तरफ हो जाता है। आचार्य चक्रपाणि ने 'निर्भुग्ने' का अर्थ 'अतिकुटिल' किया है। नेत्र का सिकुड़कर टेढ़ा होना अभिप्राय है। शुकैः—शुकशिम्बी अर्थात् ऐसे शिम्बी धान्य जिसमें शूक (टूड़) होते हैं। गले में शूक (अंकुर) निकलने जैसा मालूम होना। परिदग्धा—जिह्वा जली हुई कृष्ण वर्ण की हो जाती है। खर-स्पर्शा—जिह्वा गाय की जिह्वा के सदृश स्पर्श में खर (खुरदरी) हो जाती है। स्रस्ताङ्गता—निःसहाय की तरह हो जाना। ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य—मुख के द्वारा कफ के साथ थोड़ा रक्त एवं पित्त का निकलना। शिरसो लोठनम्—शिर का इधर-उधर चलाना (घुमाना), । कृशत्वं नातिगात्राणाम्—दोष पूर्ण होने से शरीर का अधिक पतला न होना। प्रततं—निरन्तर गले में कबूतर के शब्द के समान घुरघुराहट। कोठ का लक्षण भालुकितन्त्र में कहा गया है—

वरटीदष्टसंकाशः कण्डूमाँल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्।
क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः॥

अर्थात् रक्त, कफ एवं पित्त के प्रकोप से शरीर पर वरटी (ततैया) के दंश के समान लाल रंग के खुजलीयुक्त चकत्ते हो जाते हैं, जो क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहते हैं।

मूकत्वं—रोगी कम बोलता है। गुरुत्वमुदरस्य—उदर का भारीपन। चिरात् पाकश्च दोषाणाम्—अत्यधिक समता होने के कारण दोषपाक बिलम्ब से होता है। चकार से अन्य लक्षण द्रष्टव्य हैं—रोगी को बार-बार शीत होता है, दिन में गहरी निद्रा तथा रात्रि में जागरण अथवा दिन-रात निद्रा अथवा निद्रा का सर्वथा अभाव, स्वेद अत्यधिक आता है, अथवा आता ही नहीं। गाना, नाचना तथा हंसना आदि विकृत चेष्टाओं की प्रवृत्ति होती है। (अ० हृ० नि० २।२७-२८)

चरक ने यह लक्षण तेरह सन्निपातों में से स्वभाव (तुल्यरूप) से वृद्ध दोष से उत्पन्न ज्वर का कहा है। द्व्युल्वण एकोल्वण आदि द्वादश सन्निपातों का लक्षण(चरक सूत्र १७।४४-६१) में द्रष्टव्य है। काश्मीर पाठ चरक में निम्नलिखित लक्षण हैं—

विभिन्न सन्निपातज ज्वर एवं उनके लक्षण

सन्निपातज ज्वर के बारह भेद	विभिन्न सन्निपात ज्वर के लक्षण
१. वातपित्तोल्वण तथा हीनकफ	भ्रम, प्यास, दाह, शरीर का भारीपन एवं शिर में पीड़ा।
२. वातश्लेष्मोल्वण तथा हीनपित्त	शीत, खाँसी, अरुचि, तन्द्रा, पिपासा, दाह एवं हृदय-व्यथा।
३. पित्तकफोल्वण तथा हीनवात	वमन, शीत, बार-बार दाह एवं तृष्णा, मोह एवं अस्थियों में पीड़ा।
४. वातोल्वण हीनपित्त एवं हीनकफ	सन्धि-अस्थि-शिर में शूल, प्रलाप, गौरव, भ्रम- तृष्णा, कण्ठ एवं मुख में शुष्कता।
५. पित्तोल्वण हीनवात एवं हीनकफ	मल-मूत्र लाल वर्ण का, दाह, पसीना, तृष्णा, बलक्षय एवं मूर्च्छा।
६. कफोल्वण, हीनवात एवं हीनपित्त	आलस्य, अरुचि, मिचली, दाह, वमन, बेचैनी, भ्रम, तन्द्रा एवं खाँसी।
७. हीनवात, मध्यपित्त एवं श्लेष्माधिक	प्रतिश्याय, छर्दि, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि एवं अग्निमान्द्य।
८. हीनवात, मध्यकफ एवं पित्ताधिक	मूत्र एवं नेत्र हारिद्रवर्ण, दाह, तृष्णा, भ्रम एवं अरुचि।
९. हीनपित्त, मध्यकफ एवं वाताधिक	शिर में पीड़ा, कम्पन, श्वास, प्रलाप, छर्दि एवं अरोचक।
१०. हीनपित्त, मध्यवात एवं कफाधिक	शीत, गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थि एवं शिर में वेदना।
११. हीनकफ, मध्यवात एवं पित्ताधिक	पतला दस्त, अग्निदौर्बल्य, तृष्णा, दाह, अरुचि एवं भ्रम।
१२. हीनकफ, मध्यपित्त एवं वाताधिक	श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखशोष एवं तीव्र पार्श्वशूल।

वस्तुतः दोषों की विकृति का कोई नियम नहीं होता। विकृतिविषमसमवायजन्य अनेक भेद हो सकते हैं। अतएव सुश्रुत ने सन्निपात ज्वर का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है—रोगी न बहुत उष्ण, न बहुत शीत स्पर्श में होता है। अर्ध चैतन्यावस्था में रहता है। भ्रान्तापेक्षी—सभी पदार्थों को गलत ढंग से देखता है, स्वर नष्ट हो गया हो, जिह्वा खुरदरी हो, कण्ठ सूख गया हो, पसीना-मल-मूत्र की प्रवृति सब रुक जाते हैं, आँखों में आँसू भरे हों, हृदय बैठ रहा हो, भोजन से द्वेष हो, प्रभा क्षीण हो गयी हो, श्वास लेते हुए गिर जाता हो, प्रलाप आदि उपद्रव से युक्त हो, ऐसे लक्षण वाले ज्वर को 'अभिन्यास ज्वर' कहते हैं। अन्य आचार्यों ने इसे 'हतौजस ज्वर' कहा है। इस प्रकार सन्निपात ज्वर को कृच्छ्रसाध्य माना गया है। अन्य आचार्यों ने इसे असाध्य कहा है।

मालुकि तन्त्र में द्व्युल्वणैकोल्वणादि सन्निपात ज्वर का लक्षण निम्नलिखित ढंग से कहा गया है—

१. जिस रोगी में वातपित्ताधिक सन्निपात का प्रकोप होता है, उसको ज्वर, अङ्गमर्द, तृष्णा, तालुशोष, प्रमीलक, आध्मान, तन्द्रा, अरुचि, श्वास, कास, भ्रम और श्रम लक्षण पैदा हो जाता है।

२. जिसमें पित्तश्लेष्माधिक सन्निपात का प्रकोप होता है, उसे अन्तर्दाह, बाहर से शीत एवं तन्द्रा बाधित (पीड़ित) करते हैं, दक्षिणपार्श्व में तोद (सूई चुभने जैसी पीड़ा), छाती, शीर्ष (सिर) एवं गले में जकड़न, कफ के साथ कफ एवं पित्त का निकलना, तृष्णा, खुजली विड्भेद (मल का पतला होना), श्वास, हिक्का तथा प्रमीलक लक्षण मिलते हैं।

इन दोनों सन्निपातों को विधु एवं फल्गु कहा जाता है। अर्थात् प्रथम को विधु एवं द्वितीय को फल्गु कहा जाता है।

३. जिसमें श्लेष्मवातोल्वण सन्निपात का प्रकोप होता है, उसे शीतज्वर, निद्रा, भूख, प्यास, पार्श्वनिग्रह, शिर का भारी होना, आलस्य, मन्यास्तम्भ, प्रमीलक, उदर में दाह, कटि एवं वस्ति में वेदना होती है। इस दारुण सन्निपात को 'मकरी' कहते हैं।

४. जिसमें वातोल्वण सन्निपात का प्रकोप होता है, उसे तृष्णा, ज्वर, ग्लानि, पार्श्वरुक्, दृष्टिसंक्षय (दृष्टिनाश), पिण्डिकोद्वेष्टन, दाह, उरुसाद (जाँघ में शिथिलता), बलक्षय, मल-मूत्र के साथ रक्त की प्रवृत्ति, शूल, निद्रा का न आना, गुदा का फटता हुआ मालूम होना एवं वस्ति में काटने जैसी पीड़ा, अङ्ग-प्रत्यङ्ग का टूटना, हिचकी आना, विलाप करना, मूर्च्छा एवं चिल्लाना लक्षण मिलता है। इस सन्निपात को 'विस्फुरक' कहते हैं।

५. जिसमें पित्तोल्वण सन्निपात का प्रकोप होता है, उसे दाह एवं ज्वर अत्यधिक बहिर्दाह के साथ होता है। इस अवस्था में शीतल पदार्थों का सेवन करने पर कफ एवं वायु प्रकुपित हो जाते हैं, जिससे हिक्का, श्वास, प्रमीलक, विसूचिका, पर्वभेद (सन्धियों में वेदना), प्रलाप, भारीपन, क्लम, नाभि एवं पार्श्व में पीड़ा तथा पसीना होता है। पसीने के साथ-साथ स्रोतों से रक्त निकलता है। शूल से पीड़ित होने पर तृष्णा एवं दाह बढ़ जाते हैं। इस असाध्य सन्निपात को शीघ्रकारी कहा जाता है। इससे आक्रान्त रोगी चौबीस घण्टों में मृत्यु को प्राप्त होता है।

६. जिसमें कफोल्वण सन्निपात का प्रकोप होता है, उसे शीत ज्वर, निद्रा, भारीपन, आलस्य, तन्द्रा, छर्दि, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह, तृप्ति, अरुचि, हृदय में जकड़ाहट, बार-बार थूकने की प्रवृत्ति, मुख में माधुर्य, सुनने-बोलने एवं देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि चिकित्सक ऐसी स्थिति में कफ को रोकने का प्रयास करता है, तो पित्त प्रकुपित होकर उपद्रवयुक्त ज्वर को पैदा कर देता है। पित्त को रोकने पर वायु प्रकुपित हो जाती है। इस अवस्था में यदि रोगी लंघन करता है, तो बढ़ा हुआ वायु मेद, मज्जा एवं अस्थि को पीड़ित करता है। यदि रोगी स्नान एवं भोजन करता है, तो तीन दिन से अधिक नहीं जी सकता।

यह सन्निपात मेदोगत होता है। इसे 'कफफण' कहा जाता है। प्रायः यह सन्निपात काम, मोह, लोभ एवं मद से पैदा होता है।

दोषों की मध्य-हीन एवं अधिक (उल्वण) अवस्था से जब सन्निपात होता है, तो प्रायः दोष के बल के अनुसार रोग होता है।

सन्निपात—अब प्रश्न उठता है कि वातादि दोष परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, विरुद्ध गुण वाले मिलकर एक कार्य नहीं कर सकते। जल एवं अग्नि के समान परस्पर विरुद्ध गुण वाले दोषों के योग से सन्निपात की उत्पत्ति किस प्रकार होगी? इसका समाधान करते हुए दृढ़बल ने कहा है—

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषमहीनिव ॥ (च० चि० २६।२६३)

अर्थात् जिस प्रकार भयङ्कर विष सर्प के शरीर में रहते हुए भी सर्प को नष्ट नहीं करता है, उसी प्रकार जन्मकाल से ही एक साथ रहने के कारण सात्म्य (अनुकूल) हुए ये वातादि दोष गुण में विरुद्ध होते हुए भी परस्पर एक दूसरे के गुण को नष्ट नहीं करते। अन्य लोग इस युक्ति को दूषित मानते हैं। उनके विचार से सहज हेतु अनैकान्तिक हैं, क्योंकि शरीरस्थ दोष शरीर की सहज धातुओं का विनाश करते हैं। सात्म्यवाद भी साध्यावशिष्ट होता है, क्योंकि सात्म्यत्व का अर्थ अबाधकत्व होता है। यही दोषों का अबाधकत्व सिद्ध करता है।

यहाँ पर 'दोषा नोपघ्नन्ति' अर्थात् दोष परस्पर उपघात नहीं करते, अनुपघात से क्या अर्थ किया जाय? विकृति न करना अथवा विनाश न करना। इसमें प्रथम पक्ष 'विकृति न करना' उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि दोष परस्पर एक दूसरे को विकृत करते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है—विकृत वायु वस्ति में पहुँच कर वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त एवं कफ को सुखाकर अश्मरी उत्पन्न कर देता है (च० चि० २६)। इसी प्रकार वाग्भट्ट ने ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति में कहा है—कफ एवं मेदोयुक्त वायु पित्त को अभिभूत (क्षीण) करके अत्यन्त सञ्चित सामदोष ऊरु स्थान में पहुँच जाता है और तब वही सक्थि की अस्थियों को मन्दगामी कफ द्वारा भीतर पूर्ण करके स्तब्ध कर देता है। इससे ऊरु स्तब्ध हो जाते हैं और शीतल, चेतनाहीन भी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे दूसरे के हों (अ.हृ.नि. १५।४८-४९)।

अविनाशकत्व भाव द्वितीय पक्ष पाया जाता है। धातु और दोषों के परस्पर संघर्ष में दोषों द्वारा धातुओं का सर्वथोच्छेदन (पूर्णनाश) का शास्त्र में कहीं उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। यदि ये एक दूसरे का समूल नाश कर दें, तो रोगी की मृत्यु का प्रसङ्ग हो जायगा, अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जायगी, क्योंकि दोष भी शरीर के धारक हैं। इसलिए दोषों द्वारा सर्वथोच्छेद (पूर्णनाश) के निरास के अभिप्राय से ही दृढ़बल का कथन द्रष्टव्य है। इससे अनैकान्तिकता दोष की सम्भावना वहाँ रहती है?

विष के विषादकारक होने से सर्पों में भी विषाद पैदा होता है, इसलिए यह दृष्टान्त विफल नहीं हो सकता। विष का विषाद के अतिरिक्त प्राणविनाशक व्यापार भी पाया जाता है, किन्तु यह प्राणविनाशक प्रभाव (गुण) सर्पों पर लागू नहीं होता। सात्म्यत्वात् का अर्थ है—जो सात्म्यभाव से प्रतीत होता हो। अनुपघातक रूप में प्रतीत होने से दोष परस्पर उपघात नहीं करते, अतः जो जैसा प्रतीत होता है, वैसा ही उसका निर्देश किया जाता है। जैसे धूम अग्नि का कार्य होने से धूम को अग्नि का कार्य कहा जाता है।

चक्रपाणि ने 'सहजसात्म्यत्वात्' से एक ही हेतु माना है और उसकी व्याख्या की है—'सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वम्' अर्थात् दोष का सात्म्यत्व स्वाभाविक है।

दृढ़बल के इन दोनों हेतुओं में कमी देखकर गयदास ने कहा है—

> दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके।
> विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्॥

अर्थात् दैवयोग या दोषों के स्वभाव से तथा परस्पर विरुद्ध गुणता के कारण दोषों का परस्पर उपघात नहीं होता॥ २३॥

सन्निपात ज्वर का असाध्य लक्षण

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥
(च० चि० ३।१०९-११०)

दोषों के विबद्ध (बाह्य प्रवृत्ति का अभाव) होने, जाठराग्नि के नष्ट होने एवं सभी लक्षणों के पूर्ण होने पर सान्निपातिक ज्वर असाध्य होता है । उपर्युक्त लक्षणों में कुछ कमी हो, तो सन्निपात ज्वर असाध्य होता है ॥ २४ ॥

तस्य सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—दोषे विबद्ध इत्यादि । दोषो मलं पित्तादिश्च; जेज्जटस्तु मलमेवाह, विबद्ध इति वचनात् । नष्टाग्नित्वमाहारापाकगम्यम् । यदुक्तं चरके—'अग्निं जरणशक्त्या' (च. नि. ४) इति । असाध्यकृच्छ्रसाध्याभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम् । उक्तं हि चरके—'सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्' (च. सू. २५) इति । तथा भालुकिः—'मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता' इति । सर्वसम्पूर्णलक्षण इति । सर्वाणि समग्राणि, सम्पूर्णानि बलीयांसि, लक्षणानि यस्य स तथा ॥ ॥ २४ ॥

सरोज व्याख्या—दोष शब्द से मल-मूत्रादि तथा वातादि दोष जानना चाहिए । आचार्य जेज्जट ने विवद्ध शब्द का प्रयोग होने से दोष शब्द से मल ही कहा है । आहार पाचन न होना अग्नि के नष्ट (हीन) होने का प्रतीक है । जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—आहार की पाचन क्रिया के अनुसार अग्नि शक्ति का अनुमान करना चाहिए । असाध्य एवं कृच्छ्रसाध्य का उल्लेख होने से ऐसा समझना चाहिए कि सन्निपात ज्वर सुखसाध्य कभी नहीं होता । चरक ने सन्निपात को दुश्चिकित्स्य कहा है (च० सू० २५) । भालुकि ने कहा है कि सन्निपात की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को मृत्यु के साथ युद्ध करना होता है । अर्थात् सन्निपात मृत्यु के समान होता है । सर्व सम्पूर्ण लक्षणों से समग्र एवं बलबान् लक्षण समझना चाहिए ॥ २४ ॥

सन्निपात ज्वर की काल-मर्यादा

[सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि या ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ १ ॥
(सु. उ. ३९।४५-२, ४६-१)

सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ २ ॥]
(अ० हृ० नि० २।६२-२, ६३-१)

सन्निपात ज्वर सातवें, दसवें अथवा बारहवें दिन और भी बढ़कर शान्त हो जाता है, अथवा रोगी को मार डालता है ॥

त्रिदोष ज्वर जब पुनरावृत्त हो जाता है, तब सात दिन वाला चौदह दिन, नौ दिन वाल- अठारह दिन एवं ग्यारह दिन वाला बाईस दिन रहता है। यह त्रिदोष की मर्यादा है। इसमें या तो रोगी स्वस्थ हो जाता है अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥

सरोज व्याख्या—आतंकदर्पणकार ने लिखा है—

पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् ।
हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥

अर्थात् पित्तप्रधान त्रिदोषज ज्वर दसवें दिन, कफप्रधान बारहवें दिन एवं वातप्रधान सातवें दिन शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है। ऐसी अवस्था में यदि दोष (मल) पाक हो जाय, तो रोगी बच जाता है और धातु-पाक होने पर रोगी मर जाता है। धातुपाक लक्षण तन्त्रान्तर ग्रन्थों में निम्न-लिखित है·—

सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजान्वितेषु ।
पक्वेषु वा तेषु रुजाज्वरार्तः स धातुपाको कथितो भिषग्भिः ॥

अर्थात् धातुपाक होने पर हृदय, नाभिप्रदेश और सम्पूर्ण शरीर में अत्यन्त वेदना होगी। अथवा उन पाकों में ज्वर से पीड़ा होती है।

धातुपाक का अन्य लक्षण—

निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची ।
अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥
नाभेरूर्ध्वं हृदोऽधस्तात् पीडिते चेद् व्यथा भवेत् ।
धातोः पाकं विजानीयात् अन्यथा तु मलस्य च ॥

निराम ज्वर का लक्षण ही दोषपाक लक्षण होता है, जो आगे बतलाया गया है ॥

सन्निपात ज्वर का उपद्रव

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

(च. चि. ३।२८७-२, २८८-३)

सन्निपातिक ज्वर के अन्त में कर्णमूल में दुःखदायक शोथ (Parotitis) हो जाने पर कोई ही रोगी बच पाता है। अन्यथा प्रायः मर जाते हैं ॥ २५ ॥

सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—सन्निपातेत्यादि ॥ २५ ॥

सरोज व्याख्या—सन्निपात ज्वर के समाप्त होने पर सन्निपात से क्षीण रोगियों के कर्णमूल में कष्टतम रागरुजादि युक्त शोफ हो जाता है। कर्णमूलिक शोथ (Mumps) से यह भिन्न होता है। 'कश्चिदेव प्रमुच्यते' के दो अर्थ किये

जाते हैं—१. जिसको यह हो जाता है, उससे कोई रोगी नहीं बच पाता है, प्रायः सभी रोगी मर जाते हैं—ऐसा अर्थ आतंकदर्पणकार ने किया है। २. ऐसे बहुत कम रोगी हैं, जिनको यह शोथ न होता हो। भावमिश्र ने कहा है—

ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमादसाध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यः मुनिभिः प्रदिष्टः॥

अर्थात् सन्निपात ज्वर के आरम्भ में होने वाला कर्णमूल शोथ असाध्य, मध्य में होने वाला कृच्छ्रसाध्य एवं अन्त में होने वाला सुखसाध्य होता है।

अभिन्यास ज्वर (Meningo-encephalitis)

[त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः।
आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः॥ १॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम्।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काञ्चिदीहते॥ २॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न घ्राणं न च सस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते॥ ३॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते॥ ४॥
अल्पं प्रभाषते किञ्चिदभिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिद्ध्यति॥ ५॥]

सम्प्राप्ति—वातादि तीनों दोष कुपित होकर उरःस्रोत-वक्षःस्थल (फुफ्फुस एवं हृदय) में अनुगमन करते हुए आमदोष की अत्यधिक वृद्धि से ग्रथित (परस्पर गुँथना) होकर बुद्धि, इन्द्रिय एवं मन को प्रभावित कर अत्यन्त भयानक एवं बलवान् अभिन्यास नामक ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण—सुनने एवं देखने की शक्ति का ह्रास, शारीरिक, मानसिक चेष्टाओं का विनाश, रोगी की दृष्टि देखने में असमर्थ तथा गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ज्ञान नहीं होता। रोगी सिर को इधर-उधर घुमाता रहता है, भोजन की इच्छा नहीं होती, कबूतर के समान घुर्घुर शब्द करता है, उसके शरीर में सूई चुभने सी पीड़ा होती है, रोगी बार-बार करवट बदलना चाहता है, बहुत ही कम बोल पाता है। इस भयंकर ज्वर को अभिन्यास ज्वर कहा जाता है। यह प्रायः असाध्य होता है, इससे पीड़ित कोई ही रोगी बच पाता है॥

आगन्तुक ज्वर

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं विभावयेत्॥ २६॥

अभिघात (चोट), अभिचार (मन्त्रतन्त्रादि द्वारा मारणप्रयोग), अभिशाप (ब्रह्मर्षि-गुरु सिद्ध का आक्रोश) एवं अभिषङ्ग (काम-शोक-भय एवं क्रोध अथवा भूतों का आवेश) से आगन्तुक ज्वर होता है। इनमें भी लक्षणों के साथ-साथ दोषों के भी लक्षण मिलते हैं ॥ २६ ॥

विषजन्य ज्वर

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥ २७ ॥

विषजन्य ज्वर में चेहरे पर कालापन, अतिसार, भोजन में अरुचि, प्यास, सूइयों के चुभने सी पीड़ा और मूर्च्छा पायी जाती है ॥ २७ ॥

ओषधिगन्धज ज्वर

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः।

तीव्र औषधि के गन्ध से उत्पन्न ज्वर में मूर्च्छा, शिरःशूल, वमन एवं छींक आती है।

कामज्वर

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥
हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति।

कामज ज्वर में चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, भोजन की अनिच्छा, हृदय में वेदना एवं शरीर सूखता जाता है।

भयादिजन्य आगन्तुक ज्वर

भयात् प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् ।

(सु. उ. तं ३९)

भय एवं शोक से उत्पन्न ज्वर में प्रलाप एवं क्रोध उत्पन्न ज्वर में कम्प होता है। अभिचार तथा अभिशाप से होने वाले ज्वर में मोह एवं तृष्णा होती है। भूताभिषङ्गज ज्वर में उद्वेग, कभी हँसना, कभी रोना एवं कम्पन होता है।

आगन्तुज्वरमाह—अभिघातेत्यादि। अभिघातोऽभिहननं शस्त्रलोष्टमुष्टि-लगुडादिभिः; अभिचारः श्येनादियागकृतः, अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लौहस्रुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः। अभिषङ्गः कामादीनां भूतानां च सम्बन्धः; यदुक्तं चरके—'कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो

यश्च भूताभिषङ्गजः' (च. चि. ३।१४४) इति। अभिशापो ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानामनिष्टाभिशंसनम्। तं चागन्तुज्वरं यथास्वं दोषैर्जानीयात्। यदुक्तम्—'कामशोकभयाद्वायुः' इत्यादि। अयं च दोषसम्बन्धः पश्चाद्भावी न त्वारम्भक इति सम्प्राप्त्यवसरे निरूपितम्। श्यावास्यतेत्यादि। श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः; श्यामवर्ण इत्यन्ये। विषकृते स्थावरविषभक्षणादिकृते; अतीसारः तद्विषस्याधोगत्वात्। ओषधिगन्धज इति तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे, 'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः' (सू. उ. अ. २९) इत्यादिना वृद्धसुश्रुतेन पठितं तृणपुष्याख्यं ज्वरमत्रैवान्तर्भावयन्ति। कामज इत्यादि अभिमतकामिन्यप्राप्तिनिमित्ते। चित्तविभ्रंशो भ्रमादिः। यदाह वाग्भटः—'कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः' (अ. हृ. नि. २।४२) इति।

भयादिति भयाज्जाते ज्वरे। एव शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यं; शोकात् प्रलाप इति सम्बन्धः; प्रलापश्चात्र वातकार्यः, तस्य वातपित्तकार्यत्वात्। (विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति) उक्तं च—'कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात् पित्तं त्रयो मलाः' (च. चि. ३।११५) इत्यादि। यद्येवं तत् कुतः क्रोधजे वेपथुः ? तस्य वातकार्यत्वात्। उच्यते— 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति वचनात् पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः, क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति, न हि दृष्टेरनुपपन्नं नामेति जेज्जटः। क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तद्युक्तम्। यदाह विदेहः— 'क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपणौ' इति। कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं समुच्चिनोति। यदाह वाग्भट—क्रोधात् कम्पः शिरोरुक् च, प्रलापो भयशोकजः' (अ. हृ. नि. २।४२)—इति। मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादिनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति। अभिचारेत्यादि। तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति। यदुक्तं हारीतार्थानुवादिना वाग्भटेन—'तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते। पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः॥ सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः' (अ. हृ. नि. २।४४-४५)—इति। भूताभिषङ्गादिति भूता देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः सम्बन्धः। उद्वेग उद्विग्नचित्तता॥ २६–२९॥

सरोज व्याख्या—शस्त्र, मिट्टी का ढ़ेला, मुक्का एवं लाठी आदि के प्रहार को अभिघात कहते हैं। श्येनादि यज्ञ द्वारा की गई क्रिया को अभिचार कहा जाता है अथवा विपरीत मन्त्रों द्वारा लोह के स्रुव से सरसों आदि द्रव्यों के हवन को अभिचार

कहते हैं। काम-क्रोध-शोक तथा भय आदि भूतादि (देवादिग्रह एवं जीवाणु) के के सम्बन्ध (आवेश) को अभिषङ्ग कहते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है—

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥ (च० चि० ३)

ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्ध के अनिष्ट अभिशंसन (चिन्तन) अथवा आक्रोश को अभिशाप कहा जाता है। उपर्युक्त चारों प्रकार के कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्वर को आगन्तुक ज्वर कहते हैं। इसमें लक्षणों के अनुसार दोषों को जानना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—"कामशोकभयाद् वायुः" अर्थात् काम-शोक-भय से वायु प्रकुपित होता है। इसलिए कामादि ज्वर में वायु का प्रकोप जानना चाहिए। आगन्तुक व्याधि में दोषों का सम्बन्ध (अनुबन्ध) रोग उत्पन्न होने के पश्चात् होता है, न कि दोष रोगारम्भक होते हैं जैसा कि सम्प्राप्ति में निरूपित किया गया है। शुक्लानुविद्ध कृष्ण वर्ण को श्याव रंग कहा जाता है। अर्थात् काले रंग में शुक्ल (सफेद) रंग का मिल जाना। कुछ लोग श्याम वर्ण अथवा शाक वर्ण भी कहते हैं। विषजन्य ज्वर में रोगी का मुख श्याव वर्ण का हो जाता है। स्थावर विष-भक्षण से अतिसार होता है, क्योंकि स्थावर विष का प्रभाव अधोगामी होता है। ओषधि गन्धज—तीव्र (तीक्ष्ण) औषधियों के गन्ध को सूँघने से ज्वर होता है। सुश्रुत ने 'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी' श्लोक द्वारा जिस तृणपुष्पज्वर का उल्लेख किया है, उस ज्वर का अन्तर्भाव इसी में करना चाहिए। प्रिय कामिनी (स्त्री) आदि के न मिलने से कामज्वर होता है। इससे चित्तविभ्रंश अर्थात् भ्रमादि हो जाता है। जैसा कि आचार्य वाग्भट्ट ने कहा है—काम ज्वर में रोगी को भ्रम, अरुचि एवं दाह होता है तथा लज्जा, निद्रा, बुद्धि एवं धैर्य का नष्ट हो जाता है (अ०हृ०नि०२)। भय से पैदा होने वाले ज्वर में कम्प होता है, इसी तरह शोक एवं क्रोधजन्य ज्वर में भी रोगी को कम्प होता है। शोक से प्रलाप भी होता है, इसीलिए 'शोकाच्च प्रलापः' ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये। शोकज्वर में प्रलाप का मूल कारण वायु होता है, वायु ही प्रकुपित होकर पित्त को कुपित कर देता है, जिससे रोगी प्रलाप करता है। इनका विशेष निश्चय तो निदान से किया जाता है, क्योंकि निदान भी लक्षण होता है। कहा गया है—काम, शोक एवं भय से वायु, क्रोध से पित्त और तीनों ही दोष भूताभिषङ्ग से कुपित हो जाते हैं (च०चि० ३)।

अब यहाँ प्रश्न किया है कि 'क्रोधात् पित्तम्' अर्थात् क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है, तो क्रोधज ज्वर में कम्प क्यों होता है ? कम्प तो वायु का कार्य है ? इसका उत्तर दिया है कि 'एकः प्रकुपितः दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' अर्थात् प्रकुपित हुआ एक दोष शेष अन्य दोषों को भी प्रकुपित कर देता है। इस कथन से प्रकुपित पित्त

द्वारा वायु के प्रकोप से कम्प होता है—ऐसा समझना चाहिए। अथवा क्रुद्ध व्यक्ति कम्पमान (काँपता हुआ) दिखाई देता है, यह चक्षु इन्द्रिय से प्राप्त प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है। अथवा क्रोध से पित्त के ही समान वायु का भी प्रकोप होता है, यही ठीक है। जैसा कि विदेह ने कहा है—क्रोध एवं शोक दोनों ही वात, रक्त एवं पित्त के प्रकोपक है। 'कोपाच्च' यहाँ चकार से शिरोरुक् (शिरःशूल) का समुच्चय करना समझना चाहिए। जैसा कि वाग्भट्ट ने कहा है—क्रोध से कम्प एवं सिर में पीड़ा होती है तथा भय एवं शोक से प्रलाप होता है। (अ०हृ० नि० १)। भयादिजन्य ज्वर मन से पैदा होने के कारण एक ही प्रकार होते हुए भी हेतु (कारण) भेद से उनको भिन्न-भिन्न कहा गया है और हेतुभेद से इनका अलग-अलग उल्लेख हेतुविपरीतचिकित्सा की दृष्टि से किया गया है।

अभिचार-अभिशाप आदि से होने वाले ज्वर में चकार से दाह आदि को समझना चाहिए। जैसा कि हारीतमतावलम्बी वाग्भट्ट ने कहा है—अभिचारजन्य ज्वर में जिसके नाम से मारण, मोहन एवं उच्चाटन आदि मन्त्रों द्वारा हवन किया जाता है उसका प्रथम मन सन्तप्त होता है, ग्लानि एवं क्लेश का अनुभव होता है, तत्पश्चात् शरीर में सन्ताप ज्वर हो जाता है। साथ में विस्फोट, तृष्णा, भ्रम, दाह तथा मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है और प्रतिदिन ज्वर बढ़ता जाता है (अ०हृ०नि० २।४४-१, ४५)।

भूत शब्द से उन्मादनिदान में बताये गये भूत-प्रेत-यक्ष आदि ग्रहों का अभिषङ्ग (सम्बन्ध) समझना चाहिये। उद्वेग चित्त की उद्विग्नता को कहते हैं।

आगन्तुक ज्वर में दोषानुबन्धता

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ॥ ३० ॥
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः।

(च०चि० ३।११५-३, ११६-१)

काम, शोक तथा भय से वायु का तथा क्रोध—से पित्त का प्रकोप होता है। भूताभिषङ्ग से तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, किन्तु भूतजन्य ज्वर में भूतों के विशेष लक्षण (हास्यादि) मिलते हैं।

आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धदर्शनार्थमाह—कामशोकेत्यादि। त्रयो मला भूताभिषङ्गात् कुप्यन्तीति भूतप्रभावात्। यच्च चरकेण निदानस्थाने 'अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्' (च. नि. १।३०) इत्युक्तं, तत् प्रायिकं मन्तव्यमिति जेज्जटः। चक्रस्त्वाह—'अभिषङ्गज इत्यनेन कामाद्यभिषङ्गज उच्यते, नतु भूताभिषङ्गजः' इति। भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य देवग्रहादेरभिषङ्गात् कुप्यन्ति तस्य यल्लक्षणं रोदनादि तेन सह

सामान्यं लक्षणं येषां ते तथा, इति व्याचक्षते जेज्जटादयः; दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

सरोज व्याख्या—आगन्तुक ज्वर में प्रारम्भ में दोष के कारण न होने पर भी बाद में इनमें भी नियत रूप से दोषानुबन्ध हो जाता है। जैसाकि कहा गया है—काम-शोक इत्यादि। वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष भूताभिषङ्ग से कुपित हो जाते हैं। अर्थात् भूत के प्रभाव से तीनों दोष कुपित होते हैं। महर्षि चरक ने निदान स्थान में कहा है- -अभिषङ्गज ज्वर वात-पित्त के प्रकोप से होता है। जेज्जट के मत से चरकोक्त उपर्युक्त कथन को प्रायिक (अपवाद) समझना चाहिए। आचार्य चक्रपाणि के मत से अभिषङ्गज शब्द से काम-शोक-भयादि के अभिषङ्ग से होने वाला ज्वर मानना चाहिए, न कि भूताभिषङ्ग। भूतसामान्यलक्षण—जिस-जिस भूत अथवा देव-ग्रह-आदि के अभिषङ्ग से यह दोष कुपित होता है, उस ग्रह का रोदन आदि जो लक्षण होता है, उस लक्षण के समान इन दोषों के लक्षण हो जाते हैं। ऐसा जेज्जट आदि का मत है। अर्थात् दोषलक्षण और भूतलक्षण एक समान हो जाते हैं ॥

विषमज्वर की सम्प्राप्ति

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्।

(सु. उ. ३९-६६)

ज्वर के निवृत्त हो जाने पर अथवा आरम्भ से भी मनुष्य में अल्प (निर्बल) वातादि दोष मिथ्या अहार-विहार के सेवन से पुनः बढ़कर रस रक्तादि धातुओं में से किसी धातु में जाकर 'विषम ज्वर' को उत्पन्न करताहै। विषम ज्वर पाँच प्रकार का होता है—(१) सन्तत, (२) सतत, (३) अन्येद्युष्क, (४) तृतीयक और (५) चतुर्थक।

अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—दोषोऽल्प इत्यादि। अल्प इत्यनेनाबलत्वात् कालविशेषमवाप्य लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यज्वरमेव करोति। अहितसंभूत इति अहिताहाराचारादिसंभूतो वृद्धः। ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य। वाशब्देन प्रथमतोऽपि विषमज्वरो भवतीति दर्शयति। यदुक्तम्—'आरम्भाद्विषमो यस्तु' इत्यादि। धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम्। विषमज्वरं तृतीयकादिकम्। विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितं—'यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः' इति ॥ ३१ ॥

सरोज व्याख्या—दोषाऽल्प-शब्द का अभिप्राय यहाँ पर निर्बल दोष से है। वही निर्बल दोष उचितकालविशेष को प्राप्त कर शक्तिशाली होकर ज्वर उत्पन्न

कर देता है । जो दोष बलवान् होता है, वह नित्य ही ज्वर पैदा करता है । अहित-सम्भूत अर्थात् अहित (मिथ्या) आहार-विहार से पैदा होकर वृद्ध । ज्वरोत्सृष्टस्य अर्थात् सहसा निवृत्त ज्वर का । 'वा' शब्द का अभिप्राय है कि किसी प्रकार का ज्वर हुए बिना आरम्भ से भी (स्वतन्त्र रूप से भी) विषम होता है । जैसाकि कहा गया है—'आरम्भाद् विषमो यस्तु' अर्थात् जो ज्वर आरम्भ से विषम हो । धातु-मन्यतमम्—रस-रक्तादि में से किसी एक धातु में जाकर । विषमज्वरम्-अर्थात् तृतीयक आदि ज्वर को उत्पन्न करता है । विषमज्वर का सामान्य लक्षण भालुकि ने बताया है—

य: स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च ।
वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥

अर्थात् जो ज्वर अनियमित रूप से सर्दी या गर्मी लगने के बाद अनियमित काल में होता हो तथा जिसका वेग भी विषम हो, उसे विषम ज्वर कहा जाता है ।

विषम ज्वर की सम्प्राप्ति

१. दोषज

अल्पदोष (निर्बल दोष)
या
ज्वरोत्सृष्ट (सहसा निवृत्तज्वर का अवशिष्ट दोष)
या
किसी प्रकार का ज्वर हुए बिना भी स्वतंत्र रूपेण

+ अहितसम्भूत (मिथ्या आहार-विहार)
|
दोष प्रकोप
|
रस-रक्तादि धातुओं में अवस्थान
|
विषम ज्वर

२. आगन्तुज

भूताभिषङ्ग[1]
|
विषमज्वर

---

१ (क) परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः ।
आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमे ज्वरे ॥ (सु०उ० ३९।५६)

(ख) परोभूतादिः हेतुः कारणं, स्वभावो वेति विषम ज्वरे हेतुरित्यर्थः ।
(सु०उ० ३६।५६ पर डल्हण टीका)

(ग) केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषम ज्वरम् । (सु०उ० ३६।६८)

(घ) भूताभिषङ्ग से जीवाणु एवं मलेरियल पैरासाइट्स समझा जा सकता है ।

सन्ततादिज्वर के प्रतिनियत दृश्य धातु

सन्ततं रसरक्तस्थः, सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥ ३२ ॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ ३३ ॥

(सु. उ. ३९।६७-६८)

रस धातु में स्थित दोष सन्तत ज्वर को, रक्त धातु में स्थित दोष सतत ज्वर को, मांस में स्थित दोष अन्येद्युः ज्वर को, मेदोगत दोष तृतीयक ज्वर एवं अस्थि तथा मज्जा गत स्थित दोष चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। इन पाँचों में चतुर्थक ज्वर कष्टकारक, यमराज के समान एवं अनेक उपद्रवों से युक्त होता है ॥ ३३ ॥

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—सन्ततमित्यादि । सन्ततशब्दः सततस्योपलक्षणः । तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थः सन्ततं, रक्तस्थः सततकमिति; यदुक्तं चरके—रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्' (च. चि. अ. ३) इति । (प्रायोग्रहणात् सततको रक्तव्यतिरिक्तं रसधातुमाश्रयते ।) रसग्रहणं चात्र विशेषपरम्; सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यदूष्यत्वात् । अन्ये तु सततग्रहणार्थं 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ'--इति पठन्ति । तन्नातियुक्तम्; अत्र हि सन्ततसततशब्दौ संज्ञापरौ, न तु सातत्यवचनौ; तेन सन्ततशब्देन सततकस्यानभिधानात् कथमेकशेष इति दोषः । अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम् । घोरं दुःसहम् । अन्तकं यममिव, मारकत्वात् । रोगसंकरम् अनेकरोगसंकुलम् ॥ ३२–३३ ॥

सरोज व्याख्या—यहाँ सन्ततादि ज्वर के प्रतिनियत दूष्य धातुओं का उल्लेख किया गया है, अर्थात् दोष किस धातु में स्थित होकर कौन-सा ज्वर उत्पन्न करता है। इस श्लोक में सन्तत शब्द से सतत को भी समझना चाहिए। (सन्तत Continuous or Remittent Fever) रसगत एवं सतत (Double Rise of Temperature) रक्त में स्थित होता है। जैसा कि चरक ने कहा है—रक्त धातु में स्थित दोष प्रायः सतत ज्वर को उत्पन्न करता है (च० चि० ३)। प्रायः शब्द से स्पष्ट है कि सतत ज्वर रक्त के अतिरिक्त रस धातु में भी आश्रित रहता है। रस शब्द के ग्रहण करने से यहाँ पर सन्तत ज्वर का रस धातु में स्थित होने का विशेष रूप से ज्ञान होता है, वैसे तो सभी ज्वरों में रस अवश्य दूषित होता है। अन्य लोग सतत ज्वर को ग्रहण करने के लिये 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ' ऐसा कहते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि यहाँ पर सन्तत और सतत ये दोनों शब्द संज्ञावाचक है। न कि सातत्य (निरन्तर) वाचक। ऐसा होने से सन्तत शब्द

से सततक शब्द का अनभिधान (अकथन) होने से एकशेष कैसे हुआ ? यह दोष आया। अतः सन्तत शब्द से सतत का अभिधान नहीं हो सकता।

अन्येद्युः अर्थात अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian-Intermittent Fever)। घोर अर्थात् दुःसह (कष्टकारक)। अन्तकम्—यमराज के समान मारने वाला। रोगसङ्करम्—प्रभूत रोगोत्पादक।

दोषों की धातुगत स्थिति, ज्वर के वेग (बल) एवं काल के अनुसार विषम ज्वर

ज्वर नाम	धातुगत स्थिति	ज्वर वेग एवं काल	ज्वर की प्रकृति
१. सन्तत	रस	सात दिन—वात दश दिन—पित्त बारह दिन—कफ	निरन्तर Continuous or Remittent
२. सतत	रक्त	रात-दिन में दो बार	चौबीस घण्टा में दो बार Double Quotidian
३. अन्येद्युष्क	मांस	रात-दिन में एक बार	चौबीस घण्टा में एक बार Quotidian
४. तृतीय ज्वर	मेद	प्रत्येक तीसरे दिन	Tertian
५. चतुर्थक	अस्थि एवं मज्जा	प्रत्येक चौथे दिन	Quartan
६. चतुर्थक-विपर्यय	अस्थि एवं मज्जा	मध्य में दो दिन	एक दिन छोड़कर निरन्तर दो दिन ज्वर Double Quartan

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति

(स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्[1] ॥)

(च० चि० ३।५३-२, ५४-१)

बढ़े हुए वातादि दोष रसवाही स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं, तो सम्पूर्ण शरीर जकड़ जाता है, जिससे सन्तत ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

सन्ततादि ज्वर का लक्षण

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते ॥ ३४ ॥

---

१. यह पाठ कुछ ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्त्तते ॥ ३५ ॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।
(सु. उ. ३९।६९, ७१-१)

जो ज्वर सात, दस एवं बारह दिन तक निरन्तर बना रहे, उसे 'सन्तत ज्वर' कहते हैं।

जो ज्वर दिन-रात में दो-बार आता हो, उसे 'सतत ज्वर' कहते हैं।

जो ज्वर दिन-रात में एक बार आता हो, उसे 'अन्येद्युष्क ज्वर' कहा जाता है।

जो ज्वर तीसरे दिन (एक दिन बीच में छोड़कर) आता हो, उसे 'तृतीयक ज्वर' कहते हैं।

जो ज्वर चौथे दिन आता है, उसे चतुर्थक ज्वर कहा जाता है।

अथैषां लक्षणान्याह--सप्ताहमित्यादि। एते विकल्पा यथाक्रमं वातपित्त-कफोल्वणत्वेन ज्ञेयाः। यथोक्तं--'पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाह-सप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्'--इति। अयं च सन्ततस्त्रिदोषज एव द्वादशाश्रयत्वेन। यदुक्तं चरकेण--'यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे' (च. चि. ३।५६)--इति। सन्तत्या अविच्छेदेन सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी अपरि-त्यागी, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ननु, यद्येवं कथमस्य विषमज्वरे पाठः? मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वं, तच्चात्र नास्ति? नैवम्, अस्यापि तथाभावात्। तथा च तल्लक्षणे चरकः—विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्ल-भोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते' (च. चि. ३।५९)—इति। यत्तूक्तं खरनादेन, ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः'—इति; तत् सन्तते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदाभावि-त्वेनाल्पत्वान्न तद्व्यपदेशः; एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्। न हि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्यभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। अथवा विषमज्वरोल्लेखेन या चिकित्सोक्ता सा सन्ततवर्जं सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम्। हरिचन्द्रेणापि किल 'कर्म साधारणं जह्यात्तृती-यकचतुर्थकौ'—इति (चि. च. अ. ३) चरकवाचनाद्विषमज्वरोक्तचिकित्सा तृतीयकचतुर्थकयोरेव; अन्येषु दोषप्रत्यनीकचिकित्सा कार्येत्यभिव्याख्या-तम्। अस्यां हरिचन्द्रव्याख्यायां कर्म साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं, विशेषेण तृतीयकचतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यम्; अन्यथोक्ततन्त्रान्तरविरोधः। 'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तत' इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ

वा; अह्नि एककालं रात्रावेककालमेवं वा, द्वौ कालौ--इति शानदेवः, नियमानभिधानात्तथा दर्शनाच्च । अनुवर्तते वेगं करोति। तृतीयेऽह्नि तृतीयक इति वेगदिनापेक्षया तृतीयेऽह्नि यो भवति स तृतीयको भवति, एवं चतुर्थकेऽपि वाच्यम् ॥ ३४-३५ ॥

सरोज व्याख्या—सप्ताह, दशाह और द्वादशाह का यह विकल्प क्रमशः वात-पित्त एवं कफ की उल्वणता की दृष्टि से बताया गया है। जैसा कि कहा भी है कि पित्त की वृद्धि से दस दिन, कफ की वृद्धि से बारह दिन एवं वायु की वृद्धि से सात दिन के अन्दर त्रिदोष ज्वर धातुपाक हो जाने पर रोगी को मार डालता है और दोषपाक हो जाने पर रोगी मुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है। यह सन्तत ज्वर भी त्रिदोषज होता है, क्योंकि इसके बारह आश्रय (अधिष्ठान) होते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है--

यथा धातूँस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे ॥ (च० चि० ३।५६-२, ५७-१)

अर्थात् संतत ज्वर में वातादि तीनों दोष एक ही समय में रस-रक्तादि सातों धातुओं को तथा मल एवं मूत्र को निश्चित रूप से दूषित करते हैं। इस प्रकार तीन दोष, सात धातु एवं दो मल-मूत्र सब मिलकर संख्या में बारह हो जाते हैं। इस ज्वर में बारहों ही नियमित रूप से दूषित हो जाते हैं, इसलिए इसे त्रिदोषज कहा गया है। सन्तत्या अर्थात् निरन्तर बिना किसी विच्छेद के (बिना उतरे) ज्वर सात, दस अथवा बारह दिन की अवधि के पश्चात् उतरे, इसी से इस ज्वर को अविसर्गी-अपरित्यागी (अत्यागशील) अर्थात् जो छोड़ने वाला न हो, कहा गया है। सप्ताहं, दशाहं, द्वादशाहं यहाँ अत्यन्त संयोग में द्वितीया बिभक्ति का प्रयोग है।

अब यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि यदि सन्तत ज्वर लगातार बना रहता है, तो इसको विषम ज्वर के अन्तर्गत क्यों कहा गया है ? क्योंकि विषम ज्वर बीच-बीच में उतर कर पुनः होता है। विषम ज्वर का लक्षण है—मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम् अर्थात् जो ज्वर छोड़कर पुनः हो जाय। यह लक्षण सन्तत ज्वर में नहीं मिलता क्योंकि वह निरन्तर बना रहता है। इस पर कहते हैं कि सन्तत ज्वर में भी मुक्तानु-बन्धित (छोड़कर होना) की प्रवृत्ति मिलती है। क्योंकि चरक ने कहा है--

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः ।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते ॥ (च. चि. ३।५९-२, ६०-१)

अर्थात् सन्तत ज्वर बारहवें दिन अव्यक्त रूप में (बहुत थोड़े समय के लिये) उतरता है, पुनः चढ़कर दीर्घकाल तक बना रहता है। ऐसी अवस्था में इसका

शमन दुर्लभ होता है। इस प्रकार इस अल्पकालीन अव्यक्तरूप मुक्तानुबन्धित्व लक्षण के मिलने से सन्तत ज्वर को विषम कहा जा सकता है। जबकि खरनाद ने कहा है कि पूर्व में जो सन्ततादि पाँच ज्वर बतलाये हैं, इनमें सन्तत को छोड़कर शेष बचे चार विषम ज्वर जानना चाहिए। सन्तत ज्वर तो केवल एक बार उतरकर पुनः हो जाता है, अतः एक बार उतरना उसकी विषमता को सिद्ध नहीं कर सकता, जैसे एक चावल खा लेने को उपवास में भोजन नहीं मानते। अतः तृतीयकादि ज्वरों के समान इसमें मुक्तानुबन्धित्व न मिलने से यह विषम ज्वर नहीं कहा जा सकता। अथवा खरनाद का मन्तव्य यह हो कि विषम ज्वर के विशिष्ट चिकित्सा का जो उल्लेख मिलता है, वह सन्तत ज्वर को छोड़कर शेष सततादि ज्वरों के लिये हो। आचार्य हरिचन्द भी यही कहते हैं कि—"तृतीयक, चतुर्थक ज्वर को साधारण कर्म नष्ट करता है" (च० चि० ३।२९२-२)। चरक के इस वचन से विषम ज्वरोक्त-चिकित्सा तृतीयक चतुर्थक की ही जाननी चाहिए। इस पर हरिश्चन्द्र ने व्याख्या किया है सर्वत्र विषम ज्वर में साधारण कर्म करना चाहिए, तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर में यह साधारण क्रिया विशेष रूप करनी चाहिए। अन्यथा उक्त वचन का तन्त्रकार से विरोध हो जायेगा।

सतत ज्वर का लक्षण बताया है कि 'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते' अर्थात् सतत ज्वर दिन में दो बार होता है अथवा रात्रि में दो बार होता है अथवा दिन में एक बार एवं रात्रि में होता है। ऐसा ईशानदेव का कथन है। मूल श्लोक में समय का कोई निश्चित निर्देश नहीं है। दिन में ही दो बार या रात्रि दो बार ज्वर आता हो। अनुवर्तते—ज्वर का वेग पूर्ववत् हो जाता है। वेग दिन की अपेक्षा से जो ज्वर तीसरे दिन होता हो, उसे तृतीयक ज्वर कहते हैं तथा वेग दिन से चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक ज्वर कहा जाता है।

विषम ज्वर का आगन्तुक हेतु

केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥ ३६ ॥

(सु० उ० अ० ३९।६८-२)

कतिपय विद्वान् विषम ज्वर का कारण 'भूताभिषङ्ग' मानते हैं ॥। ३६ ॥

विषमज्वरस्यैकीयमतेन भूताभिषङ्गजत्वमाह—केचिदित्यादि। परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतं सुश्रुतेन; अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिहोमादि भूतोचितम्, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादि दोषोचितं च विधीयते। यदाह चरकः—कर्म साधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ। आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे'—इति (च० चि० अ० ३) अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याचक्षत इति ॥ ३६ ॥

सरोजव्याख्या—विषम ज्वर दोषों से होता है, किन्तु कतिपय विद्वान् उसे भूताभिषङ्गोत्थ कहा है। सुश्रुत ने अन्य आचार्यों के उपर्युक्त मत का प्रतिषेध (खण्डन) नहीं किया है, इससे सिद्ध होता है कि सुश्रुत भी इस मत से आंशिक रूप से सहमत थे। क्योंकि पूर्व में कह चुके हैं—दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतः। इसलिए विषम ज्वर में दैवव्यपाश्रय—वाले होम आदि भूतोचित (भूत-प्रेत आदि के अभिषङ्ग को नष्ट करने के लिये) एवं युक्तिव्यपाश्रय कषायपानादि दोषोचित चिकित्सा कर्म किया जाता है। इसलिए महर्षि चरक ने कहा है कि साधारण कर्म से तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रायः विषम ज्वर में आगन्तुक भूतादि का अनुबन्ध होता है। यहाँ पर साधारण कर्म से दैव व्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा जाननी चाहिए।

उल्वण दोष-भेद से तृतीयक-चतुर्थक ज्वर लक्षण

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः॥ ३७॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः॥ ३८॥

(च० चि० ३।७१-७२)

तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है। कफ एवं पित्त की अधिकता से पहले कमर में पीड़ा करके ज्वर होता है। वात एवं कफ की अधिकता से पीठ में पीड़ा करके चढ़ता है एवं वात-पित्त की अधिकता से शिर में पीड़ा करके चढ़ता है।

चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है। कफ की अधिकता से प्रथम जाँघों तथा वायु की अधिकता से पहले शिर में वेदना तत्पश्चात् ज्वरहोता है।

सरोज व्याख्या—त्रिकग्राही का अभिप्राय है त्रिक में वेदना होने के कारण त्रिकस्थान में व्याप्त रहता है अथवा त्रिक स्थान में स्थित रहकर पीड़ा करता रहता है। त्रिक प्रदेश वायु का स्थान है, वायु के साथ कफ एवं पित्त जाकर मिल जाते हैं। यह दोनों अन्य स्थान में स्थित होने के कारण दुर्बल होते हैं, इसलिए तीसरे दिन ज्वर का वेग कहते हैं। यदि ये दोनों अपने स्थान में स्थित रहे, तो सन्तत ज्वर को ही पैदा करेंगे। ऐसा आचार्य जेज्जर का कथन है। इसी तरह कफ के स्थान सिर में यदि वात-पित्त जाकर मिल जावे, तो दोनों भी अन्य स्थान में स्थित होने से दुर्बल होने के कारण तीसरे दिन ज्वर करेंगे। ऐसे ही पित्त के स्थान पृष्ठ भाग में वात-कफ जाकर मिलते हैं, ये दोनों भी अन्य स्थान होने के कारण दुर्बल रहते हुए तीसरे दिन ज्वर पैदा करेंगे।

पृष्ठात् में ल्यप् प्रत्यय का लोप होकर कर्म में पञ्चमी विभक्ति की गई है, जिसका

उल्बणदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—कफपित्तादित्यादि। त्रिकग्राही वेदनया त्रिकव्यापी, त्रिकस्य वातस्थानत्वेन तद्गतौ पित्तकफावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीयदिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थानस्थितौ स्यातां तदा सन्ततज्वरमेव कुर्यातामिति जेज्जटः। एवं शिरसि कफस्थाने, पृष्ठे च पित्तस्थाने बोद्धव्यम्। पृष्ठादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। पृष्ठं वेदनया व्याप्येत्यर्थः। न च वाच्यं यदि त्रिकं वातस्थानं तत् कथं तत्र पित्तकफाविति; प्रकृतिस्थानां दोषाणां स्थाननियमो न तु प्रकुपितानाम्, तेषां सर्वदेहगतत्वात्। यदाह सुश्रुतः—'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गःखवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते' इति (सु० सू० २४।१९)। एवमन्यस्थानगतत्वेन दोषदौर्बल्यादि चतुर्थकेऽपि वाच्यम्। प्रभावं रुजारूपां शक्तिम्। द्विविधं विवृणोति—जङ्घाभ्यामित्यादि। जङ्घाभ्यां शिरस्त इति एतच्च पञ्चमीद्वयं पूर्ववत्। पूर्वमिति प्रथमं, तत्र भूत्वा निखिलं देहं व्याप्नोति। श्लैष्मिक इति श्लेष्मोल्बणः, सन्ततकान्येद्युष्कतृतीयकचातुर्थकानां पञ्चानां सान्निपातिकत्वात्। यदुक्तं चरके—प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः' (च० चि० ३।७४) इति। अथवा प्रायोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ति। अन्ये त्वाहुः—विकृतिविषमसमवायारब्धाः सन्ततादयः सन्निपातजाः, तेषामेवोद्भूतदोषेण व्यपदेशः; प्रकृतिसमसमवायारब्धास्तु एकदोषजद्विदोषजा अपि भवन्तीति जेज्जटः। प्रकृतिसमसमवायारब्धश्चतुर्थकस्तु पित्तेन न क्रियत एव, व्याधिस्वाभावात्; पित्तजगलगण्डवत्। ननु, अस्ति पैत्तिकोऽपि चतुर्थकः; तथा च हारिताचार्यो व्याहरति—'चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः। शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः। कुपितं पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः॥ शीतदाहकरस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते। सन्निपातसमुद्भूतो विषमो विषमज्वरः॥ ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः। पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः' इति। अत्राहुः—अनुबन्धरूपमत्र पित्तं, न त्वारम्भकं; कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, स्थानविशेषानभिधानात्; अत एव हारितेनापि नोदाहृतमेव जङ्घादिवदिति चरकटीकाकृतो व्याचक्षते। किन्त्वेषा व्याख्या तदा संगच्छते यदि पित्तलिङ्गं नोद्भूतं दृश्यते, दृश्यते च; तथा कथ्यते—भेडेऽपि पैत्तिकः पठ्यते—'आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा। कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च' इति। किंच नागभर्तृतन्त्रे। स्थानमप्युक्तमेव—'ऊर्ध्वं कायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः। मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥ पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः' इति। तस्मात् प्रायेण

कफवाताभ्यां भवतीति पैत्तिकश्चतुर्थकश्चरकादिभिर्नोदाहृतः, नत्वसम्भवादिति मन्तव्यम् ।

एषां चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्यः । स यदाह—'अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते । ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि । सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थान् सप्रलेपकात्' (सु. उ. अ. ३९) । इति । अस्यायमर्थः—आमाशयहृदयकण्ठशिरःसन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासंख्यं सततादयः क्रियन्ते । तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सततकः क्रियते द्विकालं न च सर्वदा; न चामाशयप्राप्तौ सर्वदा प्रसङ्गः, अहोरात्रेषु कालेषु स्वप्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्तेः । हृदयस्थितेन दोषेणामाशयमागत्यान्येद्युष्कः क्रियते एककालं न च सर्वदा सततारम्भकदोषापेक्षयाऽस्य व्यवहितत्वात् । कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते, अपरस्मिन्नामाशयमागत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयकः । एवं शिरःस्थितेन दोषेण कण्ठहृदयामाशयान् त्रिभिर्दिनैः क्रमेण प्राप्य चतुर्थकः क्रियते । पुनः स्वस्थानगमनं तु दोषाणां हृतवेगत्वेन लाघवाद्वेगदिन एव भवति । सन्धिस्थितेन दोषेण प्रलेपकः क्रियते, सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति । अयं चाविषमोऽपि विषमसहचरितः पठितः कफस्थानोत्पादानुरोधात् । उक्तं हि सुश्रुते—'प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम्' इति (सु. उ. अ ३९) ॥ ३७-३८ ॥

अर्थ 'पृष्ठं वेदनया व्याप्य' अर्थात् वेदना से सम्पूर्ण पृष्ठ प्रदेश में व्याप्त होकर या सारे पृष्ठ को पीड़ित करके स्थित होता है ।

यहाँ शंका उपस्थित की गयी है कि त्रिक प्रदेश वायु का स्थान है, वहाँ पर पित्त एवं कफ जाकर कैसे मिलते हैं ? इसका समाधान किया है कि प्रकुतिस्थ दोषों का स्थान निश्चित होता है, किन्तु प्रकुपित दोषों का नहीं । प्रकुपित दोष तो सर्व शरीर में विचरण करते हैं । जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ (सु० सू० १४)

अर्थात् कुपित दोष सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करते रहते है जहाँ उनके मार्ग में अवरोध होने से रुकावट आ जाती है, वहीं रुककर व्याधि उत्पन्न कर देते हैं ।

तृतीयक के समान चतुर्थक ज्वर में भी जब दोष अन्य दोष के नियत (प्राकृत) स्थान में जाकर दुर्बल हो जाते हैं, तो चौथे दिन ज्वर पैदा करते हैं ।

प्रभाव का अभिप्राय सजा अर्थात् पीड़ा रूप शक्ति से है । अब चतुर्थक ज्वर के

दोनों प्रकार को बतलाते हैं। यहाँ पर पूर्ववत् तृतीयक ज्वर वर्णित 'पृष्ठात्' के समान 'ल्यब्लोपे कर्मणि' पञ्चमी विभक्ति जङ्घाभ्यां तथा शिरस्थ में की गई है, जिसका अर्थ हुआ कि जंघेवेदनया व्याप्य तथा शिरोवेदनया व्याप्य अर्थात् श्लेष्मप्रधान चतुर्थक ज्वर में दोष सबसे पहले जंघाओं को पीड़ित करता हुआ एवं वात प्रधान चतुर्थक ज्वर में दोष सर्वप्रथम शिर को अत्यधिक पीड़ित करता हुआ ज्वर को उत्पन्न करता है। पूर्व से अभिप्राय सर्वप्रथम जंघा अथवा शिर को पीड़ित करता हुआ तत्पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है।

श्लैष्मिक शब्द से श्लेष्मोल्वण सन्निपातिक चतुर्थक ज्वर का ज्ञान होता है, क्योंकि सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक एवं चतुर्थक पाँचों विषम ज्वर सन्निपात से होते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है कि प्रायः सन्निपात में पाँच प्रकार का ज्वर होता है। सन्निपात में भी जिस दोष की अधिकता होती है, उसी के नाम से उसको कहा जाता है (च० चि० ३१)। अथवा प्रायः शब्द से दोषों के उत्कर्ष के अनुसार एकदोषज अथवा द्विदोषज भी होते हैं। अन्य कहते हैं कि विकृतिविषम समवाय से उत्पन्न होने वाले सन्ततादि ज्वर सन्निपातजन्य होते हैं तथा उन्हीं में से उल्वण दोष से उनका व्यपदेश (नाम निर्देश) होता है। प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न होने वाले वे ही एकदोषज अथवा द्विदोषज भी होते हैं। ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है। प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न चतुर्थक ज्वर पित्त से नहीं होता है, व्याधि स्वभाव से ऐसा होता है। जैसे पित्तज गलगण्ड नहीं होता।

कुछ आचार्यों का मत है कि चतुर्थक ज्वर पित्तज भी होता है। जैसा कि हारीत कहते हैं—'चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषम ज्वरः। × × × ॥' चतुर्थक नाम का विषम ज्वर दारुण रोग है, जो सब धातुओं का शोषक, बल, वर्ण एवं अग्नि नष्ट करने वाला तथा त्रिदोष होता है। जब कुपित वायु, पित्त या कफ, अस्थि और मज्जा में स्थित हो जाता है, तो शीत अथवा दाह से आरम्भ होकर तीनों काल में तीव्र अवस्था में ज्वर आता है। यह विषम ज्वर सन्निपात से उत्पन्न होने के कारण विषम होता है। जो पहले ऊर्ध्व शरीर (शिर) में पीड़ा देकर उत्पन्न हो, उसे वातज ज्वर जानना चाहिए तथा जो जंघा आदि शरीर के अधोभाग को पीड़ित करता हुआ उत्पन्न हो, उसे कफज जानना चाहिए।

यहाँ पर अनुबन्धरूप पित्त है, वात एवं कफ के समान रोगारम्भ नहीं, क्योंकि पित्त के अन्य दो दोष—वात एवं कफ के समान स्थान निर्देश नहीं किया गया है। हारीत ने भी इसके स्थान का निर्देश नहीं किया है। ऐसा चरक के टीकाकार का भी कथन है, किन्तु उनकी यह व्याख्या तब संगत (उचित) होती, जब पित्त के लक्षण स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते, पर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, तब भी

ऐसा कहते हैं, जो यथोचित नहीं है। भेळ ने पैत्तिक चतुर्थक को माना है और कहा है—

आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा।
कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च॥

अर्थात् आमाशय-गत या अस्थि-मज्जागत वायु शीघ्र ही कफ और पित्त को कुपित करता है। नागभर्तृतन्त्र में इस ज्वर के स्थान का भी निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो चतुर्थक पहले ऊर्ध्व शरीर को पीड़ित करता है, वह वातात्मक होता है, जो प्रथम मध्यकाय को पीड़ित करता है, वह पित्तात्मक होता है और अधः शरीर को जो प्रथम पीड़ित करता है, वह कफात्मक चतुर्थक ज्वर होता है। चतुर्थक ज्वर प्रायः कफ एवं वायु के प्रकोप से ही पाया जाता है। पैत्तिक चतुर्थक कदाचित् होता है, इसीलिए चरक आदि ग्रन्थों में पैत्तिक के वर्णन का अभाव है, इसके असम्भव होने से नहीं।

इन सततादि दोषों का उत्पत्तिक्रम वृद्ध सुश्रुत ने बताया है कि दोष कफ के प्राकृत स्थानों में एक-एक दिन रहकर जब आमाशय में आता है, तो सतत, अन्येद्युष्क-तृतीयक एवं चतुर्थक इन विषमज ज्वरों तथा प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। इसका अर्थ है कि आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर एवं सन्धियाँ ये पाँच कफ के स्थान है। इनमें स्थित दोष सततादि ज्वरों को करते हैं। उनमें जब आमाशय में दोष होता है, तो दिन-रात में दो बार होने वाले सतत ज्वर को करता है। अब शंका उत्पन्न होती है कि जब दोष आमाशय में सर्वदा रहता है, तो ज्वर भी हमेशा रहना चाहिए? इसका समाधान किया है—अहोरात्र में प्रत्येक दोष के दो प्रकोप काल होते हैं। अतः प्रकुपित दोष के प्रकोप काल के अनुसार दिन-रात में दो बार ही ज्वर होता है। हृदय स्थित रहने वाला दोष हृदय से आमाशय में एक दिन में आकर दिन-रात में एक बार अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है, सर्वदा नहीं। कारण यह है कि यह ज्वर सतत ज्वर के आरम्भक दोषों की अपेक्षा व्यवधान युक्त होता है। कण्ठ स्थित दोष एक दिन में हृदय में आता है, दूसरे दिन आमाशय में पहुँच कर तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शिर में स्थित दोष तीन दिन में कण्ठ, हृदय और आमाशय में पहुँचकर चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। जब ज्वर का वेग समाप्त हो जाता है, तो दोष शीघ्र उसी दिन अपने-अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं।

सन्धि स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। सन्धियाँ आमाशय में भी हैं, इसलिए प्रलेपक ज्वर हमेशा बना रहता है। यद्यपि हमेशा बने रहने से प्रलेपक ज्वर विषम नहीं होता, किन्तु कफस्थान से उत्पत्ति की साम्यता होने में प्रलेपक का उल्लेख विषम ज्वर के साथ किया गया है। वस्तुतः प्रलेपक विषम ज्वर नहीं

होता। सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रलेपक ज्वर विषम नहीं होता और यह प्रायः शोष रोगियों को क्लेशदायक होता है।

चतुर्थक विपर्यक

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। (च. चि. ३।७३-१)
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति॥ ३९॥

चतुर्थक विपर्यय ज्वर भी विषमज्वर का एक अन्य प्रकार है। इसमें मध्य में दो दिन ज्वर आता है। इसके प्रारम्भ एवं अन्त के दिनों में ज्वर नहीं रहता।

चतुर्थकविपर्ययमाह—विषमेत्यादि। अत्र तन्त्रान्तरम्—'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यह्नी ह्यादावन्ते च मुञ्चति' इति। आदावेकदिनं मुक्त्वा, मध्ये दिनद्वयं भूत्वा, अन्ते एकदिनं न भवतीति व्याचक्षते जेज्जटादयः। 'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद् द्व्यहं ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति'—इति। पराशरवचनस्यापि स एवार्थः; त्र्यहादिति त्र्यहस्यादिदिनं विमुञ्चति, दिनद्वयं ज्वरयति, त्र्यहस्यान्ते चतुर्थदिनं मुञ्चतीति तात्पर्यार्थं व्याचक्षते। हरिचन्द्रस्त्वाह—द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरम्यैकमहः पुनर्ज्वरयतीत्येवं चतुर्थकविपर्यय इति। आदिदिनाभावश्चोत्तरोत्तरपातिदिवसेष्ववधार्यः। चतुर्थकविपर्ययस्योपलक्षणत्वेन तृतीयकादिविपर्ययोऽप्यूह्य इत्याहुः। तद्यथा—मध्ये एकदिनं ज्वरयति, आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः, एककालं विमुच्य सर्वमहोरात्रं व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः; (कालद्वये मुञ्चति, सर्वमहोरात्रं ज्वरयतीति सततकविपर्ययः)। अत्र दोषविकृतिरेव नानाविधा हेतुरिति। 'कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्' (सु. उ. ३९।५५) इति वृद्धसुश्रुतवाक्यं व्याचक्षाणो जेज्जटोऽन्येद्युष्कतृतीयचतुर्थकमात्रस्य विपर्ययमुदाहरति। तद्यथा—आमाशयहृदयस्थदोषेण यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः आमाशयहृदयकण्ठस्थितेन तृतीयकविपर्ययः; तत्रैकस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य तत्स्थेन सह ज्वरयति तद्दिने कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति; अपरदिने सोऽप्यामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयकविपर्ययः; आमाशयहृदयकण्ठशिरःस्थेन दोषेण चतुर्थकविपर्यय इति तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन् दिने कण्ठस्थो हृदयं शिरस्थश्च कण्ठमायाति; अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रये भूत्वा

पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति। एते च सर्व एव ज्वरा न विरुद्धाः, सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात्। यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे—'स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ' (म. स्मृ. अ. २ श्लो. १४ इति। दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः, एष एव न्यायश्चरकसुश्रुतयोः कुष्ठवैषम्ये वाप्यचन्द्रेणदर्शितः, न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः, यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्ययेऽपीति ॥ ३९ ॥

सरोज व्याख्या—दोषों के अस्थि और मज्जा दोनों में अधिष्ठित होने पर चतुर्थक विपर्यय ज्वर होता है। इसमें ज्वर पहले और चौथे दिन को छोड़कर बीच के दो दिन निरन्तर बना रहता है। यही जेज्जट आदि का कथन है कि आदि में एक दिन छोड़कर मध्य में दो दिन हो जाता है। अस्थिमज्जोभयगते······इस पराशर के कथन का भी यही अर्थ है। त्र्यहात्—तीन दिन में पहले दिन छोड़ता है, फिर आगे दो दिन ज्वर आता है तथा तीन दिन के पश्चात् चौथे दिन ज्वर छोड़ देता है। आचार्य हरिचन्द्र कहते हैं कि दो दिन निरन्तर ज्वर होकर एक दिन शान्त हो जाता है, इस तरह होने वाले ज्वर को चतुर्थक विपर्यय कहते हैं। यहाँ जो आदि (प्रथम) दिन का अभाव है, वह आगे-आगे आनेवाले दिनों में समझना चाहिये।

चतुर्थक विपर्यय के समान तृतीयक आदि ज्वरों के विपर्यय भी होते हैं। जो ज्वर मध्य में एक दिन आकर पहले और तीसरे दिन नहीं आता, उसे तृतीयक विपर्यय कहते हैं। जो ज्वर दिन-रात के किसी एक काल को छोड़कर शेष सारे समय बना रहे, उसे अन्येद्युष्क विपर्यय कहते हैं। इसी प्रकार जो ज्वर दिन-रात के छः कालों में से कोई दो छोड़कर शेष चार कालों में हो जाय, उसे सतत विपर्यय कहते हैं। इन विपर्ययों का कारण नाना प्रकार की दोषविकृति है।

कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥

(सु० उ० ३९।५५)

अर्थात् कफ के स्थान हृदय, आमाशय आदि में स्थित दोष दूसरे, तीसरे और चौथे दिन में विपर्ययसंज्ञक कृच्छ्रसाध्य विषमज्वरों को उत्पन्न करते हैं।

उपर्युक्त वृद्ध सुश्रुत के वाक्य की व्याख्या करते हुए जेज्जट अन्येद्युष्क, तृतीयक एवं चतुर्थक मात्र के विपर्ययों को मान लेते हैं। आमाशय एवं हृदय में स्थित दोष पूर्वोक्त अन्येद्युष्क ज्वर करता है, इसी तरह आमाशय, हृदय और कण्ठ स्थित दोष तृतीयक विपर्यय ज्वर को पैदा करता है। इनमें दोष एक दिन में हृदय से आमाशय में पहुँच कर वहाँ स्थित दोष के साथ मिलकर ज्वर उत्पन्न करता है। उसी दिन कण्ठस्थित दोष हृदय में पहुँच जाता है और दूसरे दिन वह हृदय से चलकर

आमाशय में पहुँच कर ज्वर उत्पन्न करता है, इस तरह यह तृतीयक विपर्यक दो दिन होकर एक दिन नहीं होता।

आमाशय, हृदय, कण्ठ एवं शिर में स्थित दोष द्वारा चतुर्थक विपर्यय होता है। इसमें जिस दिन दोष हृदय से चलकर आमाशय में आकर ज्वर करता है, उसी दिन ही कण्ठस्थ दोष हृदय में पहुँच जाता है और शिरःस्थ दोष कण्ठ में आ जाता है। अगले दिन हृदयस्थ दोष आमाशय में आकर ज्वर उत्पन्न कर देता है। कण्ठ में स्थित दोष हृदय में पहुँच जाता है। तीसरे दिन पुनः हृदय में स्थित दोष ही आमाशय में आकर ज्वर उत्पन्न कर देता है। इस तरह ज्वर तीन दिन रहकर तत्पश्चात् चौथे दिन नहीं होता। इस ज्वर को चतुर्थक विपर्यय कहा जाता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के ज्वर परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के ज्वरों को ही मुनियों (आप्त पुरुषों) ने प्रतिपादित किया है। जैसा कि स्मृति शास्त्र में लिखा है—स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ मतौ (मनुस्मृति २।१४)। अर्थात् जहाँ स्मृतिकारों में मतवैभिन्य हो, वहाँ दोनों का मत ग्रहण करना चाहिए। देखा जाय, तो अनेकों भेद विषम ज्वर के ही पाये जाते हैं। इसी स्मृतिद्वैधन्याय को वाप्यचन्द्र ने चरक एवं सुश्रुत में कुष्ठ रोग के विषय में परस्पर मतभेद में प्रदर्शित किया है। अर्थात् दद्रु, सिध्म आदि जिसको चरक ने क्षुद्र कुष्ठ कहा है, उनको सुश्रुत ने महाकुष्ठ माना है। ऐसे ही जिसे सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठ कहा है, चरक उसे महा कुष्ठ माना है।

विषम ज्वरों के अनेक भेद होने पर भी उनकी चिकित्सा में कोई भेद नहीं होता, जो तृतीयक ज्वर की चिकित्सा है, वह ही इसके विपर्यय की होती है।

वातवलासक ज्वर

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी॥ ४०॥

(अं. सं. नि. अ. २।८८-८९)

वात वलासक ज्वर से पीड़ित रोगी को सर्वदा मन्द ज्वर बना रहता है। शरीर में रूक्षता एवं शोथ रहता है। रोगी विशेष रूप से शिथिल हो जाता है और अङ्ग जकड़ जाते हैं, इसमें श्लेष्मा की अधिकता रहता है।

उक्तसङ्गत्या प्रलेपकादनूपद्रवत्वेन तत्सधर्मिणि वातबलासके वाच्ये प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या वातवलासकमेवाह—नित्यमित्यादि। वातबलासकाख्यो ज्वरोऽस्यास्तीति वातवलासकी नरः तेन ज्वरेण, शूनकः शोथी, सीदति अवसन्नो भवति; शोथिनः स उपद्रव इत्यर्थः। 'शूनः कृच्छ्रेण सिध्यति' इति

पाठान्तरे 'तेन' इति शेषः। वातबलासमेके कुम्भाह्वयपाण्डुरोगविषयमाहुरिति गदाधरः। वातबलासकारब्धत्वाद्वातबलासकः, बलासकःश्लेष्मा, पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—'वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति स शिरस्थः शिरशूलम्'—इत्यादि। यच्चोक्तं सुश्रुतेन--'प्रलेपकं वातवालसकं वा कफाधिकत्वात् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' (सु. उ. ३९।५८) इति तत्तु श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति जेज्जटः रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात् कफस्नेहस्य, व्याधिप्रभावादिति ॥ ४० ॥

सरोज व्याख्या—बातवलासक ज्वर प्रलेपक का सहधर्मी होते हुए उपद्रव स्वरूप होता है। इसलिए प्रलेपक का वर्णन वातवलासक से पहले होना चाहिए, प्रतिलोम तन्त्र युक्ति के अनुसार पहले वातवलासक का व्याख्या करते हैं। वातवलासक ज्वर जिस व्यक्ति को होता है, उसे वातवलासकी कहते हैं। वातवलासक के कारण रोगी शूनक अर्थात् उसका शरीर शोथयुक्त और सीदति अर्थात् अवसन्न (शिथिल) हो जाता है। शोथ का उपद्रव अवसाद होता है। 'शूनः कृच्छ्रेण सिद्ध्यति' इस पाठान्तर का अभिप्राय है कि वातवलासक ज्वर में जब शोथ का उपद्रव उत्पन्न हो जाता है, तब रोगी कठिनाई से बचता है। यहाँ 'तेन' का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—तेन वातवलासकेन पीड़ितः, शूनः कृच्छ्रेण सिद्ध्यति।

गदाधर के मतानुसार गयदास ने वातवलासकेन ज्वर को दण्ड रोग के भेद कुम्भकामला के समान कहा है।

यह ज्वर वात और बलास (कफ) से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे वातवलासक कहा जाता है। इसके अतिरिक्त पित्त का भी इस ज्वर में अनुबन्ध होता है, जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है कि—"प्रकुपित वायु शेष दोनों दोषों कफ एवं पित्त को उद्रिक्त करके सम्पूर्ण शरीर में सञ्चरण करता है। ऐसी स्थिति में शिर में अवस्थित वायु शिरःशूल उत्पन्न कर देता है।" महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि प्रलेपक अथवा वातबलासक—ये दोनों ज्वर कफ की अधिकता से होते है (सु० उ० ३६)। कफाधिकत्वात् का अर्थ आचार्य जेज्जट ने किया है कि इसमें कफ सर्वदा अनुषक्त अर्थात् चिपका रहता है। कफ के स्नेहांश को वात पित्त सुखाते हैं, इसलिए रूक्षता होती है अथवा व्याधि का प्रभाव इस प्रकार का होता है कि कफाधिक्य होने पर भी शरीर रूक्ष होता है। इसकी तुलना Epidemic Dropsy तथा Beri-Beri रोग से की जाती है।

प्रलेपक ज्वर

प्रलिम्पन्निव गात्राणि धर्मेण गौरवेण च।
मन्दज्वरविलेपो च सशीतः स्यात् प्रलेपकः॥ ४१ ॥

(अ. सं. नि. २।८७-८७)

प्रलेपक ज्वर में सम्पूर्ण शरीर पसीने से लिप्त रहता है, शरीर में भारीपन का अनुभव होता है, सदैव मन्द-मन्द ज्वर रहता है और शीत लगता है।

प्रलेपकमाह—प्रलिम्पन्नित्यादि। मन्दज्वरश्चासौ विलेपी चेति मन्दज्वरविलेपी विलेपित्वं चास्य यस्माद्धर्मगौरवाभ्यां लिम्पति सम्बध्नातीत्यर्थः। अयं च कफपित्तजः। यदुक्तं सुश्रुतेन—'प्रलेपकं वातबलासकं च' (सु. उ. अ. ३९) इत्यादि। तथा यक्ष्मणि 'ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः' (सु. उ. ४१।१४) इत्युक्तं, यक्ष्मणि चायं भवतीति। अन्ये तु त्रिदोषजयक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेत तु कफपित्तव्यपदेशः॥ ४१॥

सरोज व्याख्या—मन्द-मन्द ज्वर शरीर को लिप्त किये रहता है, इसलिए इसे मन्द ज्वर विलेपी कहा जाता है। इसका विलेपित्व इस प्रकार समझना चाहिए कि यह घर्म (आतप) और गौरव (गुरुत्व) से शरीर को लिप्त रखता है। यह ज्वर कफपित्तज होता है। जबकि सुश्रुत ने कहा है कि—प्रलेपकं वातवलासकं वा कफाधिक्यात् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। (सु० उ० ३९) अर्थात् प्रलेपक अथवा वातवलासक दोनों ज्वर में कफाधिक्य होता है तथा यक्ष्मा विकार में सुश्रुत ने कहा है कि पित्त प्रकोप से यक्ष्मा में ज्वर, दाह, अतिसार एवं रक्त आता है (सु० उ० ४१)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यक्ष्मा में भी यह उपद्रव होता है। अन्य आचार्य त्रिदोषज यक्ष्मा से उत्पन्न होने के कारण इसको भी त्रिदोषज ही कहते हैं। कफ एवं पित्त के आधिक्य के कारण यह कफपित्तज कहा जाता है। इसकी तुलना Hectic Fever से की जाती है।

अर्धाङ्गसन्तापयुक्त ज्वर

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते।
तेनार्धं शीतलं देहमर्धमुष्णं प्रजायते॥ ४२॥
काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः॥ ४३॥
काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्।
शीतत्वं तेव गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः॥ ४४॥

(अ. स. नि. २।९२-९४)

शरीर के भीतर जब आहार रस दूषित हो जाता है तथा दूषित कफ एवं पित्त के एक भाग में स्थित होने पर शरीर का आधा भाग शीतल तथा आधा भाग उष्ण हो जाता है। जब शरीर के मध्य भाग में दुष्ट पित्त तथा हस्त एवं पाद में दुष्ट कफ स्थित होता है, तो मध्यकाय में उष्णता एवं हाथ-पाँव में शीतलता रहती है। इसके

विपरीत जब मध्य शरीर में दुष्ट कफ तथा हस्त एवं पाद में दुष्ट पित्त स्थित होता है, तो शरीर शीतल एवं हाथ तथा पैर उष्ण रहते हैं।

शीतपूर्व एवं दाहपूर्व ज्वर

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥ ४५ ॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥ ४६ ॥
द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ॥ ४७ ॥

(सु. उ. तं. ३९।५९-६१)

जब कफ एवं वायु त्वचा में स्थित होते हैं, तो वे दोनों ज्वर के प्रारम्भ में शीत उत्पन्न करते हैं, उनके शान्त होने पर पित्त अन्त में दाह उत्पन्न करता है। उसी प्रकार त्वचा में स्थित पित्त प्रारम्भ में दाह उत्पन्न करता है तथा इसके शान्त होने पर वायु एवं कफ शीत उत्पन्न करते हैं। दोनों दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वक संसर्गज अर्थात् दो-दो दोषों से प्रारम्भ होते हैं। इन दोनों में दाहपूर्वक ज्वर अधिक कष्टप्रद एवं अत्यन्त कष्टसाध्य होता है।

विषमज्वरविशेषमाह—विदग्ध इत्यादि। विदग्धेऽन्नरसे दुष्टे आहाररसे तथा दुष्टे श्लेष्मपित्ते दुष्टे देहे व्यवस्थिते भवतः, तेन हेतुना देहमर्धं शीतलं कफेनार्धं चोष्णं पित्तेन प्रजायते। अर्धत्वं चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा, यथादोषं व्यवस्थानियमहेतोरभावादिति। काय इत्यादि। काये अन्तरग्नौ, कोष्ठे इति यावत्। अन्ते हस्तपादयोः। उक्तार्थस्य विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये श्लेष्मेत्यादि। त्वक्स्थावित्यादि। त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तत्स्थस्य तदुपचारेणेति गदाधरः, जेज्जटस्तु त्वचमेवाह। एतदभिप्रायेणैव चरकेण ज्वरेऽभ्यङ्गार्थं तैलादीन्यभिधायोक्तं—'तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः' इति (च. चि. अ. ३) तयोः श्लेष्मानिलयोः। प्रशान्तयोरिति प्रशान्तवेगयोरित्यर्थः न हि विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, पुनर्वेगागमात्। यदाह सुश्रुतः—'स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वात् सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते' (सु. उ. ३९।६१) इति। इतरौ वातकफौ। दाहशीतादीति एको दाहादिः, अपरः शीतादिः। ननु; एतयोः सम्प्राप्तौ त्रिदोषजत्वमुक्तं; तत् कथं संसर्गजावित्युक्तं, संसर्गो हि द्वयोर्भवति त्रयाणां सन्निपात इति स्थितिः; उच्यते—

संसर्ग सम्बन्धः, स च द्वयोर्बहूनां च भवति, अत्र त्रयाणामुक्तः, न चैवं सर्वत्र; अथवा संसर्गः सौम्याग्नेयदोषकोटिद्वयमेलापः। तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तमनुबन्धः, दाहादौ वातकफावनुबन्धौ; अनुबन्ध्यश्च प्राधान्येन चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेनेति प्रयोजनमेतस्य तयोर्दाहशीतादिज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वो दाहादिः कष्ट इति दुःखप्रदः। दाहादिः कष्टसाध्यत्वाभिधानेन शीतादेरर्थतोऽकष्टत्वमिति। उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्येऽपि विषमज्वरा रात्रिज्वरादयो बोद्धव्या इति जेज्जटः। उक्तं च तन्त्रान्तरे—'समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः। प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु' इति। सर्वेषु च विषमज्वरेष्ववश्यंभावी वायुः यदाह वृद्धसुश्रुतः--'नर्तेऽनिलाद्धै विषमज्वरः समुपजायते। कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा' (सु. उ. अ. ३९) इति। तथा विदेहेऽपि—'पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वरकारणम्'—इति।

एषां च ज्वराणामृत्वादिहेत्वन्तरलाभादन्यथाभावोऽपि दृश्यते। तद्यथा—सन्ततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततादीनामन्यतमत्वं प्रतिपद्यते, तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम्। यदाह चरकः—'ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते' (च. चि. ३।७५) इति। अस्यार्थः--बलाबलादिति ऋत्वादिमनोन्तेन सम्बध्यते, बलं चाबलं च बलाबलम्। अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची। तं तं कालं सततकाद्युक्तं; ज्वरः प्रतिपद्यत इति योजना। उदाहरणं च ऋत्वहोरात्रबलाबलाद्यथा—यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधानश्चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति तदा तेनर्तुनाप्यायितबलस्तृतीयकान्तानां सततकादीनामन्यतनत्वं प्राप्नोत्युत्कर्षात्। एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरदं प्राप्यापकृष्टबलः सततादीनामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात्। एवं पित्तकफयोरप्युत्कर्षावृतुकृतौ व्याख्येयौ। अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, नह्येकस्मिन्नहोरात्रे सततादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते; किंतु कतिपयैरेव। यदा वर्षाशरद्वसन्तप्रारम्भे वातदयो ज्वरं चतुर्थकमारभन्ते तदा मध्यानि कतिपयदिनान्यवाप्य स एव तृतीयकपूर्वत्वेन विपरिणमते उत्कर्षात्; अपकर्षात्तु यदाऽन्त्यानि दिनान्याप्नोति तदा सन्ततो (वातारब्धः प्रावृषः,) पित्तारब्धः शरदो, वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः, प्रतनुकत्वाद्दोषस्य सततादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत इति। दोषबलाबलाद्यथा--यदा सततादीयामन्यतमकारी दोषः श्लेष्मा मधुरस्निग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति तदा सन्ततकादीन् करोति। एवं वातपित्तयोरप्यूह्यम्। मनोबलाबलाद्यथा—यदा सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात् प्रहर्षावष्टम्भबहुलो भवति तदा सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतुर्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वा-

द्विषादादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्यतमो भवति, 'विपदो रोगवर्धनानाम्' (च. सू. २५) इत्यागमात् अन्ये तु मनःशब्देन बुद्धिं व्याख्यानयन्ति, कारणे कार्योपचारात्। तस्याश्च बलाबलं यथा--यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञापराधाद्देवादीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति, यदा तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद्विवेकिन्या बुद्ध्या युक्तः स्यात्तदो शुभानि देवाराधनेष्टिबल्युपहारादीन्याचरति तदा सन्ततज्वरी सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति। अर्थवशाद्यथा—सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात्तदा सन्ततोऽपि चतुर्थकत्वे विपरिणमते; अथ चतुर्थज्वराविष्टस्य यदि तत्कालपरिपाकि कर्म बलीयो भवति तदा सन्ततत्वेन परिणमते। एतच्च कर्मवशत्वमृत्वहोरात्रदोषबलाबलेष्वपि बोद्धव्यं, तदनन्तरं तन्निर्देशादिति ॥ ४२-४७ ॥

सरोज व्याख्या—विदग्धेऽन्नर से—अर्थात् अन्न रस के दूषित होने पर तथा दूषित पित्त एवं कफ के स्थित हो जाने पर कफ के कारण शरीर का आधा भाग शीतल और पित्त के कारण शरीर का शेष आधा भाग गरम होता है। शरीर के आधे भाग में उष्णता एवं आधे भाग में शीतलता दोषों की स्थिति के अनुसार अर्धनारीश्वराकार अथवा नरसिंहाकार समझना चाहिए। अर्धनारीश्वराकार का अभिप्राय है कि सम्पूर्ण शरीर दक्षिणार्ध एवं वामार्ध में विभक्त कर लेने पर जिस ओर कफ का प्रकोप होगा, उधर शीतलता एवं जिधर पित्त का प्रकोप होगा, उधर उष्णता होगी। इसी प्रकार नरसिंहाकार से अभिप्राय श्रोणीप्रदेश से ऊपर के भाग में कफ का प्रकोप होने से शीतलता एवं नीचे के भाग में पित्त का प्रकोप होने पर उष्णता होती है। अतः दोषों की स्थिति के अनुसार उष्णता एवं शीतलता का अनुभव इनमें विपरीत क्रम से होती है।

काय से अन्तराग्नि अर्थात् कोष्ठ समझना चाहिए और 'अन्ते' शब्द का प्रयोग हस्त एवं पाद के लिए किया गया है।

श्लोकसंख्या तैंतालिस में वर्णित ज्वर का विपर्यय कहते हैं कि तैंतालिसवें श्लोक में वर्णित ज्वर में कोष्ठ में पित्त का प्रकोप और शाखाओं में कफ का और इसके विपरीत में कोष्ठ में कफ का एवं शाखाओं में पित्त का प्रकोप होता है।

त्वक् शब्द से त्वचा में स्थित रस का ग्रहण करना चाहिए। त्वचा में रहते हुए उसका तद्वत् उपचार करना चाहिए, ऐसा आचार्य गदाधर का मत है, किन्तु जेजट त्वक् से त्वचा अर्थ कहते हैं। इसी अभिप्राय से चरक ने ज्वर में अभ्यङ्ग के लिए तैलादि का अभिधान करते हुए कहा है कि "तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः" (च. चि. ३) अर्थात् शीतोष्ण ज्वरनाशक अगुरुचन्दनादि तैलों के अभ्यङ्ग से बहिर्मार्गगत ज्वर शान्त हो जाता है।

तयोः—श्लेष्म एवं वायु का वेग शान्त होने पर पित्त दाह उत्पन्न करता है। विषम ज्वरों में दोषों की शान्ति नहीं होती है, क्योंकि उनका वेग पुनः आता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—विषम ज्वर देह को किसी तरह नहीं छोड़ता है, देह को ग्लानि, भारीपन और कृशता बने रहने से नहीं छोड़ता है, किन्तु वेग के समाप्त हो जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह चला गया है, किन्तु, यह देह की धातुओं के अन्दर छिपा रहने से सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता है। (सु०उ० ३९। ६४, ६५–१)।

इतरौ वातकफौ—अर्थात् वात एवं कफ दाहकारक पित्त के शान्त होने पर शीत पैदा करते हैं। इनमें एक दाहादि है अर्थात् उसके प्रारम्भ में दाह आदि होता है और एक शीतादि है, जिसके प्रारम्भ होने शीतलता का अनुभव होता है।

सम्प्राप्ति बताते समय दाह एवं शीतादि या दोनों ज्वरों को त्रिदोषज कहा गया है, तब यहाँ संसर्गज कैसे कहा गया है, क्योंकि ससंर्गज दो दोषों का होता है और तीनों दोषों के सम्मिलन को सन्निपात कहा जाता है ? इसका समाधान प्रस्तुत किया है कि संसर्ग शब्द यहाँ पर सम्बन्ध वाचक है, जो दो, तीन या इनसे अधिक का हो सकता है। इसलिए यहाँ पर तीनों दोनों के सम्बन्ध के लिये संसर्ग शब्द प्रयोग किया गया है, किन्तु यह नियम सर्वत्र नहीं होगा अथवा सौम्य दोष वात एवं कफ तथा आग्नेय दोष पित्त इन दो दोषों के कोटियों के मिलाप को संसर्ग कह सकते हैं।

इन संसर्गज ज्वरों में शीतादिज्वर में वात-कफ अनुबन्ध्य (प्रधान) एवं पित्त अनुबन्ध्य (अप्रधान) होता है। इसी प्रकार दाहादि ज्वर में पित्त अनुबन्ध्य (प्रधान) की चिकित्सा विशेष रूप से करनी चाहिये, अनुबन्ध दोष को अनुकूल रखते हुए। इसका निर्देश करना ही उपर्युक्त विवेचन का प्रयोजन है।

दाहपूर्व ज्वर कष्टसाध्य एवं दुःखप्रद होता है। दाहादि ज्वर की कष्टसाध्यता निर्देश से शीतपूर्व ज्वर की सुखसाध्यता स्पष्ट हो जाती है। आचार्य जेज्जट का मत है कि उक्त विषम ज्वरों के उपलक्षण अन्य भी रात्रिज्वरादि विषम ज्वरों को समझ लेना चाहिए। तन्त्रान्तर में कहा है कि जिसके वात और कफ साम्यावस्था में हों और पित्त क्षीण हो गया हो, ऐसे व्यक्ति को प्रायः रात्रि में ज्वर आ जाता है और जिसका कफ क्षीण हो गया हो, उसको दिन में ज्वर आ जाता है। सभी विषम ज्वरों में वायु का प्रकोप अवश्य होता है। जैसा कि वृद्ध सुश्रुत ने कहा है—"नर्तेऽनिलाद्धि विषम ज्वरः समुपजायते। कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा"।। (सु०उ० ३९) अर्थात् वायु के बिना विषमज्वर नहीं हो सकता, क्योंकि कफ एवं पित्त निश्चेष्ट है, इनको वायु ही चेष्टा प्रदान करता है। विदेह ने भी कहा है कि वायु ही अपनी वैषम्य गति से विषम ज्वर को उत्पन्न करता है। ऋतु आदि के

बलाबल के अनुसार विषमज्वर विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। जैसे सन्ततज्वर अपने रूप को त्यागकर सततादि अथवा चतुर्थक, तृतीयकादि ज्वर के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसा कि चरक ने कहा है—

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्।
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते॥
(च० चि० ३।७५)

अर्थात् वर्षादि ऋतु, दिन-रात, दोष एवं मन के बलवान होने से या दुर्बल होने तथा अर्थ (प्राक्तन कर्म ज्वरारम्भ से पूर्व मिथ्याहार विहारादि) के कारण सन्तत आदि ज्वर अपने भिन्न-भिन्न काल पर होते हैं। इसके उदाहरण निम्न-लिखित है—

ऋतुओं का बलाबल—ग्रीष्मऋतु में उत्पन्न होने वाला वातप्रधान चतुर्थक ज्वर वर्षाऋतु में वात दोष की अधिकता के कारण बल प्राप्तकर तृतीयक सततकादि किसी ज्वर में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में उत्पन्न वात प्रधान सन्तत ज्वर शरद ऋतु में वात दोष के बलहीन होने के कारण सततज्वर के रूप में बदल जाता है। ऋतु के अनुसार पित्त और कफ का उत्कर्ष या अपकर्ष इसी प्रकार होता है। वर्षा ऋतु में उत्पन्न पित्तप्रधान चतुर्थक ज्वर शरद् ऋतु में अधिक बलवान् होकर तृतीयक आदि रूपों को प्राप्त करता है। इसी प्रकार शरद ऋतु में उत्पन्न पित्तप्रधान सन्तत ज्वर हेमन्त में हीन बल होने सततकादि रूप में परिवर्तित हो जाता है। शिशिर में उत्पन्न होने वाला कफप्रधान चतुर्थक ज्वर बसन्त ऋतु में दोष-साम्य के कारण वृद्धि को प्राप्त कर तृतीयक आदि रूप धारण कर लेता है। वसन्त ऋतु में उत्पन्न कफप्रधान सन्तत ज्वर ग्रीष्म ऋतु में कफ के मन्द पड़ जाने पर स्वयं बलहीन होकर सततज्वर का रूप धारण कर लेता है।

अहोरात्र का बलाबल—अहोरात्र से कतिपय अहोरात्र का ग्रहण करना चाहिए। केवल एक दिन रात में ही सततकादि ज्वरों का उत्कर्षापकर्ष से परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु इसके लिये कुछ समय की आवश्यकता होती है। जब वर्षा, शरद एवं वसन्त के प्रारम्भ में क्रमशः वात-पित्त कफ दोष प्रधान होकर चतुर्थक ज्वर पैदा कर देते हैं, तब उपर्युक्त ऋतुओं के मध्य दिनों में वातादि दोषों के बलवान् होने से वह चतुर्थक ज्वर तृतीयक आदि रूप में बदल जाता है तथा वर्षा ऋतु के आरम्भ में पैदा हुआ वातप्रधान सन्तत ज्वर वर्षा ऋतु के अन्तिम काल में क्षीणबल होकर सन्तत ज्वर का रूप धारण कर लेता है। शरद ऋतु के आरम्भ में होने वाला पित्त प्रधान सन्तत ज्वर एव वसन्त ऋतु के आरम्भ में होने वाला कफप्रधान सन्तत ज्वर उस-उस ऋतु के अन्तिम काल में क्षीण बल होने सतत ज्वर में परिवर्तित हो जाता है।

दोष का बलाबल—जब सततादि विषम ज्वरों में यदि कफ दोष की प्रधानता हो और कफ बढ़ाने वाले मधुर-स्निग्ध आदि आहार एवं दिवास्वप्न आदि कफवर्धक विहार का सेवन किया जाय, तो प्रवृद्ध दोष ज्वर को सन्ततादि रूप में परिवर्तित कर देता है। वात तथा पित्त प्रधान एवं तद्विपरीत क्रम को भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

मन का बलाबल—जब सन्तत ज्वर का रोगी सत्त्वगुण की अधिकता से सर्वदा प्रसन्न रहता है, तो वह रोग बढ़ नहीं पाता, तब सन्तत ज्वर को छोड़कर सतत आदि स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार चतुर्थक ज्वर ग्रस्त मनुष्य तमोगुण की वृद्धि से अत्यन्त विषादयुक्त हो जाता है, तब तृतीयक आदि में से किसी एक ज्वर द्वारा पीड़ित हो जाता है, इसलिए चरक ने कहा है—'विषादो रोगवर्धनानाम्' (च० सू० २५)। अर्थात् विषाद रोगवर्धक कारणों में सबसे बढ़कर है।

अन्य विद्वान् कारण में कार्य का उपचार करके मन शब्द से बुद्धि का ग्रहण करते हैं। बुद्धि का बलाबल बतलाते हैं। जब चतुर्थक ज्वर ग्रस्त रोगी प्रज्ञापराध से देवताओं का निरादर करता हुआ अहित आचरण करता है, तो तृतीयक ज्वर के पूर्ववर्ती सन्ततादि ज्वरों से पीड़ित हो जाता है, किन्तु जब सन्तत ज्वर ग्रस्त रोगी सत्त्वगुणोत्कर्ष से विवेकपूर्ण बुद्धि द्वारा अहितकर पदार्थों का त्याग करके अपने इष्ट देवताओं के लिये बलि देता है, आराधना करता है, तब उसका सन्तत ज्वर सततादि में परिवर्तित हो जाता है।

अर्थ का बलाबल—यहाँ अर्थ शब्द पूर्वजन्मकृत समझना चाहिए। यदि सन्तत ज्वर ग्रस्त रोगी का कर्म चतुर्थक ज्वर करने वाला होगा, तो सन्तत ज्वर भी चतुर्थक में परिवर्तित होता है, तो चतुर्थक सन्तत ज्वर में परिणत हो जायेगा। इसी प्रकार जब चतुर्थक ज्वर ग्रस्त मनुष्य का तत्काल परिपाकी कर्म बलवान् होता है, तो चतुर्थक सन्तत ज्वर में परिणत हो जायेगा। यह कर्मवशता ऋतु, अहोरात्र और दोषों की सबलता एवं निर्बलता में भी पूर्वोक्त विधि से समझनी चाहिए। इसीलिए चरक ने उपर्युक्त श्लोक का सबके पश्चात् उल्लेख किया है।

धात्वाश्रयभेद से ज्वर

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते॥ ४८॥

(सु. उ. ३९।८३)

रसधातुगत ज्वर—शरीर में भारीपन, हृदयोत्क्लेश, शरीर में शिथिलता, वमन, अरुचि एवं दैन्य (सुस्ती)—ये लक्षण मिलते हैं।

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ ४९ ॥

(सु. उ. ३९।८४)

रक्तधातुगत ज्वर--रक्तवमन, दाह, मोह, वमन, चक्कर, प्रलाप, छोटी-छोटी पिण्डकाओं का निकलना एवं प्यास--ये लक्षण पाये जाते हैं।

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥ ५० ॥

(सु. उ. ३९।८५)

मांसधातुगत ज्वर--पिण्डिलियों में ऐंठन, प्यास, मूत्र एवं पुरीष की अधिक होना, सन्ताप, अन्तर्दाह, हाथ आदि का चलाना एवं ग्लानि—ये लक्षण मिलते हैं।

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥ ५१ ॥

(सु. उ. ३९।८६)

मेदोधातुगत ज्वर—अत्यन्त पसीना, प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, शरीर में दुर्गन्ध, अरुचि, ग्लानि एवं असहनशीलता—ये लक्षण होते हैं।

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ ५२ ॥

(सु. उ. ३९।८७)

अस्थिधातुगत ज्वर—अस्थियों में भेदनवत् पीड़ा, कराहना, श्वास, अतिसार, वमन, अङ्गों का इधर-उधर फेकना—ये लक्षण मिलते हैं।

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ५३ ॥

(सु. उ. ३९।८८)

मज्जाधातुगत ज्वर—आँखों के आगे अँधेरा छाया रहना, हिचकी, खाँसी, शीत लगना, वमन, अन्तर्दाह, महाश्वास एवं मर्मस्थान में छेदनवत् पीड़ा--ये लक्षण मिलते हैं।

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ५४ ॥

(सु. उ. ३९।८८-८९)

शुक्रधातुगत ज्वर—शिश्न का स्तब्ध (कठोरे) होना, विशेषतः शुक्र का निकलना एवं रोगी की मृत्यु ये लक्षण मिलते हैं।

साध्यासाध्यता

[रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥ १ ॥]

(च. चि. ३।८३)

रस, रक्त, मांस एवं मेद में स्थित ज्वर साध्य, अस्थि एवं मज्जा में होने वाला ज्वर कृच्छ्रसाध्य तथा शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है ।

उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यतयाऽधिकलक्षणानि भवन्ति; यदुक्तं—'वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा । तथा तेषां भिषग्ब्रयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्' (सु. उ. ३९।९१) इति; एतदभिधानं च रसादिधात्वविरोधेन वातादिचिकित्साकरणार्थम् ; अतस्तानाह—गुरुतेत्यादि । हृदयोत्क्लेशः हृदयस्थितदोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थत्वात् । रसस्थ इत्यनेन विशेषेणात्र रसो दूष्यः, सर्वेषामेव ज्वराणां रसानुगतत्वात् । दैन्यं क्लान्तचित्तत्वम् । पिण्डिकेत्यादि । पिण्डिका जान्वधो जङ्घामांसपिण्डः । तस्या उद्वेष्टनं दण्डादिना पीडनेनेव वेदना पिण्डिकोद्वेष्टनम्; एवमन्यत्रापि । सृष्टमूत्रपुरीषता प्रवर्तमानमूत्रपुरीषता । ऊष्मा बहिः, एतच्च विशेषपरम्, प्रायः सर्वज्वरेषु तथाभावात् । 'उष्माऽन्तर्मोहविक्षेपौ' इति पाठान्तरे ऊष्माऽन्तः अन्तर्दाह इत्यर्थः, विक्षेपो हस्तादिचालनम् । भृशं स्वेद इति धर्मस्य मेदोमलत्वात्; तद्विकृत्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे । असहिष्णुता वेदनाया असहत्वं, क्रोधनत्वमिति कार्तिकः । भेदोऽस्थनामिति भेदः इव भेदः भङ्गवत्पीडेत्यर्थः । परपदार्थेषु प्रयुज्यमानाः शब्दा वृत्ति (वनि) मन्तरेणापि वृत्त्य(वत्य)र्थं गमयन्ति । यथा—अग्निर्माणवकः । एवमन्यत्रापि भेदादौ द्रष्टव्यम् । कूजनं कुन्थनं; 'कुञ्जनम्' इति पाठान्तरेऽस्थनामेव सङ्कोच इत्यर्थः । तमःप्रवेशनम् अन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः । महाश्वासः श्वासाधिकारे वक्ष्यमाणलक्षणः । मर्मशब्देन हृदयमुच्यते, प्राधान्यादिति कार्तिकः, तस्य छेद इव मर्मच्छेदः । मरणमित्यादि शुक्रगतस्य । तत्रैतेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्रस्थानगते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम् । शुक्रं च तत्स्थानं चेति शुक्रस्थानं (न तु शुक्रस्य स्थानं शुक्रस्थानम्) शुक्रस्य सर्वदेहगत्वेन नियतस्थानासम्भवादिति कार्तिकः । यदुक्तं—'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा । शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वरः' (सु. शा. ४।२१ इति) । विशेषत इति पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गः, अन्यस्यापि रक्तादेरिति वदन्ति ॥

सरोज व्याख्या—पूर्व में बताये गये वातिक आदि ज्वरों का अधिष्ठान जब

शरीर के रसादि धातुओं में विशेष रूप से होता है—तब इनके लक्षणों में भी अधिकता आ जाती है। जैसा सुश्रुत ने कहा है—

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा।
तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान् ॥ (सु० उ० ३९।६१)

अर्थात् जिस तरह वात-पित्त-कफ के प्रकोप होने वाले ज्वरों में विभिन्न लक्षण होते हैं, इसी प्रकार रसादि सप्त धातुओं में उत्पन्न होने वाले ज्वरों को भी वात, पित्त तथा कफ के अनुसार लक्षणों को देखकर उन ज्वरों में दोष की कल्पना करनी चाहिए। इसको कहने का उद्देश्य यही है कि चिकित्सा के समय दोषों का एवं इनके साथ दोषों के अधिष्ठानभूत धातुओं के लक्षणों का भी ध्यान रखना चाहिए। इसी अभिप्राय से यहाँ ज्वरग्रस्त धातुओं के लक्षण बतलाये गये हैं। हृदयोत्क्लेश—हृदय में स्थित दूषित रस को वमन द्वारा निकलना। रस का स्थान हृदय होता है, इसलिए 'रसस्थ' इस पद को रस की विशेष दूष्यता बतलाने के लिये पुनः इसका निर्देश किया गया है। सामान्यतया सभी ज्वरों में रस दूषित होता है अथवा सभी ज्वर रसानुगामी होते हैं। दैन्य का अभिप्राय क्लान्त चित्त होता है।

जानु के नीचे जंघा के मांसपिण्ड को पिण्डिका कहते हैं। तस्या उद्वेष्टनं—अर्थात् दण्ड आदि से पीटने पर जैसी वेदना होती है, उसे पिण्डिकोद्वेष्टन कहा जाता है। अन्यत्र भी इसका यही अर्थ लेना चाहिए। सृष्टमूत्रपुरीषता—मल-मूत्र का अधिक आना। ऊष्मा अर्थात् बाह्य शरीर अधिक गरम होता है। मांसधातुगत ज्वर में बाह्य ऊष्मा विशेष पायी जाती है। वैसे प्रायः सभी ज्वरों में सन्ताप होता है। कहीं-कहीं "उष्माऽन्तर्मोहविक्षेपौ" पाठान्तर मिलता है, तो यहाँ ऊष्माऽन्तः का अर्थ अन्तर्दाह करना चाहिए। हस्तादिचालन को विक्षेप कहते हैं।

भृशं स्वेदः--मेदोगत ज्वर में पसीना अधिक होता है। पसीना मेद का मल होता है। मेद की विकृति से शरीर में दुर्गन्ध आने लगती है। असहिष्णुता—असहनीय पीड़ा। आचार्य कार्तिक ने असहिष्णुता का अर्थ क्रोध किया है।

भेदोऽस्थनाम्—अस्थि टूटने के समान पीड़ा होती है। कूजनं—अस्फुट आवाज को कहा जाता है। कहीं 'कुञ्चनम्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। 'कुञ्चनम्' का अर्थ अस्थियों का संकोच होता है। तमःप्रवेशनम् का अभिप्राय अन्धकार में प्रवेश होता है। महाश्वास का लक्षण श्वासाधिकार में कहा गया है। मर्म शब्द से हृदय समझना चाहिये, मर्मों में हृदय प्रधान होता है—ऐसा कार्तिक का मत है। हृदय को काटने जैसी पीड़ा मर्मच्छेद कहलाती है। जब ज्वर शुक्रगत होता है, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है। शुक्रस्थान का अर्थ शुक्रस्य स्थानम् नहीं करना चाहिये, क्योंकि शुक्र शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों में व्याप्त होता है, उसका कोई नियत स्थान

नहीं होता है, इसलिए इसकी व्याख्या 'शुक्रं च तत्स्थानं इति शुक्रस्थानम्' करनी चाहिए—ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है। सुश्रुत ने भी कहा है कि जैसे दूध में घी एवं गन्ने के रस में मधुरता होती है, वैसे ही मनुष्यों के शरीर में शुक्र रहता है। (सु. शा. ४)। विशेषतः पद से शुक्र का अत्यधिक विसर्ग अर्थात् स्खलन जानना चाहिए। इससे रक्तादिधातुगत ज्वर में भी कभी-कभी वीर्यस्खलन हो जाता है—ऐसा समझना चाहिए।

कालानुसार प्राकृत-वैकृत ज्वर

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः॥ ५५॥

(अ. हृ. नि. २।५०)

वर्षा, शरद् एवं बसन्त में क्रमशः वातज, पित्तज एवं कफज ज्वर प्राकृत होता है। इसके विपरीत वैकृत कहलाता है। वैकृतज्वर तथा प्राकृत वातज ज्वर कृच्छ्र-साध्य होता है।

(उक्तवातादिज्वराणां कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह—) वर्षेत्यादि। वर्षादिषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृतः; वर्षासु वातिकः, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः। अस्मादन्यो वैकृतः, यथा—वर्षासु पैत्तिक इत्यादि। स इति वैकृतो दुःसाध्यः, अर्थात् प्राकृतः सुखसाध्य इति। यदुक्तं—'प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' (च. चि. ३।४२)—इति। अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत् कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन वैकृतादभिन्नत्वात्। जतूकर्णेनाप्यसौ न पठितः। यदाह—'वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः' इति ? अत्रोच्यते; न प्राकृतत्वं सुखसाध्यत्वख्यापनपरा संज्ञा, किन्तु कुम्भकारादिवद्यौगिकत्वं; यतो यथर्तुप्रकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते, तत उद्भूतः प्राकृतः, तेन प्राकृतत्वेऽपि दोषस्वभावाद्वातिकस्य दुःखसाध्यत्वं वैकृतवदिति। दुःखसाध्यत्वेन वैकृतसाधर्म्याच्चरकजतूकर्णाभ्यां नोक्तः, न तु प्राकृतत्वाभावादित्यभिप्रायो वाग्भटस्येति। अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वम्, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात् सुखसाध्यत्वम्। तन्त्रान्तरं हि—'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'—इति॥ ५५॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त वातज आदि ज्वरों को कालानुसार प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाभेद से उल्लेख किया गया है—वर्षा, शरद् एवं वसन्त में क्रमशः होने वाले वातज, पितज एवं कफज ज्वर प्राकृत होते हैं। इसके विपरीत होने वाला ज्वर वैकृत होता है। अर्थात् वर्षा में पित्तज एवं कफज, शरद् में वातज एवं कफज तथा

वसन्त में वातज एवं पित्तज ज्वर वैकृत कहलाता है। इस प्रकार होने वाला वैकृत दुःसाध्य (कष्टसाध्य) होता है। प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है, किन्तु चरक ने कहा है—प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। (च. चि. ३) अर्थात् बसन्त एवं शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। यहाँ वाग्भट ने वातिक ज्वर को प्राकृत माना है, इसको अन्य विद्वान् ऐसा नहीं मानते; क्योंकि उसके दुःसाध्य होने से वैकृत ज्वर से कोई भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। जतुकर्ण भी इसे ऐसा नहीं मानते, उन्होंने कहा है—'वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः।' अर्थात् वसन्त एवं शरद् में होने वाला कफज एवं पित्तज ज्वर प्राकृत होता है, अन्य ज्वर वैकृत होता है। यहाँ पर ज्वरों की प्राकृत संज्ञा सुखसाध्यता का वाचक नहीं है, किन्तु कुम्भकार के समान यौगिक संज्ञा है। ऋतु के अनुसार दोषप्रकोप प्रकृति कहलाती है और उससे होने वाला ज्वर प्राकृत कहलाता है। इसलिए वातिक ज्वर प्राकृत होते हुए भी दोषस्वभाव से अन्य वैकृत ज्वरों के समान दुःसाध्य माना गया है। इसी अभिप्राय से चरक तथा जतूकर्ण ने वातज ज्वर को प्राकृत नहीं माना, प्राकृतत्व का अभाव होने से नहीं। अर्थात् वातज ज्वर प्राकृत होने पर भी वैकृत के समान दुःसाध्य होता है, इसलिए पूर्व में वर्णित प्राकृत ज्वरों की सुखसाध्यता का उल्लेख करते समय चरक एवं जतूकर्ण ने इसका (वातज ज्वर का) उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि वह प्राकृत होते हुए भी सुखसाध्य नहीं होता। यही वाग्भट्ट का अभिप्राय है।

अन्य रोगों में प्रकृति, देश, काल आदि समान हो, तो वह असाध्य कहा गया है किन्तु ज्वर में इससे विपरीत होता है। यह इसका प्रभाव ही है कि प्राकृतावस्था में ज्वर सुखसाध्य होता है। तन्त्रान्तर में कहा गया है—

ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥

अर्थात् ज्वर में ऋतु एवं दोष का समान होना, प्रमेह में दोष एवं दूष्यों का समान होना तथा पुराना रक्तगुल्म सुखसाध्य होता है॥

प्राकृत ज्वर में दोषों का अभाव

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम्।
कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः॥ ५६॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु॥ ५७॥

(अ. हृ. नि. २।५१-५२)

वर्षा में वात दोष प्रकुपित होकर पित्त एवं कफानुबन्धी ज्वर को उत्पन्न करता है। शरद् में पित्त ज्वर आता है, उस पित्त का अनुगामी कफ होता है। पित्त एवं कफ के द्रव होने तथा विसर्गकाल होने से उक्त ज्वर में लंघन करने में भय नहीं होता। वसन्त ऋतु में कफ ज्वर करता है, उसके अनुगामी वात एवं पित्त दोनों होते हैं ॥

तेषामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह—वर्षास्वित्यादि। दुष्ट इति कुपितः, ग्रीष्मे सञ्चितत्वात्। पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितपित्तकफानुबन्धः। यदुक्तं—'भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः' (च. सू. ७।३४) इति। कुर्यादिति छेदः। पित्तमित्यादि। पित्तं च शरदि दुष्टं ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन सम्बध्यते, एवं कफो वसन्ते इत्यत्रापि योज्यम्। पित्तदुष्टिश्च शरदि; वर्षासु संचितत्वात्। अनुबलोऽनुबन्धः, तस्य च हेतुर्वार्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव। तत्प्रकृत्येत्यादि। तयोः पित्तश्लेष्मणोः प्रकृत्या स्वभावेन, तत्कृतयोर्ज्वरयोरनशनाल्लङ्घनान्न भयं भवति। यदुक्तं—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम्' इति। विसर्गाच्च हेतोर्नानशनाद्भयम्। वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गः, तत्रोपचितबलाः प्राणिनां भवन्ति, सोमस्य बलवत्त्वात्; शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानम्, तत्रापचितबलाः प्राणिनः, सूर्यस्य बलवत्त्वादिति व्युत्पादितं शास्त्रे। 'तत्प्रकृत्या विसर्गस्य' इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या कफपित्तप्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम्। कफ इत्यादि। तं कफमनु वातपित्ते भवतः, अनुबन्धनरूपे भवत इत्यर्थः। हेतुश्चात्र वसन्तस्यादानमध्यत्वेनाग्नेयरूक्षत्वेन वातपित्तप्रकोपकत्वम्। यदुक्तं चरके 'आदनमध्ये तस्यापि वातपित्ते भवेदनु' (च. चि. ३।४७) इति। अत्र कफपित्तप्रकृत्या लङ्घनं युक्तमेव, किंत्वादानमध्यत्वेन न निर्भयं तत् कार्यम्। अत एव 'तत्र नानशनाद्भयम्' इत्येतस्मात् पूर्वमेव पठितम्, अन्यथा सर्वशेषे पठितं स्यादिति ॥ ५६-५७ ॥

सरोज व्याख्या—इन प्राकृत ज्वर की विशिष्ट चिकित्सा हेतु इनके उत्पत्तिक्रम का निर्देश करते हैं—दुष्ट अर्थात् कुपित हुआ वायु ग्रीष्म ऋतु में सञ्चय होने से स्वाभाविक रूप से वर्षा ऋतु में प्रकुपित होता है। पित्तश्लेष्मान्वितः—अर्थात् तत्कालोचित पित्त और कफ का अनुबन्ध है। जैसा कि चरक ने कहा है—

भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥

(च० सू० ६।३४)

अर्थात् वर्षा ऋतु में भूमि से वाष्प निकलने, आकाश से जल बरसने तथा जल

का अम्लविपाक होने के कारण जब अग्नि का बल क्षीण हो जाता है, तब वातादि तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। कुर्यात् क्रिया का सम्बन्ध वायु के साथ भी है और और पित्त के साथ भी। अर्थात् वर्षासु दुष्टो मारुतः पित्तश्लेष्मान्वितः ज्वरं कुर्यात्, एवं च शरदि दुष्टं पित्तं ज्वर कुर्यात्, तस्य दुष्टपित्तस्य अनुबलः कफश्च भवति। अन्त में कुर्यात् का सम्बन्ध 'कफो वसन्ते' के साथ भी है अर्थात् 'वसन्ते कफः प्रकुपितः ज्वरं कुर्यात्'। इस प्रकार कुर्यात् का सम्बन्ध वात, पित्त एवं कफ इन तीनों दोषों के साथ हो जाता है। पित्त की दुष्टि शरद् ऋतु में होती है, क्योंकि वर्षा ऋतु में पित्त का सञ्चय होता है। अनुबल अनुबन्ध (अप्रधान) दोष को कहते हैं। उसका कारण भी वर्षर्तुजन्य क्लेदानुवृत्ति है॥

तत्प्रकृत्या—अर्थात् उन पित्त एवं कफ की प्रकृति अथवा स्वभाव से तथा विसर्ग काल होने से उनसे उत्पन्न ज्वरों में अनशन (लंघन) का भय नहीं होता। जैसा कि कहा गया है—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्।
आमक्षयादूर्ध्वगतौ वायुर्न सहते क्षणम्॥

अर्थात् कफ और पित्त यह दोनों द्रव धातु होते हैं, इसलिए ये अधिक से अधिक लंघन को सह सकते हैं, किन्तु इनमें लंघन करने से जब आम दोष का क्षय हो जाता है, तब वायु ही शेष रह जाता है और निराम वायु क्षण भर भी लंघन को सह नहीं सकता। विसर्गकाल के सौम्य होने से इसमें लंघन करने से कोई भय नहीं होता है। वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीनों ऋतुएँ विसर्गकाल कही जाती हैं। इस काल में प्राणी स्वभाव से शक्तिशाली होता है, क्योंकि इस काल में सोम शक्तिशाली हो जाता है। शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म आदान काल कहलाता है, इस काल में सूर्य के बलवान होने के कारण प्राणियों का स्नेहांश सूर्य की तीव्र किरणों द्वारा खींच लिया जाता है, जिससे प्राणी बलहीन हो जाते हैं।

तत्प्रकृत्या विसर्गस्य—इस पाठान्तर में 'तत्प्रकृत्या विसर्गस्य च प्रकृत्या' ऐसा कर लेना चाहिए। तत्प्रकृत्या अर्थात् कफ और पित्त की प्रकृति तथा विसर्गकाल की प्रकृति होने से उस काल में अनशन करने से कोई भय नहीं रहता।

कफ इत्यादि—तं कफमनु वातपित्ते भवतः, अर्थात उस कफ के साथ वात एवं पित्त दोनों अनुबन्ध रूप में होते हैं। उसमें हेतु का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वसन्त ऋतु प्रकृति से कफ का प्रकोपकाल है, किन्तु आदानकाल के मध्य का ऋतु होने से इसमें आग्नेय एवं रूक्ष भावों की वृद्धि से पित्त एवं वायु का प्रकोप स्वभावतः होता है। जैसा कि चरक ने कहा है—वसन्त ऋतु आदानकाल का मध्य ऋतु होता है, इससे आग्नेय एवं रूक्ष होने के कारण स्वभाव से प्रकुपित कफ के साथ वात-पित्त का अनुबन्ध बना रहता है (च० चि० ३)

इसलिए वसन्त ऋतु में कफ पित्त प्रकृति को लंघन कराना ही चाहिये, किन्तु आदान काल का मध्य होने से से सोच-विचार कर लंघन कराना चाहिए, निर्भय होकर नहीं। इसलिए 'तत्र नानशनाद् भयम्' इस वाक्य को वाग्भट ने वसन्त में होने वाले कफ ज्वर के वर्णन के पूर्व रखा है। यदि वसन्त में निर्भय होकर लंघन करने की बात होती, तो शेष सभी प्रकरण के बाद 'तत्र नानशनाद् भयम्' कहा जाता ॥

कालानुसार ज्वर की प्रवृत्ति

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ॥ (अ.हृ.नि. २।२३-१)

दोष प्रकोपक काल के अनुसार सभी ज्वरों (रोगो) की प्रवृत्ति या वृद्धि होती है।

कालेऽपि दोषविशेषस्य लक्षणमित्याह—काल इत्यादि। यथास्वं काले यस्य वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र तज्जन्यज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादो वृद्धिर्वा भवति। अथवा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य, वृद्धिर्विषमज्वरस्येति ॥

सरोज व्याख्या—काल भी दोषविशेष का लक्षण होता है। यथास्वं काले—अर्थात् जिस वातादि दोष का जो प्रकोपक काल होता है, उस काल में तद्दोषजन्य ज्वर की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) अथवा वृद्धि होती है। अथवा नित्य ज्वर की प्रवृत्ति और विषम ज्वर की वृद्धि उस काल में होती है ॥

उपशय-अनुपय भी दोषबिशेषबोधक

निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥

(अ० हृ० नि० २।२३-२)

निदान में वर्णित रोगों के सभी कारण अनुपशाय तथा उसके विपरीत उपशय होते हैं।

(यथा कालो दोषविशेषस्य लक्षणम्) तथोपशयानुपशयावपि लक्षणमित्याह—निदानेत्यादि। निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तानुपशयः। विपरीतैर्दोषादिविपरीताहाराचारैरुपशायिता सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति ॥ ५८ ॥

सरोज व्याख्या—उपशय एवं अनुपशय भी व्याधि में दोषविशेष के ज्ञापक होते हैं। जो आहार-विहारादि जिस रोग के निदान में उल्लेख किये गये हैं, उनके प्रयोग से होने वाले दुःख (व्याधि) अथवा अनुपशय को निदानोक्तानुपशय कहते हैं। इसी तरह रोगोत्पादक आहार-विहार के विपरीत अथवा दोषविपरीत आहार-विहार का प्रयोग करने से रोगमुक्ति रूप उपशयिता सुखजननशीलता विपरीतोपशयिता कहा जाता है।

अन्तर्वेग-बहिर्वेग ज्वर

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥ ५९ ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।
सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च । (च. चि. ३।३९-४१)

अन्तर्दाह, अत्यधिक प्यास, प्रलाप, श्वास, भ्रम, सन्धि एवं अस्थि में शूल, पसीना न आना एवं दोष तथा मल का अवरोध अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण है। बाह्य ताप की अधिकता, तृष्णा, प्रलाप, श्वास आदि लक्षणों की अल्पता बहिर्वेग ज्वर के लक्षण है। यह सुख साध्य होता है।

उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात् कश्चिदन्तर्वेगो भवति कश्चिद्बहिर्वेगः, तयोर्लक्षणमाह—अन्तर्दाह इत्यादि। श्वसनं श्वासः; 'सदनम्' इति पाठान्तरं, तन्न युक्तमिति जेज्जटः; यतोऽन्तर्वेग एव सुश्रुते गम्भीराख्यया पठितः, तत्र च श्वास एव पठित इति। विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः। सन्ताप इत्यादि। तृष्णादीनामित्यादिशब्देनोक्तप्रलापादीनां ग्रहणम्। मार्दवं स्वल्पत्वम्। अस्य सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य कृच्छ्रसाध्यतां सूचयति, असाध्यतां वा, 'गम्भीरतीक्ष्णवेगार्थं ज्वरितं परिवर्जयेत्' (सु० उ० ३९) इति सुश्रुतवचनादिति ॥ ५९-६० ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त ज्वरों में सम्प्राप्तिवश कुछ ज्वर अन्तर्वेग हो जाते हैं और कुछ बहिर्वेग रह जाते हैं। अन्तर्दाह आदि का क्रमशः लक्षण निर्देश करते हैं। श्वसन अर्थात् श्वास का वेग बढ़ जाता है। सदनम् पाठान्तर भी आया है, किन्तु यह जेज्जट के विचार से उचित नहीं है। सुश्रुत में अन्तर्वेग ज्वर को गम्भीर कहा गया है, वहाँ श्वास ही पाठ मिलता है। विनिग्रह का अभिप्राय अप्रवृत्ति होता है। तृष्णादीनाम्—यहाँ पर आदि शब्द से प्रलाप आदि का ग्रहण करना चाहिए। मार्दव का अभिप्राय है—तृष्णादि लक्षण अल्प मात्रा में पाये जाते है। बहिर्वेग ज्वर की सुखसाध्यता के निर्देश से अन्तर्वेग ज्वर की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्। (सु. उ. ३९।९४) अर्थात् गम्भीर ज्वर लक्षण वाले रोगी की ज्वरवेग के तीक्ष्ण होने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥

आमज्वर

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥ ६१ ॥

तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवाञ्ज्वरः ॥ ६२ ॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि, न दद्यात्तत्र भेषजम् ।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ ६३ ॥
[शोधनं, शमनीयं च करोति विषमज्वरम्]

लालस्राव की प्रवृत्ति, जी मिचलाना, हृदय का भारी होना, अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, अपचन, मुख में विरसता, शरीर में भारीपन, भूख न लगना, बहुमूत्रता, दोषों की स्तब्धता (जकड़न या न निकलना) एवं ज्वर की तीव्रता—ये आम ज्वर के लक्षण हैं। इस अवस्था में (शमन एवं शोधन) औषधि नहीं देनी चाहिए; क्योंकि आमदोषयुक्त ज्वर में (शमन एवं शोधन) औषधि देने पर वह और अधिक बढ़ जाता है ॥

पच्यमान ज्वर

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ६४ ॥
(च० चि० ३।१३६-२, १३७-१)

ज्वर का वेग तीव्र होना, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मलों की प्रवृत्ति एवं जी मिचलाना पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं।

निरामज्वर

क्षुत् क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ ६५ ॥
(च० चि० ३।१३७-२, १३८-१)

भूख का लगना, कृशता, शरीर में हल्कापन, ज्वर का थोड़ा रह जाना, दोषों का निकलना तथा आठवाँ दिन ये निरामज्वर के लक्षण हैं ॥

चिकित्साविशेषार्थमामपच्यमाननिरामलक्षणान्याह—लालेत्यादि । ननु 'न दद्यात्तत्र भेषजम्' इति विरुद्धं, द्विविधं हि भेषजमुक्तं चरकेण—द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति; तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्यभूतं लङ्घनस्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गाद्यंशृतं च प्रयुज्यते ? उच्यते; भेषजशब्देनात्रान्नपानसाधनव्यतिरिक्ता कल्पनोच्यते, न तु सामान्येनौषधमात्रम् । कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्; तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधानदर्शनात् । एवं पच्यमानेऽपि बोद्धव्यं, तत्रापि सामतायाः सद्भावात् । क्षुदित्यादि । असमासकरणात् क्षुदादयो व्यस्तसमस्ता अष्टाहश्च पक्वलक्षणमिति जेज्जटः । हरिचन्द्रस्त्वाह—असत्यत्यष्टाहे क्षुदादिभिर्निरामत्वं दोषप्रवृत्त्या वा क्षुदाद्यभावेऽप्यष्टाहेनैव

शिष्यहितैषितया कालं लक्षणं च निर्दिष्टवानिति। द्विविधा हि सामता-- एका रसस्य, अपरा दोषस्य। रससामता तु मुखवैरस्यादिलक्षणा, दोषसामता तरुणस्वरूपा, साऽष्टाहनैवापैति। अत्र च हरिचन्द्रेण हेतुरुक्तः—'सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि' इति। सप्तानां धातूनां धात्वग्निना सप्ताहेनामपाकादष्टाहेनैव निरामत्वमिति। रससामता त्वष्टाहात् परतोऽप्यनुवर्तते। एनमर्थं जेज्जटोऽपीच्छति, यदेवं लिखति चरकसुश्रुतटीकायां 'तरुणा सामताऽष्टाहादपैति, रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते' इति। एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते, रससामतायां तु पाचनं दीयते। अत एवाह चरकः--'ज्वरितं षडहेऽतीते लध्वन्नप्रतिभोजितम्। पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्' (च० चि० ३।१६०-१६१) इति। तथा 'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्' (सु० उ० ३९।११५) इत्यभिधायापि यत् सुश्रुतेनोक्तं 'सप्तरात्राद् परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्। दशरात्रात् परं केचिद् दातव्यमिति निश्चिताः' (सु० उ० ३९।११९) इति, तेनैवं ज्ञापयति-- सप्ताहादर्वाक् पाचनमपि न दीयत इति कार्तिककुण्डेनापि व्याख्यातमिति। ननु, 'ज्वरितं षडहेऽतीते' (च० चि० अ० ३) इति चरकवचनस्य 'सप्तरात्रात् परं' (सु० उ० अ० ३९) इत्यादिना सुश्रुतवचनेन विरोधः, यतः षडहेऽतीते सप्तमदिनं भवति, तत्र कषायं विधत्त इति? उच्यते—षडहेऽतीते सप्तमे लध्वन्नप्रतिभोजितमष्टमे कषायं पाययेदित्यष्टमपदलोपाद्योज्यं रसौदनवदिति चक्रः, 'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (च० चि० अ० ३) इति दोषश्रुतेरुक्तसुश्रुतविरोधाच्च। प्रकारान्तरेणैनमर्थं कार्तिककुण्डोऽप्याह, तद्यथा- षडहेऽतीते इति ज्वरोत्पाददिनं परित्यज्य गणनात्, वस्तिदानदिनपरिहारेण परिहारकालगणनावत्। एवं 'पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्' इत्येतदपि वचनं व्याख्येयम्। भट्टारहरिचन्द्रेणापि सप्तमदिने कषायपानं यद् व्याख्यातं तस्यायमेवाभिप्रायो गवेषणीयः, सुश्रुतादिविरोधात्। चन्द्रिकाकारेणापि व्याख्यातम्, 'अक्षिरोगे दिनचतुष्टयवज्ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं न वा शमनशोधने' इति। यत्तु पेयाद्यनन्तरं हारीतेनोक्तम्—'एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रं सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसंयोगाञ्ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्' इति, तथा 'इति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः। अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम्' इति खरनादवचनं च पूर्ववदष्टाहप्रतिपादकं द्रष्टव्यम्। अथवा पित्तज्वराभिप्रायेणैतद्वचनद्वयम्। यदाह सुश्रुतः—'सप्तरात्रात्परम्' इत्यारभ्य, यावत् 'पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं दोष-

पाकतः' (सु. उ. अ. ३९) इति। सप्ताहादर्वागपि यदेतत्पाचनकषायनमुक्तं तन्नात्युद्भूतसामतायां द्रष्टव्यम्। यदाह वाग्भटः 'सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः। केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्वणेन च॥ तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः। दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि॥ अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (वा. चि. अ. १) इति। 'अयमर्थोऽभियुक्तैश्च कैश्चिदुक्तश्चिकित्सकैः। सप्ताहात् परतोऽस्तब्धे सामे स्यात् पाचनं ज्वरे॥ निरामे शमनं, स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत्' इति संक्षेपः। विस्तरस्तु कषायनिर्णयप्रकरणे द्रष्टव्यः। पक्वज्वरलक्षणेन जीर्णज्वरलक्षणमपि चिकित्सोचितं बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे 'आसप्तरात्रम्' इत्यादि। जतूकर्णेनाप्युक्तं—'जीर्णस्त्रयोदशदिवसः' इति। 'त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः। प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते' इति तु तन्त्रान्तरमतिपुराणाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्॥ ६५॥

सरोजव्याख्या—ज्वर की अवस्थाविशेष के अनुसार विशिष्ट चिकित्सा के लिये आम, पच्यमान एवं निराम लक्षण बतलाते हैं—लालाप्रसेक इत्यादि। 'न दद्यात् तत्र भेषजम्' अर्थात् आमज्वर में औषध प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह विरुद्ध है, क्योंकि चरक ने दो प्रकार की औषधि बतलायी है—१. द्रव्यभूत एवं २. अद्रव्यभूत। इनमें कषाय आदि द्रव्यभूत है। लंघन स्वेदन आदि अद्रव्यभूत है, किन्तु आम ज्वर की चिकित्सा में लंघन आदि अद्रव्यभूत एवं षडङ्गपानीय आदि द्रव्यभूत औषधि का प्रयोग किया जाता है। द्रव्याद्रव्य द्विविध चिकित्सा का आमज्वर में प्रयोग करने पर 'न दद्यात् तत्र भेषजम्' का समाधान बतलाते हैं कि भेषज शब्द से यहाँ अन्नपान साधन छोड़कर कषायकल्पना का निषेध किया गया है, न कि सामान्य औषध मात्र का। इसी तरह तरुणज्वर में भेषजपान का निषेध होने पर भी भेषजविधान पाया जाता है। यहाँ पर भी कषायरसप्रधान कषायपान का ही निषेध है; क्योंकि कषायरस द्रव्य अत्यन्त स्तम्भक होने के कारण आम को रोककर अन्य उपद्रवों को पैदा कर देगा। उसलिए दीपन पाचनादि षडङ्ग पानीय एवं लघु ज्वरघ्न पेया आदि तथा लंघन का प्रयोग करना चाहिए। पच्यमानावस्था में सामता रहने से दोषों के पाचन हेतु दीपन-पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

क्षुत् आदि एवं एवं अष्टाह पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में ज्वरोत्पादक दोष के पक्वावस्था के लक्षण हैं, ऐसा आचार्य जेज्जट का मत है। हरिचन्द्र कहते हैं कि आठ दिन से पूर्व भी यदि क्षुत्क्षामता आदि या दोषप्रवृत्ति के लक्षण मिले, तब उसे निराम ज्वर समझना चाहिए, यदि क्षुत् क्षामता आदि लक्षण न

प्रकट हुए हों, तो भी ज्वर का आठवाँ दिन निराम ज्वर का लक्षण (मर्यादा) है। शिष्यों के हित के लिए ज्वर का काल एवं निरामावस्था का लक्षण दिया गया।

सामता (आमावस्था) दो प्रकार की होती है—(१) रस की सामता (२) दोषों की सामता। रस की सामता में तो मुख वैरस्य आदि लक्षण मिलते हैं, दोष की सामता में दोषों का तारुण्य (विबन्ध)। यह दोनों सामता अष्टाह (आठवें दिन) आने पर नष्ट हो जाती है। इस विषय में हरिचन्द्र हेतु देते हैं—

सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः।
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥

अर्थात् दोष सात धातुओं में रहने के कारण एक-एक दिन करके सात दिन में परिपक्व हो जाते हैं। इसलिए प्राय आठवें दिन ज्वर निराम अथवा पक्व हो जाता है।

इसका तात्पर्य है कि दोष एवं धातुगत सामता का क्रमशः सात दिन में परिपाक हो जाता है, आठवें दिन प्रायः निराम ज्वर होता है, केवल रससामता तो आठ दिन के पश्चात् भी रहता है। इसको जेज्जट भी मानते हैं और चरक एवं सुश्रुत की टीका में लिखते हैं—तरुणा सामताऽष्टाहादपैति, रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते। अर्थात् तरुण सामता सात दिन चलकर आठवें दिन नष्ट हो जाती है, किन्तु रस-सामता आठ दिन के आगे भी चलता रहता है। इस कथन का प्रयोजन है कि तरुण सामता में औषध का प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिए, किन्तु रससामता में पाचन औषधियाँ दी जाती हैं। इसलिए चरक ने कहा है—

ज्वरितं षडहेऽतीते लध्वन्नप्रतिभोजनम्।
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥ (च. चि. ३।१६०-१६१)

अर्थात् ज्वर के रोगी को छः दिन व्यतीत हो जाने पर ज्वर एवं दोष के विपरीत हलका भोजन कराने के पश्चात् अपक्व दोष में पाचन और निरांम दोष में शमन कषाय पीने को देवें। इसी तरह सुश्रुत ने कहा है—

मृदौज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च।
पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे दोषं तदौषधम् ॥ (सु. उ. ३९।११५)

अर्थात् ज्वर के मृदु होने पर तथा शरीर के लघु होने एवं मल-मूत्रादि की प्रवृत्ति होने पर दोष को निराम समझकर औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

इतना कहकर सुश्रुत ने आगे चलकर पुनः कहा है—

सप्तरात्रात् परं कोचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्।
दशरात्रात् परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः ॥ (सु० उ० ३९।११६)

अर्थात् कई विद्वान् सात दिन के पश्चात् एवं कुछ विद्वान् दस दिन के पश्चात् औषध देने का निर्देश करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि सात दिन पूर्व पाचन औषध भी नहीं देनी चाहिए। आचार्य कार्तिककुण्ड ने भी इसी प्रकार की व्याख्या की है।

अब यहाँ शंका होती है कि चरकोक्त 'ज्वरितं षडहेऽतीते' का सुश्रुतोक्त 'सप्तरात्रात् परम्' इत्यादि वचन द्वारा विरोध होता है, क्योंकि चरक छः दिन बीतने पर सातवें दिन एवं सुश्रुत ने सात दिन बीतने पर आठवें दिन कषाय देने का निर्देश किया है? इस पर चक्रपाणि कहते है कि छः दिन बीतने पर सातवें दिन रोगी को लघु अन्न देकर आठवें दिन कषायपान कराना चाहिए। यहाँ पर अष्टम पद का लोप होने के कारण 'अष्टमे कषायं पाययेत्' इस प्रकार समझ लेना चाहिए। रसौदनवत्—अर्थात् जिस प्रकार रस शब्द से पूर्व मांस शब्द जोड़कर मांसरस एवं ओदन अर्थ किया जाता है। इसी से चरक ने आगे कहा है—'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (च० चि० ३) अर्थात् दोष की आमावस्था में प्रयुक्त औषध ज्वर को बढ़ा देती है। इस प्रकार चरकोक्त दोषापत्ति एवं सुश्रुतोक्त 'सप्तरात्रात् परं केचित्' इत्यादि के परस्पर विरोध का समाधान भी हो जाता है।

आचार्य कार्तिककुण्ड ने भी प्रकारान्तर से यही अर्थ किया है कि 'षडहेऽतीते' इस श्लोक में कहे गये छठे दिन की, ज्वरोत्पादक प्रथम दिन को छोड़कर, गणना करनी चाहिए, जिस प्रकार वस्तिदोष में जिस दिन वस्ति दी जाती है, उस दिन को छोड़कर अगले दिन से परिहारकाल माना जाता है।

पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने।
शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्॥

अर्थात् दोषों का सामावस्था में रोगी को सातवें दिन औषध देनी चाहिए। यदि ज्वर निराम हो, तो शमन चिकित्सा द्वारा उपचार करना चाहिए। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या भी पूर्वोक्त विधि से करनी चाहिए। अर्थात् ज्वरोत्पादक दिन को छोड़कर अगले दिन से सातवें दिन औषध देने पर ज्वरोत्पादक दिन से आठवाँ दिन हो जाता है। भट्टार हरिचन्द्र ने भी जो सात दिन में कषायपान का उल्लेख किया है, उसका भी यही अभिप्राय समझना चाहिए। अन्यथा सुश्रुत आदि से विरोध हो जायेगा।

चन्द्रिकाकार भी सात दिन तक ज्वर की सामावस्था मानते हैं और उस अवधि में पाचन या शमन-शोधन ओषधियों का निषेध किया है—"अक्षिरोगे दिनचतुष्टयवज्ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं न वा शमनशोधने"—इति। अर्थात् नेत्र रोगों में चार दिन तक सामताकाल होता है, उसी प्रकार ज्वर में एक सप्ताह तक

सामताकाल में पाचन, शमन या शोधन आदि किसी प्रकार की औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हारीत ने कहा है कि पेयादि विधान के पश्चात्।

एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रं सप्तमेऽहनि।
पिबेत् कषाय संयोगान् ज्वरघ्नान् साधुसाधितान् ॥

अर्थात् इस पेयादि क्रम को छः दिन तक प्रयोग करें, सातवें दिन ज्वरनाशक कषाय योगों का सेवन कराना चाहिए। खरनाद ने कहा है—

यति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः।
अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम् ॥

अर्थात् छः दिन तक नव ज्वर का जो विधान बताया है, उसको करने के पश्चात् पाचन अथवा शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। इन सबका पूर्ववत् एक ही मन्तव्य है कि आठवें दिन ज्वरघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अथवा हारीत एवं खरनाद के वचन पित्त ज्वर के लिये विधेय समझना चाहिए, क्योंकि सुश्रुत ने 'सप्तरात्रात्परम्' के पश्चात् पित्त ज्वर में सप्ताह से पूर्व भी औषधपान का उल्लेख किया है—

पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते।
अचिरं ज्वरितस्यापि भेषजं दोषपाकतः ॥ (सु० उ० ३९।१२०)

अर्थात् पैत्तिक ज्वर अथवा अल्पकालोत्पन्न पैत्तिक ज्वर तथा सद्यः समुत्पन्न (नवीन) पैत्तिक ज्वर में भी दोषों का पाक हो जाने पर सात दिन पूर्व भी ज्वर हेतु औषधि देना चाहिए। सप्ताह से पूर्व जो यहाँ पर पाचन कषाय का प्रयोग बताया गया है, वह अत्युग्र (अत्यधिक) सामावस्था में नहीं देना चाहिए। अल्पसामता में दिया जा सकता है; क्योंकि उसका पाचन शीघ्र हो जाता है। वाग्भट्ट ने कहा है--

सप्ताहादौषध केचिदाहुरन्ये दशाहतः।
केचिल्लध्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्वणे न तु ॥
तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदयौ यतः।
दोषोऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि ॥
अपच्यमाने भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ (अ. हृ. चि. १।४२-४४)

अर्थात् कुछ आचार्यों का कथन है कि ज्वर में सात दिन के पश्चात् ज्वरनाशक औषध देना चाहिए। कुछ आचार्यों का कथन है कि दस दिन बीत जाने पर शमन औषधि देना चाहिए। कुछ आचार्यों का कथन है कि आम दोष की अधिकता न होने पर लघु अन्न सेवन करा के औषध (शमन) प्रयोग करना चाहिए।

परन्तु आम ज्वर में शमन औषधि देनी ही नहीं चाहिए; क्योंकि आम ज्वर (तरुण ज्वर) रहने पर, दोषों के वेग का उदयकाल, वृद्धिकाल रहने पर अथवा दोषों का अत्यन्त सञ्चयकाल रहने पर जब कि तन्द्रा एवं स्तैमित्य विद्यमान हो, उस समय शमन औषध व पचने के कारण ज्वर को अधिक ज्वलित (तीव्र) कर देती है। साम-निराम अवस्था में औषधि प्रयोग का नियम संक्षेप में निर्देश करते हैं—

सप्ताहात्परतोऽस्तब्धे सामे स्यात्पाचनं ज्वरे।
निरामे शमनं स्यब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥

अर्थात् सात दिन के पश्चात् साम दोष स्तब्ध न रह गया हो, तो सामावस्था को दूर करने के पश्चात् पाचन का प्रयोग करना चाहिए। यदि दोष निराम हो गये हो, तो शमन औषध प्रयोग करना चाहिए; किन्तु मलों की स्तब्धता एवं दोषों की सामता बनी रहने पर किसी प्रकार की भी औषध का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यह संक्षेप में कह दिया गया, इसका विस्तृत वर्णन कषायनिर्णयप्रकरण में द्रष्टव्य है। पक्व ज्वर लक्षण के साथ जीर्ण ज्वर का लक्षण भी चिकित्सा में सुविधा के लिये तत्रान्तर से उद्धृत कर बताया जाता है—

आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।
मध्ये द्वादशरात्रन्तु पुराणमत उत्तरम् ॥

अर्थात् सप्ताह पर्यन्त तरुण, बारह दिन तक मध्य ज्वर तथा बारह दिन के पश्चात् पुराण ज्वर कहा गया है। महर्षि जतुकर्ण भी कहते हैं कि तेरह दिन के पश्चात् ज्वर जीर्ण माना गया है। तन्त्रान्तर में अतिपुराणज्वर का लक्षण कहा गया है—

त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः।
प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

अर्थात् तीन सप्ताह पर्यन्त ज्वर रहने के पश्चात् जब ज्वर का वेग धीमा पड़ जाता है एवं प्लीहावृद्धि और अग्निमान्द्य हो जाता है, तब उसे जीर्ण ज्वर कहा जाता है।

साध्य ज्वर का लक्षण

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः। (च. चि. ३।५०-१)

बलवान् शरीर एवं अल्पदोष वाले रोगियों का उपद्रव रहित ज्वर साध्य होता है।

ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह—बलवत्स्वित्यादि। बलवत्सु पुरुषेषु साध्यः, यदुक्तं—'बलाधिष्ठानमारोग्यम्' (च. चि. अ. ३) इति। अल्पदोषेषु नातिप्रबलदोषेषु। अनुपद्रव इति ज्वरस्योपद्रवाः कासादयः। यदुक्तं तन्त्रान्तरे

'कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः। हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश' इति ॥

सरोजव्याख्या—बलवान् पुरुषों में होने वाला ज्वर साध्य होता है, क्योंकि कहा गया है—-बलाधिष्ठानमारोग्यम् (च. चि. ३)। अर्थात् मनुष्य का स्वास्थ्य उसके बल पर आश्रित होता है। अल्पदोषेषु–अर्थात् जिनमें दोष प्रबल न हो, वह ज्वर साध्य होता है। अनुपद्रव–अर्थात् कासादि उपद्रवों से रहित ज्वर साध्य होता है। तन्त्रान्तर में ज्वर के दश उपद्रव बताये गये हैं-—खाँसी, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, तृष्णा, अतिसार, विड्ग्रह (निबन्ध), हिचकी, श्वास एव अङ्गमर्द।

असाध्य ज्वर के लक्षण

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥ ६६ ॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः।
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥ ६७ ॥
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः।

(च. चि. ३।५०-२, ५३-१)

बहुत एवं बलवान् हेतुओं (कारणों) से उत्पन्न होने वाला, बहुत से लक्षणों से युक्त तथा शीघ्र ही चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट कर देने वाला ज्वर प्राणघातक होता है।

क्षीण एवं शोथयुक्त मनुष्य का पुराना गम्भीर ज्वर असाध्य होता है। जो ज्वर अत्यन्त बलवान् हो और जिसके कारण केशों में अपने आप सीमन्त (चीर या माँग) बन गया हो, वह ज्वर असाध्य होता है।

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥ ६८ ॥
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च।

(सु. उ. तं. ३९।९२-२, ९३-१)

अन्तर्दाह, तृष्णा, मल एवं वायु का अवरोध, श्वास एवं कास की अधिकता हो, तो उसे गम्भीर ज्वर कहते है।

आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥ ६९ ॥
क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम्।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥ ७० ॥
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥ ७१ ॥

वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।
हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ॥ ७२ ॥
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।
'हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥ ७३ ॥
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।'
(सु. उ. तं. ३९)

आरम्भ से ही गम्भीर ज्वर यदि विषम स्वरूप का एवं दीर्घकालिक हो, तो क्षीण एवं अति रूक्ष शरीर वाले मनुष्य को मार डालता है ।

जो रोगी (बार-बार) मूर्च्छित होकर पड़ा रहता है, जिसको बाहर से शीत एवं भीतर से दाह की अनुभूति होती है, ऐसा मनुष्य ज्वर से मर जाता है ।

जिसके शरीर पर रोंगटे खड़े होते हैं, जिसके नेत्र लाल होते हैं, जिसके हृदय में अत्यन्त शूल होता हो, जो नित्य मुख से श्वास लेता हो, ऐसे रोगी को ज्वर मार डालता है ।

जो हिक्का, श्वास एवं पिपासा से युक्त एवं मोह युक्त हो, जिसके नेत्र इधर-उधर घूम रहे हों, सर्वदा जोर से हाँफता हो एवं क्षीण हो गया हो, ऐसे रोगी को ज्वर मार डालता है ।

जिस रोगी की प्रभा एवं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो, जो क्षीण हो गया हो, अरुचि से पीड़ित हो, गम्भीर ज्वर के तीक्ष्ण वेग से पीड़ित हो, ऐसे रोगी को छोड़ देना चाहिये ।

ज्वरस्यासाध्यलक्षणान्याह—हेतुभिरित्यादि । ननु, यो हेतुभिर्बलिभिर्बहुभिश्चोपजायते स बहुलक्षण एव भवति, तत् किं बहुलक्षणवचनेन ? उच्यते—यथा स्वहेतुकुपिता दोषाः सर्वस्यैव रोगस्य हेतवो भवन्ति, प्राक्तनकर्मापेक्षया तु यदा विशिष्टां सामग्रीं सम्प्राप्तिलक्षणामासादयन्ति तदा ज्वरमापादयन्ति, तथा दूष्यादिसहकारिकारणसान्निध्यासान्निध्याभ्यां बहुलक्षणतामल्पलक्षणतां च कुर्वन्ति । तथा हि तन्त्रान्तरम्—'एकं द्वौ त्रीन् बहून् वाऽपि देहे धात्वादियोगतः । दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिताः पवनादयः' इति । अथवा विकृतिविषमसमवायाद् बहुहेतुरप्यल्पलक्षणोऽल्पहेतुरपि बहुलक्षण इति । प्राणान्तकृदिति छेदः । शीघ्रमिन्द्रियनाशन इति उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियशक्तिं रूपादिग्रहणलक्षणामुपहन्ति सोऽप्यसाध्यो नतूपेक्षया । अन्येऽपि रोगा उपेक्ष्यमाणा इन्द्रियशक्तिमुपघ्नन्ति, असाध्यतां चाधिरोहन्ति । एवं बहुलक्षणोऽप्यादावेव चिकित्स्यमान एव बोद्धव्यः । इन्द्रियाणि चैकादश बोद्धव्यानि सांख्यसिद्धान्तेन, तथा चरकसुश्रुतनिर्दिष्ट-

त्वात्; चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनं चेति बुद्धीन्द्रियाणि, हस्तपादगुदोपस्थ-जिह्वाः कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। ज्वरः क्षीणस्य शूनस्येत्यपरमसाध्यलक्षणम्। गम्भीरो दैर्घरात्रिक इति गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः; अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयो न शक्यते कर्तुम्। अन्ये त्वाहुः—गम्भीरोऽन्तर्वेगः। दैर्घरात्रिक इति 'दीर्घरात्रानुबन्धी' इति जेज्जटः, 'दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः'—इति चक्रः, असाध्य इत्यर्थः। अत्र पक्षे दैर्घरात्रिक इति पूर्वेण सम्बध्यते, असाध्य इति परेण। केशसीमन्तकृदिति। अकस्मात् केशेषु सीमन्तान् यः करोति। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—'केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ। लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे' इति। गम्भीरार्था ये जेज्जटादिभिर्व्याख्यातास्तेषु मध्येऽत्र गम्भीरोऽन्तर्वेग इत्ययमर्थो माधवकरस्याभिमतः, अत एवासौ तदनन्तरं सौश्रुतं गम्भीरलक्षणं लिखति—गम्भीर इत्यादि। य एव चरकेऽन्तर्वेगः स एव सुश्रुते गम्भीरः पठितः; तुल्यलक्षणत्वात्, पृथक्पाठाभावाच्चेति। आनद्धत्वेन चेति बद्धदोषत्वेन। आरम्भादित्यादि। आरम्भादुत्पादात् प्रभृति यस्य विषमज्वरः सोऽसाध्यः, यस्य तु नित्यज्वरिणो ज्वरोत्सृष्टस्य वाऽपचारादिना विषमः स साध्य एव। एतच्च विषमत्वं सततादिरूपं बोद्धव्यम्, नतु विषमत्वमात्रेण, वातिकज्वरेऽपि प्रसङ्गादिति। दैर्घरात्रिको व्याहृत एव; न चास्य पुनरुक्तत्वं, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वादधिकार्थ-प्रतिपादनार्थं बुद्ध्वाऽपि लिखितम्; एवं गम्भीरेऽपि वाच्यम्। 'अतिरूक्षस्य' इत्यत्र 'अनिमिषस्य' इति पाठान्तरे सदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः। विसंज्ञः विह्वलः। ताम्यते मुह्यति। शेते निपतित इति शयितो निपतित एवास्ते, न चोत्थातुं समर्थः। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्चेति शीतार्दितो बहिः, अन्तरुष्णोऽन्तर्दाहवान्। हृष्टरोमा रोमाञ्चितगात्रः। हृदि संघातशूलवानिति संघातरूपेण वस्तुना अष्ठीलिकादिनाक्रान्तमिव हृदयं मन्यते यः स तथा; अन्ये त्वाहुः—नानाप्रकारकशूलवानिति। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितीत्येवकारेण नासिकां व्यवच्छिनत्ति व्यादितास्यप्रतिपादनार्थम्, खरश्वास इत्यर्थः। हिक्केत्यादि। हिक्कादिभिर्मिलितैरेकेनापि बलवताऽसाध्यत्वम्। मूढं मोहयुक्तम्। विभ्रान्तलोचनं भ्रान्तप्रेक्षणं, चलितनेत्रं वा। सन्ततोच्छ्वासिनं निरन्तरखरश्वासयुक्तम्। हतेत्यादि। हतप्रभाणि हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; अथवा हता प्रभा दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा। 'अरोचकनिपीडितम्' इत्यत्र जेज्जटः पाठान्तरद्वयं पठति—'दुरात्मानमुपद्रुतम्' इति, व्याचष्टे च—दुरात्मानं दुष्टान्तःकरणम्, उपद्रुतमिति श्वासादिभिरुपद्रवैः; 'दुरात्मभिरुपद्रुतम्' इति पाठान्तरे तु राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः।

एषामसाध्यलक्षणानामुपलक्षणत्वादन्यान्यपि तत्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि। तद्यथा —प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना। सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमपसृज्यते ॥ ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकाशश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः। विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ गोसर्गे[1] वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्। लेपज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात्। स्वेदो ललाटे हिमवन्नरस्य शीतार्दितस्यातिसुपिच्छिलश्च ॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः॥ स्रुतस्वेदो ललाटाद्यः श्लथसन्धानबन्धनः। मुह्येदुत्थाप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति॥ यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः। रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत्'—इति। 'आधानजन्मनिधने[2] प्रत्यराख्ये[3] विपत्करे[4]। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा॥ ज्वरस्तु जातः षड्रात्रादश्विनीषु निवर्तते' (अ.सं.नि. १।१९-२०) इत्यादिना ग्रन्थेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितम्, तद्धारीतबृद्धवाग्भटयोर्द्रष्टव्यम्, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम्। सन्निपातासाध्यप्रकरणं यथा–पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्'—इति। सप्ताहाद्वाताधिकः, दशाहात्पित्ताधिकः द्वादशात्कफाधिकः, पित्ताधिकवद्वातपित्ताधिकः, कफाधिकवद्वातकफाधिकः' योगवाहित्वाद्वायोः। यदाह चरकः—'योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्'—इति (च० चि० ३।३८) धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थितविकल्पः; धातुमलपाकविकल्पे च दैवमेव हेतुः। उत्तरोत्तररोगवृद्धिबलहानिभ्यां शुक्रादिधातुसहितमूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेयः, अन्यथा तु मलपाकः। यदुक्तं—निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्। दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम्'—इति। ननु, तरतमभावात् स्थिरशीघ्रमध्यमशक्तित्वाद् दोषाणां कथं सप्ताहादिनियम इति चेत्? न; तथास्वभावाद्व्याधेः। विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः; यथाऽग्निरोहिणी सप्ताहेन हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति। तत्र 'सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च

---

१. गोसर्गे=प्रत्यूषे इत्यर्थः। २. निधनम्=जन्मतः सप्तमम्।
३. प्रत्यरम्=पञ्चमम्। ४. विपत्करम्=तृतीयम्।

वधाय च' (अ.हृ.नि. २।६२-६३) इति हारीतवचनसंवादार्थमेवं व्याचक्षते—दशमीप्रत्यासत्त्या नवमी द्वादशीप्रत्यासत्त्या एकादशी च गृह्यते; ततो वृद्धचेति पदमावर्त्य सर्वत्र द्वैगुण्यं कार्यम्। एवं, 'सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा' (सु. उ. अ. ३९।४५-४६) इत्यत्र सुश्रुतवाक्ये पुनः-शब्देन द्वैगुण्यमिति कार्तिककुण्डो व्याख्यातवान्। एवं 'दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः। दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः' (वा. नि. अ. २) इत्यत्राधिकशब्दमावर्त्य क्रियाविशेषणं कृत्वा द्वैगुण्य व्याख्यातम्। तथा, 'वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च' (वा. नि. अ. २) इत्यत्राग्निवेशमते प्रायोग्रहणेन द्वैगुण्यमिति। ननु, सप्तमीत्यादौ कथं तर्हि दशविंशतिद्वादशचतुर्विंशतीनां ग्रहणमिति चेत्? उच्यते; एकादशीत्यत्र एकेति पदमावर्तनीयम्, तेन नवमी एकेति दशमी लभ्यते, एकादशी एकेति द्वादशी लभ्यते, ततः सर्वत्र द्वैगुण्यम्। तथाशब्दः समुच्चये, तेन सप्तमी गृह्यते सा द्विगुणा च; एवं नवम्यादिषु योज्यम्। चतुर्विंशत्यधिकस्तु मर्यादादिवसो नास्ति, तत्प्रतिपादकागमादर्शनात्॥ ६६-७३॥

सरोज व्याख्या—बहुत एवं बलवान् हेतुओं (कारणों) से उत्पन्न होने वाला ज्वर बहुत लक्षण वाला ही होता है, पुनः बहुलक्षण क्यों कहा गया? इसका समाधान करते हैं कि जिस प्रकार अपने हेतुओं से प्रकुपित हुए दोष सभी व्याधियों के कारण होते हैं, जब वे दोष अपने पूर्वोपार्जित प्रकोपक कर्म की अपेक्षा सम्प्राप्तिरूप अर्थात् ज्वरोत्पादक सम्प्राप्तिरूप विशिष्ट सामग्री को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे दोष ज्वर पैदा करते हैं, उसी प्रकार दोष-दूष्य रूप सहकारी कारणों की प्राप्ति या अप्राप्ति से बहुलक्षण या अल्पलक्षण वाले ज्वर को पैदा करते हैं। अर्थात् प्रधान प्रकोपक हेतु अपने सहायक कारणों से मिलकर दोषों को तथा उनके सहकारी दूष्यों को अत्यधिक विकृत करते हैं, तब ज्वर बहुलक्षण होता है, अन्यथा नहीं। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि कुपित हुए वातादि दोष दूष्यादि के सान्निध्य या असान्निध्य से एक, दो, तीन या बहुत लक्षणों को उत्पन्न करते हैं।

एकं द्वौ त्रीन् बहून् वापि देहे धात्वादियोगतः।
दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिता पवनादयः॥

अथवा विकृतिविषमसमवायारब्ध होने से बहुत हेतुओं वाला अल्पलक्षण एवं अल्पहेतु वाला ज्वर बहुत लक्षण वाला भी हो सकता है।

प्राणान्तकृत्—प्राणनाशक अर्थ होता है। शीघ्रमिन्द्रियनाशनः—जो ज्वर उत्पन्न होते ही चिकित्सा करने पर भी इन्द्रिय-शक्ति (रूपादिग्रहण लक्षण) को नष्ट कर

देता है, वह असाध्य होता है। इन्द्रिय-शक्ति का नाश कर देना इसकी तीव्रता का द्योतक है, न कि उपेक्षा का, क्योंकि अन्य रोग भी उपेक्षा करने से श्रवणेन्द्रियादि की विषयग्रहणशक्ति को नष्ट करके असाध्यावस्था में बदल जाते हैं। यही स्थिति 'बहुभिर्बहुलक्षणः' वाले पूर्वोक्त ज्वर की समझनी चाहिये। सांख्य सिद्धान्तानुसार इन्द्रियाँ ग्यारह होती है। चरक-सुश्रुत भी यही ग्यारह मानते हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, स्पर्शन—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हस्त, पाद, गुदा, उपस्थ एवं जिह्वा—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा मन उभयात्मक इन्द्रिय है। यह दोनों पर नियन्त्रण रखता है। ऐसा ही अन्यत्र समझना चाहिये।

क्षीण तथा शोथयुक्त रोगी का ज्वर असाध्य होता है। 'गम्भीरो दैर्घरात्रिकः' यहाँ पर गम्भीर शब्द से अन्तर्धातुस्थ ज्वर समझना चाहिए अथवा गम्भीर की तरह गम्भीर, जिसमें वातादि दोषों का निश्चय न हो सके। अन्य आचार्य गम्भीर का अर्थ अन्तर्वेगज्वर करते हैं। 'दैर्घरात्रिक' को जेज्जट ने दीर्घरात्रानुबन्धी माना है। दीर्घ अर्थात् मरणरूप रात्रि की ओर प्रस्थान करता है, इसलिए इसे दैर्घरात्रिक कहते हैं, ऐसा आचार्य चक्रपाणि का मन्तव्य है। गम्भीर एवं दैर्घरात्रिक दोनों प्रकार का ज्वर असाध्य होता है। इस पक्ष में दैर्घरात्रिक का सम्बन्ध पूर्व अर्थात् गम्भीर के साथ होता है एवं 'असाध्य' का उत्तर पद के साथ होता है। अर्थात् दोनों बातें एक ही असाध्यावस्था की सूचक है।

केशसीमन्तकृद्—अर्थात् जिस ज्वर में अकस्मात् केशों में बिना प्रसाधन के सीमन्त (चीर—माँग) निकल आवे। तन्त्रान्तर में कहा गया है—

केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥

अर्थात् जिस ज्वर में केशों में सीमन्त पड़ जाय, भ्रूप्रदेश झुक जावें तथा पलकों के बाल झड़ने लगें, ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है। 'गम्भीर' शब्द के जो अर्थ जेज्जट आदि आचार्यों ने यहाँ किया है, उनमें माधवकर ने 'गम्भीर' शब्द से अन्तर्वेग ज्वर माना है। इसी से इसके पश्चात् सुश्रुतोक्त गम्भीर ज्वर का लक्षण लिखा है। जिसे चरक ने अन्तर्वेग कहा है, उसको ही सुश्रुत ने गम्भीर ज्वर कहा है। दोनों का लक्षण समान होने से इनका पृथक्-पृथक् उल्लेख भी नहीं मिलता। आनद्धत्वेन—दोष एवं पुरीष की विबन्धावस्था को कहा जाता है। आरम्भाद्—अर्थात् उत्पन्न होते ही जो विषम ज्वर बन जाता है, वह असाध्य होता है। नित्य ज्वर छूटने पर अथवा मिथ्या आहार-विहार के सेवन से विषमरूप में होने वाला ज्वर साध्य ही होता है। यह विषमता सततादि रूप में होने पर असाध्य होता है वातिक नित्य ज्वर में विषमारम्भविसर्गिता असाध्यतासूचक नहीं होती। दैर्घरात्रिकः, एवं गम्भीर दोनों का ही पुनः उल्लेख आ जाने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है, किन्तु

दोनों पाठ पृथक् पृथक् तन्त्रों के होने से इस दोष का समाधान हो जाता है। इस पर अधिक ध्यान रखने के लिए दुबारा उल्लेख किया गया है। अतिरूक्षस्य के स्थान 'अनिमेषस्य' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ सदैव नेत्र खोले रखना होता है।

'विसंज्ञ' का अर्थ विह्वल (संज्ञारहित) होता है। आचार्य डल्हण ने ताम्यते का अर्थ मुहुर्मुहुमूर्च्छां गच्छति किया है। अर्थात् बार-बार मूर्च्छा हो जाती है। शेते निपतितोऽपि वा—अर्थात् जो सोया पड़ा रहता है और उठकर बैठने में असमर्थ होता है। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च—अर्थात् बाहर रोगी को ठण्डक एवं अन्दर से अत्यन्त गर्मी (दाह) प्रतीत होता हो। हृष्टरोमा का अर्थ शरीर का रोमाञ्चित होना होता है। हृदिसंघातशूलवान्—अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि हृदय पर अष्ठीला आदि किसी ठोस वस्तु से प्रहार किया जा रहा हो। अन्य आचार्य नाना प्रकार के शूल से पीड़ित—ऐसा अर्थ करते हैं। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति—अर्थात् सदा मुख से ही उर्ध्व श्वास रोगी लेता है। हिक्कादि—यहाँ पर हिचकी, श्वास, तृष्णा आदि मिले हुए होते हैं। इनमें बढ़ा हुआ एक भी लक्षण असाध्य होता है। मूढ का अर्थ मोहयुक्त हुआ। विभ्रान्तलोचन से भ्रान्त अथवा चलित नेत्र समझना चाहिए। सन्ततोच्छ्वासिनम्—से निरन्तर खुर्राटे लेने वाला जानना चाहिए। हतेत्यादि—हतप्रभाणि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि यस्य—जिस रोगी की नेत्र आदि इन्द्रियाँ हतप्रभ अर्थात् अपने रूपादि विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हों अथवा जिस रोगी की प्रभा (दीप्ति–कान्ति) एवं इन्द्रियशक्ति नष्ट हो गई हो। आरोचकनिपिडितम्—इसमें जेज्जट दो पाठान्तर माना है—(१) दुरात्मानमुपद्रुतम्—दुरात्मानं अर्थात् जिसका अन्तःकरण दूषित हो एवं उपद्रुतम्—अर्थात् जो श्वासादि उपद्रव से युक्त हो। (२) दुरात्मभिरुपद्रुतम्—दुरात्मभिः अर्थात् जो प्रेत-भूत-पिशाच आदि से पीड़ित हो। उपर्युक्त लक्षणों वाले रोगी को छोड़ देना चाहिये। अर्थात् ऐसा ज्वर असाध्य होता है। इन असाध्य लक्षणों के अतिरिक्त तन्त्रान्तर में ज्वर के अन्य असाध्य लक्षण मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. जो मनुष्य स्वप्न में प्रेतों के साथ मद्यपान करता है या कुत्तों द्वारा घसीटा जाता है, वह घोर ज्वर पाकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

२. जिस व्यक्ति को दिन में बारह बजे के पूर्व ज्वर होता है साथ ही भयंकर सूखी खांसी आती हो, ऐसा बल-मांसविहीन व्यक्ति प्रेत के समान होता है (च. इ. ६।१०)।

३. जिसे अपराह्न में तीव्र ज्वर होता हो तथा भयंकर कफ एवं श्वास हो, ऐसा बल-मांसविहीन व्यक्ति प्रेत के समान होता है (च. इ. ६।१० पाठान्तर)।

४. जिस मनुष्य को अचानक ज्वर, सन्ताप, तृष्णा, मूर्च्छा बल रूप एवं सन्धि विश्लेष हो जाय, वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है।

५. प्रातःकाल जिसके मुख पर अत्यधिक पसीना निकले, उस प्रलेपक ज्वर से पीड़ित रोगी का जीवन दुर्लभ (समाप्त) जानना चाहिए।

६. जिस रोगी के ललाट पर से अत्यन्त शीतल एवं पिच्छिल पसीना निकले, शरीर बरफ के समान शीतल हो, सम्पूर्ण शरीर में शीत (ठण्डक) अनुभव हो, ऐसे रोगी को मृत्यु के समीप समझना चाहिए या जिस मनुष्य के गले तक अत्यन्त स्वेद बहे, किन्तु वक्षःस्थल तक न पहुँचे, वह मनुष्य यमराज के गृह अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है।

७. जिसके ललाट पर पसीने की धारा बहती हो, सारा सन्धिबन्धन शिथिल हो, उठते ही मूर्च्छित हो जाय, वह स्थूल होते हुए भी जीवित नहीं रहता।

८. जिसके शरीर पर अत्यधिक पिच्छिल स्वेद बहता हो, शरीर शीतल हो, वह रोगी मर जाता है।

९. आधान के (शुक्ररूपी बीजगर्भरूपी क्षेत्र में आधान करते समय) समय में, जन्म--बच्चे के गर्भाशय से बाहर आने के समय में, निधन--मृत्यु-समय में, प्रत्यर (पाँचवे) और बिपत्कारक (तृतीय) नक्षत्र में जो रोग होता है, वह क्लेश देने के लिए अथवा मृत्यु के लिए होता है। अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न ज्वर छः रात्रि के पश्चात् शान्त होता है (अ० सं० नि० १।२१-२२)। नक्षत्र भेद से ज्वर की साध्यासाध्यता का विशेष विवरण हारीत एवं वृद्ध वाग्भट में द्रष्टव्य है। विस्तार से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

सन्निपात ज्वर की असाध्यावस्था का उल्लेख किया जा रहा है—

पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्।
हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्॥

अर्थात् यदि धातुपाक होने लगे, तो सात दिन में वातोल्वण, दश दिन में पित्तोल्वण तथा बारह दिन में कफोल्वण ज्वर रोगी समाप्त हो जाता है। यदि मल (दोष) पाक हो, तो रोगी स्वस्थ हो जाता है। यदि पित्त के साथ वायु का अनुबन्ध हो, तो भी दश दिन और कफ का अनुबन्ध हो, तो बारह दिन समय लगता है, क्योंकि वायु स्रोतवाही होता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

योगवाही परं वायुः संयोगादुभयर्थाकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्॥ (च. चि. ३।३८)

अर्थात् वायु उत्तम योगवाही होता है, वह तेज से युक्त होकर दाह उत्पन्न

करता है और शीत से युक्त होकर शीत उत्पन्न करता है। इस संयोग से दोनों कार्य करने वाला होता है।

यह एक व्यवस्थित (निश्चित) विकल्प है कि धातुपाक होने पर रोगी मर जाता है और दोषपाक होने रोगी स्वस्थ हो जाता है। धातुपाक एवं मलपाक के इस विकल्प में दैव ही कारण होता है। इसमें रोग की वृद्धि एवं शारीरिक बल का नाश उत्तरोत्तर होता रहता है; जिससे रसादि से शुक्रपर्यन्त सप्त धातु एव मल मूत्र का भी पाक होता है। जैसा कि कहा गया है—

निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची।
अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥

अर्थात् निद्रानाश, हृदय प्रदेश में जकड़ाहट, विष्टम्भ, गौरव, अरुचि बेचैनी तथा बलहानि धातुपाक के लक्षण है। इसके विपरीत दोषपाक का लक्षण होता है—

दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम् ॥

अर्थात् दोष से ज्वर उत्पन्न हुआ हो, उसकी प्रकृति के विपरीत लक्षणों का होना, ज्वर एवं शरीर में हल्कापन, इन्द्रियों का निर्मल होना दोषपाक का लक्षण है।

शंका होती है कि दोष तरतमभाव से स्थिर, मध्य तथा शीघ्र शक्ति वाले होने से सात, दश एवं बारह दिन के सीमा में कैसे रहते हैं ? इस पर कहते हैं कि रोग का स्वभाव ही ऐसा होता है, क्योंकि प्रत्येक रोग का अपना स्वभाव विचित्र होता है। जैसे अग्निरोहिणी एक सप्ताह में ही मार देती है, किन्तु अन्य रोग ऐसे नहीं होते। कुछ ज्वरों में पूर्वोक्त वर्णित साप्ताहिक काल का द्विगुणकाल मर्यादा कहा गया है—

सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ (अ. हृ. नि. २।६२)

वाग्भट के उपर्युक्त कथन के साथ हारीत के वचन का समन्वय करने के लिए इसका अर्थ इस ढंग से करना चाहिये कि दशमी के निकट होने से नवमी और द्वादशी के समीप होने से एकादशी का ग्रहण कर लिया जाता है, इसको फिर 'वृद्धया' पद का आवर्तन करके द्विगुण कर लेने से सर्वत्र द्विगुणता आ जाती है। इसी तरह सुश्रुत के 'सप्तमे दिवसे प्राप्ते' इत्यादि (सु. उ. ३९) श्लोक में पुनर्घोरतरो भूत्वा- इस पुनः शब्द से द्विगुणित मर्यादा का ग्रहण कर लिया जाता है—ऐसा आचार्य कार्तिककुण्ड का अभिमत है। इसी प्रकार—

'दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः।
दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः ॥ (अ. हृ. नि. २)

इस श्लोक में अधिक शब्द की आवृत्ति और उसे क्रियाविशेषण करके द्विगुण मर्यादा अर्थ करना चाहिए। ऐसे ही वाग्भट ने कहा है—

'वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान्।
प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥' (अ. हृ. नि. २।६१)

यहाँ पर अग्निवेश के मतानुसार 'प्रायः' शब्द से द्विगुण मर्यादा का ग्रहण कर लिया जाता है।

यहाँ शंका हो रही है कि सप्तमी इत्यादि में दस, बीस, बारह और चौबीस इनका बोध किस तरह से होता है? इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ पर एकादशी एक इस पद का आवृत्ति करके उससे नवमी एक दशमी का लाभ होता है। एकादशी से एक पद लेकर बारह का लाभ होता है। उसके बाद सब जगह द्विगुण समझ लेना चाहिए तथा इस शब्दसमुच्चय में उससे सप्तमी का भी ग्रहण होता है। वह द्विगुण भी माना जाता है। इस तरह नवमी आदि में भी व्यवस्था कर लेनी चाहिए। चौबीस से अधिक तो त्रिदोष ज्वर की मर्यादा नहीं होती है, क्योंकि तत्प्रतिपादक कोई आगम (प्रमाण वचन) नहीं देखा जाता है।

ज्वर-मोक्ष के पूर्वरूप

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञता।
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥ ७४ ॥

दाह, स्वेद, भ्रम, तृष्णा, कम्प, विड्भेद (अतिसार), संज्ञानाश, कूजन (अस्फुट ध्वनि) तथा मुख से दुर्गन्ध आना—ये ज्वर-मोक्ष के लक्षण होते हैं।

ज्वरविमुक्तिपूर्वरूपमाह—दाह इत्यादि। विड्भिदिति। विड्भेदः; सम्पदादिपाठात् भावे क्विप्। असंज्ञता संज्ञानाशः। कूजनं कुन्थनम्। यदुक्तं—'ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजेद्वमति चेष्टते' (च. चि. ३।३२४) इति। वाग्भटोऽप्याह—'धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते। ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते' (अ. हृ. नि. २।७६) इति। वैगन्ध्यं दुर्गन्धता गात्रे। ज्वरमोक्षणे भविष्यति आकृतिर्लक्षणं 'भवति' इति शेषः। ननु, दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविधं लक्षणं कुर्यात्? उच्यते—कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति; यथा—निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात् प्रज्वलति, अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषापगमे क्षोभाद्दाहादयः तरलतरवानरपरिहीयमानतरुणतरुवल्लरी-शिखरकम्पवदिति ॥ ७४ ॥

सरोजव्याख्या—विड्भिद अर्थात् विड्भेद (अतिसार)। यहाँ पर सम्पदादि

गण में पाठ होने से क्विप् प्रत्यय हो जाता है। असंज्ञता का अर्थ संज्ञानाश होता है। कूजनम्—गले से अस्फुट ध्वनि निकलने को कूजन कहा जाता है। जैसा कि चरक ने कहा है—ज्वर के मोक्ष काल में रोगी कूजन करता है, वमन करता है, हाथ-पांवों को पटकता एवं इसी प्रकार की चेष्टा करता है (च. चि. ३)। वाग्भट ने भी कहा है कि ज्वर के मोक्ष-काल में वातादि दोष रसादि धातुओं को अत्यन्त क्षुब्ध करता हुआ विलीन होता है, इसलिए उस समय श्वास बढ़ जाता है, स्वेद आता है, रोगी कहरता है, वमन होता है एवं छटपटाता है (अ. हृ. नि. २।७६)। वैगन्ध्यम् गात्रे—अर्थात् शरीर में दुर्गन्ध आती है। ज्वरमोक्षे भविष्यति—अर्थात् ज्वर छूटने के पूर्व यह लक्षण होता है।

दोष-क्षय के बिना व्याधि निवृत्ति नहीं होती है। क्षीण दोष इस प्रकार लक्षण कैसे करते हैं? इस पर कहते हैं कि कोई-कोई भाव क्षीण होने पर विनाश काल में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है, जैसे बुझते समय दीपक विशेष प्रज्वलित होता है। इसी तरह ज्वरावस्था में धातु दोषों से अभिभूत रहते हैं और ज्वर मोक्ष-काल में जब दोष छोड़ने लगते हैं, तब शरीर धातुओं में क्षोभ-दाहादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। विजयरक्षित ने एक अन्य उदाहरण दिया है कि अतिचञ्चल बन्दर किसी तरुण वृक्ष की चोटी पर किसी पतली एवं लचीली शाखा से छलांग लगाता है, तो वह शाखा उसके कूदने के पश्चात् कुछ देर तक हिलती रहती है।

ज्वर-मुक्ति के लक्षण

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥ ७५ ॥

(सु. उ. अ. ३९)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ज्वरनिदान समाप्तम् ॥ २ ॥

स्वेद का आना, शरीर में लघुता, सिर में कण्डू, मुखपाक, छींक आना तथा भूख लगना ज्वर मुक्त के लक्षण है।

ज्वमुक्तिलक्षणमाह—स्वेद इत्यादि। स्वेदो घर्मागमनं, स्रोतसां स्फुटत्वात्। लघुत्वं गात्रस्य। शिरसः कण्डूरिति सर्वो हि ज्वरस्तैजसः विरोधिव्यपगमात् सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सञ्छिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मलक्षणं कण्डू करोति, व्याधिमहिम्ना नान्यत्र कफस्थाने इति वदन्ति। 'पाको मुखस्येति ज्वरोष्मकोपितपित्तात्। यत्तु पूर्वं नाकार्षीदन्यत्र वा तदपि व्याधिमहिम्नैव। एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजेऽन्तर्वेगे ज्वरे भवति, न तु सर्वत्र। तथा चैतदनन्तरं भालुकिः प्राह—'त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च

धातुगे। लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्'—इति। ननु, ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात्तस्याभावोऽपि प्रत्यक्षः, तत् किं तल्लक्षणपाठेन ? तथाऽपि वा पठितव्यं तर्हि सर्वविकारेषु पठ्यताम् ? उच्यते—विषमज्वरशङ्कानिरासार्थं विषमज्वरो निवृत्तोऽपि पुनरायाति, दोषाणां धातुलीनत्वात् एतल्लक्षणे तु निःशेषदोषनिवृत्त्या न पुनरागमः। यत्र चैवंविधा शङ्का तत्रैव लक्षणं पठति न सर्वत्र, यथा प्रमेहातीसारादिष्विति सर्वं सुस्थम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोषव्याख्यायां ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

सरोजव्याख्या—पसीना आना स्वेद है। दोष निकल जाने पर स्रोतसों के मार्ग खुल जाते हैं, जिससे स्वेद निकलता रहता है। शरीर हल्का हो जाता है। शिरसः कण्डूः—सभी प्रकार का ज्वर तैजस् (आग्नेय) प्रधान होता है, जब तैजस् ज्वर समाप्त हो जाता है, तब सौम्य कफ अपने विरोधी आग्नेय ज्वर के निकल जाने पर बलवान् होकर अपने अधिष्ठानभूत शिर में कण्डू रूप अपना असाधारण (विशेष) लक्षण करता है। यह व्याधि की महिमा है कि खुजली सिर को छोड़कर अन्यत्र कफ स्थान में नहीं होती। पाको मुखस्य—ज्वर की गर्मी से पित्त-प्रकोप हो जाने से मुखपाक हो जाता है। यह भी व्याधि की विशेषता है कि मुख को छोड़कर अन्यत्र पाक नहीं होता है। पूर्व में दाह आदि जो लक्षण बताये गये हैं, वह त्रिदोषज, अन्तर्वेग और धातुगत ज्वर में होते हैं, न कि सर्वसाधारण ज्वर के मोक्षकाल में। जैसा कि भालुकि ने कहा है—त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदित्यादि।

अब शंका होती है कि जैसे ज्वर प्रत्यक्ष होता है, वैसे उसका अभाव भी प्रत्यक्ष हो जाता है, तो उसके लक्षण बताने की क्या आवश्यकता है ? यदि लक्षण का ज्ञान आवश्यक ही है, तो सभी विकारों को बताना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं कि विषम ज्वर की शङ्का को दूर करने के लिए यह बताया गया है; क्योंकि विषम ज्वर एक बार निवृत्त होकर पुनः आता रहता है, क्योंकि उसके दोष धातुओं में लीन रहते हैं। इस लक्षण के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि निःशेष दोष की निवृत्ति हो जाने से पुनः ज्वर नहीं आता। जहाँ इस प्रकार (पुनरावर्तन) की शंका हो, वहाँ लक्षण-वर्णन किये गये हैं। जैसे प्रमेह, अतिसार आदि में, न कि सर्वत्र सभी रोगों में, क्योंकि उनमें सब कुछ संशयरहित एवं स्पष्ट मिलता है।

ज्वर के विभिन्न भेद

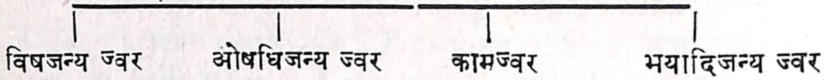
(क) विभिन्न कारणनुसार—

[I] कारण भेद से आठ प्रकार—

१. वातिक ज्वर

२. पैत्तिक ज्वर

३. श्लैष्मिक ज्वर
४. वातपैत्तिक ज्वर
५. वातश्लैष्मिक ज्वर
६. श्लेष्मपैत्तिक ज्वर
७. सान्निपातिक ज्वर
८. आगन्तु ज्वर



विषजन्य ज्वर | ओषधिजन्य ज्वर | कामज्वर | भयादिजन्य ज्वर

(II) दोषकाल-बल से—

१. सन्तत ज्वर
२. सतत ज्वर
३. अन्येद्युष्क ज्वर
४. तृतीयक ज्वर → त्रिकग्राही (कफपित्त), पृष्ठग्राही (वातकफ), शिरोग्राही (वातपित्त)
५. चतुर्थक ज्वर — जंघापूर्व (श्लेष्मोल्वण), शिर पूर्व (वातोल्वण)
६. चतुर्थक बिपर्यय

(III) (क) धातुगत ज्वर—

१. रसगत ज्वर — २. रक्तगत ज्वर
३. मांसगत ज्वर — ४. मेदगत ज्वर
५. अस्थिगत ज्वर — ६. मज्जागत ज्वर
७. शुक्रगत ज्वर

(ख) शीत एवं दाहानुसार—

१. शीतपूर्व — २. दाहपूर्व

(ग) कालानुसार—

१. प्राकृत — २. वैकृत

(घ) वेगानुसार—

१. अन्तर्वेग ज्वर — २. बहिर्वेग ज्वर

(च) चिकित्सा सौकर्यानुसार—

१. आमज्वर — २. पच्यमान ज्वर
३. निरामज्वर

ज्वर के निदान हेतु प्रयोगशालीय परीक्षण

१. रक्त कणिकाओं की गणना—

पालीमार्फ श्वेत रक्त कणिकाओं की वृद्धि (Leucocytosis)
कोकाई (Coccal) एवं अन्य तीव्र
संक्रमण (Acute Infection) जन्य ज्वर।

इसिनोफिल्स (Eosinophils) की उपस्थिति—
—पैरासाइट्स (Parasitic Infestation)
—एलर्जी

मोनोसाइट्स (Monocytes) की असामान्य उपस्थिति
ग्लैण्डुलर फीवर (Glandular Fever)

श्वेत रक्तकणिकाओं की कमी (Lecopenia)—आन्त्रिक ज्वर (Typhoid)।

२. कल्चर—रक्त के कल्चर (Culture) के द्वारा संक्रमण की प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। जैसे रोगी के रक्त में सालमोनेला टायफी (Salmonalla Typhi) की उपस्थिति देखकर टायफायड का निश्चयात्मक निदान सम्भव होता है। मलेरियल पैरासाइट्स की उपस्थिति से मलेरिया एवं रात्रि में रक्त में माइक्रोफाइलेरियल की उपस्थिति से फाइलेरिया ज्वर का कारण समझना चाहिए।

३. विडाल परीक्षा (Widal Reaction)—यह परीक्षा ज्वर प्रारम्भ होने के दसवें दिन की जाती है। इसका धनात्मक (Positive) होना टायफायड का का निश्चयात्मक निदान प्रकट करता है।

४. त्वक् परीक्षण एवं बायोप्सी (Biopsy)—राजयक्ष्मा में मानट्यूक्स (Mantoux Test) से निदान किया जाता है। लिम्फोमा एवं मैलिगनेन्सी जन्य-ज्वर में उपस्थित गाँठ (Nodes) से थोड़ा मांस का टुकड़ा काटकर (Biopsy) परीक्षण करने से निदान में सहायता मिलती है।

५. अन्य विशिष्ट परीक्षण—एक्सरे एवं बलगम, मूत्र, मल तथा मस्तिष्कगत द्रव (C. S. F.) का भी परीक्षण ज्वर के निदान में सहायक होता है।



तृतीयोऽध्यायः

अतिसारनिदानम्

अतिसार में द्रव मल की बार-बार प्रवृत्ति होती है। अतिसार शब्द की व्याख्या आचार्य डल्हण ने 'अतिसरणम् अतिसारः' विजयरक्षित ने' गुदेन बहुद्रव सरणं अतिसारः' तथा शार्ङ्गधर ने अतीव सरत्यतिसारे गुदेन' किया है।

अतिसार के हेतु

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥

स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः ।
शोकाद् दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥२॥

जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

(सु० उ० ४०।३-५)

गुरु, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अत्युष्ण, अतिद्रव, अतिस्थूल एव अतिशीतल पदार्थों का सेवन, विरुद्ध भोजन, भोजन (विना पचे) पर भोजन करने से, कच्चा तथा विषम भोजन करने से, स्नेह-स्वेदन आदि के अधिक एवं विधि रहित प्रयोग से, विष खाने से, भय, शोक, दूषित जल तथा मद्य के अधिक प्रयोग से, ऋतु विपर्यय एवं सात्म्यविपर्यय से, अत्यधिक जल क्रीड़ा, वेग-विधारण एवं उदर में कृमि होने से मनुष्यों को अतिसार होता है।

पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह—गुर्वित्यादि। गुरुशब्देन मात्रागुरु गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो रक्तशाल्यादिः; तथा स्वभावगुरु च माषादिः; अथवा गुणतः पाकतश्च। अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह सम्बध्यते। स्थूलं संहतावयम्, यथा—लड्डुकपिष्टकादि। शीतलं स्पर्शाद्वीर्याच्च। विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा—क्षीरमत्स्यादि। तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये (सु० सू० अ० २०), चरके चात्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये (च० सू० अ० २६) द्रष्टव्यम्। अध्यशनं पूर्वदिनाहारेऽजीर्णे भोजनम्। उक्तं हि चरके—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्' (च० चि० अ० १५) इति। एवं सर्वत्र। अजीर्णम् अपक्वमन्नम्। विषमम् अकालादिभोजनम्। उक्तं हि सुश्रुते—

'बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम्' (सु० सू० अ० ४६) इति। एवं सर्वत्र। 'विषमैः' इत्यत्र स्थाने 'असात्म्यैः' इति पाठान्तरम्। भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः सम्बध्यते।

स्नेहाद्यैरिति स्नेहः स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेदवमनविरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अतियोगयुक्तैः। एतच्च यथायोग्यं बोध्यम्, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात्। मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगभावात्, हीनयोगात्तु ते दोषानुत्क्लेश्यातीसाराय स्युः। ननु कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः सम्भवत्येव? न, सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः। यदुक्तं चरके--'योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम्। अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् (च० सि० ६।३१) इति। विषमत्र स्थावरमुच्यते, अधोगत्वात्। कार्तिकस्त्वाह--विषं दूषिविषं, तल्लक्षणेष्वतीसारपाठात्। दुष्टाम्बुमद्यातिपानैरिति दुष्टं व्यापन्नम्, दुष्टयोरम्बुमद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिपानात्। यदाह चरकः—'दुष्टमद्यपानीयातिपानात्' (च० चि० अ० १९) इति। सात्म्यर्तुपर्ययैरिति सात्म्यविपर्ययैर्ऋतुविपर्ययैश्च, सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम्। न च पूर्वोक्तेन 'असात्म्यैः' इत्यनेन पौनरुक्त्यम्, उक्तं हि चरके आत्रेयभद्रकाप्यीये—'द्विविधं हि सात्म्यं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च' (च० सू० अ० २६) इति; आहाराचारभेदादन्नपानभेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये।

जलाभिरमणैरिति जलक्रीडादिभिः। वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादिनाम्। क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वामाशयदूषणात्, क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा। एतानि च निदानानि यथासम्भवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि। एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥ १-३ ॥

सरोज व्याख्या—पित्त ज्वर में अतिसार का उल्लेख होने से एवं ज्वर तथा अतिसार एक दूसरे का उपद्रव होने से ज्वर के पश्चात् अतिसार के विषय में बताते हैं। यहाँ पर गुरु शब्द से मात्रा में गुरु द्रव्यों का ग्रहण होता है। जैसे अति मात्रा में प्रयोग किया रक्तशालि। यह स्वभाव से लघु (हल्का) एवं सुपाच्य होता है, किन्तु अधिक मात्रा में इसका प्रयोग भारी होता है। इसके साथ ही स्वभाव से गुरु माष (उड़द) आदि का सेवन करने से अथवा गुण एवं पाक में गुरु जैसे चावल का आटा अथवा पृथुक (चिउड़ा) आदि का सेवन। 'अति' शब्द स्निग्ध से लेकर स्थूल के अन्त तक प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्धित है। जैसे अतिस्निग्ध,

अतिरूक्ष, अतिउष्ण, अतिद्रव, अतिस्थूल आदि। जिस पदार्थ के अवयव संहत या संगठित हो, उसे स्थूल कहा जाता है। जैसे लड्डू या पिष्टी (पीठि) आदि। शीतल शब्द से शीतस्पर्श एवं शीतवीर्य द्रव्यों को लेना चाहिए। विरुद्धमिति—विरुद्ध आहार कई प्रकार का होता है। जैसे दूध एवं मछली आदि। यह संयोग विरुद्ध, देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, मात्रादि विरुद्ध होता है। इसका विस्तृत विवरण सुश्रुत के सूत्र २० हिताहितीय अध्याय एवं चरक के सूत्र २६ आत्रेयभद्रकाप्यीय में द्रष्टव्य है। पूर्व दिन अर्थात् पहले किये हुए आहार के न पचने पर पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है। जैसा कि चरक ने कहा है—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु' (च. चि. १५)। इस तरह सर्वत्र समझना चाहिए। भोजन का न पचना अजीर्ण है। अकाल भोजनादि को विषम भोजन कहा जाता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है कि कभी अधिक मात्रा में या कभी अल्प मात्रा में और विना निश्चित समय में भोजन करना विषमासन है। (सु० सू० ४६।५१५)। 'विषमैश्चापि' पाठ के स्थान पर 'असात्म्यैश्चापि' पाठान्तर कहीं-कहीं मिलता है। भोजनैः शब्द विरुद्धादि सबके साथ सम्बन्धित है। जैसे—विरुद्ध भोजन, अजीर्ण भोजन एवं विषम भोजन आदि।

स्नेह शब्द से स्नेहपान समझना चाहिए। स्नेह है आद्य (प्रथम) जिनके वे स्नेहाद्य होते हैं, जैसे—स्वेदन, वमन, विरेचन अनुवासन एवं निरूह। इनका अधिक प्रयोग अतियोग होता है। इनके अतियोग से अतिसार होता है। इसका अतियोग यथायोग्य जानना चाहिए, क्योंकि वमन के अतियोग से अतिसार कदापि नहीं होता है। मिथ्यायोग का अर्थ हीनयोग होता है। वमनादि कर्म का मिथ्यायोग होता है। इनका हीनयोग दोषों को उत्क्लिष्ट करके अतिसार को उत्पन्न कर सकता है। ऐसा देखा जाता है कि वमन की औषधि विरेचन और विरेचन की औषधि वमन करा देती है, तो उसे इनका मिथ्यायोग कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो प्रयुक्त की गयी औषधि का अयोग ही होता है। यह सिद्धान्त है। जैसाकि चरक में कहा गया है—सम्यक् प्रवृत्ति को योग, अतिप्रवृत्ति को अतियोग एवं प्रतिलोम या बिलकुल प्रवृति न होना अथवा अल्प प्रवृत्ति को अयोग कहा जाता है (च. चि. ६)।

'विष' से यहाँ पर स्थावर विष ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्थावर विष अधोगामी होता है। आचार्य कार्तिककुण्ड 'विष' शब्द से दूषी विष का ग्रहण करते हैं, क्योंकि दूषी विष के लक्षणों में अतिसार का उल्लेख मिलता है। दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः—दूषित जल एवं दूषित मद्य के पीने से अतिसार होता है। दूषित न होने पर भी इन दोनों को अधिक पीने से भी अतिसार होता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—'दुष्टमद्यपानीयातिपानात् अथवा प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानात्'

च॰चि॰१९) । सात्म्यर्तुपर्ययैः––सात्म्य पदार्थों का विपर्यय तथा ॠतुविपर्यय होने से । असात्म्य को सात्म्यविपर्यय कहते हैं । विषमैश्चापि—अथवा असात्म्यैश्चापि भोजनैः–– ऐसा पाठ पूर्व में आने से पुनः यहां पर 'सात्म्यर्तुपर्ययैः' लिखने से दोनों का एक ही अर्थ होने के कारण पुनरुक्तता दोष हो जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि चरक ने आत्रेय भद्रकाप्यीय अध्याय में कहा है कि सात्म्य दो प्रकार का होता है––(१) प्रकृति सात्म्य (२) अभ्यास सात्म्य (च० सू० २६) । आहाराचार भेद एवं अन्नपान भेद में पुनरुक्तता नहीं होती––ऐसा अन्य आचार्यों का कथन है । जलाभिरमणैः—जल-क्रीड़ा अधिक करने से । वेगविघातैः —मल-मूत्र के वेग को रोकने से । क्रिमिदोषतः––उत्पन्न कृमि आमाशय एवं पक्वाशय को दूषित करके वातादि दोष को प्रकुपित कर देता है, तब अतिसार होता है ।

इन उपर्युक्त कारणों को यथासम्भव वातादि दोषों का निदान समझना चाहिए । इसलिए दोषों एवं व्याधि का हेतुत्व बताने के लिये इनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है । इसी तरह अन्यत्र भी निदानविशेष के पाठ में देखना चाहिए ।

विमर्श—द्रव या अर्धद्रव––(Semi liquid character) के रूप में अधिक मात्रा में बार-बार मल का निकलना अतिसार (Diarrhoea) कहा जाता है । कफ (Mucus), रक्त या अन्य अप्राकृतिक घटक (Abnormal constituents) की उपस्थिति भी अतिसार के मल में हो सकती है, पर वह आवश्यक नहीं है । अत्यधिक एवं अधिक समय तक अतिसार होने पर शारीरिक थकावट, शरीर में जलीयांश की कमी तथा पोटेशियम एवं प्रोटीन की कमी के लक्षण (मांसपेशियों में दुर्बलता एवं शोथ) मिलते हैं ।

अतिसार का कारण—

१. तीव्र एवं अल्पकालिक अतिसार (कुछ घंटे या कुछ दिनों के लिये) जैसे–– घबड़ाहट, भोजन एवं औषधिजन्य असात्म्यता (Allergy) तथा अल्पकालिक तीव्र संक्रमण जैसे सालमोनेला (Salmonella), कालरा आदि ।

२. जीर्ण एवं दीर्घकालिक अतिसार—अमीबिक तथा बैसिलरी डिसेन्ट्री (Amoebic and Bacillary Dysentery) आँत की टी. वी. ।

३. आन्त्र की व्याधियाँ—अर्बुद (Neoplasm), आन्त्रशोथ (Ulcerative Colitis) तथा आन्त्रजन्य तीव्र क्षोभ ।

४. विषजन्य—संखिया ।

५. विरेचन द्रव्यों का अधिक मात्रा में प्रयोग ।

६. अन्तस्रावी ग्रन्थिजन्य कारण—हाइपरथायराडिज्म तथा अग्नाशय का गैसट्रिन स्रावी अर्बुद ।

७. मालअब्सार्प्सन स्निड्रोम (Malabsorption Syndrom) ।
८. क्षुद्रान्त्र एवं बृहदान्त्र का क्रोहन्स रोग (Croh'n Disease)

सम्प्राप्ति

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः ।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥ ४ ॥

(सु० उ० ४०।६-७-१)

उपर्युक्त कारणों से दूषित जलधातु बढ़कर अग्नि को मन्द करके मल के साथ मिलकर वायु द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर गुदमार्ग से अधिक मात्रा में बाहर निकलता है। इस घोर व्याधि को अतिसार कहते हैं। यह वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोकज तथा आमज भेद से छः प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

अतिसार की सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त मिथ्या आहार-विहार



दूषित एवं वृद्ध जलीय धातु



अग्निमान्द्य



वायु द्वारा प्रेरित



वृद्ध जलीय धातु (मल) की गुदमार्ग से प्रवृत्ति ।
दोष--वायु ।
दूष्य--जलीय धातु, (मल) ।
अधिष्ठान--गुद मार्ग; पक्वाशय ।

सर्वातीसारसाधारणीं सम्प्राप्तिमाह—संशम्येत्यादि। संशम्य शमयित्वा; अत्रान्तर्भावितोण्यर्थ इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः। प्रवृद्धः प्रदुष्टः। अपां धातुरित्यसमासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः। चरकेऽप्युक्तम्—'शोणितादीन् धातून् दूषयन्तः' (च० चि० अ० १९) इति। अधः प्रणुन्नः प्रेरितः, सरति गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्; गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः। निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधोद्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः; वातातीसारे स्वल्पत्वं कफपित्तातीसारापेक्षया, न तु ग्रहण्यपेक्षयेति।

उक्तषड्विधत्वं विभजते--एकैकश इत्यादि। ननु चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः, अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः ? उच्यते--चरके भयशोकजौ लक्षणसंज्ञाकार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आमजस्त्वन्नाजीर्णकुपितत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न संख्यातिरेकः, सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितौ वातजत्वसन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि मृत्तिकाजः पाण्डुरोग इति; एवं भयशोकजावपि चरके हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पठितौ, सुश्रुते भयजः केवलवातिकेऽवरुद्धः मानसत्वाविशेषाद्वा शोकजेऽवरुद्ध इति जेज्जटः।

ननु 'षष्ठ आमेन चोक्तः' इति पृथक्करणमसंगतं; यतः सर्वेषामेवातीसाराणां प्रागवस्था आमशब्दवाच्या जीर्णावस्था पक्वशब्दवाच्या; अत एव सर्वातीसारगोचरमुदाहरन्ति—'आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम्' (सु. उ. अ. ४०) इति ? नैवम्, आमेनैवारभ्यत इति आमजः, दोषास्तु संसर्गिणः प्रेरयितारश्च, न त्वारम्भकाः। आमश्च दुष्टान्नकार्यो दोषधातुमलव्यतिरिक्तो वातादिसंसृष्टो वातादिप्रेरितो वा रक्तादिवद् व्याध्यारम्भक इति। द्वन्द्वजास्त्वतीसाराः प्रकृतिसमवायारब्धत्वात् पृथङ्नोक्ताः। विकृतिविषमसमवायारब्धास्तु न सम्भवन्त्येव, व्याधिस्वभावात्। शैली चेयमाचार्याणां प्रायः प्रकृतिसमसमवायारब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपाताश्च न गणयन्ति, विकृतिविषमसमवायारब्धांश्चावश्यं लिखन्ति। यथा चरके—'पञ्च गुल्माः' (च. सू. अ. १९) इत्यभिधाय, 'संसृष्टरूपानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्।' (च. चि. अ. ५) इत्युक्तम्; तथा सुश्रुते—'षडर्शांसि' इत्यभिधाय, 'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः' (सु. नि. अ. २) इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—'संशम्य' का अर्थ 'शान्त होकर' होता है। यहाँ 'णिच्' प्रत्यय का अन्तर्भाव होने से शमयित्वा का अभिप्राय 'शान्त होकर' समझना चाहिए। ऐसा गदाधर का कथन है।

इसका सामान्य अर्थ 'पाचक अग्नि को मन्द करके' ऐसा होता है। प्रवृद्ध का अभिप्राय यहाँ दूषित है। 'अपां धातुः' में समास न होने से रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त और रक्त आदि जलीय भावों का ग्रहण करना चाहिए। चरक ने भी कहा है—'शोणितादीन् धातून् दूषयन्तः।' (च० चि० १९।६) अर्थात् कुपित त्रिदोष रक्तादि धातुओं को दूषित करते हुए धातु और दोषों के स्वाभाविक वर्णों से युक्त अतिसार को उत्पन्न करते हैं। अधः प्रणुन्नः--अर्थात् वायु द्वारा नीचे गुद की ओर प्रेरित किया गया। सरति अर्थात् तीव्र वेग से अतिसरण करता है।

'सरत्यतीव' अतिसार की निरुक्ति बता दी गई। अतीव सरति इति अतिसारः-- अर्थात् गुदमार्ग से बहुविध द्रव धातु के वेगपूर्वक निकलने को 'अतिसार' कहा जाता है। निरुक्ति भी लक्षण होती है। इस निरुक्तिरूप लक्षण द्वारा अधोमार्ग से मल निकलने की समानता होने पर भी ग्रहणी रोग से इसका व्यवच्छेद (भेद) स्पष्ट हो जाता है कि अतिसार में अतीव सरण होता है, जब कि ग्रहणी में 'मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्' अर्थात् कभी बँधा हुआ एवं कभी द्रव रूप मल निकलता है। फिर स्पष्ट किया है कि यद्यपि वातिक अतिसार में 'अल्पमल्पं मुहुर्मुहुः' अर्थात् थोड़ा-थोड़ा एवं एवं बार-बार मल निकलता है किन्तु इसमें अल्पता श्लैष्मिक एवं पैत्तिक अतिसार की अपेक्षा कम होती है, न कि ग्रहणी की अपेक्षा।

वह अतिसार वातादि दोषों से एक-एक—इस प्रकार तीन, चौथा सन्निपात से, पाँचवा शोक से एवं छठा आम से--इस प्रकार कुल छः प्रकार का होता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि चरक ने पृथक् दोषों से तीन सन्निपात से एक तथा भय एवं शोक से दो इस प्रकार छः भेद अतिसार का किया है, किन्तु सुश्रुत ने ने भयज के स्थान पर आम को माना है ? इसका समाधान करते हुए कहा है कि चरक ने भयज एवं शोकज इन दोनों को लक्षण, संज्ञा और कार्य भेद से भिन्न-भिन्न माना है और आमज को अन्नाजीर्ण से प्रकुपित त्रिदोषज से होने के कारण सन्निपाताजीर्ण में अन्तर्भाव कर लिया गया है। इस प्रकार संख्या में कोई अन्तर नहीं आता है। सुश्रुत में शोकज का वातज तथा आमज का सन्निपातज में अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के लिए दोनों का पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। शोकज अतिसार की चिकित्सा हेतु आश्वासन एवं आमज अतिसार हेतु लंघन-पाचन का भी प्रयोग करना आवश्यक है। शोकज में मात्र वातिक उपचार तथा आमज में केवल त्रिदोषनाशक चिकित्सा ही लाभप्रद नहीं हो सकती। इसी तरह पाण्डुरोग वातज आदि कारणों से ही होता है, किन्तु उसका मृत्तिकाजन्य भेद से पृथक् उल्लेख इसलिये किया गया है कि चिकित्सा करते समय चिकित्सक दोषों की चिकित्सा के साथ-साथ मृत्तिकाभक्षण का परित्याग एवं उसके निकलने का भी उपाय करें। इसी तरह चरक में हेतुप्रत्यनीकचिकित्सा के लिए भयज एवं शोकज दोनों पृथक् पृथक् भेद किये गये हैं। यद्यपि दोष दोनों में वात ही है। सुश्रुत में केवल भयज अतिसार का वातातिसार में अवरुद्ध (समावेश) किया गया है अथवा भय एवं शोक दोनों मानस विकार होते हैं, अतः दोनों का एक हेतु होने से भयजन्य अतिसार का शोकातिसार में अन्तर्भाव किया जाना चाहिए, ऐसा जेज्जट का कथन है।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि 'षष्ठ आमेन चोक्तः' अर्थात् पृथक् से आम शब्द का उल्लेख असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि सभी अतिसारों की प्रथमावस्था आमावस्था कही जाती है तथा जीर्णावस्था को पक्वावस्था कहते हैं। अतएव सभी अति-

सारों की चिकित्सा के लिए सुश्रुत ने आम एवं पक्व अवस्था का महत्त्व दर्शाते हुए कहा है—

आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता ।
अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम् ॥ (सु० उ० ४०)

अर्थात् अतिसार में आम और पक्व क्रम को छोड़कर कोई चिकित्सा सफल नहीं होती। अतः सब प्रकार के अतिसारों में आम एवं पक्व का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। इसका समाधान किया है कि ऐसी बात नहीं है; क्योंकि आमज अतिसार केवल आम द्वारा उत्पन्न होता है, दोष तो केवल उसमें संसर्गी बनकर प्रेरित करने वाले होते हैं, न कि रोगारम्भक। आम तो दूषित अन्न से उत्पन्न होता है, जो दोष-धातु एवं मल से पृथक् होता है और यह आम वातादि दोषों से मिला हुआ अथवा उनसे प्रेरित होकर रक्तादि दूष्यों के समान विविध व्याधियों को उत्पन्न करता है।

द्वन्द्वज अतिसार प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न होता है, इसलिए उसका पृथक् वर्णन नहीं किया गया है। व्याधिस्वभाव के कारण अतिसार विकृतिविषमसमवाय से नहीं होता। आचार्यों की शैली (तरीका) है कि वे प्रकृति समसमवाय से उत्पन्न द्वन्द्वज एवं सन्निपातों की पृथक् गणना नहीं करते, किन्तु विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न द्वन्द्वज एवं सन्निपातों को अवश्य बतलाते हैं। जैसा कि चरक ने कहा है—"पञ्च गुल्मा इति वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः"। (च० सू० १९) इन पाँचों का अभिधान करके पुनः कहते हैं—संसृष्टरूपानपराँस्तु गुल्माँस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्। (च० चि० ५) अर्थात् औषधव्यवस्था के लिये तीन द्वन्द्वज गुल्मों की कल्पना कर लेनी चाहिए। ऐसे ही सुश्रुत में 'षडर्शांसि' अर्थात् अर्श छः प्रकार के होते हैं--ऐसा लिखकर पुनः आगे कहते हैं—'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षडविधश्च सः' ॥ (सु० नि० २) अर्थात् अर्श में जब दो-दो दोषों का संयोग होता है, तब संसर्गज अर्श हो जाता है और यह संसर्ग भी छः प्रकार का होता है। ऐसा भेद केवल चिकित्सा की दृष्टि से किया है, मूलतः तो छः प्रकार की प्रतिज्ञा की गई है।

पूर्वरूप

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः ।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥
(सु० उ० ४०।८-२, ९-१)

हृदय, नाभिमण्डल, गुदा, उदर तथा कुक्षिप्रदेश में सूई चुभने की सी पीड़ा, शरीर में शिथिलता, अधोवायु की रुकावट, मल की रुकावट, आध्मान तथा भोजन का परिपाक न होना अतिसार का पूर्वरूप है ॥५॥

सर्वातीसारपूर्वरूपमाह—हृन्नाभीत्यादि। तोदः सर्वैर्हृदादिभिः सम्बध्यते। अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम्। अनिलसन्निरोध इति वाताप्रवृत्तिः। विट्सङ्गः पुरीषाप्रवृत्तिः, एतच्च दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाप्रतिनियतं पूर्वरूपम्, तेन रूपावस्थायां नानुवर्तते, (यदनुवर्तेत तदा तत्र व्याधिरेव नोत्पद्येत, विट्सङ्गातिप्रतिषेधात्)। अविपाकोऽन्नस्य। पुरःसराणि पूर्वरूपाणीति॥ ५॥

सरोज व्याख्या—तोद का सम्बन्ध हृदय से लेकर कुक्षि तक सबके साथ है। यहाँ कुक्षि शब्द से उदर का एक भाग लिया जाता है। इसलिए उदर एवं कुक्षि शब्द से पुनरुक्ति दोष नहीं होता। अनिलसन्निरोध का अभिप्राय वायु की अप्रवृत्ति से है। विट्सङ्ग मल की अप्रवृत्ति है। इस प्रकार मल की अप्रवृत्ति दोष दूष्यों की सम्मूर्च्छनावस्था में प्रतिनियत पूर्वरूप में होता है और अतिसार की रूपावस्था में यह नहीं होता। यदि अतिसार की रूपावस्था में मल की अप्रवृत्ति हो, तो अतिसार नाम के रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अविपाकोऽन्नस्य अर्थात् भोजन का परिपाक नहीं हो पाता है॥ ५॥

वातिक अतिसार

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते॥ ६॥

वातिक अतिसार में अरुण वर्ण, झागयुक्त, रूक्ष, थोड़ा-थोड़ा, बार-बार, आम मल, पीड़ा एवं शब्द से युक्त निकलता है।

वातिकमाह—अरुणमित्यादि। अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोषदूष्यसंमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि। फेनिलं सफेनम्; फेनादिलच्। शकृत् पुरीषम्। सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति॥ ६॥

वायु का कोई अपना रूप न होने पर भी दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से मल अरुण वर्ण का हो जाता है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए। फेनिलं का अर्थ फेनयुक्त अथवा झागदार होता है। फेन शब्द से इलच् प्रत्यय हो जाने पर फेनिल शब्द बनता है। शकृत् पुरीष (मल) को कहा जाता है। सरुक् शब्द से शूलयुक्त एवं शब्दयुक्त समझना चाहिए॥ ६॥

पैत्तिक अतिसार

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम्।
(सु० उ० ४०।११-१)

पैत्तिक अतिसार में मल पीला, नीला एवं कुछ लाल निकलता है और प्यास, मूर्च्छा, दाह एवं गुदपाक होता है।

पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि। दाहपाकोपपन्नमिति—दाहः सर्वाङ्गे, पाको

गुद एव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—'तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाव्रध्नसन्तापपाकपरीतः' इति; ब्रध्नो गुदः। अत्राप्यतिसार्यते शकृदित्यनुवर्तते; एवं श्लैष्मिकेऽपि॥

दाहपाकोपन्नम्—अर्थात् दाह सारे शरीर में होता है और गुदा में पाक होता है। तन्त्रान्तर में कहा गया है—"तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छा ब्रध्नसन्तापपाकपरीतः" इति। बुध्न शब्द से गुद लिया गया है। अर्थात् पित्तातिसार में रोगी तृष्णा, सर्व शरीर में दाह, स्वेद एवं मूर्च्छा से पीड़ित होता है तथा उसकी गुदा पक जाती है और उसमें अत्यन्त जलन होती है। यहाँ एवं श्लैष्मिक में भी अतिसार्यते ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् पित्तातिसार में रोगी को पीतादि लक्षणों वाला अतिसार होता है।

श्लैष्मिक अतिसार

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥७॥

(सु. उ. ४०।१२-१)

श्लैष्मिक अतिसार में श्वेत, गाढ़ा, कफयुक्त दुर्गन्धयुक्त एवं शीतल पुरीष निकलता है और रोगी को रोमाञ्च होता है॥ ७॥

श्लैष्मिकमाह—शुक्लमित्यादि। शुक्लमित्यादिना हृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लैष्मिकः। विस्रमामगन्धि॥ ७॥

सरोज व्याख्या--शुक्लम् से लेकर हृष्टरोमा तक श्लैष्मिक अतिसार के लक्षण है। विस्रम् का अर्थ आमगन्धि होता है।

अतिसार के लक्षण एवं मल का स्वरूप

भेद	लक्षण	मल
वातज	शूल एवं शब्दयुक्त	रूक्ष, अरूक्ष वर्ण, झागयुक्त
पित्तज	प्यास, दाह, गुदपाक	पीला, नीला एवं कुछ लाल
कफज	रोमाञ्च	श्वेत, गाढ़ा, कफयुक्त, दुर्गन्धित
रक्तज	आम तथा मल के साथ रक्तप्रवृत्ति	अरुण, कृष्ण, पाण्डुवर्ण

सान्निपातिक अतिसार

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम्॥ ८॥

सन्निपातिक अतिसार में सूअर की चर्बी तथा मांस के धोवन के समान मल होता है, इसमें सभी दोषों के लक्षण होते हैं एवं यह कृच्छ्रसाध्य होता है।

सान्निपातिकमाह—वराहेत्यादि। वराहस्नेहः शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, तैः सदृशम्। सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तम्। एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात्; तं च कृच्छ्रसाध्यं, त्रिदोषजत्वादेव ॥ ८ ॥

सूअर की मेदा अथवा मज्जा को वराह स्नेह कहते हैं। मांसाम्बु-कच्चे मांस को धोने पर जो जल निकलता है, उसे मांसाम्बु कहते हैं। तैः सदृशम्—अर्थात् इसमें मल वराह-स्नेह एवं मांसाम्बु के समान होता है। सर्वरूपिणम्—पूर्वोक्त वातादि अतिसार के लक्षण इसमें मिलते हैं। इस प्रकार के अतिसार को त्रिदोषजन्य समझना चाहिए। यह कष्टसाध्य होता है, क्योंकि त्रिदोषज होता है ॥ ८ ॥

शोकज अतिसार

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम् ॥९॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड् वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वेद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥१०॥

(सु. उ. ४०।१३-२-१५-१)

धननाश एवं बन्धुनाश आदि कारणों से शोक करते हुए और इसी कारण कम भोजन करने वाले मनुष्य में अतिबाष्प त्याग (नेत्र, नासा एवं गले से निकलने वाला जलीय स्राव) से उत्पन्न गर्मी कोष्ठ में पहुँच कर पाचक अग्नि को विकृति कर रक्त को क्षुब्ध कर देती है। इस प्रकार क्षुब्ध हुआ गुञ्जा (घुंघुची) फल के वर्ण का रक्त-पुरीषमिश्रित अथवा पुरीषरहित, गन्धयुक्त अथवा गन्धरहित होकर निकलता है। यह शोक से उत्पन्न अतिसार कहलाता है। इस दुश्चिकित्स्य अतिसार को वैद्यों ने कष्टसाध्य माना है ॥ १० ॥

शोकज अतिसार

शोक अल्पभोजन



अल्प भोजन



नेत्र, नासा एवं जलगत स्राव से उत्पन्न ऊष्मा



कोष्ठ में जाकर पाचकाग्नि को विकृत करना



विकृत पाचकाग्नि द्वारा रक्त क्षुब्ध होना



गुञ्जाफल सदृश अविड् अथवा सविड् एवं गन्धयुक्त अथवा निर्गन्ध रक्त का अधोमार्ग से निकलना।

शोकजमाह—तैस्तैरित्यादि। तैस्तैर्भावैर्धनबन्धुनाशादिभिः। शोचतः शोकं कुर्वतः। अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्य; एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम्। बाष्पोऽत्युद्गतनेत्रनासागलादिगतं जलं, तत्सहित ऊष्मा शोकजं देहतेजो बाष्पोष्मा; स कोष्ठं गत्वा, वह्निमाविश्य व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तम् ऊष्मत्वद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्; तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलसंकाशम्; अधस्तान्निर्गच्छेत्। पक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः। गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह। तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्; अविड्वा अल्पविट् अल्पासनत्वात्। निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पोऽविट्सविड्भ्यामिति कार्तिकः; अन्ये तु पित्तस्य पूतित्वात् प्रबलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्वमिति; गन्धश्च विस्र इत्याहुः। क्षोभयेत्तस्य रक्तमित्यत्र 'शोषयेत्तस्य भुक्तम्'—इति पाठान्तरमयुक्तम्, काकणन्तीप्रकाशत्वे हेत्वन्तराभावात्; तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च जेज्जटादिभिः सर्वैरेव। अयं वातपित्तज उक्तः। दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात्। अत एवाह—कष्ट एव प्रदिष्ट इति। वैद्यैर्ब्रह्मादिभिः। गदाधरस्त्वाह—'एष' इत्यनेनैवंसम्प्राप्तिक एव कष्टो न त्वन्यः शोकज इति॥ ९-१०॥

सरोज व्याख्या—तैस्तैर्भावैः—अर्थात् धन-नाश एवं बन्धु-नाश आदि कारणों से शोक करने वाले मनुष्य के आहार की मात्रा कम हो गयी हो और बहुत ही कम खाता हो, इससे उसका धातुक्षय भी प्रतीत होता है। शोक के कारण नेत्र, नासा, गले आदि से निकलने वाला अश्रु जल, उसके साथ मिला हुआ ऊष्मा अर्थात् शोकजन्य देह का तेज वाष्पोष्मा कहा जाता है। वह बाष्पोष्मा कोष्ठ में जाकर वह्निमाविश्य अर्थात् पाचकाग्नि को व्याकुल करके, ऊष्मता एवं द्रवता दोनों समान गुण के कारण वहाँ स्थित रक्त को क्षुब्ध कर देता है। वह क्षुभित हुआ रक्त गुञ्जाफल के समान लाल-काले चमकदार रंग का गुद मार्ग से निकलता है। वह्निमाविश्य के स्थान पर पक्तिमाविश्य इति पाठान्तर भी मिलता है, उसका भी यही अर्थ होता है। गदाधर वह्नि शब्द से पित्त का ग्रहण करते हैं। 'तच्च रक्तम्' अर्थात् पूर्वोक्त रक्त कभी-कभी विड् (मल) से मिला हुआ, कभी-कभी केवल रक्त बिना मल के अथवा अल्प मल के साथ निकलता है। रोगी के कम खाने से मल भी कम बनता है। निर्गन्धं गन्धवद् इति विकल्पो—आचार्य कार्तिक का मत है कि यदि रक्त में मल का संयोग होता है तो उसमें गन्ध (दुर्गन्ध) होता है, और यदि मल का संयोग नहीं होता है, तो उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं होती है। अन्य आचार्य मानते हैं कि पित्त में सड़न होने पर वह तीक्ष्णगन्ध होता है और यदि पित्त

अत्यधिक दूषित नहीं होता है, तो निर्गन्ध होता है। गन्ध से विस्र गन्ध अथवा आमगन्ध समझना चाहिए।

'क्षोभयेत्तस्य रक्तम्' के स्थान पर 'शोषयेत्तस्य भुक्तम्' ऐसा पाठान्तर आया है, जो कि ठीक नहीं है, क्योंकि काकणन्तीप्रकाश (गुञ्जाफलसदृश) के रंग का रक्त क्षुब्ध होकर ही निकलता है। भुक्त के शोषित होने पर रक्त नहीं निकलता। अन्य कोई भी कारण ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। जेज्जट आदि सभी आचार्य इसको वात-पित्तज मानते हैं। यह अत्यधिक दुश्चिकित्स्य होता है, क्योंकि जब तक शोक दूर नहीं होता, तब तक केवल औषधि से रोग शान्त नहीं होता। अतएव ब्रह्मा आदि वैद्य भी इसे अत्यन्त कष्टकर मानते हैं। आचार्य गदाधर कहते है कि इसी प्रकार सम्प्राप्ति वाला ही अतिसार कष्टप्रद होता है, न कि अन्य प्रकार का शोकज ॥९-१०॥

आमातिसार

अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥११॥

(सु. उ. ४०।५-२, ६-१)

अन्न के न पचने से कुपित दोष कोष्ठ, रक्तादि धातुओं तथा मलों को दूषित करके अनेक वर्णों से युक्त, शूल सहित मल को बार-बार निकालते हैं। इस छठे अतिसार को आमातिसार कहते हैं ॥११॥

आमातीसारमाह—अन्नाजीर्णादित्यादि। अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम्। अत एवाह क्षारपाणिः—'यथाभुक्तमशनमुपविशति'—इति। प्रद्रुताः विमार्गगाः। क्षोभयन्तो दूषयन्तः। धातुसङ्घान् रक्तादीन्। मलान् पुरीषादीन्। नैकशो बहुशः ॥ ११ ॥

सरोज व्याख्या—अन्न जब अजीर्ण होकर पड़ा रहता है, तब उसे अन्नाजीर्ण कहते हैं। इसलिए क्षारपाणि ने कहा है—यथा—भुक्तमशनमुपविशति अर्थात् खाया हुआ भोजन वैसा ही गुदमार्ग से बाहर निकलता है। प्रद्रुताः अर्थात् विमार्गगामी दोष, क्षोभयन्तः—दूषित करते हुए। धातुसंघान्—रक्तादि धातुओं को, मलान्—पुरीषादि मलों को, नैकशो अर्थात् बार-बार निकालते हैं।

आम एवं पक्व मल का लक्षण

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १३ ॥

(सु. उ. ४०।१७-१८)

जो मल वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले अतिसारों के लक्षणों से युक्त हो, पानी में डालने पर डूब जाय तथा अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त एवं चिपचिपा हो, उसे आम मल समझना चाहिए। जिस मल में इसके विपरीत लक्षण हो तथा शरीर एवं कोष्ठ में लघुता विशेष रूप से पायी जाती हो, उस मल को पक्व समझना चाहिए ॥ १३ ॥

सर्वातिसाराणां चिकित्सोपयोगित्वेनामलक्षणं पक्वलक्षणं चाह—संसृष्टमित्यादि। संसृष्टं सम्बद्धम्, एभिर्दोषैर्दुष्टिभिरुक्तवाताद्यतीसारलिङ्गैः। दुष्टयश्चात्र यथासम्भवं व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः; तेन सर्वातिसाराणां न सान्निपातिकत्वप्रसङ्गः। न्यस्तमप्सु जले क्षिप्तम्; अवसीदति निमज्जति, आमस्य गौरवात्। भृशशब्दः पिच्छिलेनापि सम्बध्यते। दुर्गन्धि विस्रम्। पिच्छिलमामसम्बन्धात्। एतानीति जलनिमज्जनादीनि। लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च, चकारेण कफशैत्यदुष्ट्यादिकं विनाऽप्यम्बुनिमज्जनं लक्षणमिति समुच्चीयते। तदुक्तं—'मज्जत्यात्मा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले। विनाऽतिद्रवसंघाताच्छ्लेष्मशैत्यप्रदूषणात्' (च. चि. १५) इति। अथवा आमलिङ्गवैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोधयतीति ॥ १२-१३ ॥

सरोज व्याख्या—'संसृष्टम्' अर्थात् इन वातादि दोषजन्य दुष्टियों से उत्पन्न हुए अतिसार के लक्षणों से युक्त। ये दुष्टियाँ यथासम्भव पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित समझनी चाहिए। यदि संसृष्ट शब्द से तीनों दोषों के लक्षणों का समावेश कर लिया जाय, तो सर्वत्र सन्निपात का ही प्रसङ्ग हो जायेगा। अप्सु न्यस्तम् अवसीदति—पानी में मल डालने पर डूब जाता है। आमस्य गौरवात्—आम के भारी होने से पानी में डूबना ठीक ही है। भृश का अर्थ अत्यन्त होता है, यह अत्यन्त पिच्छिल एवं अत्यन्त दुर्गन्धि दोनों से सम्बन्धित है। ये लक्षण आममल के हैं।

उपर्युक्त जलनिमज्जनादि आम के लक्षण विपरीत हो, कोष्ठ एवं शरीर में भी लघुता हो। यहाँ पर पक्व मल के लक्षण में 'लाघवं च' इस चकार-ग्रहण से कफदुष्टि आदि से रहित मल का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कहा गया है—

मज्जत्यात्मा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघाताच्छ्लेष्मशैत्यप्रदूषणात् ॥

अर्थात् अति द्रव (पतला), अति कठिन तथा श्लेष्मा से दूषित एवं शीत से दूषित मल आम-पक्व क्रम के विना भी जल में डूब अथवा तैर सकता है, वैसे सामान्य रूप से आम मल जल में डूब जाता है और पक्व मल जल में तैरता है। इसलिए मधुकोशकार ने कहा है कि आम लक्षणों से विपरीतावस्था में शरीर को लाघवावस्था का बोध हो जाता है, तो पुनः लाघव शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता

है कि कफदुष्टि से रहित मल की यह जलनिमज्जनपरीक्षा है, कफदुष्टि से युक्त मल की नहीं। इसलिए वाग्भट ने कहा है--कफात् पक्वोऽपि मज्जति ॥ १३ ॥

असाध्य अतिसार

पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु ।
घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि ॥ १४ ॥

मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ १५ ॥

कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु ।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्वापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥ १६ ॥
संमूर्च्छारतिसम्मोहयुक्तं पक्ववलीगुदम् ।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ॥ १७ ॥
'असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम् ।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्' ॥ १८ ॥
(सु. उ. अ. ४०।२१)

'श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्' ॥ १९ ॥
(सु. सू. अ. ३३·३९)
(शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम् ।
छर्दि मूर्च्छां च हिक्वां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत् ॥)

जिसका मल पके हुए जामुन के समान (वर्ण में) अथवा यकृत् खण्ड के समान लाल, पतला, अथवा घी, तेल, चर्वी, मज्जा, वेशवार (पिसे मांस), दूध, दही, एवं माठे के धोवन के समान काला, नीला, गहरा लाल, पिसे अंजन के पिण्ड के समान (कृष्ण रूक्ष), स्निग्ध, नानावर्ण, मोर पंख के समान चन्द्रिकायुक्त, गाढ़ा, मुर्दा के समान गन्ध वाला, मस्तिष्क की चर्बी के समान, सुगन्धित, सड़ा हुआ एवं मात्रा में अधिक मल निकलता हो तथा रोगी तृष्णा, दाह, आँखों के सामने अँधेरा, श्वास, हिचकी, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, मूर्च्छा, बेचैनी, सम्मोह से युक्त हो, जिसकी गुदवलियाँ पक गयी हो, प्रलाप करता हो, ऐसे अतिसार रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

जिस रोगी की गुदवलियाँ संकोचरहित हो, बल मांस क्षीण हो गये हों, अत्यन्त अफारा हो, उपद्रव उत्पन्न हो गये हो, गुदवलिया पक गयी हों तथा अग्नि मन्द हो गयी हो, उसे त्याग देना चाहिए ॥ १८ ॥

श्वास, शूल एवं प्यास से पीड़ित, कृश, दुर्बल ज्वर से पीड़ित तथा वृद्ध मनुष्य को अतिसार अवश्य मार डालता है ॥ १९ ॥

असाध्यलक्षणान्याह--पक्वेत्यादि। पक्वजाम्बवसंकाशं पक्वजम्बूफलसदृशवर्णं स्निग्धकृष्णमित्यर्थः। यकृत्खण्डनिभं कृष्णलोहितम्। तनु स्वच्छ(ल्प)म्। घृतादीनां मांसधावनतोयान्तानामिवाभाः प्रतिभासो यस्य तत्तथा। वेशवारः--'निरस्थि पिशितं पिष्टं दधिक्षीरसमन्वितम्। एलामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतम्' इत्यादिपरिभाषितमांसप्रकारः। कृष्णमञ्जनप्रख्यम्। एतच्च कृष्णत्वादिकं पित्तातिसारवर्ज्यं बोद्धव्यम्; तत्र रूपत्वेन पठितत्वात्। नीलारुणं चाषपक्षवर्णम्। मेचकं मर्दनाञ्जनपिण्डवदीषत्कृष्णरूक्षम्। कर्वूरं नानावर्णं, तच्च स्निग्धं स्नेहद्रवधातुयोगात्। चन्द्रकोपगतं मयूरपिच्छचन्द्रकैरिव धातुस्नेहैरुपगतम्। उक्तं हि करवीराचार्येण--चन्द्रकैः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः। आवृतं वेशवाराम्बु मज्जक्षीरोपमं त्यजेत्' इति। तदेव घनं धात्वन्तरव्यामिश्रत्वात्। कुणपं शवदुर्गन्धि। मस्तुलुङ्गाभं मस्तुलुङ्गं मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः घृतकेति ख्यातं, तत्सदृशम्। कुथितं पूति। तृष्णेत्यादि। तृष्णादीनां पार्श्वास्थिशूलान्तानां द्वन्द्वं कृत्वा मत्वर्थीय इनिः, तृष्णादियुक्तमित्यर्थः। अत्र संमूर्च्छा मनोमोहः, संमोह इन्द्रियमोहः, इत्यपौनरुक्त्यम्। चकाराच्चरकोक्तः (च. चि. अ. १९) सहसोपरतातीसारश्चासाध्यो बोद्धव्यः। पक्ववलीगुदं पक्वा वलयो गुदे यस्य तं पक्ववलीगुदम्। असंवृतगुदं गुदसंवरणाक्षमम्। तमेव क्षीणं बलोपचयरहितम्। दूराध्मातं भृशमाध्मानयुक्तं, तस्य विरेकसाध्यत्वेनातिसारविरुद्धोपक्रमत्वात्; दुरात्मानमिति पाठान्तरे दुष्टान्तःकरणम्, अजितेन्द्रियमिति जेज्जटः, उपद्रुतमतीसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम्। यदुक्तम्--'शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्' इति। गुदे पक्वे गतोष्माणमिति गुदे पाकारम्भकपित्ते वर्तमानेऽपि गतोष्माणं शीतगात्रं नष्टाग्निं वा। अतिसारकिणम् अतिसारयुक्तम् 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' (पा. अ. अ., ५ पा. २ सू. १२९) इति कुक्, चादिनिः। विशेषेणेति वचनाद्बालस्याप्यतिसारोऽसाध्य इति बोधयति। यदाह सुश्रुतश्चिकित्सायाम्--'कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः' (सु. उ. अ. ४०) इति। एतच्चाबलत्वे सति बोद्धव्यम् ॥ १४-१९ ॥

सरोज व्याख्या—पक्वजाम्बवसकाशं अर्थात् पक्व जम्बु (जामुन) फल के सदृश स्निग्ध कृष्णवर्ण का, यकृत्खण्डनिभं—अर्थात् यकृत के टुकड़े के समान काले लाल रंग का। तनु-स्वच्छ (पतला) घृत आदि से लेकर मांसधावनतोयाभ (मांस

का धोवन) तक वैसे ही आभा का उल्लेख किया गया है। अर्थात् यदि अतिसार का मल घृतमण्ड, तैल, वसा, मज्जा, वेशवार, दूध, दही अथवा मांस के धोवन के समान हो अथवा इनके समान आभावाला हो, तो असाध्य होता है। वेशवार पकाये मांस का एक प्रकार है। कहा गया है—

निरस्थि पिशितं पिष्टं दधिक्षीरसमन्वितम्।
एलादि मरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतम्॥

वेशवार के समान वर्ण एवं गन्ध वाला अतिसार। कृष्ण—अर्थात् अञ्जन के समान काला हो। यह काला आदि रंग पित्तातिसार को छोड़कर समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर रूपानुसार उनका उल्लेख किया जा चुका है। नीलारुणम्—चाष (नीलकण्ठ) पक्षी के समान नील एवं हल्के लाल रंग का। मेचकम्—पिण्डवत् अञ्जन के समान हल्का काला एवं रूक्ष। कर्बुर—नानावर्ण का, ऐसा अतिसार अनेक द्रव धातुओं का योग होने से स्निग्ध होता है। चन्द्रकोपगतम्—मोरपंख की चन्द्रिकाओं के समान। इसमें अनेक धातुओं के स्नेह विराजमान होते हैं, इसीलिए वह चमकता है। करवीराचार्य का मत है कि मोरपंख की चन्द्रिकाओं के समान हरी, नीली, पीली धारियों से आवृत तथा वेशवार जल (मांसधोवन), मज्जा अथवा दुग्ध के रंगवाले अतिसार को छोड़ दे। इसी में अन्य धातुओं का मिश्रण होने पर वह घन हो जाता है। कुणप—शव का दुर्गन्ध आता है। मस्तुलुङ्गाभं—मस्तिष्क के अन्दर रहने वाले स्नेह मस्तुङ्ग या घृतका कहते हैं, उसके समान वर्ण का। कुथित—पूति (सड़ा हुआ), दुर्गन्धयुक्त, ऐसा अतिसार असाध्य होता है।

तृष्णा आदि से लेकर पार्श्वास्थिशूल तक द्वन्द्व समास कर मत्वर्थीय इनिप्रत्यय करने से तृष्णा आदि से युक्त अर्थ हो जाता है। अर्थात् तृष्णा, दाह आदि से युक्त रोगी को त्याग देना चाहिए। मानसिक मोह को सम्मूर्च्छा कहते हैं। सम्मोह से इन्द्रियों का मोह (इन्द्रियव्याकुलता) समझना चाहिए। इसलिए सम्मूर्च्छा एवं सम्मोह इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग से पुनरुक्त दोष नहीं होता। चकार से यहाँ पर चरकोक्त (च० चि० १९) सहसोपरत अर्थात् अचानक एकदम रुक जाने वाला अतिसार भी असाध्य होता है। जैसा कि चरक ने कहा है—'सहसोपरतविकार-मतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात्।' (च० चि० १९) पक्ववलीगुदम्—अर्थात् जिसकी गुदप्रदेश की वलियाँ पक्व हो गई हो, वह भी असाध्य होता है। असंवृतगुदम्—जिसकी गुद-संकोचन-शक्ति समाप्त हो गयी हो, क्षीणं अर्थात् रोगी बलहीन हो गया हो, दूराध्मातं—अर्थात् उदर में आध्मान (अफारा) इतना बढ़ गया हो कि दूर से ही दिखाई पड़े। आध्मान विरेचन साध्य होता है और अतिसार में विरेचन-विरुद्ध उपक्रम है, इसलिए भी इसको असाध्य माना गया है। दुरात्मनम्—इसका पाठान्तर दुष्टान्तःकरण भी मिलता है। जेज्जट इसका अर्थ अजितेन्द्रिय (इन्द्रिय-

लोलुप) किया है। इन्द्रिलोलुप व्यक्ति भी मिथ्या आहार-विहार से असाध्यावस्था में पहुँच जाता है। उपद्रुतम्—शोथादि उपद्रवों से युक्त अतिसार असाध्य होता है। जैसा कि कहा गया है कि शोथ, शूल, ज्वर, तृष्णा, श्वास, कास, अरोचक, वमन, मूर्च्छा और हिचकी इन उपद्रवों से पीड़ित अतिसार रोगी को देखकर त्याग दें।

गुदे पक्वे गतोष्माणम्—गुदा में पाकारम्भक पित्त के वर्तमान होने पर भी शरीर की ऊष्मा (गर्मी) खतम हो गयी हो, शरीर शीतल हो गया हो अथवा पाचकाग्नि नष्ट हो गयी हो।

अतिसारकिणम्—अतिसारयुक्त रोगी। 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' इस पाणिनि सूत्र द्वारा कुक् प्रत्यय हो जाता है और चकार से इनि प्रत्यय होकर अतिसार-किन् शब्द बनता है, जिसका द्वितीया के एकवचन में 'अतिसारकिणम्' ऐसा रूप हो जाता है।

रक्तातिसार

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥ २० ॥

जब पित्तातिसार का रोगी पित्तकारक द्रव्यों का अधिक एवं निरन्तर सेवन करता है, उसे शीघ्र ही भयंकर रक्तातिसार हो जाता है।

ननु, रक्तजोऽप्यतिसारोऽस्ति तस्य सप्तमत्वापत्तेरुक्तं षट्त्वं विरुध्यते ? इत्याशङ्क्य पैत्तिकस्यैवायमवस्थाविशेष इत्याह—पित्तेत्यादि। पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वा पित्तकृन्ति पित्तकारकाणि द्रव्याण्यत्यर्थं प्रभूतमभीक्ष्णं निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार उल्बणो महानुपजायत इति सम्बन्धः। अत्र चारुणकृष्णपाण्डुत्वादिना वातादयो दूषक बोद्धव्याः। यदुक्तम्—'दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत्' इति। एवं स्नेहाजीर्णविसूचिकाविषार्शःक्रिमिप्रभृतिजन्येष्वतीसारेषु षट्कातिरिक्तत्वं प्रतिक्षिप्तं बोद्धव्यम्, अव्यभिचरितदोषलिङ्गत्वादिति जेज्जटः ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—रक्तातिसार भी होता है। इसे पूर्वोक्त छः अतिसारों के पश्चात् सातवाँ मान लेने पर 'षड्विधं तं वदन्ति' इस पूर्व कथन में विरोध हो हो जायगा, इस शङ्का को दूर करने से लिये इसको पैत्तिक अतिसार का एक अवस्थाविशेष बनाते हैं। पैत्तिक अतिसार जब विद्यमान हो अथवा होने वाला हो अथवा अपने पूर्वरूपावस्था में हो और रोगी पित्तकारक द्रव्यों का अधिक मात्रा में निरन्तर उपयोग करता हो, तब उल्वण (महान्) रक्तातिसार हो जाता है। इसमें अरुण, कृष्ण, पाण्डु आदि वर्ण पाये जाने से वातादि को भी दूषक समझना चाहिए।

जैसा कि कहा गया है—'दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत् ।' अर्थात् दोषों का लक्षण देखकर तत्तद् दोषों के संसर्ग का अनुमान कर लेना चाहिए । इसी तरह स्नेहाजीर्ण, विसूचिका, विष, अर्श एवं क्रिमि आदि से होने वाले अतिसार में समझना चाहिए । ये अतिसार छः से अतिरिक्त नहीं होते हैं, कुल छः ही होते हैं । आचार्य जेज्जट का मत है कि इनस बमें अव्यभिचरित (नियमित रूप से) दोष लक्षण पाया जाता है, इसलिए भी अतिसार छः से अधिक न होकर छः ही होते हैं ।

प्रवाहिका (Dysentery) की सम्प्राप्ति

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥२१॥
(सु० सू० ४०।१३८)

अहितकर भोजन करने वाले मनुष्य का बढ़ा हुआ वायु आन्त्र प्रदेश में सञ्चित कफ को बाहर निकालने के लिये प्रेरित करता है । प्रवाहण (काँखने) करने पर थोड़ा-थोड़ा, बार-बार मलयुक्त कफ गुदमार्ग से निकलता है । इस अवस्था को विद्वान् 'प्रवाहिका' कहते हैं ।

अथ द्रवपरणादामपक्वलक्षणयोगात् प्रवाहिकातीसारयोः साधर्म्यम्, अतोऽतीसाराधिकारे प्रवाहिकासप्राप्तिमाह-वायुरित्यादि । अतीसारे नानाविधद्रवधातुसरणं प्रवाहिकायां तु कफमात्रसरणमिति भेदः । निचितं बलासमहिताशनस्य संचितं कफं, मलाक्तं पुरीषसहितं वायुर्वातः, अधस्तान्नुदति गुदेन पातयति । प्रवाहतः प्रवाहणं कुर्वतः । भोजादौत्वियं विस्रंसीति नाम्ना पठ्यते, पराशरे त्वन्तर्ग्रन्थिरिति, हारीतस्तु निश्चारकाख्यामेतां पठति । यदाह--'प्रवाहिकेति सा ज्ञेया कैश्चिन्निश्चारकस्तु सः' इति ॥ २१ ॥

सरोज व्याख्या—द्रव सरण एवं आम पक्व लक्षण दोनों में सामान्य होने से प्रवाहिका और अतिसार में साधर्म्य पाया जाता है, इसीलिए अतिसाराधिकार में प्रवाहिका की सम्प्राप्ति कही गयी है ।

अतिसार में अनेक प्रकार के द्रव धातु का सरण होता है, किन्तु प्रवाहिका में प्रायः केवल कफ का सरण होता है । यही इन दोनों में विभेद है ।

अतिसार एवं प्रवाहिका में भेद

अतिसार	प्रवाहिका
१. अनेक प्रकार के द्रव धातु का सरण	१. प्रायः केवल कफ का सरण
२. मात्रा तथा संख्या दोनों का अतिसरण अधिक	२. मल मात्रा में कम तथा संख्या में अधिक बार
३. प्रवाहण आवश्यक नहीं ।	३. प्रवाहण आवश्यक

निचितं वलासम्—अहिताशन करने वाले मनुष्य के निचित (आन्त्र में सञ्चित) वलास (कफ) को मलाक्तं अर्थात् पुरीष सहित (युक्त) वायु गुद मार्ग से बाहर निकलता है। प्रवाहतः—अर्थात् प्रवाहण (कांखने पर) करते समय। भोजादि तन्त्र में इसको 'विस्रंसी' नाम दिया गया है। पराशर तन्त्र में इसे 'अन्तर्ग्रन्थि' कहा गया है। हारीत ने इसे 'निश्चारक' कहते हुए लिखा है कि इस रोग को 'प्रवाहिका' कहते हैं, किन्तु कुछ लोग इसे 'निश्चारक' कहते हैं।

सम्प्राप्ति को कुछ विशद करके देखें तो मिथ्याहार से अग्निमान्द्य तथा श्लेष्म-वृद्धि होती है, आमकफ पिच्छिल होता है एवं वह कोष्ठ में आलेपन करता है। इससे वायु (समान, अपान) विकृत होता है। यह विकृत वायु श्लेष्म को पुरीष के बाहर निकलता है। आम कफ पिच्छिल होने से वह आन्त्र की दीवाल पर चिपक जाता है, जिसे निकालने के लिये प्रवाहण करना आवश्यक होता है, परिणामतः वेदना (शूल) होता है।

सम्प्राप्तिघटक—

१. दोष—श्लेष्मवात प्रधान
२. दूष्य—रस, पुरीष
३. स्रोतस्—पुरीषवह-अन्नवह
४. स्रोतोदुष्टिलक्षण—संग
५. अधिष्ठान—पक्वाशय
६. आशुकारी
७. साध्य

प्रवाहिका के भेद एवं लक्षण

प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु।
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वतां च॥ २२॥
(सु॰ उ॰ ४०।१३९, १४०-१)

वातिक प्रवाहिका शूलयुक्त, पैत्तिक दाहयुक्त, श्लैष्मिक श्लेष्मायुक्त तथा रक्तज रक्तयुक्त होता है। कफप्रधान प्रवाहिका स्निग्धपदार्थजन्य, वातप्रधान रूक्षपदार्थ-जन्य तथा पित्तप्रधान एवं रक्तप्रधान तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थजन्य होती है। इन सबके लक्षण, आमपक्व भेद एवं चिकित्साक्रम अतिसार की भाँति समझना चाहिये।

तस्या वातादिभेदेन रूपमाह—प्रवाहिकेत्यादि। ननु, वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासमित्युक्तं तत् कथं वातकृतेति ? उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात्। ननु तथाऽपि पित्तरक्तसंभवा कुतः ? उच्यते, अहिताशनस्येत्युक्तम्, आहारो हि विरुद्धस्तस्यामवस्थायां पित्तं रक्तं च कोपयति, ते च पश्चाद्वात-

स्यानुबले स्वलिङ्गं यदा दर्शयतस्तदा ताभ्यां व्यपदेशः। स्नेहरूक्षप्रभवा इति स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा; तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा च। लिङ्गं वातादिभेदेन लक्षणम्। क्रममामपक्वभेदेन चिकित्साक्रममिति ॥ २२ ॥

सरोज व्याख्या—अब यहां शंका होती है कि 'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासम्' में कफ का उद्रेक किया गया है, तो फिर 'प्रवाहिका वातकृता' कैसे कहा गया ? इसका उत्तर दिया है कि आधिक्य से व्यपदेश हुआ करता है। अर्थात् 'व्यपदेशस्तु भूयसा' न्याय के अनुसार जहां कफ की अपेक्षा वात की अधिकता होगी, वह वातिक, एवं जहाँ कफ की अधिकता होगी वह कफज व्यवहार किया जा सकता है। पुनः एक प्रश्न उठता है कि सम्प्राप्ति में पित्त एवं रक्त का उल्लेख ही नहीं है, तो पुनः पित्तप्रवाहिका या रक्तप्रवाहिका क्यों कहा गया है ? इस पर कहते हैं कि अहितासन करने वाले मनुष्य का विरुद्ध आहार ही उस अवस्था में पहुँचकर पित्त एवं रक्त को प्रकुपित कर देता है। अर्थात् तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थों का सेवन करने से वातकफाधिक्य होने पर पित्त एवं रक्त में उद्रेक हो जाता है। इस पर बढ़े हुए दोनों पित्त एवं रक्त जब वायु से अनुबल होकर अपने लक्षण दिखाते हैं, तब इनके नाम से रोग-निर्देश हो जाता है। स्नेहप्रभव कफज प्रवाहिका एवं रूक्ष से वातिक प्रवाहिका होती है। 'तु' शब्द से तीक्ष्णोष्ण द्रव्यों के सेवन से होने वाली पित्तज एवं रक्त प्रवाहिका समझनी चाहिये। वातादि भेद से होने वाले रोगलक्षण को 'लिङ्ग' कहते हैं। क्रमम्—अर्थात् अतिसार के समान इसमें भी आम और पक्वावस्था को देखकर चिकित्साक्रम करना चाहिए।

अतिसारमुक्त रोगी के लक्षण

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥ २३ ॥

(सु. उ. ४०।१६२)

जो अतिसार रोगी विना मल प्रवृत्ति के मूत्र एवं अपान वायु का त्याग सम्यक् प्रकार करे, जिसकी अग्नि प्रदीप्त हो गयी हो और कोष्ठ लघु हो गया हो, उसे अतिसार से मुक्त समझना चाहिए ॥ २३ ॥

वातविष्टम्भादुदावर्ताद्वा मलाप्रवृत्तावतीसारनिवृत्तिरिति शङ्कानिरासार्थमतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—यस्येत्यादि। उच्चारं विना यस्य मूत्रं प्रवर्तते, सम्यगिति सम्यग्वृत्त्या, न हीनयोगेनेत्यर्थः। वायुश्च गच्छति, 'गुदेन' इति शेषः। स्थितो निवृत्तिं गतः। उदरामयोऽतीसारः, प्रकरणात्।

एतेन सम्प्राप्तिभङ्ग उक्तः। अतीसारे हि संप्राप्तिरियं--यन्मूत्रोचितोऽपि द्रवधातुर्गुदेनैव प्रवर्तते, सर्वस्यैवाब्धातोर्गुदप्रवृत्तत्वात्; यदा तु मूत्रमार्गेण प्रवर्तते, तदाऽपि पुरीषप्रवृत्तिसमकालमिति।

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायमतीसारनिदानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—वायु के विष्टम्भ से अथवा प्रतिलोम होकर उदावर्त होने से कभी-कभी मल की प्रवृत्ति रुक जाने पर भी अतिसार की निवृत्ति हो जाया करतो है। इसी शंका के निराकरण के लिये अतिसार के निवृत्ति के लक्षण दिये जाते हैं। उच्चार (पुरीष) विना ही जिस मनुष्य को मूत्र आने लग जाता है, मूत्र की प्रवृत्ति भी सम्यक् प्रकार होने लगे, न कि हीन योग से थोड़ी-थोड़ी। वायुश्च गच्छति गुदेन इति शेषः—अर्थात् गुदमार्ग से अपान वायु भी ठीक से निकलती हो, उसके साथ मल बिलकुल न निकलता हो। 'उदरामय' शब्द से अतिसार रोग का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यह प्रकरण ही अतिसार का है। यहाँ पर उपर्युक्त श्लोक में आचार्य सुश्रुत ने सम्प्राप्ति-विघटन की ओर संकेत किया है; क्योंकि अतिसार की सम्प्राप्ति में कहा गया है कि मूत्रमार्ग द्वारा निकलने वाला भी द्रव धातु गुदमार्ग द्वारा ही निकल जाता है; इतना ही, जो भी जलीय धातु है, वे सभी मल के साथ निकलने लगते हैं। जिस समय मूत्र की प्रवृत्ति होती है, मल उसके साथ आने लगता है। जब अतिसार समाप्त हो जाता है, सम्प्राप्ति का विघटन हो जाता है, तो मल-मूत्र, अपान वायु अपने-अपने मार्ग से प्रवृत्त होने लगते हैं ॥ २३ ॥

ज्वरातिसार

(ज्वरातिसारयोरुक्तं निदानं यत् पृथक् पृथक्।
तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुनः ॥ १ ॥)

इति माधवकरविरचिते माधवनिदानेऽतीसारनिदानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

ज्वर एवं अतिसार के जो निदान (हेतु, पूर्वरूप आदि) पृथक्-पृथक् कहे गये है, वे ही 'ज्वरातिसार' के भी होते हैं। अतएव वे दुबारा नहीं कहे गये ॥



चतुर्थोऽध्यायः

ग्रहणीरोगनिदानम्

ग्रहणी वह व्याधि है जिसमें पाचन तथा शोषण दोनों कार्य उभयविध दूषित हो जाते हैं, जिससे इसे आधुनिक दृष्टि से 'A Syndrome of Indigestion and Malabsoption' कहा जा सकता है।

हेतु लक्षण एवं सम्प्राप्ति

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥ १ ॥
(सु. सू. ४०।१६७)

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ २ ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ३ ॥
(सु. उ. अ. ४०।१७१, १७६)

अतिसार के ठीक हो जाने पर मन्दाग्नि वाले एवं अहित भोजन करने वाले प्राणी की अग्नि अत्यन्त दूषित होकर ग्रहणी को दूषित कर देती है ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रकुपित हुए पृथक्-पृथक् एक-एक दोष से एवं परस्पर मिले हुए तीनों दोषों (सन्निपात) से दूषित हुई वह ग्रहणी खाये हुए आहार को अपक्वावस्था में अथवा कदाचित् पक्वावस्था में बार-बार त्यागती है। इससे मल पीड़ा के साथ दुर्गन्धयुक्त, कभी बँधा हुआ तो कभी पतला निकलता है। आयुर्वेद के जानने वाले इस रोग को 'ग्रहणी' रोग कहते हैं ॥ २-३ ॥

द्रवसरणसाधर्म्यात् परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारानन्तरं ग्रहणी, तस्याः संप्राप्तिमाह—अतीसार इत्यादि। अपिशब्दादजातातिसारस्यापि स्वहेतोर्ग्रहणीरोगः स्यादिति बोधयति। अन्ये त्वपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसार इति व्याचक्षते। मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहिताशनमपि न विकारकारीति बोधयति। उक्तं हि सुश्रुते—'दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्' (सु. सू. अ. २०) इति। भूय इति पुनरत्यर्थं वा, सन्दूषितः पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात्, अभिदूषयेत् समन्ताद् दूषयेत्। एतेन निवृत्तातीसारिणाहिताहारपरिहारः करणीयः, आवह्निबललाभादित्युक्तं भवति। अत एवाह सुश्रुतः—'तस्मात्

कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्। यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥' (सु. उ. अ. ४०) इति ॥ १ ॥

तस्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—एकैकश इत्यादि। मूर्च्छितै- रतिवृद्धैः, 'मूर्च्छामोहसमुच्छ्राययोः' इति धात्वर्थात्। 'उच्छ्रितैः' इति पाठा- न्तरे स एवार्थः। सा ग्रहणी दोषैर्दुष्टा सती भुक्तमाहारमामपक्वमेव पक्वं वा विमुञ्चति। वाशब्दश्चार्थे, एवकारः समुच्चीयमानावधारणे, यथा—'नरं च नारायणमेव चोभौ स्वतः सुतौ संजनयम्बभूवतुः' इति। अथवा एवकारो विकल्पार्थः; निपातानामनेकार्थत्वादिति। सरुजं सशूलम्, पूति दुर्गन्धि। वातेन मुहुर्बद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवम्। ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणी- रोगः। ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानम्। यदाह चरकः—'अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रह- णाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धार- यत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः' (च. चि. अ. १५) इति। सुश्रुतेऽप्येत- दुक्तम्—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥ (सु. उ. अ. ४०) इति। कला धात्वाशयान्तर- मर्यादा, पक्वामाशयमध्यस्था पच्यमानाशयरूपेत्यर्थः ॥ २-३ ॥

सरोज व्याख्या—अतिसार एवं ग्रहणी दोनों में द्रवमल का सरण होने से समानता मिलती है तथा परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होने से अतिसार के पश्चात् ग्रहणी रोग की सम्प्राप्ति कहते हैं। 'अतिसारे निवृत्तेऽपि' इत्यादि श्लोक में 'अपि' शब्द से यह संकेत किया गया है कि अतिसार के ठीक न होने पर भी ग्रहणी रोग हो जाया करता है। 'मन्दाग्नेः' से अभिप्राय है कि जिसकी अग्नि प्रदीप्त है, उसको अहित आहार विकारकारी नहीं होता है। सुश्रुत ने कहा भी है—'दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्'। (सु० सू० २०) अर्थात् दीप्ताग्नि वाले व्यक्ति का विरुद्धाहार भी पच्य हो जाता है। 'भूयः' अर्थात् पुनः अथवा अत्यधिक दूषित हुई अग्नि। इससे पहले अतिसार में भी अग्नि दूषित होती है। इस अवस्था में और अधिक दूषित होने से वह दूषित अग्नि अपने अधिष्ठान ग्रहणी कला को दूषित कर देती है। इससे स्पष्ट होता है कि अतिसार के निवृत्त हो जाने पर भी अहित आहार-विहार का परित्याग अग्निबलप्राप्तिपर्यन्त करना चाहिए। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥ (सु. सू. ४०।१६८)

अर्थात् जबतक रोगी के वातादि दोष तथा प्राण शक्ति प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक) रूप में न हो जाय, तब तक अतिसार से निवृत्त होने पर भी विरेचन लिये हुए के समान अहित आहार-विहार का परिहार (त्याग) करना चाहिए।

ग्रहणी की संख्या-सम्प्राप्ति का उल्लेख करते हुए सामान्य लक्षण कहते हैं—एकैकश इत्यादि। मूर्च्छितैः अर्थात् अतिवृद्ध दोषों से। मूर्च्छा धातु का अर्थ मोह और समुच्छ्राय होता है। डल्हण ने 'उच्छ्रितैः' का अर्थ अत्यन्त वृद्ध किया है। उच्छ्रितैः पाठान्तर मानने पर उसका भी यही अर्थ होगा।

वह ग्रहणी जब दोषों द्वारा दूषित होती है, तब खाये हुए आहार को बिना पका हुआ आमावस्था में अथवा पक्वावस्था में भी निकाल देती है। 'वा' शब्द का प्रयोग 'च' अर्थ में किया गया है। एवकार से अवधारण या समुच्चय का ज्ञान होता है। जैसे नरं च नारायणमेव च इत्यादि। जैसे नर एवं नारायण दोनों अपने पुत्र स्वयं उत्पन्न हुए। अथवा 'एव' विकल्प का सूचक है; कारण निपात शब्द अनेकार्थक होते हैं। सरुजम्—पीड़ायुक्त, पूति—दुर्गन्धयुक्त। वातप्रकोप से मुहुर्बद्ध अर्थात् मल गाँठदार एवं पित्त प्रकोप से पतला होता है। ग्रहणी रोग अर्थात् ग्रहणी कला का रोग 'ग्रहणीरोग' कहलाता है। अग्नि की अधिष्ठानभूत नाड़ी को ग्रहणी कहते हैं। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ (च.चि. १५।५६)

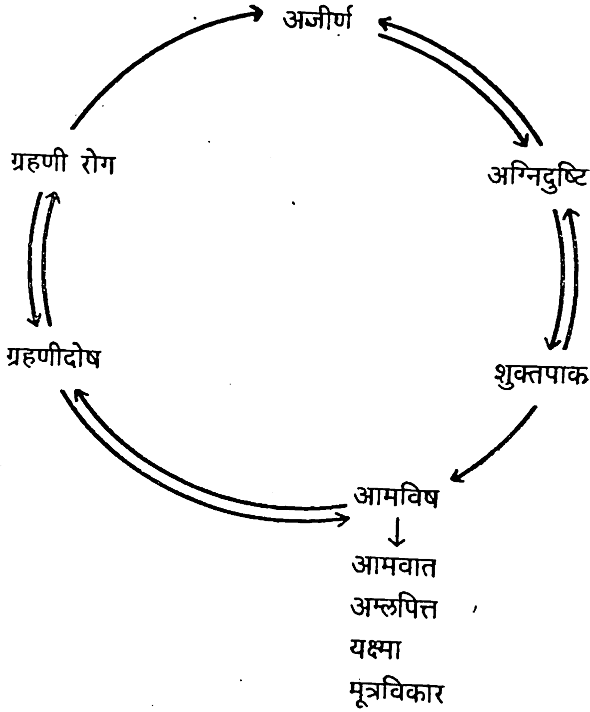
अर्थात् वह ग्रहणी पाचक अग्नि का अधिष्ठान होती है और अन्न के ग्रहण करने से वह ग्रहणी है। वह कोष्ठ के अन्तर्गत नाभि के ऊपरी स्थान में अग्नि के बल का सहारा पाकर पुष्ट होती है। स्वस्थ स्थिति में वह खाये हुए अपक्व अन्न को धारण करती है और पक्व अन्न को बगल से आगे को ढकेल देती है। अग्नि के दुर्बल पड़ जाने पर वह ग्रहणी दूषित हो जाती है, तब वह कच्चे (अपक्व) अन्न को ही निकाल देती है। महर्षि सुश्रुत में इसी प्रकार कहा गया है—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ (सु. उ. ४०।१६९)

अर्थात् पक्वाशय (बृहदन्त्र) तथा आमाशय के मध्य स्थित एवं पित्त को धारण करने वाली जो छठी कला कही गयी है, उसे ही ग्रहणी कहा जाता है। आधुनिक दृष्टि से ग्रहणी शब्द से क्षुद्रान्त्र का आरम्भिक भाग (Duodenum) या क्षुद्रान्त्र का ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है।

कला-धातुओं और आशयों के अन्तरबोधक मर्यादा को कला कहते हैं। ग्रहणी कला पक्वाशय एवं आमाशय के मध्य में स्थित पच्यमानाशय रूप में होती है। अर्थात् पच्यमानाशय को ग्रहणी कहते हैं।

चरकोक्त सम्प्राप्ति (च. चि. १५।४२-४३)



ग्रहणी अवयव की विकृति निम्न दो भागों में हो सकती है—

१. निदानपरक—

(क) स्वतन्त्ररूपेण उत्पन्न ग्रहणी रोग

(ख) परतन्त्ररूपेण उत्पन्न ग्रहणीरोग—अतिसार, प्रवाहिका, गुल्म, कृमि इत्यादि रोगों के बाद ।

२. शारीरपरक—

(क) ग्रहणी कला में क्रियात्मक विकृति—ग्रहणी दोष ।

(ख) ग्रहणी कला में उभयात्मक विकृति—ग्रहणी रोग ।
(क्रियात्मक एवं रचनात्मक उभय विकृति)

३. (क) ऊर्ध्व ग्रहणी (ग्रहणी का ऊपरी भाग)

(ख) अधो ग्रहणी (ग्रहणी क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग)

पूर्वरूप

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥ ४ ॥

(च. चि. १५।५५)

प्यास, आलस्य, बल की हानि, भुक्त भोजन का विदाह, बहुत देर में भोजन का पचना, एवं शरीर का भारीपन ग्रहणी रोग के पूर्वरूप कहलाते हैं ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमित्यादि—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा पिपासा । विदाहोऽन्नस्य अग्निमान्द्येनाहारस्य विदग्धत्वम्, अत एव चिरात् पाकश्चान्नस्यैव । कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—तृष्णा अर्थात् प्यास अधिक लगती है । विदाहोऽन्नस्य-अग्निमान्द्य हो जाने से आहार पूर्णरूप से न पचकर विदग्ध हो जाता है । अतएव वह विदग्ध अन्न देर से पचता है । कायस्य गौरवम्—शरीर में अग्निमान्द्य हो जाने से आम का पाचन नहीं हो पाता जिससे शरीर में भारीपन आ जाता है ॥४॥

वातिक ग्रहणी

कटुतिक्तकषायातिरूक्षसन्दुष्टभोजनैः ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ५ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं सञ्छाद्य कुरुते गदान् ।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ६ ॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत् तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥ ७ ॥
हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ८ ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ ९ ॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥ १० ॥

(च. चि. १५।५९-६४)

कटु, तिक्त, कषाय रस युक्त, अत्यन्त रूक्ष, दूषित भोजन करने से, अल्प भोजन, अनशन, अति मार्ग चलने से, मूत्रादि का वेग रोकने से, अति मैथुन करने से कुपित होकर वायु जाठराग्नि को दूषित करके रोग उत्पन्न कर देता है । उस रोगी का आहार दुःखपूर्वक पचता है, और अम्लपाक होता है । अङ्गों में कर्कशता (रूक्षता), कण्ठ एवं मुख का सूखना, भूख न लगना, प्यास, तिमिर (मन्द दृष्टि), कानों में सांय-सांय शब्द, पसली-ऊरु-वंक्षण एवं ग्रीवा में पीड़ा, विसूचिका,

हृदय में पीड़ा, शरीर की कृशता एवं दुर्बलता, मुख में विरसता, गुदा में कर्तनवत् पीड़ा, सब प्रकार के रसों को खाने की इच्छा, मन में सुस्ती, भोजन करने पर कुछ आराम मालूम हो। इस रोगी को वातगुल्म, हृद्रोग, प्लीहारोग होने का सन्देह होता है। कास और श्वास से पीड़ित वह रोगी बहुत देर में कष्टपूर्वक कभी सूखा एवं कभी पतला, थोड़ा आम, शब्द एवं झाग से युक्त मल त्याग करता है। ये कारण, सम्प्राप्ति एवं लक्षण वातिक ग्रहणी के हैं ॥५-१०॥

वातिकग्रहण्या निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कटुतिक्तेत्यादि। संदुष्टभोजनं संयोगादिविरुद्धभोजनम्। 'संदुष्टभोजनै' इत्यत्र 'शीतादिभोजनैः' इति पाठान्तरम्। प्रमितमल्पभोजनं; प्रमृतेति पाठान्तरे अतीतकालभोजनं बोद्धव्यम्। अनशनमुपवासः। एतै कारणैः कुपितो मारुतः, वह्नि संछाद्य संदूष्य, गदान् रोगान् करोति। कान् गदान् करोतीत्याह—तस्यान्नमित्यादि। शुक्तपाकम्, अम्लपाकम्, एतच्चाग्निमान्द्यजनितान्नविदाहाद्भवति। खराङ्गता कर्कशशरीरत्वं, वातेन त्वग्गतस्नेहशोषात्। तिमिरं मन्ददृष्टिता। रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संबध्यते। विसूचिका ऊर्ध्वमधश्चामान्नप्रवृत्तिः। वैरस्यं विरुद्धरसास्यता। परिकर्तिका गुदे कर्तनवत्पीडा। गृद्धिः काङ्क्षा, सर्वरसानां मधुरादीनां, कर्मणि षष्ठी; एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन, व्याधिमहिम्ना वा। मनसः सदनमवसादः। आध्मानं जीर्णे जीर्यति च 'अन्ने' इति शेषः। स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्कीति वातगुल्मादिवत्पीडायुक्तत्वात्तच्छङ्की। द्रवं शुष्कं कदाचिद् द्रवं, कदाचिच्छुष्कम्। तनु अल्पमिति ॥ ५-१० ॥

सरोज व्याख्या—वातिक ग्रहणी के निदान एवं सम्प्राप्ति के साथ लक्षण कहते हैं। कटुतिक्तेत्यादि—संयोग, संस्कार एवं स्वभाव आदि से विरुद्ध भोजन 'संदुष्ट भोजन' कहलाता है। संदुष्ट भोजनैः के स्थान पर 'शीतादिभोजनैः' ऐसा पाठान्तर मिलता है। प्रमित अर्थात् अल्पभोजन करना। प्रमित की जगह 'प्रमृत' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, इसका अर्थ अतीत काल का भोजन अर्थात् पुराना (बासी) भोजन हुआ। अनशन का अर्थ उपवास है। इन कारणों से कुपित हुआ वायु अग्नि को दूषित करके रोगों को उत्पन्न कर देता है। किन रोगों को उत्पन्न करता है ? यह बताते हैं—तस्यान्नं इत्यादि। शुक्तपाकम् अर्थात् भोजन का अम्लपाक होता है। यह अम्लपाक अग्निमान्द्यजनित अन्न विदाह से होता है। खराङ्गता—अर्थात् शरीर रूक्ष (कर्कश) हो जाता है, क्योंकि वायु से त्वग्गत स्नेह सूख जाता है। तिमिरं—दृष्टि मन्द हो जाती है। रुक्—पीड़ा, इसका सम्बन्ध पार्श्व आदि के साथ होता है। अर्थात् पार्श्व, ऊरु, वंक्षण एवं ग्रीवा प्रदेश में पीड़ा होती है। विसूचिका—

ऊर्ध्व मार्ग से वमन द्वारा एवं और अधो (गुद) मार्ग से आम अन्न की प्रवृत्ति होती है। वैरस्यम्—मुँह का स्वाद बदल जाता है। परिकर्तिका—गुद प्रदेश में कर्त्तनवत् पीड़ा होती है। गृद्धिः सर्व रसानाम्—अर्थात् मधुरादि सब रसों के सेवन की आकांक्षा होती है। 'सर्वरसानाम्' यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है। यह सभी रसों के सेवन की इच्छा वायु द्वारा अन्तःकरण के दूषित होने से होती है अथवा व्याधिमहिमा या रोगप्रभाव से ऐसा होता है। मनसः सदनं—अर्थात् मनोग्लानि होती है। आध्मानं जीर्णे जीर्यति च अन्ने—अर्थात् आहार के पच जाने पर अथवा पचते समय आध्मान हो जाता है। स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की—अर्थात् इस रोग में वातगुल्म, हृद्रोग एवं प्लीहा रोग के समान पीड़ा होने से रोगी अपने को इन रोगों से आक्रान्त समझने लगता है। द्रवं शुष्कम्—अर्थात् कभी मल पतला एवं कभी सूखा आता है। 'तनु' अर्थात् अल्प मात्रा में आता है॥

पैत्तिक ग्रहणी

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम्।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्॥ ११॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥ १२॥

(च. चि. १५।६५-६६)

जिस प्रकार गर्म जल अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार कटु, अजीर्ण, विदाही, खट्टा तथा क्षार आदि द्रव्यों के खाने से बढ़ा हुआ पित्त जाठराग्नि को मन्द कर देता है। इससे वह रोगी कच्चा, नीला, पीला एवं द्रव मल का त्याग करता है तथा रोगी का रंग पीला हो जाता है। दुर्गन्धयुक्त एवं खट्टी डकारें, हृदय तथा कण्ठ में दाह, अरुचि एवं प्यास से रोगी पीड़ित हो जाता है॥११-१२॥

पैत्तिकग्रहण्या निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कट्वित्यादि। विदाहि विदाहजनकं वंशकरीरादि। क्षारोऽपामार्गादिकृतः, तथा क्षारो यवक्षारादि, तथा सक्षारं च द्रव्यम्; क्षारोदकसाधितं हि व्यञ्जनमश्नन्ति कामरूपादौ। आद्यग्रहणाल्लवणतीक्ष्णोष्णानां ग्रहणं, तैर्वृद्धं पित्तमनलमाप्लावयदभिभवत्तं हन्ति। ननु, पित्तमाग्नेयमग्निरेव वा, ततश्च वृद्धिमेवाप्नोति, कथं हन्त्यत आह—जलं तप्तमिवानलमिति। यथोष्णगुणयुक्तमपि जलमनलं हन्ति, तथा द्रवांशेन परिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्त्येवेति। स पीताभः पुरुषः सार्यते, 'वर्चः' इत्यनुवर्तते॥ ११-१२॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक ग्रहणी का निदान, सम्प्राप्ति एवं लक्षण कहते हैं। विदाहि अर्थात् विदाह उत्पन्न करने वाले वंश और करीर आदि के शाक। क्षार-अपामार्ग आदि को जलाकर बनाये गये क्षार तथा क्षारयुक्त पदार्थ, क्योंकि काम-

रूपादि (असम आदि) प्रदेश में क्षारयुक्त (खारे) जल से सिद्ध व्यञ्जनों का सेवन किया जाता है। आद्य से लवण तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों को ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् क्षार, लवण, तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों के अधिक सेवन से वृद्ध (प्रकुपित) हुआ पित्त जाठराग्नि को आप्लावित या अभिभूत करके नष्ट कर देता है।

अब यहाँ शंका होती है कि पित्त आग्नेय या अग्नि ही होता है, तो पूर्वोक्त पित्तप्रकोपक कारणों से अग्नि की वृद्धि होनी चाहिए, तो 'हन्ति' क्यों कहा गया है? इसका उत्तर 'जलं तप्तमिवानलम्' इस वाक्य से दिया गया। जैसे उष्ण गुण-युक्त जल अर्थात् खौलता हुआ गर्म जल अग्नि पर डालने पर उसे बुझा देता है वैसे ही पित्त चाहे आग्नेय हो अथवा अग्नि ही हो, किन्तु द्रव होने के कारण उसके द्रवांश में जब वृद्धि होती है, तो ऊष्मा रूप अग्नि को शान्त कर देता है। स पीताभः 'पुरुषः सार्यते वर्चः'—अर्थात् रोगी पीला रंग का हो जाता है और उसे पीले रंग का मल निकलता है ॥ ११-१२ ॥

श्लैष्मिक ग्रहणी

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात् ।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥ १३ ॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
आस्योपदेहमाधुर्यं कासष्ठीवनपीनसाः ॥ १४ ॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥ १५ ॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥ १६ ॥
(च. चि. १५।६७-७०)

गुरु, अत्यन्त चिकने, शीतल तथा अति मात्रा में भोजन करने से तथा भोजन करते ही तुरन्त सो जाने से कफ कुपित होकर अग्नि को मन्द कर देता है। ऐसे रोगी का खाया हुआ अन्न दुःखपूर्वक पचता है और उसे हृल्लास (मिचली), वमन, अरुचि, मुख में चिपचिपाहट तथा मीठापन, खाँसी, अधिक थूक आना, एवं पीनस हो जाता है। हृदय घनद्रव से पूरित सा लगता है। उदर बद्ध एवं भारी हो जाता है, दूषित एवं मीठे उद्गार आते हैं। सदन (अग्निनाश), स्त्री-प्रसङ्ग की इच्छा का अभाव, आम एवं श्लेष्मा से युक्त भिन्न (विदीर्ण) और गुरु मल की प्रवृत्ति होना, कृश न होते हुए भी दुर्बलता तथा आलस्य का अनुभव श्लैष्मिक ग्रहणी का लक्षण है ॥ १३-१६ ॥

श्लैष्मिकग्रहण्या निदानादिपूर्वकं रूपमाह—गुर्वित्यादि। आदिशब्दात् पिच्छिलमधुरादीनां ग्रहणम्। अतिभोजनात् अतिमात्रभोजनात्। ननु,

भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निमिति विरुद्धम् ? स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वापस्य स्वास्थ्यहेतुत्वात्; दिवास्वापश्च स्रोतःसंमीलनेन जठरानलं सन्धुक्षयति, अत एवाह—'अतीसारिणामजीर्णिनां च दिवास्वप्नो विहितः' इति ? उच्यते; भुक्तवतां दिवास्वापोऽत्यन्तकफवृद्ध्याऽग्निं हन्ति, अभुक्तवतां तु संधुक्षयति। यदुक्तम्—'नराग्निरशनान् कामं दिवा स्वापयेत्' इति। आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं मधुरत्वं च श्लेष्मणैव। स्त्यानं घनद्रवापूरितमिव। स्तिमितं विबद्धमुदरमिति, निश्चलमित्यर्थः। स्तिमितं स्तब्धं वा। गुरु जडम्। दुष्टो विकृतः। मधुरः मधुरत्वेनोपलक्षित उद्गारः। सदनम् अग्निसादः। स्त्रीष्वहर्षणं स्त्रीरिरंसाया अभावः। भिन्नं च तदामश्लेष्मभ्यां संसृष्टं चेति समासार्थः। दौर्बल्यम् असामर्थ्यमिति॥ १३-१६॥

सरोज व्याख्या—अब श्लैष्मिक ग्रहणी का सम्प्राप्तिसहित लक्षण बतलाते हैं—गुर्वित्यादि। 'आदि' शब्द से पिच्छिल तथा मधुर आदि पदार्थों ग्रहण होता है। अतिभोजनात्—अर्थात् मात्रा में अधिक भोजन करने से।

अब शंका होती है कि भोजन के पश्चात् ही सो जाने से बढ़ा हुआ कफ अग्नि को शान्त कर देता है—ऐसा कहना विरुद्ध (असंगत) लगता है। स्वप्न शब्द से यहाँ दिन में सोना लिया जाता है, क्योंकि रात्रि का सोना स्वास्थ्यकर ही होता है। दिवास्वाप से भी सम्पूर्ण स्रोत बन्द होकर अग्नि प्रदीप्त होती है। इसी लिए कहा गया है कि अतिसार और अजीर्ण रोगियों के लिये दिन का सोना लाभप्रद होता है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि दिन के समय भोजन के पश्चात् तत्काल सोने से कफ अत्यन्त बढ़कर जाठराग्नि को शान्त कर देता है तथा दिन के समय बिना भोजन किये सोने से यही अग्नि प्रदीप्त होती है। इसी से कहा गया है कि जिन लोगों ने भोजन न किया हो, उनको दिन में यथेष्ट सोना चाहिए। आस्योपदेहमाधुर्यम्—अर्थात् इसमें मुख कफ से लिप्त रहता है एवं मुख का स्वाद मीठा होता है। स्त्यानं—हृदय घनद्रव से पूरित हो, चारों ओर से बँधा हुआ एवं निश्चल सा हो। उदर भारी हो, उद्गार विकृत एवं मधुर हो। सदनम्—अग्निमन्द हो अथवा अङ्ग प्रत्यङ्ग शान्त हो। स्त्रीष्वहर्षणम्—स्त्री-प्रसंग की इच्छा का अभाव हो। भिन्नं चेति—अर्थात् पतला मल आता हो और उसमें आम और कफ मिले हुए हो। दौर्बल्यम्—अर्थात् असामर्थ्य (शक्ति का नाश) हो जाता है॥१३-१६॥

त्रिदोषज ग्रहणी

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥ १७॥

(च. चि. १५।७२)

यदि वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक ग्रहणी के पृथक्-पृथक् वर्णित हेतु एवं लक्षण साथ-साथ पाये जाँय, तो त्रिदोषज ग्रहणी रोग समझना चाहिए ॥१७॥

शिष्यहितैषितया प्रकृतिसमसमवेतत्वेन सुगमाया अपि त्रिदोषजग्रहण्याः अतिदेशेन लक्षणमाह—पृथगित्यादि। सम्पूर्णश्लोकानुरोधात् 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्' इति लिखितम्। ग्रहणीदुष्टया ग्रहण्याश्रितवह्नेरपि दुष्टेरग्निमान्द्यादयोऽपि ग्रहणीविकारा उच्यन्ते। यदुक्तं चरके—'यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः। तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥' (च. चि. अ. १५) इति। अन्यत्रापि "विभागेऽङ्गस्य चोक्ता ये विषमाद्यास्त्रयोऽग्नयः। तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषाः समस्तु स्वास्थ्यकारणम्" ॥ १७ ॥

सरोज व्याख्या—शिष्यों के हित के लिए प्रकृतिसमसमवायजन्य होने के कारण अतिसुगम त्रिदोषज ग्रहणी के अतिदेश से लक्षण कहते हैं। पृथगित्यादि—यहाँ पर ग्रहणी रोग की चिकित्सा का विषय नहीं है, इसलिए 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्' पद श्लोक को पूर्ण करने के लिये कहा गया है।

ग्रहणी के दूषित होने से ग्रहणी की आश्रित अग्नि भी दूषित हो जाती है, इस लिए अग्निमान्द्य आदि ग्रहणी विकार कहे जाते हैं। जैसा कि चरक में कहा गया है कि पूर्व में रोगानीक अध्याय में जो विषम, तीक्ष्ण, मन्द एवं समाग्नि भेद से चार प्रकार की अग्नियाँ कही गयी है, उसमें समाग्नि को छोड़कर शेष तीनों अग्नियों से होने वाला रोग भी ग्रहणी रोग कहा जाता है। (च० चि० १५) ॥ १७ ॥

संग्रहग्रहणी

(अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥ १ ॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्।
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥२॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च या।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता।)

अन्तड़ियों कूजन, आलस्य, दुर्बलता, शरीर में शिथिलता के साथ रोगी द्रव, शीतल, गाढ़ा, चिकना, कमर की पीड़ा से युक्त, कच्चा, चिपचिपा, शब्द एवं मन्द वेदना के साथ मल त्यागता है। पन्द्रह दिन, एक मास अथवा दस दिन बाद अथवा नित्यप्रति उपर्युक्त प्रकार से मल आता है। इस रोग का प्रकोप दिन में अधिक होता है और रात्रि में आराम रहता है। यह बड़ी कठिनाई से समझ में आती है। दुश्चिकित्स्य (कष्टसाध्य) एवं चिरकालिक व्याधि है। इसका मूल

कारण आम वात होता है। इसे संग्रहग्रहणी या संग्रहणी कहते हैं। इसे Sprule या Intestinal Tuberculosis कह सकते हैं।

घटीयन्त्रग्रहणी रोग

(स्वपतः पार्श्वयो शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४ ॥)

जिस रोग में सोते समय पसलियों में पीड़ा हो, जल में डूबते हुए घड़े के समान पेट में गड़-गड़ की आवाज हो, ऐसे ग्रहणी रोग को 'घटीयन्त्रग्रहणी रोग' कहते हैं। यह असाध्य होता है। आधुनिक दृष्टि से इसे Diaphragmatic Hernia कह सकते हैं।

ग्रहणी रोग में साम निराम लक्षण

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥

दोषों की सामता-निरामता का ज्ञान अतिसार के समान करना चाहिए ॥१८॥

यथाऽतीसारे जलनिमज्जनादिना आमं, तद्विपरीतेन निरामं ज्ञायते, तथाऽत्रापि ज्ञेयम् ।

सरोज व्याख्या—जैसे अतिसार रोग में जल में डूबने पर मल की सामता एवं जल पर तैरने पर मल की निरामता का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ग्रहणी रोग में समझना चाहिए।

साध्यासाध्यता

लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तनुं नैव निवर्तते च ॥ १९ ॥
(बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ ५ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ग्रहणीरोगनिदानम् समाप्तम् ॥ ४ ॥

जिन लक्षणों से अतिसार रोग असाध्य माना जाता है, उन्हीं लक्षणों से युक्त ग्रहणी रोग को भी असाध्य समझना चाहिए। वृद्ध पुरुष का ग्रहणी रोग उसे मारकर भी निवृत्त नहीं होता। अर्थात् शरीर के साथ ही जाता है ॥ १६ ॥

बच्चे का ग्रहणी रोग साध्य, युवा का कष्ट साध्य एवं वृद्ध का असाध्य होता है। ऐसा भगवान् धन्वन्तरि का मत है।

यैर्लिङ्गैरतीसारगदो न सिध्येत्तैर्लिङ्गैर्ग्रहणीविकारोऽसाध्यः, अतिसारस्य यान्यसाध्यलिङ्गानि ग्रहण्या अपि तानि ॥ १९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—जिन लक्षणों के उत्पन्न हो जाने से अतिसार रोग असाध्य हो जाता है, उन्हीं लक्षणों से ग्रहणी रोग भी असाध्य समझना चाहिए। अतिसार के जो असाध्य लक्षण होते हैं, वे ग्रहणी के भी असाध्य लक्षण होते हैं। ⊙

पञ्चमोऽध्यायः

अर्शोनिदानम्

अर्श रोग के भेद

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्यात् गुदवलित्रये ॥ १ ॥

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज तथा सहज भेद से छः प्रकार के अर्श होते है, जो गुदा की तीनों वलियों में होते हैं ॥ १ ॥

अतिसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते—पृथगित्यादि। अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्श इति पृषोदरादिपाठान्निरुक्तिमाहुः। सहजानीति सह शरीरेण जातानि, गुदवल्यारम्भकबीजभागस्य दूषितत्वात्। अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणितानि। उक्तं हि सुश्रुते—'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः'(सु.नि.अ. २) इति। षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादिभिर्युग्मैस्त्रयः संसर्गाः, तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय इति। सन्निपातजं त्वेकैकदोषजेष्वदृष्टस्यासाध्यत्वस्य योगाद्विकृतिविषमसमवायारब्धमिति संख्यया पृथग्गणितम्। गुदवलित्रय इति। अर्धपञ्चमाङ्गुलमानं गुदम्, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाहणी-विसर्जनी-संवरणीनामिकाः; तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा वलिः सुश्रुतेन (सु. नि. अ. २) निर्दिष्टा। भोजेऽप्युक्तम्—'रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धं गुदौष्ठं परिचक्षते। गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलीं विदुः ॥ सार्धैकाङ्गुलमानेन तदन्येऽपि प्रकीर्त्तिते—' इति। सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया तृतीया चेति ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—अतिसार, ग्रहणी एवं अर्श तीनों एक दूसरे से परस्पर अनुबन्धित होने से अतिसार एवं ग्रहणी के पश्चात् अर्श रोग का उल्लेख करते हैं। अर्श की निरुक्ति बताते हैं—'अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति इति अर्शः' अर्थात् जो अरिवत् प्राणों को नष्ट कर देता है, उसे अर्श कहते हैं। पृषोदरादि गण में पाठ होने से इस प्रकार निरुक्ति होती है। सहजानि—जो शरीर के साथ उत्पन्न हो, वह सहज है। आरम्भक बीज अर्थात् माता-पिता के रज एवं शुक्र के दूषित होने से गर्भस्थ शिशु की गुदा के वलियों में अर्श होता है। प्रकृतिसमसमवायजन्य होने से द्वन्द्वज अर्श की पृथग् गणना नहीं की गयी है। फिर भी सुश्रुत में इस प्रकार के अर्श को संसर्गज नाम एवं उसके छः भेद बताते हुए कहा है—

अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च ॥ (सु. नि.–२)

संसर्गज के छः भेद—(१) वात पित्त, (२) वात कफ, (३) पित्त कफ एवं रक्त योग से तीन अन्य, (४) वात पित्त रक्त, (५) वात कफ रक्त और (६) पित्त-कफ रक्त । विकृतिविषमसमवायारब्ध होने के कारण सन्निपात का पृथक् निर्देश किया गया है ।

गुदवलित्रये—गुद प्रदेश की लम्बाई साढे चार अङ्गुल होती है । उसकी अवयवभूत तीन वलिया होती है, जो एक दूसरे के ऊपर शंख नाभि के आवर्त की तरह व्यवस्थित होती है । इन वलियों के नाम है—(१) प्रवाहणी, (२) विसर्जनीय, (३) संवरणी । इससे आधा अङ्गुल लम्बा गुदौष्ठ होता है, उसके ऊपर एक अङ्गुल परिमित की प्रथम वलि होती है । यह सुश्रुत का मत है (सु. नि. २) । भोज भी ऐसे कहते है कि रोमान्त के डेढ़ यव प्रमाण का गुदौष्ठ होता है । गुदौष्ठ से ऊपर एक अङ्गुल प्रथम वलि होती है । इसके ऊपर डेढ़ अङ्गुल दूसरी और डेढ़ अङ्गुल तीसरी वलि होती है । इस प्रकार साढ़े चार अङ्गुल लम्बाई पूरी हो जाती है ॥ १ ॥

सम्प्राप्ति

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥ २ ॥

(अ. हृ. नि. ७।७)

वातादि दोष त्वचा, मांस एवं मेद को दूषित करके गुद आदि में अनेक आकृति वाले मासाङ्कुरों को उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें अर्श कहते हैं ॥ २ ॥

सम्प्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह—दोषा इत्यादि । त्वङ्मांसग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात् । अपानं गुदम्, आदिशब्देन नासिकादीनां ग्रहणम् । कायचिकित्सकास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वमिच्छन्ति नासादिजानां त्वधिमासत्वं, तेषु 'पञ्चात्मा मारुतः' इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, विष्टम्भ इत्यादिपूर्वरूपस्य चासंभवात् । यदाह चरकः—'शिश्न' इत्यारभ्य यावत् 'अधिमांसव्यपदेश एव' (च. चि. अ. १४) इति । सुश्रूतेन तु मांसाङ्कुरत्वसाधर्म्यात्; सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय इति ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—सम्प्राप्ति के साथ-साथ अर्श का स्वरूप बताते हैं—दोष इत्यादि । त्वचा एवं मांस के ग्रहण से त्वक्मांसाश्रित रक्त का भी ग्रहण हो जाता है । चिकित्सा में इसीलिए रक्तस्रावण का उपदेश भी किया गया है । अपानम् से गुद प्रदेश एवं आदि शब्द से नासा, कर्ण, लिङ्ग आदि का ग्रहण किया जाता है,

किन्तु कायचिकित्सक तो गुदा में होने वाले मासाङ्कुरों को ही अर्श मानते हैं, नासा आदि में होने वाले मासाङ्कुरों को 'अधिमांस' करते हैं, क्योंकि इनमें 'पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्' (च० चि० १४।२४) इत्यादि सम्प्राप्ति का अभाव होता है। 'विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यम्' अर्थात् विष्टब्धाजीर्ण दुर्बलता आदि पूर्वरूप नहीं मिलता। जैसा कि चरक ने कहा है—केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां-शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। (च० चि० १४।६) अर्थात् कई आचार्य शरीर में अर्श को अधिक स्थानों में मानते हैं। जैसे शिश्न, योनि, गला, मुख, नासिका, कर्ण, नेत्र, वर्त्म एवं त्वक्। किन्तु इन स्थानों में होने वाले मासाङ्कुर को अधिमांस कहते हैं। गुद प्रदेश में होने वाले अंकुर को ही अर्श कहते हैं। अर्श की तरह मासांकुर होने में एवं अर्श की तरह शस्त्रकर्म, क्षारकर्म एवं अग्निकर्म से साध्य होने के कारण सुश्रुत इनको भी अर्श ही मानते हैं। जैसे सरसों आदि से निकलने वाले स्नेह को भी तैल कहते हैं। सुश्रुतानुवादक वाग्भट का भी यही मन्तव्य है।

सम्प्राप्ति (सु० नि० २।३)

विमर्श—मिथ्या आहार विहार के सेवन से अनात्मवान् मनुष्यों में दोषप्रकोप (एक-एक, दो-दो या तीनों या रक्तसहित चारों दोष का युगपत् प्रकोप)।



प्रधान धमनी मार्ग से गुदस्थान की ओर दोषों का प्रसार।



गुद त्रिवली (गुदस्थ त्वक्-मांस-मेद प्रभृति दूष्यदुष्टिपूर्वक) में दोषदूष्य-संमूर्च्छना।



अर्शोत्पत्ति।



अनन्तर तृण, काष्ठ, उपल वस्त्रादि अथवा शीतल जल संस्पर्श से (द्वितीय संक्रमण)

आधुनिक मतानुसार अर्श गुदस्थ सिराओं के उभार माने गये हैं। जो (क) गुद सिराओं की रचनात्मक विषमताओं, (ख) उनमें अत्यधिक रक्तसञ्चय प्रायः रहने से व (ग) कुन्थनसम्बन्धी कारणों के प्रायः संयोग से गुदस्थ शिराभित्ति में उभार स्वरूप उत्पन्न होते हैं, जिसका प्रधान कारण स्थानीय शिराभित्तियों पर रक्तस्राव का अत्य-

धिक बढ़ जाना है। जो बाद में द्वितीय संक्रमण द्वारा संक्रमित होने पर नाना उपद्रवों से युक्त हो जाते हैं।

आधुनिक मत—कतिपय शरीर रचना, क्रिया व आहार-विहार सम्बन्धी विशेषताएँ इस रोग की उत्पत्ति हेतु उत्तरदायी होती हैं--

(१) रचना सम्बन्धी विषमताएँ—गुदस्थ सिराओं की अनुलम्बन स्थिति, इनके चतुर्दिक् सुदृढ़ आधार का अभाव, गुदस्थ सिराओं में कपाटों की अनुपस्थिति, जिससे गुदस्थ सिराओं में प्रायः रक्त-संचय की स्थिति।

(२) क्रिया सम्बन्धी विषमताएँ---प्रतिहारिणी महासिरा अवरोध (आंशिक या पूर्ण) जन्य यकृत विकार, मूत्राश्मरी, मूत्राष्ठीला वृद्धि, गुदनिरोध, अतिप्रवाहण, सगर्भावस्था, गर्भाशयभ्रंश, बहु प्रसव, गर्भाशयार्बुद।

(३) आहार विहार सम्बन्धी विषमताएँ—अति मद्यपान एवं उत्तेजक आहार का प्रयोग, अत्यन्त सुखासन, श्रम का अभाव, अत्यधिक बैठे रहना, अत्यधिक विरेचन-प्रयोग, वेगावरोध एवं अत्यधिक विबन्ध ॥ २ ॥

वातिक अर्श का निदान

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३ ॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥ ४ ॥

(च. चि अ. १४।१२-१३)

कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, शीत एवं लघु पदार्थों का सेवन, अत्यल्प या समय बीत जाने पर भोजन व अल्प भोजन करना, तीक्ष्ण मद्य का सेवन, अत्यधिक मैथुन, लंघन, शीत देश, शीत काल, अत्यधिक व्यायाम, शोक, वायु तथा धूप का लगना ये वातार्श के हेतु है ॥ ३-४ ॥

वातार्शसो निदानमाह—कषायेत्यादि। प्रमितम् अल्पतमम्, अल्पम् मात्राहीनमशनम्, जेज्जटस्त्वाह–'प्रमितमतीतकालभोजनम्'। 'प्रमृत' इति पाठे नष्टशक्तिकं धान्यादिकमाहुः। 'प्रमिताशनमेकरसाभ्यासः' इत्यन्ये। तन्नातियुक्तम्; एकरसाभ्यासः किं वातप्रकोपकस्य कट्वादेः, कफप्रकोपकस्य मधुरादेर्वा ? नाद्यः, कट्वादेरत्रैवोपात्तत्वात्, द्वितीये मधुरादीनां त्वभ्यासो वातशामक एव, एकरसाभ्यासाच्च दौर्बल्यमुक्तं नतु वातवृद्धिरिति चिन्त्य-मेतत्। तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणम्; पैष्टिकादिमृदुमद्यस्य वातप्रशमकत्वात्। शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः। आतप उष्णम्, आतपस्योष्णगुणस्या-प्युद्भूतरौक्ष्याद्वातप्रकोपकत्वमिति ॥ ३-४ ॥

सरोज व्याख्या—वातार्श का निदान कहते हैं—कषायेत्यादि। प्रमितं—अल्पतम (बहुत ही कम)। अल्पतम—मात्राहीन भोजन अर्थात् मात्रा से कम भोजन। आचार्य जेज्जट ने प्रमित का अर्थ अतीत काल का भोजन किया है। प्रमृत पाठान्तर में इस शब्द से नष्ट शक्ति वाला धान्य ग्रहण करना चाहिए। अन्य आचार्यों ने प्रमित अशन से एकरसाभ्यास माना है, किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि यदि एकरसाभ्यास मान लिया जाय, तो प्रश्न होगा कि किस रस का अभ्यास अर्शकारक हो सकता है, क्या वायु को प्रकुपित करने वाला कटु आदि रस अथवा कफ को प्रकुपित करने वाला मधुर आदि रस। इसमें पहला कटु आदि रस ठीक नहीं है; क्योंकि इनका उल्लेख मूल में हो चुका है। मधुरादि रस वातशामक होते हैं। एकरसाभ्यास से दुर्बलता आ सकती है, वातवृद्धि नहीं होती। यह विचारणीय है। तीक्ष्णता मद्य का विशेषण है। यह वायुकारक होता है। पैष्टिक आदि मद्य मृदु होने से वायुशामक होता है। शीतदेश से आनूपदेश एवं काल से हेमन्त-शिशिर ऋतु आदि होता है। आतप उष्ण गुण होता है, किन्तु रौक्ष्य गुण की अधिकता के कारण वातप्रकोपक भी होता है।

पैत्तिक अर्श का निदान

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः[1]।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।
पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ ६ ॥

(च. चि. अ. १४।१५-१६)

कटु, अम्ल, लवण, उष्ण पदार्थों का सेवन, व्यायाम, अग्नि और धूप का सेवन, परिश्रम, गर्म देश और काल, क्रोध, मद्यपान, ईर्ष्या, विदाह कारक, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणयुक्त अन्नपान और औषधि का सेवन पित्तप्रधान अर्श के प्रकोप का कारण माने जाते हैं ॥ ५-६ ॥

पित्तार्शोनिदानमाह—कट्वम्लेत्यादि। देशकालावशिशिराविति उष्णो देशो मरुः, उष्णः कालः शरद् ग्रीष्मश्च। असूयनं परसंपत्तौ द्वेषः, स क्रोधविशेष एव। पित्तोल्वणानामित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वम्, अधिकेन तु व्यपदेश इति दर्शितं चरकेण। यदाह स एव 'अर्शांसि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्' (च. चि. अ. १४) इति ॥ ५-६ ॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक अर्श का निदान कहते हैं—कट्वम्लेत्यादि। देशकालौ

---

१. •श्रमाः—इति पाठा०।

अशिशिरौ—देश और काल दोनों गरम हों। उष्ण देश-जैसे मरुदेश, उष्ण काल जैसे ग्रीष्म एवं शरद ऋतु। असूयनम्—दूसरे की सम्पत्ति को देखकर द्वेष करना असूयन कहलाता है। यह भी एक प्रकार का क्रोधविशेष ही है। पित्तोल्बणानाम्—इससे सभी अर्शों का त्रिदोषजत्व सिद्ध हो जाता है, अर्थात् उल्बण शब्द त्रिदोषजत्व का सूचक है। जिस दोष के साथ इस शब्द का प्रयोग होता है, उसकी अधिकता तथा शेष अन्य दो दोषों का अप्रधानता (अनुबन्ध) होती है। जैसा कि चरक ने कहा है जब तक तीनों दोष का सन्निपात नहीं होता है, तबतक अर्श रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु तीनों दोषों में जिस दोष की अधिक रूप में प्रधानता होती है, उसी दोष के नाम से 'भूयसा व्यपदेशः' के अनुसार नामकरण हो जाता है। जैसे वातज, पित्तज इत्यादि। (च. चि. १४।२३) ॥ ५-६ ॥

श्लैष्मिक अर्श का निदान

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः॥ ७॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम्॥ ८॥

(च. चि. अ. १४।१८-१९)

मधुर, स्निग्ध, शीतल, नमकीन, खट्टा एवं भारी पदार्थों का सेवन, व्यायाम न करना, दिन में सोना, सोने या बैठे रहने में सुख मानना, पूर्वी वायु का सेवन, शीत देश और काल एवं निश्चिन्तता श्लैष्मिक अर्श के कारण है॥ ७-८॥

श्लेष्मार्शोनिदानमाह—मधुरेत्यादि। शय्यासनसुखे रतिरिति सुखशय्यासने रतिरासक्तिः। प्राग्वातसेवा पुरोवातसेवनम्। अचिन्तनं निश्चिन्तता॥ ७-८॥

सरोज व्याख्या—श्लैष्मिक अर्श का निदान बतलाते हैं—मधुरेत्यादि। शय्यासनसुखे रतिः—अर्थात् सुखदायी कोमल शय्या पर बैठने-सोने में आसक्ति। प्राग्वातसेवा—पूर्वी हवा का सेवन। अचिन्तनम्—निश्चिन्तता अर्थात् किसी प्रकार की चिन्ता न करना॥ ७-८॥

द्वन्द्वज अर्श

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च।

(च. चि. १४।२०-१)

दो-दो दोषों के हेतु एवं लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वज अर्थात् द्विदोषज अर्श जानना चाहिए॥

द्वन्द्वजार्शोनिदानादिकमाह—हेत्वित्यादि। हेतुलक्षणसंसर्गादिति दोषद्वयस्य निदानमेलकेन लक्षणमेलकेन च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात्॥

सरोज व्याख्या—द्वन्द्वज अर्श के निदानादि बतलाते हैं—हेत्वित्यादि। हेतुलक्षणसंसर्गात्—दो-दो दोषों के निदान तथा लक्षण मिल जाने से द्वन्द्वोल्वण अर्श जानना चाहिए।

त्रिदोषज एवं सहज अर्श

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥

(च. चि. अ. १४।२०-२)

वातिक आदि अर्श के पृथक्-पृथक् जो कारण कहे गये हैं, वे मिलकर त्रिदोषज अर्श के कारण होते हैं। इनके लक्षण सहज अर्श के समान होते हैं ॥ ९ ॥

त्रिदोषजार्शोनिदानमाह—सर्व इत्यादि। सर्वो हेतुरिति एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति। त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तोति त्रिदोषजानि। सहजैर्लक्षणं सममिति तेषाम् लक्षणं सहजैरर्शोभिः सह समं सदृशं, सहजानां यल्लक्षणं तत्त्रिदोषजानामित्यर्थः। 'सहजैर्लक्षणैः समम्' इति पाठान्तरे तु सहजैः सहजार्शोभवैर्लक्षणैः समं सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणामिति योज्यम्। सहजार्शोलक्षणं चात्र संग्रहे नोक्तं तन्त्रान्तरादनुस्मर्तव्यं; यदाह सुश्रुतः—'दुर्दर्शनानि परुषारुणपाण्डूनि दारुणान्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते" (सु. नि. अ. २) इति; चरके च 'कानिचिदणूनि' (च. चि. अ. १४) इत्यादिना प्रभूततरं लक्षणमुक्तम्। ननु त्रिदोषजानीति विशेषाभिधानमनुपपन्नं, सर्वेषामेव रोगाणां त्रिदोषजत्वात्। यदुक्तम्—'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः' इति ? नैवं; 'सर्वदेहचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः' (च. सू. अ. २०) इति वचनादेकस्मिन् धात्वादौ दोषेण दूषिते सति तद्गतेतरदोषेऽप्यवश्यं भाविनी काचिद् दुष्टिः, दुष्टदोषसम्बन्धात्। किंच स्वकारणाद् वृद्धो वायुः शैत्याच्छीतस्य श्लेष्मणो बलमादधाति, लाघवात्तेजोरूपस्य पित्तस्य; पित्तं च कटुत्वाद्वातस्य, द्रवत्वाच्श्लेष्मणः कफश्च शैत्याद्वायोः, द्रवत्वात् पित्तस्येति। अत एवोक्तं 'न रोगोऽप्येकदोषजः' इति। अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति। यत्र तु स्वकारणात्त्रयोऽपि कुपितास्तत्र त्रिदोषजव्यपदेश इति सिद्धान्तः; एवं सर्वत्र ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—त्रिदोषज अर्श का निदान कहते हैं—सर्व इत्यादि। सर्वो हेतुः अर्थात् वातिक आदि अर्थ के पृथक्-पृथक् जो कारण कहे गये हैं, वे सब त्रिदोषज अर्श के कारण होते हैं। त्रिदोषज का अर्थ किया है कि तीनों दोष उत्पादक

रूप से इसमें होते हैं, इसलिए त्रिदोषज कहा जाता है। सहजैर्लक्षणं समम्—इनके लक्षण सहज अर्श के समान होते हैं। सहज अर्श के जो लक्षण होते हैं; वे ही त्रिदोषज के होते हैं।

सहजैर्लक्षणैः समम् ऐसा पाठान्तर मिलता है। इसका यह अभिप्राय है—सहजैः अर्थात् सहज अर्श से होने वाले लक्षणों के साथ त्रिदोषज अर्श के भी सभी दोष कारण रूप में होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार त्रिदोषज अर्श में मिलकर तीनों दोष कारण होते हैं, उसी प्रकार सहज अर्श में भी तीनों दोष कारण होते हैं। इसलिए उपर्युक्त दोनों अर्श के लक्षण भी समान होते हैं। यहाँ पर सहज अर्श का लक्षण संक्षेप में बताया गया है। तन्त्रान्तर में वर्णित लक्षण को महर्षि सुश्रुत कहते हैं कि सहज अर्श देखने में अति भयानक, कठोर, अरुण, पाण्डुवर्ण, दारुण एवं अन्दर की ओर मुख वाले होते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य दुर्बल, अल्प भोजन करने वाला, शरीर पर सिराओं के उभार से युक्त, कम सन्तान वाला, क्षीणवीर्य, दुर्बलस्वर, क्रोधी, मन्दाग्नियुक्त, नासा, शिर, नेत्र और कान के रोगों से पीड़ित, निरन्तर आंत में कूजन एवं आटोप का होना, हृदय पर भारीपन, अरुचि आदि लक्षणों से पीड़ित होता है (सु० नि० २।१६)। महर्षि चरक ने भी चिकित्सास्थान १४ में इनके लक्षण विस्तार से बताये हैं।

अब प्रश्न है कि यहाँ जो अर्श को त्रिदोषज कहा गया है, वह केवल अर्श को त्रिदोषज कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जितने भी रोग है, वे सब त्रिदोषज ही होते हैं। जैसे कहा भी गया है—'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः' इति, अर्थात् कोई भी द्रव्य केवल एक रस का नहीं होता, इसी तरह कोई रोग भी केवल एक दोष का नहीं होता। इनमें जिस रस की प्रधानता होती है, उसी के नाम से उस द्रव्य का निर्देश किया जाता है, वैसे ही जिस दोष की प्रधानता होती है, उसी नाम से व्याधि का भी निर्देश किया जाता है?

इसका समाधान करते हुए महर्षि चरक ने कहा है कि ऐसी बात नहीं है। वात-पित्त-कफ तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर सञ्चार करते रहते हैं, मिथ्याहार-विहार के कारण शरीर के किसी एक धातु में स्थित दोष में विकार आने पर तद्धातुगत इतर दोष भी अवश्य दूषित हो जाते हैं; क्योंकि दोनों दोष एक धातु में रहने के कारण परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। जैसे अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु स्वभाव से शीतल होने के कारण अपने सहचारी शीत गुण वाले श्लेष्मा को भी प्रकुपित कर देता है; इसी प्रकार लघु होने से तेज स्वरूप पित्त का बल बढ़ा देता है। ऐसे ही प्रकुपित पित्त कटु होने से अपने सहचारी कटु गुण वाले वायु की एवं द्रव होने से श्लेष्मा की वृद्धि कर देता है। कफ भी शीतल होने

से वायु को एवं द्रव होने से पित्त को प्रकुपित कर देता है। इसीलिए कहा गया है—"न रोगोऽप्येकदोषजः" अर्थात् कोई भी रोग केवल एक दोष से उत्पन्न नहीं होता। इसी अभिप्राय से पुनः कहा गया है—'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्'। अर्थात् जब एक दोष प्रकुपित होता है, सबको ही प्रकुपित कर देता है। अतः जहाँ अपने कारण से प्रकुपित एक दोष के कारण ही अन्य दोषों का प्रकोप होता है। वहाँ व्याधि के लिये वातिक, पैत्तिक, कफज का व्यवहार होता है; किन्तु जहाँ तीनों ही दोष अपने-अपने स्वतन्त्र कारणों से प्रकुपित होते हैं, वहाँ पर ही त्रिदोषज का व्यपदेश किया जाता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र समझना चाहिए ॥९॥

वातिक अर्श का लक्षण

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥१०॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
बिम्बीखर्जूरकर्कन्धूकार्पासीफलसन्निभाः ॥ ११ ॥
केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित् सिद्धार्थकोपमाः।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ॥ १२ ॥
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः ।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ॥ १३ ॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च ॥ १५ ॥

(अ. हृ. नि. ७।२८-३४)

वाताधिक अर्श सूखा, चुनचुनाहटयुक्त, मुरझाया हुआ, कुछ काला, लाल, कठिन, अपिच्छिल, कर्कश, (स्पर्श में गोजिह्वा के समान), खरा (कर्कोटक-फल के समान सूक्ष्म काँटों से आच्छादित), एक दूसरे से विभिन्न आकृति वाले, टेढ़े, तीखे, फटे मुँह वाले कुंदरू, खजूर, बेर एवं कपास के फल के समान आकार वाले, कुछ कदम्ब फूल के समान एवं कुछ सरसों के समान होते हैं। वे शिर, पार्श्व, कटि, जंघा तथा वंक्षण प्रदेश में अधिक पीड़ा करते हैं। छींक, उद्गार, विष्टम्भ (मलावरोध), अरोचक, कास, श्वास, अग्नि की विषमता, कर्णनाद तथा भ्रम उत्पन्न होता है। इन लक्षणों से पीड़ित रोगी गाँठदार (पाषाणवत्) मात्रा में अल्प, फेन (झाग) से युक्त तथा पिच्छिल मल त्यागता है। उसकी त्वचा,

नाखून, मल, मूत्र, नेत्र तथा मुख काले पड़ जाते हैं। इस रोग से गुल्म, प्लीहा, उदर रोग एवं अष्ठीला भी उत्पन्न हो सकते हैं ॥ १०-१५ ॥

पूर्वं निदानमुक्तं, सम्प्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं वातार्शोलक्षणमाह--गुदेत्यादि। गुदाङ्कुरा गुदे अङ्कुराकारा मांसप्ररोहाः, त एव अर्शांसि। बह्वनिला जातोल्वणाः। शुष्काः स्रावरहिताः। चिमचिमा वेदनाविशेषः। म्लाना अनुपचिताः। स्तब्धाः काठिन्यात्। विशदा अपिच्छिलाः, धूलिस्पर्शवत्। परुषाः कर्कशाः, गोजिह्वास्पर्शवत्। खराः कर्कोटफलवत्सूक्ष्मानेककण्टकाचिताः। एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं सम्बन्धनीयम्। मिथो विसदृशाः परस्परभिन्नरूपाः। वक्रा धनुःकाष्ठादिवत्। तीक्ष्णाः सूक्ष्माग्राः। फलसन्निभा इति विम्ब्यादिभिः सम्बध्यते, विम्ब्यादिसन्निभत्वं चाकृत्या ज्ञेयम्। विम्बी ओष्ठोपमफला, 'नेलाकुचा' इति लोके ख्याता, कार्पासी वनकार्पासी, कदम्बपुष्पाभा स्थूला अनेकसूक्ष्मशिखराः। सिद्धार्थकोपमाः सूक्ष्मपिडकारूपाः। हृदयं गृहीतमिवेति वेदना हृद्ग्रहः। ग्रथितं ग्रन्थिलं पाषाणवत्। रुक् शूलम्। पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागः। उपवेश्यते वर्चस्त्याज्यते। कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वक्त्रान्तैः प्रत्येकं सम्बध्यते। अस्योपद्रवमाह—गुल्मेत्यादि। अष्ठीला वातरोगविशेषः ॥१०-१५॥

सरोज व्याख्या—पहले निदान (हेतु) बतलाया जा चुका है, अब वातादि भेद से क्रमशः लक्षण भी कहा जा रहा है। यहाँ सर्वप्रथम वातिक अर्श का लक्षण कह रहे हैं—गुदा में अङ्कुराकार मांस के प्ररोह निकल (उभर) आते हैं, उन्हें गुदाङ्कुर कहते हैं। बह्वनिलाः—वातोल्बण अर्श के मस्से शुष्क (स्रावरहित) होते हैं। इसमें चिमचिमाहटयुक्त वेदना (विशेष) होती है। मस्से म्लान (मुरझाएँ हुए) एवं स्तब्ध (कठिन) होते हैं। वे विशद (अपिच्छिल) धूल के समान स्पर्श में होते हैं। परुषः--अर्थात् गाय की जिह्वा के समान अथवा गाजवाँ औषधि के पत्तों के समान खुरदरा होता है। खराः—कर्कोटक फल के समान सूक्ष्म काँटों से आच्छादित रहते हैं। इन विकल्पों में आगे कहे जाने वाले 'केचित्' पद का भी सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। अर्थात् इनमें कुछ म्लान, कुछ काले, कुछ विशद एवं कुछ खर होते हैं। यह सब 'मिथो विसदृशाः' अर्थात् परस्पर भिन्न आकार के होते हैं। कुछ धनुष की लकड़ी की तरह टेढ़े, तीक्ष्ण अर्थात् काँटों की तार की तरह नुकीले होते हैं। फलसन्निभाः—अर्थात् कुदंरू, खजूर, वेर और कपास फल के समान आकृति में होते हैं। होठ के समान लाल रंग का विम्बी फल कुन्दरू होता है, तेलकुचा नाम से लोक (बंगाल) में प्रसिद्ध है। कार्पासी से 'वन कपास' लिया जाता है। कदम्बपुष्पाभाः—कदम्ब पुष्प के समान मोटा एवं चारों ओर असंख्य काँटों के युक्त होता

है। सिद्धार्थकोपमा:--कुछ सूक्ष्म पिण्ड रूप होते हैं। हृद्ग्रह—हृदय में वेदना जैसी होती है। ग्रथित—पाषाण के समान कठोर, रुक्-शूल, पिच्छा—द्रवभाग। उपवेश्यते—इस प्रकार मलत्याग होता है। कृष्ण शब्द का सम्बन्ध त्वक् से लेकर मुख तक, सबके साथ है। गुल्म आदि इसके उपद्रव हैं। अष्ठीला वात रोग है जो नाभि के नीचे पाषाणपिडिका के समान होता है॥ १०-१५॥

पैत्तिक अर्श का लक्षण

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः॥ १६॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरुचिमोहदाः॥ १७॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः॥ १८॥

(अ. हृ. नि. ७।३४-३७)

पित्त से होने वाले अर्श का मुख नीला, शेष भाग लाल, पीला तथा काला होता है। उनमें से तरल रक्त निकलता है, वे दुर्गन्धयुक्त, छोटे या पतले, कोमल, शिथिल होते हैं। वे आकार में शुकजिह्वा, यकृत्खण्ड या जोक के समान होते हैं। इनसे दाह, गुदपाक, ज्वर, पसीना, प्यास, मूर्च्छा, अरुचि तथा मोह हो जाता है। इनका स्पर्श उष्ण होता है, इनके कारण पतला, नीला, उष्ण, पीला, लाल एवं आम मल निकलता है। मस्से यव के समान मध्य में स्थूल (प्रान्तों पर सूक्ष्म) होते हैं। इनके कारण त्वचा, नख, मूत्र, नेत्र एवं चेहरा हरा, पीला एव हल्दी के रंग का सा हो जाता है॥ १६-१८॥

पित्तार्शोलक्षणमाह—पित्तोत्तरा इत्यादि। नीलमुखा नीलाग्राः। तनु अघनम्, अस्रं रक्तं स्रवन्तीति तन्वस्रस्राविणः। विस्रा आमगन्धिनः। तनवः स्वल्पाः। मृदवः कोमलाः। श्लथा लम्बनशीलाः। यववन्मध्ये स्थूलाः। हरित् पत्रवर्णं, पीतं हरितालाभं, हारिद्रं हरिद्रावर्णम्। आदिशब्दाद्विण्मूत्रनेत्रवक्त्राणां ग्रहणम्॥ १६-१८॥

सरोज व्याख्या—पित्तार्श के लक्षण कहते हैं। पित्तोत्तराः—पित्तोल्वण गुदाङ्कुर। नीलमुखाः—जिनका अग्रभाग नीले वर्ण का हो। जिनसे तनु (पतला) अस्रम्—रक्त निकलता हो, उसे तन्वस्राविणः कहा जाता है। विस्र—दुर्गन्धयुक्त, तनवः—पतले, मृदवः—कोमल एवं श्लथाः (लम्बनशील-शिथिल होकर लटकने वाले) होते हैं। यवमध्याः--मस्से के समान मध्य में मोटे एवं किनारों पर सूक्ष्म होते हैं। इसके कारण त्वचा आदि का रंग पत्ते के समान हरा, हरिताल

के समान पीला तथा हल्दी के समान रंग का हो जाता है। आदि शब्द से मल, मूत्र, नेत्र और मुख का ग्रहण करना चाहिए ॥ १६-१८ ॥

श्लैष्मिक अर्श का लक्षण

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ॥ १९ ॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥ २० ॥
वंक्षणानाहिनः पायुर्वस्तिनाभिविकर्षिणः ।
सश्वास-कास-हृल्लास-प्रसेकारुचि-पीनसाः ॥ २१ ॥
मेहकृच्छ्र-शिरोजाडच-शिशिरज्वरकारिणः ।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ॥ २२ ॥
वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः ।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ॥ २३ ॥
(अ. हृ. नि. ७।३७-४२)

कफप्रधान अर्श (मस्से) मोटी जड़ वाले, घने (सघन), अल्पपीड़ायुक्त, श्वेत, अधिक उठे हुए, मोटे, स्निग्ध, कठोर, गोल, भारी, दृढ़, चिपचिपे, स्तिमित (आर्द्र), श्लक्ष्ण (मणिवत् चिकने), कण्डूयुक्त एवं स्पर्श से आनन्द देने वाले होते हैं। इनकी रचना करीर फल या कटहल की गुठली अथवा गाय के स्तन के समान होती है। इनके कारण वक्षण प्रदेश में बद्धता, गुद वस्ति तथा नाभिप्रदेश में वेदना होती है। इनसे श्वास, कास, मिचली, लालाप्रसेक, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, सिर में भारीपन, शीतज्वर, नपुंसकता, अग्निमान्द्य, वमन एवं आम के कारण होने वाले (ग्रहणी अतिसार आदि) विकार उत्पन्न होते हैं। इन रोगियों को चर्बी जैसा एवं कफयुक्त प्रवाहिका के रूप में पीड़ा करता हुआ मल निकलता है। इन मस्सों से स्राव नहीं होता, वे फूटते भी नहीं। इनके कारण त्वचा, नख आदि पाण्डुवर्ण एवं चिकने हो जाते हैं ॥ १९-२३ ॥

श्लेष्मार्शोलक्षणमाह—श्लेष्मोल्वणा इत्यादि। अत्र गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते। महामूला दूरवास्त्ववगाहिनः। घना निविडावयवाः। उत्सन्ना दैर्घ्येणोद्गताः, उपचिताः परिणाहेन स्थूलाः, स्तब्धा अनम्राः, वृत्ताः परिणाहेन वर्तुलाः, गुरवो गुरुद्रव्याक्रान्तमिव गुदं कुर्वते, स्थिरा अचञ्चलाः। श्लक्ष्णा मणिवन्मसृणाः। कण्ड्वाढ्याः कण्डूबहुलाः; कण्डूव्यपगमार्थं स्पृश्यमानाः प्रीणयन्त्यर्शसमिति स्पर्शनप्रियाः। करीरो मरुजद्रुमः, पनसः कण्टकिफलम्, तयोरस्थ्याभाः; अथवा करीरी वंशाङ्कुरः; तेन करीराभाः,

पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थः। तथा गोस्तनसन्निभाः गोस्तनसदृशा इत्यर्थः। वंक्षणौ आनाहितुमाबद्धुमिव शीलं येषां ते तथा, गुदप्रत्यासत्त्या वंक्षणयोः प्रेरणाद्यसामर्थ्यकारिण इत्यर्थः। पायुवस्तिनाभिविकर्षिण इति पाय्वादिष्वाकर्षवत्पीडाकारिणः। प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा; कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं शिरःस्तिमितता, शिशिरज्वरकारिणः शीतज्वरकारिणः। क्लैव्यं स्त्रीष्वनुत्साहः, अग्निमार्दवं वह्निमान्द्यं, छर्दिर्वमिः। आमप्रायविकारदाः आमबहुला ये रोगा अतीसारग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः। प्रायःस्थाने 'प्राज्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः; प्रायःप्राज्यशब्दयोः प्रचुरार्थत्वात्। वसाभं च सकफं च प्राज्यं च पुरीषं येषां ते तथा। न स्रवन्ति 'क्लेदरक्तादिकम्' इति शेषः। न भिद्यन्ते गाढविट्कप्रपीडिता अपि न विदीर्यन्त इति ॥ १९-२३ ॥

सरोज व्याख्या—श्लेष्मोल्वण अर्श के लक्षण कहते हैं—श्लेष्मोल्वणा इत्यादि। यहाँ श्लेष्मोल्वण के साथ गुदाङ्कुर शब्द जोड़ लेना चाहिए। अर्थात् श्लेष्मोल्वण गुदाङ्कुर महामूल (गहरी जड़ वाले) होते हैं। घनाः—अर्थात् एक दूसरे से लगे हुए होते हैं। उत्सन्नाः—अर्थात् लम्बे और उठे हुए होते हैं। उपचिताः—चारों ओर से स्थूल, स्तब्धाः—कठोर एवं वृत्ताः—चारों ओर से गोल होते हैं। गुरवः—गुदप्रदेश का भारी होना है। स्थिराः—अचञ्चल (दृढ़), श्लक्ष्णाः—अर्थात् मणि की तरह चिकने होते हैं। कण्ड्वाढ्याः—अर्थात् इसमें खुजली अधिक होती है और खुजलाने पर अच्छा लगता है, इसलिए स्पर्शनप्रियाः कहा गया है। करीर (मरुभूमि में उत्पन्न होने वाला वृक्ष) फल के समान और पनस (कटहल) की गुठली सदृश ये होते हैं अथवा वंशाङ्कुर (बाँस का अङ्कुर) को करीर कहा जाता है, उसके समान स्थूल-मूल एवं नुकीले सिर वाले होते हैं। गोस्तन के सदृश कुछ मस्से होते हैं। वंक्षणानाहिनः—वंक्षण प्रदेश को आबद्ध करने का इनका स्वभाव होता है। गुदा के समीप होने के कारण वंक्षण प्रदेश की क्रिया में अवरोध होता है।

पायु-वस्ति-नाभि-विकर्षिणः—गुदा, वस्ति प्रदेश एवं नाभि में तनावयुक्त पीड़ा होती है। प्रसेक—मुख से अथवा गुद से कफ निकलता है। कृच्छ्र—अथवा मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। शिरोजाड्यम्—शिर का गीले वस्त्र से लिपटा हुआ सा प्रतीत होता है। शिशिरज्वरकारिणः—इसमें शीत ज्वर हो जाता है। क्लैव्यम्—स्त्रियों में अनुत्साह या नपुंसकता हो जाती है। अग्निमार्दवम्—अग्निमान्द्य होना, छर्दिवमन का होना। आमप्रायविकारदाः—आमबहुल अतिसार ग्रहणी आदि विकार हो जाते हैं। 'प्रायः' के स्थान पर 'प्राज्य' पाठान्तर भी मिलता है, उसका भी वही अर्थ होगा; क्योंकि प्रायः एवं प्राज्य—दोनों शब्द प्रचुर अर्थ के बोधक हैं।

वसा के समान कफ से युक्त प्रचुर मात्रा में मल जिसमें आता हो, वह वसाभसकफप्रायपुरीष कहलाता है। न स्रवन्ति—मस्से में क्लेद या रक्त आदि नहीं निकलता है। न भिद्यन्ते—मल के गाढ़ा (कठोर) होने से निकलते समय रोगी को कष्ट होता है, किन्तु मल के कठोर होने के कारण मलोत्सर्ग के समय मस्सों पर दबाव पड़ने पर भी वे फटते नहीं ॥१६-२३॥

त्रिदोषज एवं सहज अर्श के लक्षण

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ।

त्रिदोषज अर्श तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। सहज अर्श भी त्रिदोषज के समान लक्षणों वाला होता है।

सन्निपातार्शसः सहजार्शसश्च लक्षणमाह—सर्वैरित्यादि। सर्वैर्वातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणैः; सर्वात्मकानि त्रिदोषजानि, तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्यप्याहुः, तेषामपि त्रिदोषजत्वात् ॥

सरोज व्याख्या—सन्निपातज एवं सहज अर्श के लक्षण कहते हैं। वात आदि जन्य अर्श के जो लक्षण होते हैं, वे सारे लक्षण त्रिदोषज अर्श के होते हैं तथा त्रिदोषज अर्श के लक्षण के समान ही सहज अर्श भी कहे गये हैं, क्योंकि सहज अर्श में भी तीनों दोष कारण होते हैं।

रक्तज अर्श के लक्षण

रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ॥ २४ ॥
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीडिताः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः ॥ २६ ॥
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ।

(अ० हृ० नि० ७।४३-४५)

रक्तज अर्श के मस्से पित्तार्श के समान होते हैं। ये वटप्ररोह (बटशुङ्ग) के समान गुञ्जा अथवा मूंगा के समान (लाल) होते हैं। कठिन मल से दबने के कारण उनसे सहसा गन्दे तथा गरम रक्त का स्राव होने लगता है। रक्त के अधिक स्राव के कारण रोगी मेंढक के समान पीला हो जाता है एवं रक्तक्षयजन्य अनेक रोगों से पीड़ित रहता है। इस रोगी का बल, वर्ण (कान्ति), उत्साह तथा ओज हीन हो जाता है, सभी इन्द्रियाँ व्याकुल रहती हैं।

रक्तार्शोलक्षणमाह—रक्तोल्बणा इत्यादि। गुदे कीलाः कीलवत् कीलाः अर्शांसि, 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा. अ. ६. पा. ३ सू. ९) इत्यलु-

क्समासः। पित्ताकृतिसमन्विताः पैत्तिकार्शोलक्षणयुक्ताः। विद्रुमसन्निभाः प्रवालमणिवल्लोहिता इत्यर्थः। ते गाढविट्कप्रपीडिताः कठिनपुरीषयन्त्रिताः दुष्टम् आविलम्, उष्णं च रक्तं स्रवन्ति। तस्येति रक्तस्य, अतिप्रवृत्तितः अतिक्षयात्, भेकाभः प्रावृषेण्यवर्षाम्बाभः पीतच्छविः, 'पुरुषः' इति शेषः। दुःखैः रोगैः। शोणितक्षयसंभवैरिति 'त्वक्पारुष्याम्लशीतप्रार्थनासिराशैथिल्यैः' (सु. सू. अ. १५) सुश्रुतोक्तैः। बलं स्थौल्यम्, उत्साहो हर्षः। हृतौजाः हृतशक्तिः। कलुषेन्द्रिय आविलचक्षुः, व्याकुलसर्वेन्द्रियो वा॥ २४-२६॥

सरोज व्याख्या—रक्तार्श के लक्षण कहते हैं—रक्तोल्वणा इत्यादि। गुदेकीलाः—गुद में कील के समान मस्से प्रतीत होते हैं। यहाँ समास होने पर गुदकीलाः शब्द होना चाहिए, किन्तु 'हलदन्तात्' पाणिनीय इस सूत्र के अनुसार अलुक् समास हो गया, जिससे 'गुदे' में सप्तमी का लोप नहीं हुआ और गुदेकीलाः समस्त पद बन गया है। पित्ताकृतिसमन्विताः—पैत्तिक अर्श के जो लक्षण होते हैं, वे ही रक्तार्श में मिलते हैं। विद्रुमसन्निभाः—प्रवालमणि (मूंगा) के समान लाल रंग का होता है। ते गाढविट्कप्रपीडिताः—कठिन मल से प्रपीड़ित (दबने) पर उनमें दुष्ट (गन्दा) और उष्ण रक्तस्राव हो जाने से रोगी 'भेकाभः' अर्थात् वरसाती मेंढक के समान पीला हो जाता है।|दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः—रक्त के क्षय हो जाने के पश्चात् होने वाले रोगों से पीड़ित हो जाता है। वे रोग हैं—त्वक्पारुष्य, शीतल एवं अम्ल, पदार्थों की इच्छा शिराशैथिल्य (सु. सू. १५)। बल-शरीर की स्थूलता एवं उत्साह—हर्ष, नष्ट हो जाता है। हतोजः—रोगी की शक्ति नष्ट हो जाती है। कलुषेन्द्रिय आविलचक्षुः—नेत्र तेजहीन (गन्दा) हो जाता है या सभी इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती हैं।

स्थानीय दोषापेक्ष लक्षण

लक्षण	वातार्श	पित्तार्श	श्लेष्मार्श	रक्तार्श
१. स्रावात्मक	शुष्क (स्रावरहित)	स्रावयुक्त	पिच्छिल स्राव	अतिरक्तस्रावयुक्त
२. वर्ण	रक्तारुण वर्ण	पीतवर्ण	श्वेत वर्ण	पाण्डु पीतवर्ण
३. स्पर्श	रूक्ष	मृदु	स्थूल महामूल, पृथु श्लक्ष्ण	पित्त सदृश
४. आकृतिसादृश्य	कदम्ब पुष्प, वनकर्पास, नाड़ीमुख, सूचीमुख सदृश	यकृत खण्ड, शुक जिह्वा, जलौका मुख सदृश	पनसफल, द्राक्षा सदृश	पित्त सदृश
५. वेदना	कटि पृष्ठ, पार्श्व, गुद नाभि वेदना	ज्वर, दाह, तृषा व मूर्च्छा	कण्डू प्रधान	पित्त सदृश
६. त्वक्, नख, नेत्र, मुख, दन्तगत प्रभाव	कृष्ण वर्ण	पीत वर्ण	श्वेत वर्ण	पीत पाण्डुवर्ण (रक्ताल्पतावश)

रक्तज अर्श में वातादि दोषों का अनुबन्ध

(तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च ।)
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २९ ॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥ ३० ॥
(च. चि. १४।१७०-१७४)

रक्तार्श में वात या कफ अनुबन्ध हो सकता है । यदि मल कड़ा काला एवं रूक्ष हो और अधोवायु नहीं निकलती हो, मस्सों से निकलने वाला रक्त पतला, अरुण तथा फेनयुक्त हो, कटि जंघा तथा गुदा में शूल हो, शरीर में अधिक दुर्बलता हो, यदि उत्पादनकारण रूक्ष पदार्थों का सेवन हो, तो रक्तार्श में वात का अनुबन्ध समझना चाहिए ।

यदि रोगी को शिथिल, श्वेत, पीत, स्निग्ध, गुरु तथा शीतल मल आता हो, अर्श का रक्त गाढ़ा, तन्तुल, पाण्डु वर्ण एवं पिच्छिल हो, गुदा में चिपचिपाहट और गिलापन हो, गुरु एवं स्निग्ध कारणों से अर्श की उत्पत्ति हो तो बुद्धिमान् चिकित्सक को उस अर्श में कफ का अनुबन्ध समझना चाहिए ॥२७-३०॥

इदानीं तस्यैव रक्तार्शसो निदानस्य रक्तस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—विडित्यादि । विट्श्यावमिति विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति, एतन्निर्देशादेव । काश्मीरास्तु चरके—'विट्श्यावाः कठिना रूक्षाः' (च. चि. अ. १४) इत्येव पठन्ति । अधोवायुर्न वर्तते गुदेन प्रतिलोमगत्वात् । तन्वित्यादि । तत्रानुबन्धो वातस्येति वातादिदुष्टस्यैव रक्तस्यारम्भकत्वान्न तु केवलस्य, दोषत्वाभावात् । शिथिलमित्यादिना कफानुबन्धस्य । ननु, पित्तानुबन्धः कुतो नोक्त इति ? उच्यते—रक्तपित्तयोः प्रायः समानलिङ्गत्वात् । उक्तं च पूर्वं "रक्तोल्वणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः' इति ॥ २७-३० ॥

सरोज व्याख्या—अब रक्तार्श के निदान हेतु रक्त के वातादि भेद से लक्षण कहते हैं—विडित्यादि । विट् श्यावमिति—मल काला होता है । विष्ठा वाचक "विट' शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है ।

चरक के कश्मीरी पाठ में "विट् श्यावा कठिना रूक्षा" पाठ आया है। अधो वायुर्न वर्तते अर्थात् मस्सों के कारण गुद मार्ग बन्द सा रहता है, जिससे अपान वायु गुदा द्वारा नहीं निकलता है, प्रतिलोमगति होने से। तत्रानुबन्धो वातस्य=-अर्थात् प्रकुपित वातादि से दूषित होकर ही रक्त अर्श को उत्पन्न करता है, न कि केवल अपने को। क्योंकि रक्त स्वयं तो दोष होता नहीं और जब तक रक्त दूषित नहीं होता, तब तक रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती। शिथिल, श्वेत, पीतादि लक्षण कफानुबन्ध से होता है। अब प्रश्न होता है कि वात एवं कफ का अनुबन्ध तो बतला दिया गया, किन्तु पित्त के अनुबन्ध का निर्देश क्यों नहीं बताया गया? इसका समाधान किया गया है कि रक्त एवं पित्त दोनों के ही लक्षण प्रायः समान होते हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है—"रक्तोल्वणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः" अर्थात् रक्तोल्वण अर्श का लक्षण भी पित्तार्श के समान ही होता है। इसी से पित्तानुबन्ध का पृथक् से निर्देश नहीं किया गया है ॥२७-३०॥

अर्श का पूर्वरूप

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ ३१ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥

(च. चि. अ. १४)

अन्न का आमाशय में ही चिरकाल तक अपक्वावस्था में पड़ा रहना, दुर्बलता, उदर में आटोप, कृशता, उद्गार की अधिकता, टाँगों में शिथिलता, पुरीष का कम आना तथा ग्रहणी दोष, पाण्डु रोग एवं उदर रोग की आशंका होना, अर्श के पूर्वरूप हैं।

पूर्वरूपमाह—विष्टम्भ इत्यादि। विष्टम्भोऽन्नस्येति विष्टम्यान्नस्य जीर्णतागमनम्, आहारो विष्टब्ध आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात्। दौर्बल्यं हीनशक्तिता। 'विष्टम्भोऽङ्गस्य' इति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अङ्गस्य दौर्बल्यम्। यद्यपि निदानानन्तरं पूर्वरूपं वक्तव्यं भवति, तथाऽपि निदानलक्षणानन्तरमत्र पूर्वरूपं, निदानलिङ्गयोश्चिकित्साङ्गत्वप्रतिपादनार्थं तयोः पूर्वमभिधानम्, अथवाऽवश्यवक्तव्यानां कामचारादभिधानमिति। एवमन्यत्रापि व्यतिक्रमे द्रष्टव्यम्। कुक्षेराटोपो 'गुडगुडाशब्दः' इति चक्रः, 'तनतनी' इति गुणाकरः; 'रुजापूर्वकः क्षोभः' इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिलक्षणे च 'आटोपम् आध्मानम्' इति विवृतवान्। एतच्च न सर्वत्र, गुल्मपूर्वरूपे आटोपाध्मानयोरुभयोरपि पाठात्। उद्गारबाहुल्यमधोनिरुद्धस्य वायोरूर्ध्वगमनात्। सक्थिसादो जङ्घावसादः। ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेः ग्रहणीदोषयुक्त-

पाण्डुरोगस्य उदरस्य चाशङ्का, तेषां लक्षणदर्शनात्। 'ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तिः' इति पाठान्तरे ग्रहणीदोषस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्त्तिः पीडा स्यात्। अभिवृद्धये उत्पत्त्यर्थमिति ॥ ३१-३२ ॥

सरोज व्याख्या--अर्श का पूर्वरूप कहते हैं--विष्टम्भ इत्यादि। विष्टम्भोऽन्नस्य--अन्नविष्टम्भ होकर जीर्णता का आगमन (प्राप्त) होना। वायु के विगुण होने से आहार विष्टम्भ होकर वह आमाशय में ही कुछ काल तक रुका रहता है, तत्पश्चात् पाचन होता है। दौर्बल्यं--रोगी शक्तिहीन हो जाता है। कहीं-कहीं 'विष्टम्भोऽङ्गस्य' पाठान्तर मिलता है। वहाँ पर विष्टम्भो मलस्य, अङ्गस्य दौर्बल्य ऐसा अर्थ करना चाहिए। अर्थात् मल का विष्टम्भ (विबन्ध) एवं अङ्गों का दुर्बल होना समझना चाहिए।

यद्यपि निदान के पश्चात् पूर्वरूप का उल्लेख होता है, जैसा कि क्रम है और यहाँ निदान एवं लक्षण के पश्चात् पूर्वरूप का निर्देश किया है। चूँकि निदान एवं लक्षण ही चिकित्सा के प्रमुख अङ्ग हैं, उनके प्रतिपादन के लिए उसको पहले कह दिया गया है अथवा आवश्यक बातों का पहले निर्देश किया जाता है। अन्यत्र भी ऐसा व्यतिक्रम अवलोकनीय है।

कुक्षेराटोपो--चक्रपाणि ने आटोप का 'गुड़गुड़ा' शब्द अर्थ किया है, अर्थात् उदर में गुड़गुड़ाहट होती है। गुणाकर ने इसका अर्थ "तनतनी' किया है, अर्थात् उदर तन जाता है। आचार्य गदाधर ने रुजापूर्वक क्षोभ को आटोप कहा है। पुरीष-वृद्धि के लक्षण में आचार्य माधव ने आटोप को आध्मान कहा है। किन्तु यह अर्थ सर्वत्र नहीं घटता, क्योंकि गुल्म के पूर्वरूप में आटोप एवं आध्मान दोनों का उल्लेख पाया जाता है।

उद्गारबाहुल्यम्—अर्श के कारण अधोवायु का निस्सरण अवरुद्ध हो जाता है, तो वायु प्रतिलोम होकर अधिक डकारों को पैदा करता है। सक्थिसादः--जंघा शिथिल हो जाती हैं। ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेः—अर्थात् ग्रहणी दोष से युक्त पाण्डु रोग की आशंका हो जाती है अथवा उदर रोगों की आशंका हो जाती है, क्योंकि इन रोगों के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं 'ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तिः' पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ होता है कि अर्श के पूर्वरूप में रोगी को ग्रहणी दोष एवं पाण्डु रोग की पीड़ा हुआ करती है। अभिवृद्धये--अर्थात् अर्श की उत्पत्ति के लिये ये पूर्वरूप हैं॥ ३१-३२ ॥

अर्श की उत्पत्ति में सर्वदोषप्रकोप

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे॥ ३३ ॥

तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥

(च. चि. १४।२४-२५)

अर्श की उत्पत्ति में पाँचों प्रकार का वायु, पाँचों प्रकार का पित्त, पाँचों प्रकार का कफ एवं गुदा की तीनों वलियाँ प्रकुपित होती हैं। इसलिए अर्श बड़ा ही दुःखदायी, अनेक व्याधियों को करने वाला, सम्पूर्ण शरीर में कष्ट पहुँचाने वाला एवं कष्टसाध्य होता है ॥ ३३-३४ ॥

ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात् कथं सर्वदेहे कृशत्वकृष्णत्वादिरूपा दुष्टिरित्यत आह—पञ्चात्मेत्यादि। पञ्चात्मा पञ्चस्वरूपः, प्राणापानासमानोदानव्यानभेदात्। 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥' इति तेषां स्थानानि। एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यम्, पित्तं ह्यालोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदाद्भिन्नम्। आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृत्प्लीह्नोः, साधकं हृदि, पाचकं पक्वामाशययोर्मध्ये, भ्राजकं त्वचीति। एवं कफोऽपि पञ्चात्मा हृदयामाशयजिह्वाशिरःसन्धिषु क्रमेणावलम्बक-क्लेदक-बोधक-तर्पक-श्लेषकभेदाद्। यदाह गौतमः—'श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेषकादिस्वकर्मणा। कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम् ॥ अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः। क्लेदकः सोऽन्नसन्धानक्लेदनाद् रसबोधनात् ॥ बोधको रसनास्थस्तु शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्। तर्पकः श्लेषकः सम्यक् श्लेषणात् सन्धिषु स्थितः' ॥ इति। गुदवलित्रयस्य च प्रकोपो विकृतत्वम्, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च। 'गुदवलित्रये' पाठान्तरं न युक्तम्, तत्र प्राणोदानयोः सन्निधानस्याप्यभावात्, बलिदुष्टेरप्राप्तेश्च। सर्व एवेति, उक्तमारुतादय एवेति। तस्मादित्यादि, बहुव्याधिकराणीति जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि। प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्यान्यपि ॥

सरोज व्याख्या—शंका होती है कि गुदप्रदेश के दूषित होने पर गुदा में अर्श होते हैं, तो सम्पूर्ण शरीर में दुर्बलता, कृष्णता आदि कैसे हो जाती है ? इसका समाधान करते हैं—पञ्चात्मा इत्यादि। प्राण, अपान, समान, व्यान एवं उदान इन भेदों से पञ्चस्वरूप होने के कारण वायु पञ्चात्मा कहलाता है। लक्षणभेद से पित्त भी पाँच प्रकार का होता है, जैसे—आलोचक, रञ्जक, साधक, पाचक और भ्राजक। कफ भी अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक एवं श्लेष्मक भेद से पाँच प्रकार का होता है, जो क्रमशः हृदय, आमाशय, जिह्वा, शिर एवं सन्धियों में होता है। जैसा कि आचार्य गौतम ने कफ का विस्तृत उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया है—

कफ के भेद, स्थान एवं कर्म

नाम	स्थान	कर्म
१. अवलम्बक कफ	उर (हृदय एवं फुफ्फुस)	शरीर गत सम्पूर्ण कफ स्थानों का अवलम्बन, हृदयावलम्बन ।
२. क्लेदक कफ	आमाशय	अन्नसमूह का क्लेदन
३. बोधक कफ	जिह्वा	मधुरादि रसों का बोध
४. तर्पक कफ	शिर	चक्षु आदि इन्द्रियों का तर्पण
५. श्लेष्मक कफ	सन्धियाँ	सन्धियों का श्लेषण

पित्त के भेद, स्थान एवं कर्म (सु० नि० १)

नाम	स्थान	कर्म
१. पाचकपित्त	आमाशय एवं पक्वाशय	दहन (अग्निरूप) एवं पाचन
२. भ्राजकपित्त	त्वचा	त्वचा का प्रकाशन, अभ्यङ्ग एवं लेप का पाचन ।
३. रंजक पित्त	यकृत एवं प्लीहा	रस धातु का रंजन
४. आलोचकपित्त	नेत्र	रूपदर्शन
५. साधक पित्त	हृदय	मेधाकर एवं प्रज्ञाकर

वात के भेद, स्थान एवं कर्म (सु० नि० १)

नाम	स्थान	कर्म
१. प्राणवायु	मूर्धा, कण्ठ एवं उर	प्राकृतकर्म-श्वास प्रश्वास, देहधारण, अन्न का प्रवेश, प्राणों का अवलम्बन । वैकृतकर्म-हिक्का एवं श्वास ।
२. उदानवायु	आमाशय से ऊपर, कण्ठ प्रदेश	प्राकृतकर्म-सम्भाषण, गान । वैकृत-कर्म-उर्ध्वजत्रुगत विकार ।
३. समानवायु	आमाशय एवं पक्वाशय	प्राकृतकर्म-अन्न का पाचन, परिपक्व आहार के सार-किट्ट का विभाजन । वैकृतकर्म-गुल्म, अग्निमान्द्य और अतिसार ।
४. अपानवायु	पक्वाशय एवं गुदा	प्राकृतकर्म- अपानवायु, पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव तथा गर्भ बाहर निकलना । वैकृतकर्म-वस्ति एवं गुदा में भयंकर व्याधि ।

वात के भेद, स्थान एवं कर्म (सु० नि० १)

नाम	स्थान	कर्म
५. व्यानवायु	समस्त शरीर	प्राकृतकर्म–रस का संवहन, पांचों प्रकार के कर्म–आकुञ्चन, उत्क्षेप, अवक्षेप, निमेष, उन्मेष, स्वेद एवं रक्त का स्रावण, वैकृतकर्म–सर्व शरीर रोगकर

गुदवलित्रयम्--गुदवलियों का प्रकोप अर्थात गुदवलियों में विकृति हो जाती है, जिससे मल का प्रवाहण एवं विसर्जन कार्य समय पर नहीं होता। कहीं-कहीं गुदवलित्रये पाठान्तर मिलता है, जो उचित नहीं लगता; क्योंकि यदि सप्तमी विभक्ति में अर्थ किया जायगा, तो वहाँ पर प्राण और उदान वायु के सान्निध्य का अभाव होता है तथा वलियों में दुष्टि भी नहीं होती। सर्व एवेति--अर्थात् पूर्वोक्त वातादि दोष तथा तीनों वलियाँ सभी प्रकुपित होते हैं। बहुव्याधिकराणि--अर्थात् उदर, अग्निमान्द्य आदि उपद्रवों को कर देता है। प्रायः कृच्छ्रतमानि—प्रायः शब्द से अर्श की असाध्यता और सुखसाध्यता दोनों ज्ञात होती हैं ॥ ३३-३४ ॥

अर्श की साध्यासाध्यता

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ ३५ ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३६ ॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥

(च. चि. १४।३१ ३०, २८)

जो अर्श बाह्य वलि में उत्पन्न हुए हों, किसी एक दोष का प्राबल्य हो एवं एक वर्ष से पुराना न हो, वह अर्श सुखसाध्य होता है।

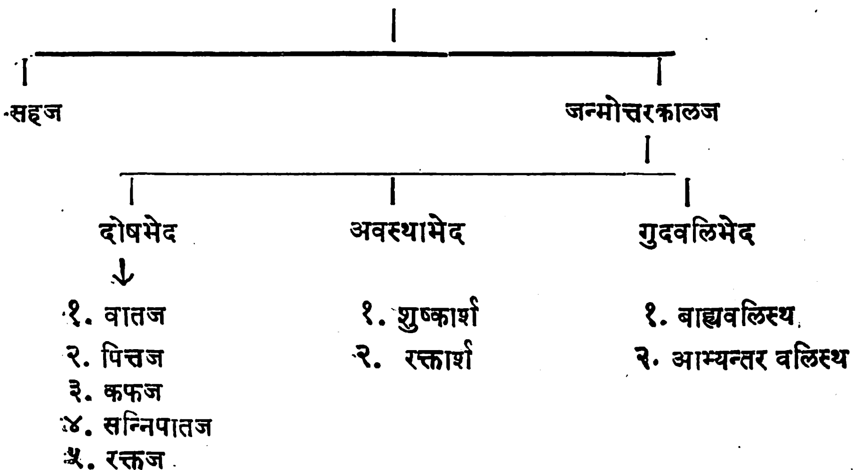
यदि अर्श द्विदोषज हो, दूसरी वलि में हो और एक वर्ष से पुराना हो, तो वह कष्टसाध्य होता है।

यदि अर्श सहज एवं त्रिदोषज हो तथा अन्दर की वलि में हो, तो वह असाध्य होता है ॥ ३५-३७ ॥

उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिक्रमाः—बाह्यायामित्यादि। न चिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि। परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः

संवत्सरो यैस्तानि तथा। यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्वणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्। एवं द्वितीयायामेकदोषोल्वणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्वणानि याप्यानि, त्रिदोषल्वणान्यसाध्यानि। एवं तृतीयायामेकदोषोल्वणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि। यद्याप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव; तदुक्तं चरकेण—'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्' (च. नि. अ. ८) इति ॥ ३५-३७ ॥

सरोज व्याख्या—अर्श की साध्यासाध्यता का लक्षण कहते हैं—बाह्यमित्यादि। न चिरोत्पतितानि अर्थात् जो एक वर्ष पुराना न हो। परिसंवत्सराणि–जो एक संवत्सर पार कर चुका हो अथवा एक वर्ष बीत चुका हो। जो बाह्य वलि में उत्पन्न हो, द्विदोषोल्वण हो, वह कृच्छ्रसाध्य होता है। यदि त्रिदोषज हो, तो याप्य होता है। द्वितीय वलि में होने वाले एकदोषोल्वण कृच्छ्रसाध्य होते हैं और द्विदोषोल्वण याप्य होते हैं तथा त्रिदोषोल्वण होने पर असाध्य होता है। इसी तरह तृतीय वलि में होने वा एक दोषोल्वण याप्य शेष अर्थात् द्विदोषोल्वण एवं त्रिदोषोल्वण असाध्य होते हैं। जो याप्य या असाध्य कहे गये हैं, वे किसी भी वलि में रहने पर याप्य या असाध्य ही होंगे। जैसा कि चरक ने कहा है—'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्'। (च. नि. ८) अर्थात् जो असाध्य है, वह साध्य नहीं हो सकता, किन्तु साध्य असाध्य में परिवर्तित हो जाता है ॥ ३५-३७ ॥



असाध्य के दो भेद

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३८ ॥

(च. चि. १४।२९)

यदि रोगी की आयु शेष हो तथा चतुष्पाद् की सम्पत्ति विद्यमान हो और उसकी कायाग्नि भी दीप्त हो, तो असाध्य अर्श भी याप्य हो जाता है। अन्यथा प्रत्याख्येय समझना चाहिए ॥ ३८ ॥

असाध्यो हि द्विविधो याप्यप्रत्याख्येयभेदात्, तत्र यद्यायुःशेषोऽस्ति चतुष्पादसंपत्तिश्च तदा याप्यत्वमन्यथा प्रत्याख्येयत्वमित्याह—शेषत्वादित्यादि। चतुष्पादसमन्विते 'अर्शोरोगिणि' इति शेषः। समन्वित इति भावे क्तः, तेन 'चतुष्पादसमन्वये सति' इति चक्रः ॥ ३८ ॥

सरोज व्याख्या—याप्य और प्रत्याख्येय भेद से असाध्य दो प्रकार का होता है। इसमें यदि रोगी की आयु शेष हो तथा चिकित्सा के चतुष्पाद् की सम्पत्ति हो, तो याप्य होता है, अन्यथा प्रत्याख्येय होता है। 'चतुष्पादसमन्विते' के साथ 'अर्शोरोगिणि' जोड़ना होगा। समन्विते—यहाँ भाव में 'क्त' प्रत्यय होता है। इसका अर्थ है-चतुष्पाद् का समन्वय होने पर। ऐसा अर्थ चक्रपाणि ने किया है ॥

उपद्रव से असाध्यता

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ ३९ ॥

हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ ४० ॥

(च. चि. १४।२६-२७)

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥ ४१ ॥

(सु. सू. ३०।१०)

जिसके हाथ, पाँव, मुख, नाभि, गुद एवं वृषण पर सूजन हो तथा हृदय एवं पसलियों में शूल हो, उसे असाध्य जानना चाहिए।

हृदय और पसलियों में शूल, मूर्च्छा, छर्दि, शरीर में वेदना, ज्वर, प्यास एवं गुद का पाक अर्श रोगी को मार डालता है।

जो रोगी प्यास, अरुचि एवं शूल से पीड़ित हो, जिसका रक्त अत्यधिक निकल गया हो, शोथ एवं अतिसार से दुःखी हो, अर्श उस रोगी को मार डालता है ॥

उपद्रवादसाध्यत्वमाह—हस्त इत्यादि। हस्तपादादिशोथो मिलितोऽसाध्यलक्षणम्। अत्र हृत्पार्श्वशूलसंमोहादि व्यस्तं समस्तं वा ॥ ३९-४१ ॥

सरोज व्याख्या—उपद्रव से अर्श की असाध्यता कहते हैं–हस्त इत्यादि। हाथ और पैर में मिलित शोथ असाध्य लक्षण होता है। जहाँ पर हृदय और पार्श्व में शूल एवं मूर्च्छा आदि लक्षण मिले हों अथवा पृथक्-पृथक् हो, दोनों अवस्था में असाध्य होते हैं ॥ ३९-४१ ॥

लिङ्गादि में उत्पन्न अर्श का स्वरूप

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि च।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥ ४२ ॥

(अ. हृ. नि. ७।५६)

लिङ्ग, नासा आदि में होने वाले अर्श का वर्णन उन अङ्गों में होने वाले रोगों के साथ किया जायेगा। नाभि में होने वाले अर्श का स्वरूप गण्डूपद कृमि के मुख के समान पिच्छिल एवं मृदु होता है ॥ ४२ ॥

अथ मेढ्रजादीनां स्वरूपमाह—मेढ्रादिष्वित्यादि। मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वमित्यन्तेन छेदः। तेन 'नासार्शं' इत्यादिव्यपदेशः। गण्डूपदास्यरूपाणि किंचुलकमुखसदृशानि। ४२ ॥

सरोज व्याख्या—मेढ्रादि में होने वाले अर्श के लक्षण कहते हैं—मेढ्रादिष्वित्यादि। मेढ्र (लिङ्ग) आदि में होने वाले अर्श का लक्षण उन-उन अङ्गों में होने वाले रोगों के साथ किया जायेगा। यथास्वम्—यहाँ तक अलग अर्थ करना चाहिये। इससे नासा आदि में होने वाले अर्श का ग्रहण हो जाता है। नाभि में होने वाला अर्श गण्डूपद के मुख के समान चिपचिपा एवं कोमल होता है ॥ ४२ ॥

चर्मकील की सम्प्राप्ति

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥ ४३ ॥

(अ. हृ. नि. ७।५७)

व्यान वायु श्लेमा को लेकर त्वचा के अन्दर कील के समान स्थिर एवं खुरदुरा अर्श उत्पन्न कर देता है, उसे चर्मकील रोग कहते हैं ॥ ४३ ॥

चर्मकीलसंप्राप्तिमाह—व्यान इत्यादि। व्यानो वायुः, 'एतच्च गुदौष्ठदेश एव नान्यत्र' इति कार्तिककुण्डादयः ॥ ४३ ॥

सरोज व्याख्या—चर्मकील की सम्प्राप्ति कहते हैं—व्यान इत्यादि। व्यान वायु का भेद है। यह चर्मकील गुदोष्ठ प्रदेश में होता है, न कि किसी अन्य स्थान पर। ऐसा कार्तिककुण्डादि आचार्यों का मत है ॥ ४३ ॥

वातादि भेद से चर्मकील का लक्षण

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥ ४४ ॥

(अ. हृ. नि. ७।५८)

इस में वात से सूचीभेदवत् वेदना एवं परुषता होती है । पित्त के कारण उसका मुख काला हो जाता है और श्लेष्मा के कारण यह स्निग्ध, ग्रथित तथा त्वचा के समान वर्ण वाला होता है ॥ ४४ ॥

तस्यैव वातादिभेदेन लक्षणमाह —वातेनेत्यादि । सवर्णता गात्रसवर्णता ॥ ४४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामर्शोनिदानं समाप्तम् ॥५॥

सरोज व्याख्या—चर्मकील के वातादि भेद से लक्षण कहते हैं—वातेनेत्यादि । सवर्णता—अर्थात् कफजन्य चर्मकील या वर्ण त्वचा के समान होता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचित माधवनिदान में अर्शोनिदान समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानम्

अग्नि के चार भेद

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥ १ ॥

कफ, पित्त एवं वायु की अधिकता या उनकी समता से क्रमशः मन्द, तीक्ष्ण, विषम तथा सम चार प्रकार की अग्नि होती है ॥ १ ॥

अर्शःकार्यत्वादग्निमान्द्यादीनां तान्याह—मन्द इत्यादि। मन्दस्य दुर्जयत्वात् प्रागभिधानम्। कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम्। तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात्। समः अविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः। एतस्याविकारस्यापि विकारप्रस्तावेऽभिधानं प्रकृतिज्ञानानन्तरीयकं विकृतिज्ञानमिति बोधनार्थम्। जाठर इति धात्वग्निभूताग्निव्यवच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—अर्श से अग्निमान्द्य का होना सम्भव है, इसलिए अर्श के अनन्तर अग्निमान्द्यादि का निर्देश करते हैं—मन्द इत्यादि। मन्द अग्नि दुर्जय (कष्टसाध्य) होती है, इसलिए सर्वप्रथम उसका उल्लेख किया गया है। कफपित्तानिलाधिक्यात्—अर्थात् कफ की अधिकता से मन्द, पित्त की अधिकता से तीक्ष्ण और वायु की अधिकता से विषम अग्नि होती है। इस तरह योजना करनी चाहिए। तत्साम्यात्—अर्थात् इन कफ आदि तीनों दोषों में समता से समाग्नि होती है। सम अग्नि अविकृत (प्राकृत) होती है, वहीं शरीरस्थ धातुओं को साम्यावस्था में रखती है।। अग्नि की प्राकृतावस्था के ज्ञान के विना उसके वैकृतावस्था का सही ज्ञान नहीं हो सकता है, इसीलिए यहां सम अग्नि का भी उल्लेख किया गया है। जाठरोऽनलः—पाचकाग्नि का धात्वग्नि एवं भूताग्नि से अन्तर बताने हेतु 'जठर' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

अग्नि

मन्दाग्नि	तीक्ष्णाग्नि	विषमाग्नि	समाग्नि
(कफ)	(पित्त)	(वात)	(समदोष)

विकृत अग्नि के प्रभाव (रोग)

विषमो वातजान् रोगाँस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान् ॥ २ ॥

(सु. सू. ३५।२५)

विषम अग्नि वायु के रोगों को, तीक्ष्ण अग्नि पित्त के रोगों को तथा मन्द अग्नि कफ के रोगों को उत्पन्न करती है ॥ २ ॥

अग्नियों के लक्षण

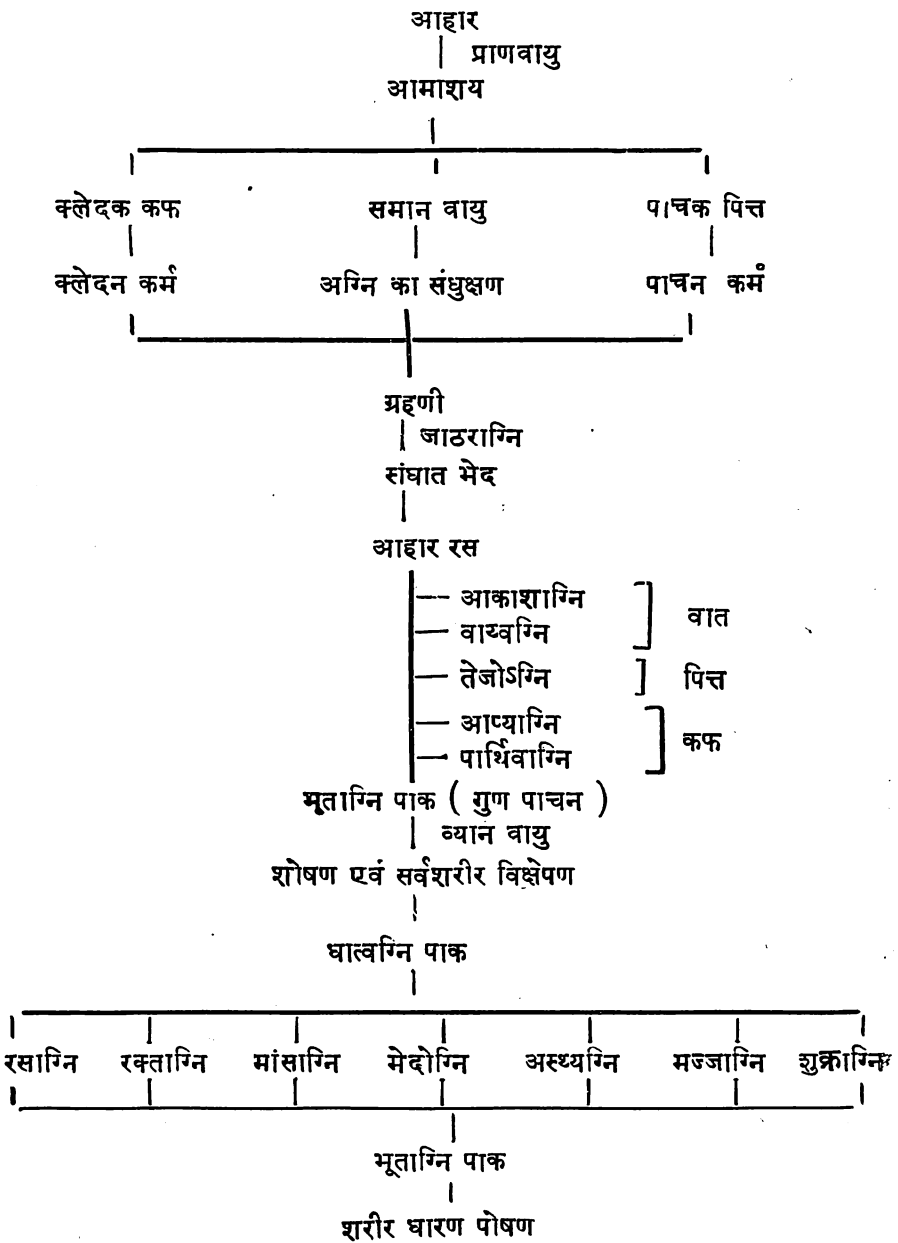
समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ ३ ॥
कदाचित् पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते।
मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात् समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

समाग्नि वाले व्यक्ति की खायी हुई सम (उचित) आहार मात्रा भलीभांति पच जाती है, मन्दाग्नि पुरुष की अल्पमात्रा भी नहीं पचती तथा विषमाग्नि पुरुष का पाचन कभी ठीक हो जाता है, कभी नहीं होता है। भोजन की सम मात्रा या अधिक मात्रा भी जिसका सुखपूर्वक पचन हो जाय, उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं। इन सब में समाग्नि ही श्रेष्ठ है ॥ ३-४ ॥

प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां रूपमाह—विषम इत्यादि। वातजान् रोगानिति वातनानात्मजानामशीतेरन्यतमान्, सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्, एवं पित्तनानात्मजानामोषचोषादीनां चत्वारिंशतोऽन्यतमान्, एवं कफनानात्मजानां विंशतेरालस्यादीनामन्यतमान्। एते च विकाराश्चरके महारोगाध्याय (च. सू. अ. २०) एव द्रष्टव्याः। समेत्यादि। समा उचिता मात्रा आहारस्य; सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः। तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यादिति छेदः। मात्राऽतिमात्रेत्युपलक्षणम्, तेनाजीर्णगुरुभोजनादिकमपि लक्षणीयम्। यदुक्तमन्यत्र—'अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः'—इति। तीक्ष्णग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः। अत्यन्ततीक्ष्णाग्निरेव 'भस्मक' इत्युच्यते। यदुक्तं चरके—

'नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥
तथा लब्धबलो देहं विरुजेत् सानिलोऽनलः।
अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातङ्कान् मृत्युं चोपनयेन्नरम्।
भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥

(च. चि. १५) ॥ २-४ ॥



सरोज व्याख्या—प्रथम श्लोक में सर्वप्रथम मन्दाग्नि का उल्लेख किया गया है, यहाँ भी उसी क्रम से वर्णन होना चाहिए, किन्तु यहाँ पर प्रतिलोमतन्त्रयुक्ति

अर्थात् विपरीत क्रम से उसका लक्षण कहते हैं—विषम इत्यादि । वातजान् रोगान्—वायु से उत्पन्न होने वाले अस्सी नानात्मज[1] रोगों में से कोई एक, इसी प्रकार पित्त के नानात्मज ओषचोषादि चालीस रोगों में से कोई एक तथा कफ के नानात्मज आलस्यादि बीस रोगों में से कोई एक रोग हो सकता है । इन विकारों का नामोल्लेख च० सू० २० महारोगाध्याय में द्रष्टव्य है । समेति—जिसकी सम अर्थात् आहार की उचित मात्रा समय पर भली-भाँति पच जाय, उसे समाग्नि कहते हैं । आहार की सममात्रा के विषय में महर्षि चरक ने बताया है—'यावद्ध्यस्याशितमशनमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति' । (च. सू. ५) अर्थात् आहार की जो मात्रा बिना कष्ट के समय पर पच जाय, उसको ही उस व्यक्ति की मात्रा समझनी चाहिये ।

मात्रातिमात्रेत्यादि—यहाँ मात्रा-अतिमात्रा उपलक्षणमात्र है, इससे अजीर्ण और गुरुभोजन आदि भी समझना चाहिये । जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है—अतिमात्रा भोजन, अजीर्णावस्था में भी भोजन, गुरु पदार्थों का भोजन एवं दिन में सोने वाले को यह सब पच जाय, वह अग्नि उत्तम होती है । तीक्ष्णाग्नि कहने से भस्मक रोग का भी ग्रहण कर लिया जाता है । क्योंकि अत्यन्त तीक्ष्णाग्नि को ही 'भस्मक' कहा जाता है । जैसा कि चरक ने कहा है—जब मनुष्य के शरीर में कफ क्षीण हो जाता है, पित्त कुपित हो जाता है और उस पित्त के साथ में वायु लगी रहती है, तो वह पित्त अग्नि के स्थान में अर्थात् ग्रहणी कला में जाकर अपनी गर्मी से जाठराग्नि को बल देता है, जब जाठराग्नि का बल बढ़ जाता है, तो वह अग्नि (पित्त) और वायु रूक्ष शरीर में अन्न के गुणों को दबाकर शीघ्र ही पचा डालते हैं । अर्थात् अग्नि और पित्त के सहयोग से तीक्ष्ण जाठराग्नि खाए हुए आहार को बार-बार शीघ्र ही पचा डालती है । यदि शीघ्र ही अन्य आहार न मिले, तो अन्न को पचाकर रक्त आदि धातुओं को पचाने लगती है । धातुओं के पचने पर दुर्बलता, अनेक प्रकार के रोग और मृत्यु तक सम्भावित हो जाती है । भोजन करने के बाद कुछ देर के लिये रोगी को शान्ति मिलती है, पर जब शीघ्र ही अन्न का पाचन हो जाता है, तो पुनः रोगी बेचैन हो जाता है । इस प्रकार अग्नि के अधिक बढ़ जाने प्यास की अधिकता श्वास, दाह, मूर्च्छा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं (च. चि. १५।२१७-२२०) ।

---

१. "ये वातादिभिः दोषान्तरासम्पृक्तैः जन्यन्ते ते नानात्मजाः" । अर्थात् जो रोग दोषान्तर व्यवधान रहित केवल वातादि दोषों द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे नानात्मज विकार है । "सामान्यजा इति—वातादिभिः प्रत्येकैः मिलितैश्च ये जायन्ते" । अर्थात् जो वातादि प्रत्येक दोषों के मिलने से पैदा होते हैं, वे सामान्यज है । जैसे—ज्वर, अतिसार आदि ।

अजीर्णनिरूपण

'आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥ ५ ॥'

(सु. सू. ४६।४९९)

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ ६ ॥

कफ, पित्त तथा वायु के प्रकोप से क्रमशः आम, विदग्ध तथा विष्टब्ध नामक अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वान् 'रसशेषाजीर्ण' को चौथे प्रकार का अजीर्ण मानते हैं। कुछ लोगों ने निर्दोष तथा दिन भर में पचने वाले 'दिनपाकी' को पाचवाँ अजीर्ण माना है। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन होने वाले प्राकृत अजीर्ण को छठे प्रकार का अजीर्ण कहते हैं ॥ ५-६ ॥

अग्निमान्द्याजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—आममित्यादि। त्रिभिरिति कफादिभिरेकैकशो यथासंख्येन। रसशेषत इति, रसाय शेषो रसशेषः, प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी, यथा—यूपाय दारु यूपदारु। अथवा 'रसशब्देन रसवानाहारोऽभिप्रेतो लक्षणया, तेन रसशब्देन रसवानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरिणतिलक्षणो रसशेषः' इति जेज्जटः। ननु यद्येवं तदा आमविदग्धविष्टब्धानामन्यतमरूपस्यावश्यम्भावित्वान्न तेभ्यो भेदः; किंच तल्लिङ्गैरम्लोद्गारादिनिर्भवितव्यम्, तथा च सत्युद्गारशुद्धे रसशेषाजीर्णलक्षणस्यानुदयप्रसङ्गः ? उक्तं हि सुश्रुते—'उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य। रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत्प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥ इति (सु. सू. अ. ४६)। आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनोऽप्याह—'उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु, स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम्। मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्राविबृद्धे पुनर्हृल्लासज्वरमूर्च्छनादि च भवेत् सर्वामयक्षाभगम्' इति। नैवम्, अवश्यम्भाविविदग्धादिरूपस्याप्याहारशेषस्यात्यल्पत्वेन न तदनुरञ्जितोद्गारोदयप्रसङ्गः, अकालबुभुक्षायामिव। यदाह सुश्रुतः—'स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति। भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति' (सु. सू. अ. ४६) इति। तन्त्रान्तरेऽप्याहारापाकजरसशेषलक्षणम्—'आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषमथापि च। चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरिपाकतः' इति। गदाधरस्त्वाह—'रसे शेषो रसशेषः, आहारजनिते रसे शेष आहारावयवोऽनुप्रविष्टोऽलक्ष्यमाणः क्षीरे नीरमिव रसशेषः'

इति। ननु, आमाजीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते, आमादित्रयमन्नजं, रसशेषस्त्वाहाररसजः। वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृतः, अल्पत्वाद्वातादिलिङ्गानां, हेतुलक्षणचिकित्साभेदाच्चास्य भेद इति। अजीर्णमिति तद्विरोधे नञ्, जीर्णं पक्वं तद्विरुद्धमजीर्णं; यथा--'असितम्'। सर्वमजीर्णं त्रिदोषजम्, एकदोषव्यपदेशस्तूत्कटैकदोषलिङ्गत्वेनोक्त इति व्याख्यानयन्ति; यतस्त्रैदोषिकमेवाजीर्णकारणमुक्तम्—'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि। अजीर्णादपि दोषत्रयकोपो भवति, यदुक्तं सुश्रुते--'अजीर्णात् पवानादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्' (सु. उ. अ. ४६) इति।

अजीर्णं पञ्चमं केचिदित्यादि। निर्दोषम् आध्मानादिदुष्टेरकारकम्। दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहारः पच्यत इत्युत्सर्गः, यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि। कालव्यतिक्रमेण पच्यमानमप्याध्मानादिकं न करोतीति पूर्वेभ्यो भेदः। एतदभिधानस्य तु प्रयोजनं पाककालप्रतीक्षणं, नैशाजीर्णे भोजननिषेधात्। प्राकृतं प्रतिवासरमिति प्रकृतमवैकारिकं, प्रतिवासरं प्रतिदिनं क्रियमाणम्। अयमभिसन्धिः—अद्यैव भुक्तमन्नं किं जीर्णमजीर्णं वा ? न तावज्जीर्णम्, क्षुत्पिपासामलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुदयात्; तस्मादजीर्णं, तच्चाध्मानादिकं न करोतीति पूर्वेभ्यो भिन्नम्। तस्य चाभिधानप्रयोजनम्—पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा। उक्तं हि सुश्रुते—'भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनसः प्रियान्॥ भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति' (सु. सू. अ. ४६) इति। न चात्राहारस्य निषेधः, तस्य शास्त्रेण विहितत्वात्। चरके तु--'तस्य लिङ्गमजीर्णस्य'—इत्यादिना 'घोरमन्नविषं च' (च. चि. अ. १५) इत्यन्तेनान्नविषाख्यमजीर्णं पठितं; तच्च पित्तादिसंसृष्टरसशेषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते; तेन रसशेष एव तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम्॥ ५-६॥

सरोज व्याख्या—अग्निमान्द्य और अजीर्ण दोनों परस्पर कारण होने से अग्निमान्द्य के पश्चात् अजीर्ण के लक्षण कहते हैं—आममित्यादि। त्रिभिरिति। अर्थात् क्रमशः कफादि तीनों दोषों से आमादि अजीर्ण होते हैं। जैसे कफ से आमाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण और वात से विष्टब्धाजीर्ण होता है। रसशेषतः—रसाय शेषः रसशेषः। इस प्रकार 'यूपाय दारु' के समान प्रकृति विकृति भाव में चतुर्थी तत्पुरुष समास होता है। अर्थात् जैसे यूप (खम्भा) और दारु (लकड़ी) दोनों ही एक वस्तु है, केवल लकड़ी को काटकर थोड़ा परिवर्तन कर देने से यूप (खम्भा) संज्ञा हो जाती है, वैसे ही रस बनने के लिए आहार रस का शेष (अवशिष्ट)

रह जाना ही रसशेषाजीर्ण है अथवा जिसका रस धातु में परिवर्तन न हुआ हो, उसको 'रसशेष' कहा जाता है। इसलिए रसाय शेषः अर्थात् रस बनने के लिए जो शेष रह गया हो, उसे 'रसशेष' कहते हैं अथवा रस शब्द से लक्षणावृत्ति द्वारा रसवान् आहार समझना चाहिए। इसलिए रस शब्द में रसवान् आहार का ग्रहण करके उसका शेष जो रसावस्था में परिणत न हुआ हो, उसे 'रसशेष' कहते हैं। ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है। यहाँ शंका होती है कि यदि रसशेष का यही विग्रह है तो आम, विदग्ध तथा विष्टब्धाजीर्ण में से किसी एक का लक्षण अवश्य मिलने से रसशेष को इनसे पृथक् नहीं माना जा सकता और ऐसा होने पर रसशेषाजीर्ण में इनमें होने वाले अम्लोद्गारादि लक्षण भी होने चाहिएँ तथा कालान्तर में उद्गार शुद्धि हो जाने पर रसशेषाजीर्ण ही नहीं होगा। इसका अभिप्राय है कि रसशेषाजीर्ण जिसको बतलाया गया है उसके अजीर्णावस्था में आमावस्था अथवा विदग्धावस्था अथवा विष्टब्धावस्था—अम्लोद्गार आदि लक्षण अवश्य मिलने चाहिए। कुछ समय पश्चात् उद्गार शुद्धि होने के बाद अजीर्णावस्था शेष न रहने पर रसशेषाजीर्ण के लक्षण नहीं दिखलाई पड़ेंगे; क्योंकि सुश्रुत ने कहा है उद्गार शुद्ध होने पर भी जिसको भोजन की अनिच्छा, हृदय का भारीपन तथा लालास्राव निकलता हो, तो इन लक्षणों से होने वाला रसाय शेष अथवा रसशेष चतुर्थ अजीर्ण होता है। (सु. सू. ४६)। आरोग्यमञ्जरीकार आचार्य नागार्जुन भी कहते हैं कि उद्गार शुद्ध हो जाने पर भी जिसको भोजन आदि में अनिच्छा, मुख का चिकनापन, सन्धियों में पीड़ा और सिर भारी रहे, यह लक्षण रसशेषाजीर्ण की मन्दावस्था के होते हैं, रसाजीर्ण की प्रवृद्धावस्था में सब रोगों के कारण हृल्लास, ज्वर और मूर्च्छा आदि हो जाते हैं ?

इसका समाधान करते हुए विजयरक्षित ने कहा है कि ऐसा नहीं है, इसमें अवश्यम्भावी विदग्ध आदि के आहारशेष के बहुत अल्प लक्षण रहने से आमादि अजीर्ण से होने वाले अम्लोद्गार आदि लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते, जैसे कि अकाल बुभुक्षा में भी वे मालूम नहीं पड़ते। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—'दोष से निबद्ध स्वल्प भी आम लीन न होकर पाचक अग्नि के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, आहार विना पचे भी अजीर्णावस्था में भूख लग जाती है और वह भूख मन्दबुद्धि वाले मनुष्य को विष के समान नष्ट कर देती है (सु० सू० ४६)। तन्त्रान्तर में भी आहार के अपरिपाक से होने वाले रसशेषाजीर्ण का लक्षण कहा गया है कि आहार के अपरिपाक के परिणामस्वरूप आम, विदग्ध विष्टब्ध और रसशेष चार प्रकार के अजीर्ण होते हैं। आचार्य गदाधर ने रसशेष का अर्थ किया है—रसे शेषो रसशेषः। अर्थात् आहार जनित रस में शेष आहार का अवयव इस तरह अलक्षित रूप से अनुप्रविष्ट हो, जैसे कि दूध में पानी, इसी से उसे रसशेष कहा जाता है।

अब प्रश्न होता है कि आम, विदग्ध एवं विष्टब्धाजीर्ण से रसशेष का क्या भेद है? इसका समाधान करते हैं कि आमादि तीनों अजीर्ण अन्नज होते हैं, किन्तु रसशेष आहाररस से उत्पन्न होता है और इसमें वातादि दोषों का व्यपदेश नहीं होता, क्योंकि वातादि दोषों के लक्षण अत्यल्प होते हैं। हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा भेद होने से इसका अन्य अजीर्णों से भेद होता है। अजीर्ण—यहाँ तद्-विरोध में नञ् का प्रयोग हुआ है। पक्व आहार जीर्ण, तथा उससे विरुद्ध जो पक्व न हो, उसे अजीर्ण कहते है। जैसे असित। सित श्वेत होता है, जो श्वेत के विरुद्ध होता है, उसे असित (काला) कहते हैं।

सभी अजीर्ण त्रिदोषज होते हैं, एक दोष का व्यपदेश तो उस दोष की उत्कटता (उल्वणता) का बोधक होता है, ऐसा कहा गया है; क्योंकि अजीर्ण का कारण भी त्रैदोषिक कहा गया है, जैसा कि 'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि आगे के श्लोकों में कहा गया है।

जिस प्रकार त्रिदोष से अजीर्ण होता है, वैसे ही अजीर्ण भी त्रिदोषप्रकोप से होता है, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है--'अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्'-- (सु० सू० ४६)। अर्थात् अजीर्ण से वातादि दोषों का बलवान् विभ्रम हो जाया करता है।

अजीर्णं पञ्चमं केचित् इत्यादि। निर्दोषं---अर्थात् आध्मानादि रोगों के न पैदा करने से निर्दोष कहा गया है। दिनपाकि च—अहोरात्र (चौबीस घण्टे) में आहार पचता है, ऐसा नियम है। जहाँ मात्रा, काल एवं असात्म्य आदि दोषों से दूसरे दिन आहार पचता है, उसे दिनपाकि कहते हैं। काल का व्यतिक्रम होने पर भी उदर में आध्मान आदि नहीं होता है, यही इसका अन्यों से भेद है। इसको कहने का प्रयोजन केवल पाककाल की प्रतीक्षा करना है, क्योंकि नैशाजीर्ण अर्थात् रात्रि में खाया गया भोजन जब तक न जीर्ण (पचा) हो, तब तक भोजन नहीं करना चाहिये।

प्राकृतं प्रतिवासरम्--प्राकृत अर्थात् अवैकारिक हो, प्रतिवासर अर्थात् प्रतिदिन रहता हो। इसकी अभिसन्धि (अभिप्राय) यह है कि आज जो भोजन किया गया, क्या वह जीर्ण हुआ अथवा नहीं! आहार जीर्ण नहीं होता है, क्योंकि आहार पचने पर होने वाले भूख-प्यास, मलोत्सर्ग आदि लक्षण उसमें नहीं मिलते, इसलिए वह अजीर्ण है तथा उसमें पूर्वोक्त अजीर्ण में कहे लक्षण आध्मानादि नहीं मिलते हैं, इसलिए उनसे यह भिन्न है। इस प्रकार के अजीर्ण के निर्देश का प्रयोजन है कि मनुष्य उस भोजन के पचने के लिए वाम पार्श्व से शयन आदि करे। क्योंकि सुश्रुत में कहा गया है कि भोजन के पश्चात् सौ कदम तक टहलना चाहिए, वाम पार्श्व से

लेटना चाहिए तथा मन के अनुकूल शब्दादि विषयों का सेवन करें, ऐसा करने से अन्न ठीक तरह पच जाता है (सु० सू० ४६) ।

चरक में तो 'तस्य लिङ्गमजीर्णस्य'''घोरमन्नविषञ्च तत्' (च० चि० १५) तक अन्नविष नामक अजीर्ण का उल्लेख मिलता है, उसे पित्तादि संसृष्ट रसशेषाजीर्ण समझना चाहिए। रसशेष में उसका अन्तर्भाव होने के कारण उसका पृथक् से निर्देश नहीं किया गया है ।

अग्निमान्द्य

|

अपक्व अन्न

|

अजीर्ण

आमाजीर्ण (कफ)	विदग्धाजीर्ण (पित्त)	विष्टब्धाजीर्ण (वायु)	रसशेषाजीर्ण रसाय शेषो (आहार रस से) रसाय शेषो रसशेषः (विजयरक्षित) रसे-शेषो रसशेषः (गदाधर)	दिनपाकि (चौबीस घण्टे के पश्चात् पाचन हो, निर्दोष)	प्राकृत अजीर्ण (प्रतिदिन हो अवैकारिक)

अजीर्ण का हेतु

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥७॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥ ८ ॥

(सु. सू. अ. ४६।५००-५०१)

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ ९ ॥

(च. चि. २।९)

अधिक जल पीने से, विषमासन से, वेगविधारण (च० चि० २।९) तथा स्वप्नविपर्यय से समय पर भी प्रकृति के अनुकूल एवं हलका खाया हुआ भोजन भी

नहीं पचता। ईर्ष्या, भय, क्रोध से युक्त, लोभी, रोग तथा दीनता से पीड़ित एवं द्वेषयुक्त प्राणी द्वारा सेवन किये हुए आहार का सम्यक् पाक नहीं होता है।

चिन्ता, शोक, भय, क्रोध तथा दुःखकर शय्या के कारण रात्रि जागरण करने से मात्रा पूर्वक खाया हुआ पथ्य भोजन भी नहीं पचता ॥ ६ ॥

अजीर्णकारणमाह--अत्यम्बुपानादित्यादि। संधारणादिति वेगानाम्। स्वप्नविपर्ययात् दिवास्वप्नादेः। लघु चापीति, अपिशब्देन स्निग्धोष्णादि-गुणयुक्तमपि बोध्यम्। केचित् 'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन' इत्यादिश्लोकं पठन्तिः, स च मानसदोषाजीर्णविषयो बोधव्य इति ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—अजीर्ण के कारण कहते हैं--अत्यम्बुपानादित्यादि—अधिक जल पीने से। संधारणात् इति वेगानाम्-क्षुधा, प्यास, पुरीष आदि के वेग को रोकने से। स्वप्नविपर्ययात्—रात्रिजागरण एवं दिवास्वाप से। लघु चापि—स्निग्ध एवं उष्णादि गुणों से युक्त आहार का भी समय से परिपाक नहीं होता। कुछ आचार्य 'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन' इत्यादि श्लोक को 'अत्यम्बुपानाद्' श्लोक से पहले पढ़ते हैं। इस श्लोक को मानसदोष से उत्पन्न होने वाले अजीर्ण का ज्ञापक समझना चाहिए ॥ ६ ॥

आमाजीर्णादि के लक्षण

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे।

(अ. सं. सू. ११।५५, ५७, ५६, ६०-१)

आमाजीर्ण के कारण शरीर में भारीपन, उत्क्लेश (वमन की इच्छा), कपोल तथा अक्षिकूट में शोथ, खाये हुए आहार के समान उद्‌गार तथा अपच होता है। विदग्धाजीर्ण में भ्रम, प्यास, मूर्च्छा, पित्तजन्य अनेक वेदनाएँ (रोग), धूम्र तथा अम्ल के समान उद्‌गार, स्वेद तथा दाह होता है। विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान, वातजन्य अनेक प्रकार की वेदना, मल एवं वायु की अप्रवृत्ति, अङ्गों में स्तब्धता तथा पीड़ा होती है। रसशेषाजीर्ण में अन्न के प्रति विद्वेष, हृदय में अशुद्धि तथा भारीपन होता है ॥

उद्दिष्टानामजीर्णादीनां लक्षणमाह--तत्रेत्यादि। तत्रेति तेषु मध्ये। गण्डः कपोलः, अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलकः, तद्गतः शोथो भवति प्रभावात्।

उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः। अविदग्धोऽनम्लः, द्वितीयपाके ह्याहारस्याम्लता दर्शिता। विदग्ध इत्यादि। पित्ताच्च विविधा रुज इति ओषचोषादयः। सधूमाम्ल इति धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च। विष्टब्ध इत्यादि। विविधा वातवेदना तोदभेदादिरूपा। अङ्गपीडनं सामवातवेदनादि ॥१०-१२॥

सरोज व्याख्या—आमादि अजीर्ण के लक्षण कहते हैं—तत्रेत्यादि। तत्र अर्थात् उन अजीर्णों में से आमाजीर्ण में 'गण्ड' शब्द से कपोल एवं अक्षिकूट से नेत्रगोलक अभिप्रेत है। वहाँ शाथ अपने प्रभाव से होता है। उद्गारश्च यथाभुक्तम्—जैसा मधुरादिरूप भोजन लिया जाता है उसी प्रकार का उद्गार (डकार) आता है। अविदग्ध—अर्थात् अन्न पर अम्लरस का प्रभाव नहीं होता है, जिससे द्वितीय पाक में अहार का अम्लपाक नहीं होता।

विदग्ध इत्यादि—पित्ताच्च विविधा रुजः अर्थात् पित्त से विविध ओष चोष आदि पीड़ाएँ हो जाती हैं। सधूमाम्ल इति—अर्थात् धूएँ के समान उद्गार तथा अम्लोद्गार आता है। विविधा वातवेदनाः—अर्थात् पेट में तोद एवं भेद होता है एवं विविध प्रकार की वात के प्रकोप से होने वाली पीड़ाएँ होती है ॥ १०-१२ ॥

अजीर्ण के उपद्रव

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ १३ ॥

(सु. सू. ४६।५०४)

मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, मुख से लालास्राव, अङ्गावसाद एवं भ्रम अजीर्ण के उपद्रव हैं तथा इनसे मृत्यु भी हो सकती है ॥ १३ ॥

उपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि। अतिप्रवृद्धाजीर्णे तु मरणमपि ॥ १३ ॥

सरोज व्याख्या—अजीर्ण के उपद्रव कहते हैं—मूर्च्छेत्यादि। अतिप्रवृद्धाजीर्णे मरणमपि—अर्थात् अजीर्ण का तीव्र प्रकोप हो जाय, तो रोगी की मृत्यु भी हो सकती है ॥ १३ ॥

अजीर्ण की उत्पत्ति में विशिष्ट हेतु

अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १४ ॥

जो असंयमी मनुष्य पशुओं के समान बिना प्रमाण के अधिक खाते हैं, वे रोग-समूह के मूल अजीर्ण को प्राप्त करते हैं।

उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य विशेषकारणमाह—अनात्मवन्त इत्यादि। अनात्मवन्तो दुष्टमनोयुक्ताः, लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इति। अत एवोक्तं पशुवदिति। रोगानीकस्य रोगसमूहस्य विसूच्यादेः मूलं कारणम् ॥ १४ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त अजीर्ण के कारणों में अतिमात्रा में भोजनविशेष कारण कहा गया है--अनात्मवन्त इत्यादि। अनात्मवन्तः अर्थात् दुष्ट मन वाले लालच वश क्षणिक सुख के लिए, इसलिए पशुवत् ऐसा कहा गया है। रोगानीकस्य-विसूचिका आदि रोगसमूह से मूल कारण होते हैं ॥ १४ ॥

अजीर्ण से विसूचिकादि की उत्पत्ति

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ॥
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ १५ ॥

(सू. उ. ५६।३)

आम, विदग्ध एवं विष्टब्ध नामक जो तीन प्रकार का अजीर्ण कहा गया है, उससे विसूची, अलसक एवं विलम्बिका की उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

अजीर्णसम्भवत्वाद्विसूच्यादीनामजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह--अजीर्णमित्यादि। 'आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथासंख्यं भवन्ति, इति कार्तिककुण्डः। 'तन्न' इति बकुलकरः। यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफवाताभ्यां पठिष्यति, तस्मात्त्रिविधाजीर्णाद्यथासंभवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम्। उक्तं हि---'अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्' इति ॥ १५ ॥

सरोज व्याख्या—विसूच्यादि रोग अजीर्ण से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अजीर्ण के पश्चात् विसूचिका आदि रोगों का लक्षण कहते हैं—अजीर्णमित्यादि। 'आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण एवं विदग्धाजीर्ण इन तीनों में विसूचिका, विलम्बिका एवं अलसक तीनों क्रमशः होते हैं।' ऐसा कार्तिककुण्ड का मत है। इसको आचार्य बकुलकर नहीं मानते, क्योंकि इसी क्रम से इनकी उत्पत्ति मानने पर विलम्बिका की उत्पत्ति विदग्धाजीर्ण से मानी जायगी, जो कि ठीक नहीं है; क्योंकि विलम्बिका कफ और वायुजन्य कहा गया है। अतः विसूचीआदि की उत्पत्ति पूर्वोक्त त्रिविध अजीर्ण से यथासम्भव समझनी चाहिए। कहा भी गया है—अजीर्ण से वातादि दोषों का बलवान् विभ्रम हो जाया करता है।

विसूचिका की निरुक्ति

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १६ ॥
न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ १७ ॥

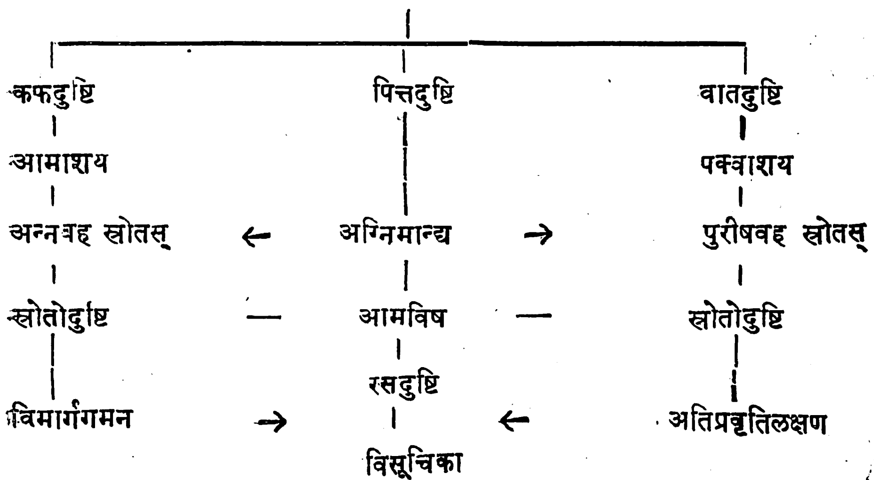
(सू. उ. ५६।४-५)

जिस रोग में अजीर्ण के कारण वायु शरीर में सूईयों के चुभने की सी व्यथा करता है, उसे वैद्य लोग विसूची कहते हैं। आयुर्वेद के ज्ञाता एवं परिमित भोजन

करने वाले पुरुष इस रोग से पीड़ित नहीं होते, किन्तु भोजन के लोभी, मूर्ख एवं इन्द्रियों को वश में न रखने वाले व्यक्ति ही इससे पीड़ित होते हैं ॥ १६-१७ ॥

विसूच्या निरुक्तिमाह्--सूचीभिरित्यादि । (बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन्' इति विसूचीनिरुक्तिः । पाण्डुरोगवत्सूचीभिरिव तोदनं विहायान्येऽपि वेदनाभेदा विविधा भवन्त्येव । यदुक्तं तन्त्रान्तरे--'विविधैर्वेदनैर्वाय्वादेभृ॑-शकोपतः । सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति 'विसूचिका' इति ।) विदितागमा विदितायुर्वेदाः मूढा तज्ज्ञानानभिज्ञाः । अजितात्मानः अजितेन्द्रियाः । अशनलोलुपाः पशुवदप्रमाणभोजिनाः ॥ १६-१७ ॥)

सरोज व्याख्या—विसूचिका रोग की निरुक्ति को कहते हैं--सूचीभिरित्यादि । अर्थात् बाहुल्यात् से वायु ही सूई चुभने के समान 'तोद' (Pricking Pain) को उत्पन्न करता है, इसलिए इसे विसूचिका कहते हैं । पाण्डुरोग में पाण्डुता के अतिरिक्त अन्य लक्षणों की तरह विसूचिका में वातजन्य सूई चुभने की सी व्यथा (तोद) के अतिरिक्त अन्य भी विविध प्रकार की वेदना होती है । जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है--वातादि दोषों के अत्यधिक प्रकोप से विविध प्रकार की वेदना के साथ शरीर में सूई चुभने के समान पीडा से सम्पूर्ण शरीर विंधता सा मालूम पड़ता है । विदितागमाः—आयुर्वेद को जानने वाले, मूढ़ाः—इस ज्ञान से अनभिज्ञ, अजितात्मानः-अजितेन्द्रिय, अशनलोलुपाः—भोजन के लोभी पशु के समान बिना किसी मात्रा के खाते हैं ॥ १६-१७ ॥



(निदानपञ्चक—शिवचरण ध्यानी)

विसूचिका के लक्षण

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः ।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ।। १८ ।।
(सु. उ. ५६।६)

मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, ऐठन, जम्भाई, दाह, विवर्णता, हृदय में वेदना तथा शिरःशूल विसूचिका रोग के लक्षण है । १८ ।।

विसूच्या लक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । वमथुः वान्तिः । शिरसश्च भेदः शिरःशूलम् । अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति सौश्रुताः । सुश्रुते—त्वधोगाया आमातीसारेण ग्रहणम्, ऊर्ध्वगायाश्च छर्द्याः । चरके तु पठ्यते—'ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात्' (च. चि. अ. २) इति । अत ऊर्ध्वगा विसूची भवति, तथाऽधोगाऽपि; चरके आमातीसारस्यापठितत्वात् । चकारादुभयमार्गगाऽपीति व्याचक्षते, ऊर्ध्वगायाश्चापक्वाहारवमनेन त्रिदोषच्छर्दिभ्यो भेद इति मन्तव्यम् ।। १८ ।।

सरोज व्याख्या—विसूचिका के लक्षण कहते हैं—मूर्च्छेत्यादि । वमथुः-वमन । शिरसश्च भेदः-शिरःशूल । विसूचिका में वमन एवं अतिसार दोनों लक्षणों का मिलकर इकट्ठा होना आवश्यक है, क्योंकि सुश्रुत ने अधोग विसूचिका (विरेचन) को आमातिसार एवं ऊर्ध्वग की छर्दि रोग माना है, किन्तु चरक ने कहा है—'ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात् । (च० वि० २) अर्थात् ऊर्ध्वमार्ग या अधोमार्ग से और चकारात् उभय मार्ग से भी आमप्रवृत्ति होने पर 'विसूची' समझना चाहिये । चरक में आमातिसार का उल्लेख नहीं पाया जाता । ऊर्ध्वग विसूचिका में कच्चा ही आहार वमन द्वारा निकलता है, दोषजन्य छर्दिराग से ऊर्ध्वगत विसूचिका का यहीं भेद होता है ।। १८ ।।

अलसक

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति ।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ।। १९ ।।
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि ।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु ।। २० ।।
(सु. उ. ५६।७-८)

जिस रोग में कुक्षि (उदर) अधिक फूल जाय, रोगी मूर्च्छित होता हो तथा आर्तनाद (वेदना से तड़प रहा हो) करता हो, रुका हुआ वायु उदर के उपरिदेश (हृदय, कण्ठ आदि) में घूमता है, अधोवायु एवं मल का पूर्णतया अवरोध हो जाता है तथा रोगी प्यास एवं उद्गार से पीड़ित हो, तो उसे अलसक कहते हैं ।।१९-२०।।

अलसकमाह--कुक्षिरित्यादि। आनह्यते आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात्। प्रताम्येत् मुह्यति पुरुषः, परिकूजति आर्तनादं करोति। निरुद्ध इत्यजीर्णेनाधः प्रतिरुद्धगतिः कुक्षौ वा, तेनोपरि धावति ऊर्ध्वं हृदय-कण्ठादिकं गच्छति। 'अलसक' इति दोषस्थिरत्वनिमित्ता संज्ञा। यदुक्तं तन्त्रान्तरे--'प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः' इति ॥ १९-२० ॥

सरोज व्याख्या—अलसक के लक्षण कहते हैं—कुक्षिरित्यादि। आनाह्यते अर्थात् उदर में आनाह (आध्मान-उदर का फूलना) हो जाता है, मल का विष्टम्भ (अवरोध) होता है, जो आगे कहा गया है। प्रताम्यते---रोगी मूर्छित जाता है, परिकूजति-आर्तनाद (वेदना से चिल्लाना) करता है, निरुद्ध-अजीर्ण के कारण मल का संचय होने पर अधोवायु की गति का अवरोध हो जाता है तो प्रतिलोम होकर वह ऊपर हृदय और कण्ठादि में घूमता है, जिससे उदर भी फूल जाता है। अलसक--यह दोष की स्थिरता को सूचित करने वाला संज्ञा (नाम) है, जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है---"आहार न ऊपर की ओर से निकलता है और न नीचे के मार्ग से निकलता है। आमाशय में अलसीभूत होकर पड़ा रहता है,इसलिए उसे अलसक कहते हैं।"

विलम्बिका

दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥२१॥
(सु उ. तं. ५६।९)

खाया हुआ आहार कफ एवं वायु से दूषित होकर न मुखमार्ग से और न नीचे (गुदमार्ग) से ही निकलता है। इस रोग को आयुर्वेद जानने वाले प्राचीन ऋषि 'विलम्बिका' कहते हैं। यह रोग कष्टसाध्य होता है ॥ २१ ॥

विलम्बिकामाह--दुष्टमित्यादि। भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टमिति सम्बन्धः। भृशं दुश्चिकित्स्यां, प्रत्याख्येयां वर्जनीयामित्यर्थः। ननु अलसक-विलम्बिकयोरुभयोरपि वातकफप्रबलयोरूर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यात् को भेदः ? उच्यते, अलसके तीव्राः शूलादयो भवन्ति, यदुक्तम्--'पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम् ॥ शूलादीन् कुरुते तीव्राँश्छर्द्यतीसारवर्जितान्'-इति ॥ २१ ॥

सरोजव्याख्या--विलम्बिका का लक्षण कहते हैं --दुष्टमित्यादि। भुक्तम्--अर्थात् खाया हुआ भोजन जब कफ एवं वायु से दूषित हो जाता है। भृशदुश्चिकित्स्य अर्थात् अत्यन्त कष्टसाध्य प्रत्याख्येय और वर्जनीय समझना चाहिए। अब

शंका होती है कि अलसक एवं विलम्बिका दोनों वात एवं कफ की प्रबलता से होते हैं दोनों ऊर्ध्व एवं अधो मार्ग से अप्रवर्तनशील होते हैं, दोनों समान धर्म (लक्षण) वाले होते है, तो इनमें भेद क्या है ? इस पर कहते हैं कि अलसक में तीव्र शूल आदि होते हैं। जैसा कि कहा गया है---"अलसक में आमाशयस्थ अन्न वायु द्वारा अत्यन्त पीड़ित और कफ द्वारा आवृत्त होता है, जिसके कारण आहार अलसीभूत होकर शल्य के समान पेट में पड़ा रहता है। इनमें वमन एवं अतिसार नहीं होते, किन्तु अत्यधिक शूल आदि होते हैं।" इसके अतिरिक्त तृष्णा एवं उद्गार भी अलसक में होता है। जबकि विलम्बिका में शूलादि लक्षण भी नहीं होता ॥ २१ ॥

चरक ने शूल की अल्पता और अधिकता मात्र से भेद के कारण ही विलम्बिका को पृथक् नहीं कहा है, किन्तु अलसक के ही तीव्र और असाध्य लक्षणों को दण्डालसक कहा है। 'दण्डालसक' को ही विलम्बिका कहा जा सकता है।

आमज रोग का लक्षण

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ २२ ॥

(सु. उ. तं. ५६।१०)

आम शरीर के जिस भाग में अवस्थित (रुक जाता) है, उसी भाग को रोग समूहों (अनेक विकारों) से पीड़ित करता है। उसमें आमजन्य लक्षण के साथ-साथ उस दोष के लक्षण भी होते है, जिस दोष से शरीर अधिक व्याप्त होता है ॥ २३ ॥

अजीर्णजातान् विसूच्यादीनभिधायाजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह--यत्रस्थमित्यादि। आमं कर्तृ, यत्रस्थं तमेव देशं विशेषण रुजेत्; एतेनान्यदेशेऽपि किंचिद्रुजं करोतीति बोधयति। यत्रेति सर्वनामशब्देन कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येति दर्शितम्। कै रुजेदित्याह—विकारजातैर्विकारसमूहैः। किंभूतैरित्याह—दोषेण येन स्वकारणकुपितेन वातादिनाऽवततं व्याप्तं शरीरम्, तल्लक्षणैः तल्लिङ्गैस्तोददाहगौरवादिभिः, न केवल तैरामसमुद्भवैश्च विकारजातैरपाकालसकादिभिरपि। अनेनैव श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवाताख्यं रोगं गृहीतवान् सुश्रुतः; लक्षणस्य समानत्वादित्याहुः ॥ २२ ॥

सरोज व्याख्या--अजीर्ण से होने वाले विसूचिका आदि के लक्षणों के पश्चात् अजीर्ण से उत्पन्न होने वाले आम के कार्यान्तर लक्षण को कहते है—यत्रस्थमित्यादि। यहाँ 'आमम्' कर्तृपद कर्ता है अर्थात् आम शरीर के जिस देश (भाग) में अवस्थित होता है, विशेष रूप से उसी भाग को पीड़ित करता है। विशेषण पद से

शरीर का अन्य भाग भी थोड़ा पीड़ित प्रतीत होता है, ऐसा प्रतीत होता है। 'यत्र' सर्वनाम शब्द से ज्ञात होता है कि जैसे कुपित वातादि दोष शरीर में इधर-उधर विसर्पण करते रहते है और इनका स्थान अनियत होता है, उसी प्रकार प्रकुपित आम का भी शरीर में नियत स्थान नहीं होता! कैः रुजेत् इत्याह--किनके सम्पर्क में रहकर पीड़ा पैदा करते है ? इसका ऊत्तर दिया है--विकारजातैः अर्थात् विकार समूहों से मिलकर, कैसे विकार समूहों से मिलकर पीड़ित करते है ? दोषेण येनेत्यादि स्वकारण से प्रकुपित होने वाले वातादि दोषों में से जिसके शरीर व्याप्त हो, उस दोष के लक्षण से अर्थात् वायु से तोद, पित्त से दाह एवं कफ से गौरव आदि लक्षणों द्वारा एवं आम से होने वाले अविपाक अलसक आदि लक्षण भी इनके साथ होते है।

इस श्लोक के द्वारा सुश्रुत ने तन्त्रान्तरोक्त 'आमवात' नामक रोग ग्रहण किया है। दोनों के लक्षण समान होते है ॥ २२ ॥

विसूचिका-अलसक का असाध्य लक्षण

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥ २३ ॥

(सु. उ. त. ५६।११)

जिस रोगी के दाँत, ओष्ठ व नख काले हो गये हों, संज्ञा (होश) अल्प हो गया हो, वमन निरन्तर हो रहा हो, जिनके नेत्र अक्षिकूट में धँस गये हो, स्वर क्षीण हो गया हो, तथा जिसके सभी सन्धिबन्धन ढीले हो गये हों वह रोगी सदा के लिए मर जाता है ॥ २३ ॥

विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वलक्षणमाह--य इत्यादि। 'विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वम्' इति जेज्जटः। अल्पसंज्ञो मोहयुक्तः। अभ्यन्तरयातनेत्रः कोटरान्तःप्रविष्टाक्षिगोलकः। सर्वविमुक्तसन्धिः श्लथीभूतसर्वपर्वास्थिसन्धिः। अपुनरागमाय मरणाय ॥ २३ ॥

सरोज व्याख्या—विसूचिका-अलसक के असाध्य लक्षण कहते हैं—य इत्यादि। अब शङ्का होती है कि विलम्बिका का असाध्य लक्षण क्यों नहीं बतलाया गया? इसका समाधान आचार्य जेज्जट ने किया है कि वह तो जन्म एवं स्वरूप (लक्षण) से ही असाध्य है। इसलिए पृथक् से उसके असाध्य लक्षणों को न बतलाया आवश्यक नहीं है। अल्पसंज्ञः—मोहयुक्तः। अभ्यन्तरयातनेत्रः अर्थात् आँखें नेत्रगोलक (नेत्र कोटर) में प्रविष्ट कर जाती है। सर्वविमुक्तसन्धिः—अर्थात् सभी सन्धिबन्धन

ढीले पड़ जाते हैं । अपुनरागमाय—अर्थात् ऐसा व्यक्ति पुनः नहीं आता अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

जीर्ण आहार के लक्षण

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥ २४ ॥

(अ. सं. सू. ११।६९)

शुद्ध उद्गार का होना, उत्साह, मल-मूत्रादि वेगों का यथोचित विसर्जन होना, शरीर में लघुता का अनुभव होना तथा भूख एवं प्यास का सम्यक् प्रकार लगना जीर्णाहार का लक्षण है ॥ २४ ॥

अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—उद्गारेत्यादि । उद्गार-शुद्धिर्धूमाम्लादिरहितत्वम् । उत्साहः शरीरमनसोर्बलम् । उत्सर्गो मलमूत्र-प्रवृत्तिः, वेगसहित उत्सर्गो वेगोत्सर्गः । यथोचित उपयुक्ताहारानुरूपः । लघुता देहस्य, विशेषेण कोष्ठस्येति ॥ २४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामग्निमान्द्याजीर्णविसूचिका-लसकविलम्बिकानिदानं समाप्तम् ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—अजीर्ण की प्रतियोगिता से जीर्णाहार का लक्षण कहते हैं—उद्गारेत्यादि । उद्गारशुद्धिः—अर्थात् जला हुआ एवं खट्टी डकार नहीं आती, प्रत्युत शुद्ध उद्गार आता है । उत्साहः—शरीर एवं मन में बल । उत्सर्गः—मलमूत्र प्रवृत्ति को उत्सर्ग कहते हैं । वेगसहित उत्सर्ग वेगोत्सर्ग होता है । यथोचितः—जितना आहार लिया जाय, उसी के अनुरूप वेगोत्सर्ग होता है । सामान्यतया देह और विशेषरूप से कोष्ठ लघु (हल्का) हो जाता है ॥ २४ ॥

विसूचिका के उपद्रव

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता ।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥ २५ ॥

निद्रानाश, अरति (बेचैनी), कम्पन, मूत्राघात तथा संज्ञानाश—ये विसूचिका के पाँच घोर तथा दारुण उपद्रव है ॥ २५ ॥

अजीर्णजन्य अन्य विकार

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् ।
तन्मूलो रोगसङ्घातस्तद्विनाशाद् विनश्यति ॥ २६ ॥

प्रायः आहार की विषमता से मनुष्यों को अजीर्ण होता है, अधिकांश रोगसमूह की उत्पत्ति का मूल भी अजीर्ण होता है और उसके विनाश से रोग-समूह का भी विनाश हो सकता है ।। २६ ।।

अजीर्ण के सामान्य लक्षण

ग्लानिगौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः ।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ।। २७ ।।

ग्लानि, गौरव, विष्टम्भ, भ्रम तथा पेट में वायु का रुक जाना और विबन्ध या अतिसार होना अजीर्ण के सामान्य लक्षण है ।। २७ ।।

इति श्रीमाधवकरविरचित माधवनिदान में अग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसक-विलम्बिकानिदान समाप्त ।। ६ ।।



सप्तमोऽध्यायः

कृमिनिदानम्

कृमियों का वर्गीकरण

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥ १ ॥
नामतो विंशतिविधाः,

(अ. हृ. नि. १४।४२)

बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से कृमि दो प्रकार के होते हैं। शारीरिक बाह्यमल, कफ, रक्त एवं पुरीष से उत्पत्ति के अनुसार चार प्रकार के होते हैं। ये ही नामों के भेद से बीस प्रकार के होते हैं ॥ १ ॥

'अजीर्णात् क्रिमिसभवः' इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह--क्रिमय इत्यादि। तत्र बाह्याः त्वगुपलेपकबाह्यमलसम्भवाः, आभ्यन्तरा आमाशयादिसम्भवाः, ते देशभेदेन द्वैविध्येनोक्ताः कारणभेदाच्चतुर्धा भवन्तीत्याह--बहिर्मलेत्यादि। बहिर्मलो गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्तः, एवं बहिर्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म तद्भेदात्। त एव चतुर्विधा नामभेदेन विंशतिविधा भवन्ति, विंशत्यतिरिक्ताश्चातिसूक्ष्माः क्रिमयः सहजाश्चरकेणोक्ताः, ते चावैकारिकत्वेन रोगधिकारे नोच्यन्ते, विंशतिविधास्तु क्रिमयो दोषप्रकोपणद्वारेण ज्वरशूलादीन् जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या--अजीर्ण से कृमियों की उत्पत्ति सम्भव है, इसलिए अजीर्ण के अनन्तर क्रिमि रोग का निदान कहते हैं—क्रिमय इत्यादि। तत्र बाह्याः—अर्थात् त्वचा को उपलिप्त करने वाले स्वेद आदि बाह्य मल से उत्पन्न होने कृमि बाह्य होते हैं तथा आमाशय आदि में होने वाले आभ्यन्तर होते हैं। इस प्रकार ये देश (स्थान) भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं, कारणभेद से चार प्रकार के होते हैं। 'बहिर्मलेत्यादि' श्लोक से यह कहा गया है। बहिर्मलो–शरीर को उपलिप्त करने वाला स्वेद आदि पहले कहा गया है। बहिर्मल, कफ, रक्त और पुरीष–इन चारों में जन्मे बहिर्मलादिजन्म कहते हैं, इसलिए इन भेदों से वे चार प्रकार के होते हैं। ये चार प्रकार के कृमि नाम-भेद से बीस प्रकार के होते हैं। बीस के अतिरिक्त भी अतिसूक्ष्म कृमि जो 'सहज' होते हैं, उनका उल्लेख चरकसंहिता में पाया है। चूँकि वे सहज अवैकारिक होते हैं, इसलिए रोगाधिकार में उनका वर्णन नहीं किया गया है। उपर्युक्त बीस कृमिदोषों के प्रकोप के द्वार होने से ज्वर, शूल आदि उत्पन्न करते हैं, इसलिए रोगरूप कहे गये हैं।

कृमियों का वर्गीकरण (आतङ्क दर्पण)

बाह्यमल (२)
यूका, लिक्षा
(आश्रय केश, वस्त्र)

आभ्यन्तर (१८)

कफज (७)	रक्तज (६)	पुरीषज (५)
१. अन्त्राद	१. केशाद	ककेरुक
२. उदरवेष्टन	२. लोमविध्वंस	मकेरुक
३. हृदयाद	३. रोमद्वीप	सौसुराद
४. महागुद	४. उदुम्बर	सशूल
५. चुरव	५. सौरक्ष	लेलिह
६. दर्भकुसुम सुगन्ध	६. मातर	आश्रय-पक्वाशय
आश्रय–आमाशय	आश्रय–रक्तवाहिसिरा	

बाह्य कृमि

बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः ।
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ।। ।। २ ।।
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ।
द्विधा ते कोठपिडिकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ।। ३ ।।

(अ. हृ. नि. १४।४३-४५)

इनमें बाह्य कृमि मल से उत्पन्न होते हैं। उनका प्रमाण, संस्थान एवं वर्ण तिल के समान होता है। ये केश तथा वस्त्रों में रहते हैं। ये बहुत पैरों वाले और छोटे-छोटे होते हैं। यूका एवं लिक्षा इनके दो नाम है। ये चकत्ते, पिण्डिका, कण्डू तथा गण्ड (पिण्डिकाकार कठिन शोथ) उत्पन्न करते हैं ।। २ ।।

उक्तान् बाह्यान् विवृणोति---बाह्या इत्यादि। तिलानामिव प्रमाणं परिमाणम् संस्थानमाकृतिर्वणश्च श्वेतः कृष्णो वा येषां यूकादिरूपाणाम् ते तथा। केशाम्बराश्रया इति अम्बरं वस्त्रम्। बहुपादा इति यूकाः, सूक्ष्मा इति लिक्षाः ।। २-३ ।।

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त बाह्य कृमियों का वर्णन करते हैं---बाह्या इत्यादि। तिलों के बराबर प्रमाण (परिमाण), संस्थान (आकृति) तथा श्वेत या कृष्ण

वर्ण उन यूका आदि कृमियों का होता है। केशाम्बराश्रयाः---केश एवं अम्बर (वस्त्र) उनके आश्रय हैं। बहुपाद यूका जुएँ होती है तथा लिक्षा (लीख) छोटी-छोटी होती हैं ॥ ३ ॥

आभ्यन्तर कृमियों का हेतु

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता ।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु ॥ ४ ॥

अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से, मधुर एव अम्ल पदार्थो का नित्य सेवन करने से, द्रवयुक्त पदार्थों के प्रेमी, पिष्ठान्न एवं गुड़ के सेवन से, व्यायाम न करने से, दिवाशयन तथा विरुद्ध भोजन करने से, क्रिमि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

तेषां निदानमाह—अजीर्णेत्यादि। अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी। मधुराम्लनित्यः सततमधुराम्लभोजी। विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—अब इनका निदान कहते हैं---अजीर्णेत्यादि। अजीर्ण की अवस्था में भोजन करने की आदत जिसे हो, उसे 'अजीर्णभोजी' कहते हैं। मधुराम्लनित्यः---सतत् (निरन्तर) मधुर एवं अम्ल पदार्थों का सेवन करने वाला। विरुद्ध अर्थात् क्षीर और मछली आदि विरुद्ध भोजन का सेवन करने वाला ॥ ४ ॥

आभ्यन्तर कृमियों के विशिष्ट हेतु

माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः ।
मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः ॥ ५ ॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ।

(सु. उ. ५४।१७, १८-१)

उड़द, पिष्ठान्न, अम्ल, लवणरस, गुड़ तथा शाक के सेवन से पुरीषज कृमि, मांस, मछली, गुड़, क्षीर, दही एवं सिरके के सेवन से कफज कृमि तथा विरुद्ध भोजन, अजीर्ण काल में भोजन करने एवं शाक आदि खाने से रक्तज कृमि उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

क्रिमिविशेषे निदानविशेषमाह—माषेत्यादि ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—कृमिविशेष में विशेष निदान कहते हैं—माषेत्यादि। पुरीषज कृमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं। इक्षुरस को कालान्तर में अम्लीभूत स्वरूप को शुक्त (सिरका) कहा जाता है। कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं। शोणितज कृमि रक्तवाही सिराओं उत्पन्न होते हैं। अपक्व (कच्चा) हरित चना आदि शाक के सेवन से रक्तज कृमि होता है ॥ ५ ॥

आभ्यन्तर कृमियों का सामान्य लक्षण

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम् ।
(सु. उ. ५४।१८)

ज्वर, विवर्णता, शूल, हृद्रोग, अंगों की शिथिलता, भ्रम, भोजन में अरुचि तथा अतिसार का होना कृमिरोग का सामान्य लक्षण है।

आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह—ज्वर इत्यादि ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—शरीर में श्यामवर्ण एवं पीतवर्ण आदि का होना विवर्णता कहा जाता है। आमाशय एवं पक्वाशय में शूल होता है, हृदयविकार एवं हल्लास आदि को हृद्रोग कहते हैं। भक्तद्वेष को भोजनविद्वेष कहा जाता है ॥ ६ ॥

कफज कृमि

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद् गण्डूपदोपमाः ।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान् ।
(वा. नि. १४।४७-५०)

कफ से होने वाले कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं, जब वे बढ़ते हैं, तो सब ओर चलने लगते हैं। इनमें से कुछ चमड़े की मोटी तांत के समान चपटे, कुछ केंचुए की तरह लम्बे-गोल तथा कुछ उगते हुए धान्य (चना आदि) के अंकुर के समान छोटे या पतले, लम्बे सूक्ष्म होते हैं। इनका वर्ण श्वेत या लाल होता है। इनके सात नाम इस प्रकार है—(१) अन्त्राद, (२) उदरावेष्ट, (३) हृदयाद, (४) महागुद, (५) चुरु, (६) दर्भकुसुम एवं (७) सुगन्ध। ये कृमि हृल्लास (मिचली), लालास्राव, अविपाक, अरुचि, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक एवं प्रतिश्याय करते हैं ॥

कफजानाह—कफादित्यादि। कफनिमित्ताः क्रिमयो ये त्वामाशये जायन्ते ते च वृद्धाः सन्तः सर्वत ऊर्ध्वमधश्च सर्पन्ति; एवं पुरीषजादिषु द्रष्टव्यम्। ब्रध्नः चर्मलता, ब्रध्नीति लोके, रूढं प्ररूढम्। तनवः परिणाहेन,

दीर्घा आयामेन, अणवः उभाभ्यामपि स्वल्पाः। ते इति कफजाः। सप्त नामानि विवृणोति—अन्त्रादा इत्यादि। एते च नामविशेषाः केचित्सान्वयाः केचिन्निरन्वया व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यैः प्रणीताः; एवं वक्ष्यमाणेष्वपि बोध्यमिति ॥

सरोज व्याख्या—कफज कृमियों के लक्षण कहते हैं—कफादित्यादि। कफ निमित्त से होने वाले कृमि जो आमाशय में उत्पन्न हो जाते हैं, वे बढ़कर ऊपर-नीचे सर्वत्र फैलते हैं। इसी तरह पुरीषज आदि कृमियों में समझना चाहिए। ब्रध्न-चर्मलता (चमड़े की पेटी-ताँत) के समान चपटा एवं लम्बा। रूढ़—कुछ धान्य अङ्कुर के समान तनु (छोटे या पतले) तथा दीर्घ (लम्बे) होते हैं। अणवः—कुछ लम्बाई-चौड़ाई में छोटे होते हैं। वे कफज कृमि सात प्रकार के होते हैं—अन्त्राद आदि। ये जो सात नामविशेष है, उनमें कुछ सान्वय एवं कुछ निरन्वय होते हैं अर्थात् कुछ नाम सार्थक है और कुछ नाम पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहार के लिये प्रणीत हैं। इसी प्रकार रक्तज एवं पुरीषज कृमियों के नाम के सम्बन्ध में समझना चाहिए ॥

रक्तज कृमि

रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥ १२ ॥

(अ. हृ. नि. १४।५१-५२)

रक्तवाही शिराओं में रक्तज कृमियों का स्थान (आश्रय) होता है, ये कृमि अतिसूक्ष्म, पादरहित, गोल तथा ताम्रवर्ण के होते हैं। इनमें से कुछ इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों से दिखाई नहीं पड़ते हैं। ये संख्या में छः है—(१) केशाद (२) रोमविध्वंस, (३) रोमद्वीप, (४) उदुम्बर, (५) सौरस तथा (६) मातृ। ये कृमि कुष्ठकारक होते हैं।

रक्तजानाह—रक्तेत्यादि। रक्तवाहिसिरास्थानाश्च ते रक्तजाश्चेति रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजाः; अथवा रक्तवाहिसिरास्थानं यद्रक्तं तज्जाः। नामभेदात्ते षट्, तत्र केशादादयश्चत्वारः, सहसौरसनाम-मातृनामभ्यां क्रिमिभ्यां वर्तन्त इति सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति। कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कर्म कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनका इति यावत्। उक्तं हि सुश्रुते—सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि चोपदिश्यन्ते' इति (सु. नि. अ. ५) ॥ ११-१२ ॥

सरोज व्याख्या--रक्तज कृमियों का लक्षण कहते हैं--रक्तेत्यादि। रक्तवाही सिराओं में निवास करने वाले कृमि को 'रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजाः' कहा जाता है। अथवा रक्तवाही सिराओं में जो रक्त होता है, उसमें उत्पन्न होने वाले कृमि को 'रक्तज कृमि' कहा जाता है। रक्तज नामभेद से छः प्रकार के होते हैं--केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर चार ये और सौरस तथा मातृ ये दो--इस प्रकार कुल छः होते हैं। कुष्ठकर्माणः—अर्थात् कुष्ठजनक (कुष्ठ उत्पन्न करने वाले) होते हैं। सुश्रुत में कहा गया है—सभी कुष्ठ वातयुक्त, कफयुक्त और कृमियुक्त होते हैं॥

(सु. नि. ५।६)

पुरीषज कृमि

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः।
प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः॥ १३॥
तदाऽऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः॥ १४॥
ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः।
सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि॥ १५॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः॥ १६॥

(अ. हृ. नि. १४।५३-५६)

इति माधवकरविरचिते माधवनिदाने क्रिमिनिदानं समाप्तम्॥ ७॥

पुरीषजकृमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं। गुदमार्ग के द्वार बाहर निकलते हैं। ये जब बढ़ते हैं और आमाशय की ओर जाते हैं, तो रोगी के उद्गार तथा श्वास में पुरीष की गन्ध आने लगती है। ये क्रिमि चिपटे, गोल, पतले, मोटे श्याव[1], पीले, सफेद एवं काले होते हैं। ये कृमि (१) ककेरुक (२) मकेरुक (३) सौसुराद (४) सशूल (५) लेलिह--इन नामों से पाँच प्रकार के होते हैं। ये विमार्गगामी होने पर मलभेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रूक्षता, पाण्डुता, रोमाञ्च, अग्निमान्द्य तथा गुदा में कण्डू उत्पन्न करते हैं॥ १३-१६॥

पुरीषजानाह—पक्वाशय इत्यादि। अधोविसर्पिण इति विसर्पणं गतिः, गुदनिःसरणशीलाः, ते यदाऽतिवृद्धाः सन्त आमाशयोन्मुखा भवेयुस्तदाऽस्य

१. ईषत् पीतश्वेताः, असिताः, कृष्णाः (आ. द.)।

रोगिण उद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः पुरीषगन्धयुक्ता भवन्तीति योज्यम्। शेषं सुबोधम् ॥ १३-१६ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

सरोज व्याख्या---पुरीषज कृमि का लक्षण कहते हैं--पक्वाशय इत्यादि। अधोविसर्पिणः---अर्थात् अधोमार्ग (गुदामार्ग) से निकला करते हैं। वे ही जब अधिक बढ़ जाते हैं, तो आमाशय की ओर जाते हैं, तब रोगी के उद्गार एवं निःश्वास एवं पुरीष से गन्ध आता है। शेष सुबोध है। इनका वर्ण श्याव और असित बतलाया गया है। 'श्याव' का अभिप्राय ईषत् पीतश्वेत एवं 'असित' का अर्थ कृष्णवर्ण समझना चाहिए ॥ १३-१६ ॥

इति श्री माधवकरविरचित माधवनिदान में
क्रुमिनिदान समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

पाण्डुरोग-कामला-कुम्भकामला-हलीमकनिदानम्

पाण्डुरोग के भेद

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः॥ १॥

(च. चि. १६।३)

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा मृत्तिकाभक्षणजन्य भेद से पाण्डुरोग पाँच प्रकार का होता है ॥ १ ॥

पुरीषजाः क्रिमयः सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह—पाण्डुरोगा इत्यादि। पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः। चरके अष्टोदरीयाध्याये 'पञ्च पाण्डुरोगाः' (च. सू. अ. १९)—इत्यभिधायापि 'पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च' (च. चि. अ. १६) इति यदेतत्पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, न तु पञ्चोन्मादेष्विव सान्निपातिकस्यासाध्यत्वम्—इति जेज्जटः; 'न्यूनसंख्यावच्छेदार्थम्' इति चक्रः। ननु सुश्रुते हि मृत्तिकाजो न पठितः; मृत्तिकाऽपि दोषप्रकोपद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति; यदुक्तम्—कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्' (च. चि. अ. १६) इति; निदानभेदाच्च रोगभेदे रोगानन्त्यप्रसङ्गः, वातजस्यापि रूक्षशीताद्यनेकवातनिदानकुपितवातजन्यत्वात्? उच्यते; दोषजत्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्रतिपादनार्थं पृथगभिधानम्, मूत्रान्त्रवृद्धिवत्; सुश्रुतेन तु 'पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिः' इत्यभिप्रायेण न पृथक्कृतः। चिकित्सा तु दोषचिकित्सयाऽपि भवतीति॥ १॥

सरोज व्याख्या—सूक्ष्म पुरीषज कृमि पाण्डुता उत्पन्न करते हैं, इसलिए कृमिरोग के अनन्तर पाण्डुरोग का वर्णन करते हैं—पाण्डुरोगा इत्यादि। 'पाण्डुत्वेन उपलक्षितः रोगः पाण्डुरोगः'। अर्थात् शरीर में पाण्डुवर्ण के लक्षण दिखलाई पड़ने से ही पाण्डु रोग का ज्ञान हो जाने के कारण इसे पाण्डुरोग कहा गया है।

चरक सूत्र अठारह अष्टोदरीयाध्याय में पञ्चविध पाण्डुरोग का उल्लेख होने से पाँचों प्रकार के पाण्डुरोग की साध्यता का बोध होता है। आचार्य जेज्जट का मत है कि पञ्च उन्माद में सान्निपातिक उन्माद की तरह सान्निपातिक पाण्डुरोग की असाध्यता स्पष्ट है। चक्रपाणि का कथन है कि पाण्डु रोग पाँच ही होते हैं। न्यूनता के

व्यवच्छेद के लिए दोनों स्थान पर पाँच कहा गया है। अब यहाँ शङ्का होती है कि सुश्रुत में मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डु के पाँचवें भेद को नहीं माना गया है, क्योंकि मिट्टी भी दोषप्रकोप द्वारा ही पाण्डु रोग को उत्पन्न करती है, जैसा कि कहा गया है—'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्' । (च. चि. १६) । इसके अतिरिक्त यदि निदान-भेद से रोगभेद किया जायगा, तो रोग अनन्त हो जायेंगे, वात के ही रूक्ष, शीत आदि अनेक प्रकोपक कारण होंगे ? इसका समाधान किया है कि यद्यपि मिट्टी द्वारा प्रकुपित होने वाले दोष पृथक् (विशेष) नहीं है, किन्तु विशिष्ट रूप से चिकित्सा-प्रतिपादन के लिए यहाँ मृत्तिकाजन्य पाण्डु का पृथक् निर्देश किया गया है। अर्थात् यहाँ मृत्तिकाजन्य पाण्डु में दोषशामक चिकित्सा के साथ-साथ निदानपरिवर्जन भी अपेक्षित है। जैसे वातज अन्त्रवृद्धि एवं वातज मूत्रवृद्धि में वात की प्रधानता होने पर चिकित्साजन्य विभिन्नता होने से पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। सुश्रुत ने पाण्डुरोग को पराधिकार अर्थात् कायचिकित्सकों के अधिकारक्षेत्र का रोग कहकर विस्तार से इसका पृथक् से उल्लेख नहीं किया है। इसकी चिकित्सा तो दोषशामक चिकित्सा से भी हो जाती है ॥ १ ॥

विमर्श—पाण्डु शब्द 'पडि गतौ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'गति' होता है, किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार 'पडि नाशने' धातु में 'कु' प्रत्यय लगाने से इसकी सिद्धि होती है। दूसरी व्याख्या अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ती है, क्योंकि इस रोग में त्वचा का प्राकृतिक वर्ण विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार वैवर्ण्य या त्वचा के प्राकृतिक वर्ण के परिवर्तन को पाण्डुरोग कहा जाता है—"सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः । वैवर्ण्यं भजते" । (च. चि. १६)

पाण्डुवर्ण से तात्पर्य हल्का पीतवर्ण अथवा केतकी पुष्प के पराग के सदृश रङ्ग से होता है—"पाण्डुस्तु पीतभागार्धं केतकीधूलसन्निभः" । (शब्दार्णव) । आयुर्वेदीय संहिताओं के टीकाकार चक्रपाणिदत्त, डल्हण एवं अरुणदत्त ने पाण्डुवर्ण के लिये श्वेताभ, पीताभ, धूसर एवं म्लान शब्द का प्रयोग किया है। विलियम मोनियर ने इस हेतु पैलर (Pallor) शब्द का प्रयोग किया है।

महर्षि चरक के अनुसार वर्ण का क्षय होने पर त्वचा का वर्ण पाण्डुवर्ण हो जाता है। त्वचा की पाण्डुता अथवा पाण्डुवर्णता अथवा पीत रंग पाण्डु रोग का लक्षण होता है—

'पाण्डुवर्णाधिक्यात् सर्वे एव पाण्डुरोगाः प्रोच्यन्ते ।'

(सु. उ. ४४।३ डल्हण की व्याख्या)

'पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः' । (विजयरक्षित)

पाण्डुरोग का कारण एवं सम्प्राप्ति

व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ।। २ ।।
(सु. उ. तं ४४।३)

अधिक व्यायाम करने से, अम्ल, लवण पदार्थों का अति सेवन करने से, अत्यधिक मद्य सेवन करने से, मिट्टी खाने से, दिन में सोने से एवं मिर्च मसाला आदि तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित हुआ दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पाण्डुरता उत्पन्न करता है ।। २ ।।

संप्राप्तिमाह—व्यायाममित्यादि । रक्तमित्युपलक्षणं; तेन 'त्वङ्मांसमपि' दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितम्, हारीतेन 'रसोऽपि' इति ।। २ ।।

सरोज व्याख्या—पाण्डु रोग की सम्प्राप्ति कहते हैं—व्यायाममित्यादि । 'यहाँ पर रक्त उपलक्षणमात्र है, इससे त्वचा एवं मांस भी दूषित होते हैं'—ऐसा दृढ़बल का मत है । हारीत ने रस को भी दूष्य माना है ।

विमर्श—अधिक मात्रा में मद्य एवं तीक्ष्ण पदार्थों का अधिक दिनों तक सेवन करने से यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis) एवं आमाशय की कलाओं में क्षोभ होकर शोथ एवं व्रण हो जाता है, जिससे विटामिन बी की निर्माणप्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न होकर पाण्डुरोग पैदा हो जाता है । अत्यधिक लवण का सेवन करने से पित्त और कफ की वृद्धि हो सकती है, जो एक दूसरे के विपरीत (Antagonistic) है, इस से अम्लपित्त पैदा हो सकता है, जो अधिक दिन रहने पर आमाशय की कलाओं में शोथ उत्पन्न कर पाण्डुरोग का कारण बन सकता है ।

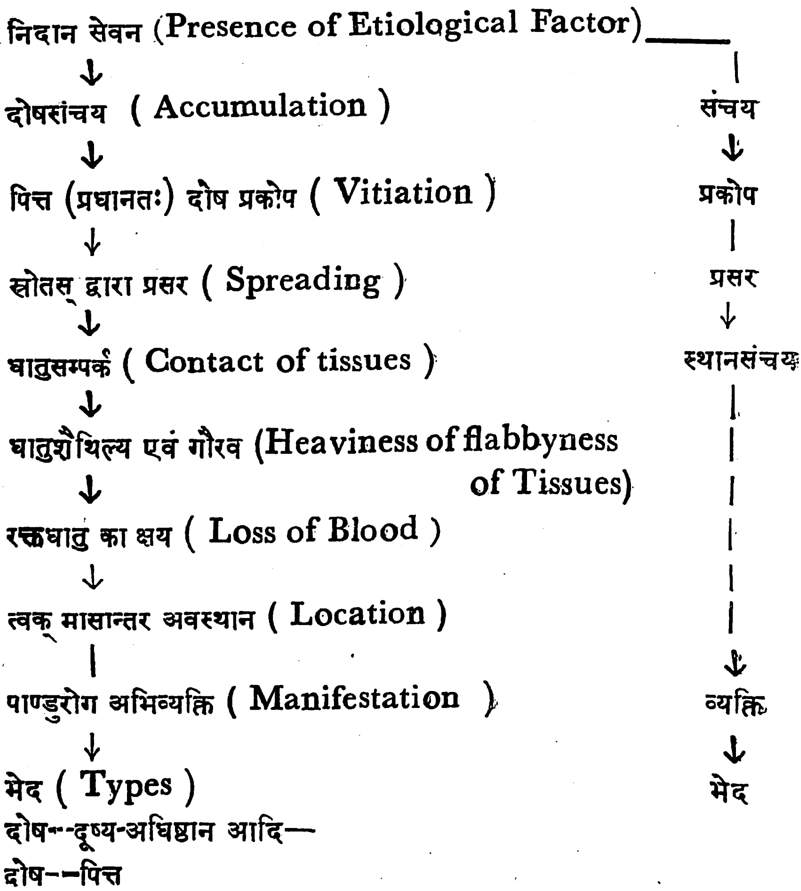
महर्षि चरक ने कहा है कि पित्तप्रधान दोष स्वप्रकोपक कारणों से (विशेषकर आहार-विहार एवं निदानार्थकर रोगों से) धातुओं में प्रकुपित हो धातुओं को दूषित कर धातुशैथिल्य उत्पन्न करते हैं, तब शरीर की धातुओं के स्वरूप तथा व्यापार में शैथिल्य हो जाने से धातुगौरव उत्पन्न होता है । दल, वर्ण, स्नेह तथा ओज के गुणों का अधिक क्षय हो जाता है । इस प्रकार इन धातुओं के गुणों के क्षीण हो जाने पर रोगी के शरीर में रक्त की अल्पता, मेद की अल्पता, ओज की हीनता और इन्द्रियों की शिथिलता हो जाया करती है और शरीर का वर्ण विकृत हो जाता है ।[1]

---

१. दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।
शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ।।
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ।। (च. चि. १६)

महर्षि चरक ने वैवर्ण्य की विस्तृत सम्प्राप्ति बतलाते हुए कहा है कि जब समुदीर्ण पित्त हृदय में समवस्थित होता है तथा बली वायु उसे वहाँ से निकालकर धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में प्राप्त करता है, तब वह पित्त त्वक् एवं मांस के मध्य स्थित हो तथा कफ, वात, रक्त, त्वक् तथा मांस को प्रदूषित कर त्वचा में पाण्डु, हरिद्र हरित तथा अन्य बहुविध वर्णों को उत्पन्न करता है। इस विकार को पाण्डुरोग कहते हैं।[1]

चरकोक्त पाण्डु रोग की सम्प्राप्ति



दोष--दूष्य-अधिष्ठान आदि—

दोष--पित्त

---

१. समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्।
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश।
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्।
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्॥
पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि॥ (च. चि. १६)

दूष्य--रक्त, मांस, मेद, ओज।
स्रोतस्--रक्तवह एवं रसवह।
स्रोतोदुष्टि—सङ्ग
अधिष्ठान—त्वक्

उपर्युक्त चरकोक्त सम्प्राप्ति में हृदयस्थ पित्त पाण्डुरोग का कारण बताया गया है। हृदय में स्थित पित्त, साधकपित्त कहलाता है, जो बुद्धि, मेधा, अभिमान एवं उत्साह अभिप्रेत अर्थ को सिद्ध करता है। इसलिए पांडु रोग के प्रकरण में हृदयस्थ पित्त से अभिप्राय रञ्जक पित्त से है, जो रस के साथ आमाशय, यकृत् एवं प्लीहा से हृदय में आता है और रस एवं रक्त के साथ हृदय की रसधमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में संचरण करता है। साधक पित्त कभी भी सम्पूर्ण शरीर में संचरण नहीं करता। यह अपना कार्य हृदयस्थ होकर ही करता है। अतः यहाँ पित्त से रंजक पित्त का ही ग्रहण करना चाहिए।

रसप्रदोषज विकार—चरक एवं सुश्रुत दोनों आचार्यों ने पाण्डु रोग को रस-प्रदोषज विकार माना है, किन्तु पाण्डु रोग की सम्प्राप्ति का उल्लेख करते हुए रक्तविकार कहा है। उपर्युक्त परस्परविरोधी कथन से शंका पैदा होती है, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि रस धातु का ठीक तरह से निर्माण न होने के कारण अग्रिम धातु रक्तनिर्माण की प्रक्रिया दूषित होकर पाण्डुरोग होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डुरोग में दूष्य प्रमुख रूप से रक्त के होते हुए भी विकृति सर्व-प्रथम रस धातु में होती है, इसलिए पाण्डुरोग को रसप्रदोषज विकार कहा गया है। रस ही रक्त का पोषक है, अतः पोषक रसधातु के निर्माण में न्यूनता होने से पोषणोपादान की न्यूनता से रक्ताल्पता हो जायगी।

पाण्डु रोग एवं कामला में भेद पर विचार किया जाय, तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है। पाण्डु रोग में रक्तक्षय दूषित रक्तनिर्माणप्रक्रिया के कारण होता है और कामला में रक्तक्षय रक्तकणिकाओं के विनाश से होता है।

सन्तर्पणजन्य विकार—महर्षि चरक ने पाण्डु रोग को सन्तर्पणजन्य व्याधि कहा है—'प्रमेहपिडिकाकोठकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः'। (च. सू. २३.५)

अत्यधिक मात्रा में असंतुलित आहार लेने पर भी पाण्डुरोग हो सकता है, क्योंकि असंतुलित आहार में गुरु द्रव्य होते हुए भी उसमें विटामिन, प्रोटीन्स एवं खनिज द्रव्यों का अभाव होता है, जो कि पाण्डु रोग का प्रमुख कारण माना जाता है।

पूर्वरूप

त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥

(सु. उ. तं. ४४।५)

त्वचा फटना, ष्ठीवन (थूकना), शरीर में शिथिलता, मिट्टी खाने की इच्छा, अक्षिगोलक में शोथ, मल एवं मूत्र का पीला होना तथा भोजन का परिपाक न होना पाण्डुरोग का पूर्वरूप है ॥ २ ॥

पूर्वरूपमाह—त्वगित्यादि। त्वक्स्फोटनं त्वचः किंचिद्विदरणम्। मृद्भ्क्षणं मृद्भक्षणेच्छा। प्रेक्षणकूटशोथः अक्षिगोलकशोथः। अविपाक आहारस्य। पुरःसराणि पूर्वरूपाणि ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—पाण्डु रोग का पूर्वरूप कहते हैं—त्वगित्यादि। त्वक्स्फोटन अर्थात् त्वचा कुछ फट जाती है। मृद्भक्षणम्—रोगी को मिट्टी खाने की इच्छा होती है, प्रेक्षण कूटशोथ—अक्षिगोलक में शोथ हो जाता है। अविपाक आहारस्य—आहार का ठीक ढंग से परिपाक नहीं होता है। पुरःसराणि—अर्थात् पाण्डुरोग के ये पूर्वरूप होते हैं।

चरक एवं वाग्भट ने पाण्डु रोग के पूर्वरूप में हृदयस्पन्दन का भी उल्लेख किया है—'तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥ (च. चि. १६) प्राग्रूपमस्य हृदयस्पन्दनं रूक्षता त्वचि। अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता' ॥ (अ. हृ. नि. १३) ॥ ३ ॥

वातिक पाण्डुरोग

त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता।
वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः ॥ ४ ॥

वातिक पाण्डु रोग में त्वचा, मूत्र और नेत्रादि रूक्ष, कृष्ण तथा अरुण वर्ण के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर में तोद (पीड़ाभेद), कम्पन, अनाह (उदराटोप) एवं भ्रम आदि हो जाता है ॥ ४ ॥

वातिकलक्षणमाह—त्वमित्यादि। अत्र कृष्णारुणाभता न पाण्डुतामतिक्रामति, अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावः। उक्तं च सुश्रुते—'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः' (सु. उ. अ. ४४) इति। भ्रमादय इति आदिशब्देन भेदशूलादीनां ग्रहणम् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—वातिक पाण्डुरोग का लक्षण कहते हैं,—त्वगित्यादि। यहाँ कृष्ण वर्ण अथवा अरुणवर्ण पाण्डुवर्ण का अतिक्रमण नहीं करता है, अर्थात् उसको दबा नहीं सकता, पाण्डुता का अतिक्रमण हो जाने पर पाण्डु रोग का होना सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है—'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः'। (सु. उ. ४४) अर्थात् इन सब दोषों के लक्षणों की अपेक्षा पाण्डुभाव अधिक होता है, इसलिए इसे पाण्डु रोग कहते हैं। भ्रमादयः—यहाँ पर आदि शब्द से भेद, शूल आदि का ग्रहण करना चाहिए।

चरक एवं वाग्भट ने भी अधिकांशतः उपर्युक्त लक्षण माना है। सुश्रुत ने कहा है—

कृष्णेक्षणं कृष्णसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च ।
वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥

(सु. उ. ४४)

पैत्तिक पाण्डुरोग

पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः ।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥ ५ ॥

पैत्तिक पाण्डुरोग में मल-मूत्र-नेत्रों का पीला होना, दाह, तृष्णा तथा ज्वर होता है। इसके अतिरिक्त अतिसार तथा रोगी का वर्ण अत्यन्त पीला हो जाता है ॥ ५ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह--पीतेत्यादि। ननु, पित्तपाण्ड्वामयीति न युक्तम्, पाण्डुरोगस्य पित्तकार्यत्वादेव। उच्यते, इतरदोषासंश्लिष्टप्रबलपित्तजन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानम्, यथा--पैत्तिकरक्तपित्तमिति ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक पाण्डु रोग के लक्षण कहते हैं—पीतेत्यादि। यहाँ शंका की गयी है कि सभी पाण्डु पित्तजन्य होते हैं, अतः पैत्तिक पाण्डु रोग की पृथक् गणना करना उपयुक्त नहीं है ? इसका उत्तर दिया है कि यद्यपि यह ठीक है, तथापि अन्य दोषों के अनुबन्ध (सम्पर्क) से रहित प्रबल पित्त से उत्पन्न होने के कारण पैत्तिक पाण्डु रोग का उल्लेख किया गया है। जैसे पैत्तिक रक्तपित्त का निर्देश किया गया है ॥ ५ ॥

श्लैष्मिक पाण्डुरोग

कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवे ।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः ॥ ६ ॥

श्लैष्मिक पाण्डु रोग में मुख से कफ का स्राव, शोथ, तन्द्रा, आलस्य, गौरव (भारीपन) हो जाता है त्वक्-मल-मूत्र एवं मुख श्वेत हो जाता है ॥ ६ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह--कफप्रसेकेत्यादि। कफाद्यः पाण्डुरोगी स शुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैरुपलक्षित इति योज्यम् ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या--श्लैष्मिक पाण्डु रोग के लक्षण कहते हैं--कफप्रसेकेत्यादि। कफप्रयोग से जो पाण्डु रोग होगा उसकी त्वचा, मूत्र, नेत्र, मुख आदि सफेद हो जाते हैं। ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए ॥ ६ ॥

सान्निपातिक पाण्डु रोग

ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

त्रिदोष प्रकोप से उत्पन्न पाण्डु रोग में ज्वर, आरोचक, मिचली, वमन, तृष्णा तथा क्लम होता है। रोगी क्षीण हो जाता है, इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है, ऐसा रोगी चिकित्साहेतु त्याज्य (असाध्य) होता है ॥ ७ ॥

सान्निपातिकस्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वेन उक्तवातजादिलक्षणैरेव बोद्धव्यः। उक्तं हि चरके--'सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्' (च. चि. अ. १६) इति। तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह--ज्वरारोचकेत्यादि। हतेन्द्रियः स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥ ७ ॥

उपर्युक्त लक्षण त्रिदोषज पाण्डु रोग के असाध्य लक्षण हैं; क्योंकि मूल श्लोक में त्रिदोषज पाण्डुरोग के लक्षण नहीं बतलाये गये हैं। इस सम्बन्ध में विजयरक्षित ने कहा है कि पूर्वोक्त वातादिजन्य पाण्डुरोग के सम्मिलित लक्षण ही त्रिदोषजन्य पाण्डुरोग के लक्षण हैं। प्रकृतिसमसमवेत होने से माधवकर ने उनका पृथक् से निर्देश नहीं किया है। क्योंकि चरक ने कहा है--सर्वान्नसेविनः......इत्यादि। अर्थात् जब रोगी त्रिदोषप्रकोपक सभी आहार का सेवन करता है, तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, तब दुःसह त्रिदोषज पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है। (च. चि. १६)। ज्वर, अरोचक आदि उपद्रवों से युक्त होने पर पांडु रोग असाध्य हो जाता है। उन्हीं उपद्रवों का यहाँ निर्देश किया गया है। हतेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण नहीं करती ॥ ७ ॥

मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥

कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं च रूक्षयेत्।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धचपि ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥ १० ॥

(च. चि. १६।२७-२९)

मिट्टी खाने की आदत वाले मनुष्य को वातादि दोषों में से कोई एक दोष प्रकुपित हो जाता है। जैसे कषाय रस प्रधान मिट्टी वात को, ऊसर मिट्टी पित्त को

तथा मधुर रस मिट्टी कफ को प्रकुपित करके अपने रूक्ष गुण के कारण खाये हुए भोजन तथा रस-रक्त आदि धातुओं को भी रूक्ष बना देती है, जिसके फलस्वरूप मिट्टी का परिपाक अग्नियों द्वारा हो नहीं पाता तथा यह रसवाही आदि स्रोतों को पूर्ण करके उनके मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। यह इन्द्रियों की स्वविषयग्रहण की शक्ति, तेज (दीप्ति), वीर्य (शक्ति) एवं ओज को नष्ट करके पाण्डु रोग को उत्पन्न कर देती है, जो कि बल, वर्ण एवं अग्नि का नाश कर देता है ॥८-१०॥

मृज्जसंप्राप्तिमाह—मृत्तिकेत्यादि। अन्यतमो मलो वातादिः। ऊषरा सक्षारा। रसादीन् रूक्षयेत्, भुक्तं च रूक्षयेदिति योज्यम्। रौक्ष्यात् प्राकृतिकोद्भूतरौक्ष्यगुणात्। अविपक्वैव कोष्ठधात्वग्निभिः पाकं न गत्वैव, स्रोतांसि रसवहादीनि, पूरयति रुणद्धि च। इन्द्रियाणां बलं स्वविषयग्रहणशक्तिम्। 'तेजो दीप्तिः' इति जेज्जटः। 'ऊष्मा' इति चक्रः। वीर्यं शक्तिः। 'ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थम्' इति पराशरः। 'पराभिभवेच्छा' इति जेज्जटः ॥ ८-१० ॥

सरोज व्याख्या—मृत्तिकाभक्षणजन्य सम्प्राप्ति कहते हैं—मृत्तिकेत्यादि। अन्यतमो मलः—मृत्तिका भक्षणशील पुरुष का वातादि कोई दोष प्रकुपित हो सकता है। उषराक्षारयुक्त मिट्टी। कषाय, ऊषर या मधुर रस वाली मिट्टी रसरक्तादि धातुओं तथा भुक्त (खाये हुए) आहार को रूक्ष कर देती है। रौक्ष्यात्—मिट्टी में जो प्रकृति (स्वभाव) से उद्भूत रूक्षता होती है, उसी रौक्ष्य गुण से रसादि धातुओं एवं आहार को रूक्ष करती है। अविपक्वैव—कोष्ठाग्नि और धात्वग्नि से इसका पाक नहीं हो पाता। इसलिए परिपाक न होने से रसवाही आदि स्रोतों को पूरित करके अवरुद्ध कर देता है। इन्द्रियाणां बलं—अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट करके। आचार्य जेज्जट ने तेज का अर्थ दीप्ति किया है और आचार्य चक्रपाणि ने ऊष्मा इसका अर्थ किया है। वीर्य शब्द से शक्ति समझना चाहिए। ओज से सब धातुओं का सारभूत एवं हृदयस्थ ओज को पराशर ने माना है, किन्तु जेज्जट ने ओज से 'दूसरे के पराभव की इच्छा' माना है ॥ ८-१० ॥

मृतिकाजन्य पाण्डुरोग के लक्षण

शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥ ११ ॥

(च. चि. स्था. अ. १६।३०)

मृतिकाजन्य पाण्डुरोग में अक्षिगोलक, कपोल, भौं, पैर, नाभि तथा मूत्रेन्द्रिय में शोथ आ जाता है। उदर में कृमि हो जाते हैं एवं रोगी रक्त एवं कफ से मिश्रित मल त्याग करता है ॥ ११ ॥

मृज्जस्य लक्षणमाह—शूनेत्यादि। 'सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षणम्' इति जेज्जटः, मृत्तिकाजानन्तरपठितत्वेन तस्यैव लक्षण-मित्यन्ये। विदेहे तु पठ्यते,—'मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडितः। सश्वासकासशोषार्शःसादारुचिसमन्वितः॥ शूनपादाननकरः कृशाङ्गः कृश-पावकः' इति॥ ११॥

सरोज व्याख्या—मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग का लक्षण कहते हैं—शूनेत्यादि। आचार्य जेज्जट कहते हैं कि जब सभी प्रकार के पाण्डुरोगों में कोष्ठ में कृमि होगी, तब ये उपर्युक्त लक्षण होंगे, किन्तु अन्य विद्वान् कहते हैं कि मृतिकाजन्य पाण्डु के अनन्तर यह लक्षण बताये गये हैं, इसलिए केवल उसके ही लक्षण हैं। विदेह मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग के लक्षण कहते हैं—"मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोगों में तन्द्रा, आलस्य, श्वास, कास, शोष, अर्श, अङ्गसाद (अङ्गशैथिल्य), अरुचि, मुख एवं पैरों में शोथ, कृशता तथा अग्निमान्द्य—ये लक्षण होते हैं॥ ११॥

पाण्डुरोग की साध्यासाध्यता

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति॥ १२॥

बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृर्डदितः॥ १३॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्।
(च. चि. १६।२१-२३)

बहुत पुराना पाण्डुरोग समय अधिक बीत जाने पर अच्छा नहीं होता, क्योंकि पुराना होने पर शरीर की सभी धातुएँ रूक्ष हो जाती है। अधिक पुराना न होने पर भी उस शोथयुक्त रोगी का भी पाण्डुरोग असाध्य होता है, जो सब वस्तुओं को पीला देखता है। कफयुक्त होते हुए भी जिसका मल बँधा हुआ अल्प मात्रा में तथा हरे रंग का निकलता है, वह पाण्डु रोगी असाध्य होता है। जो रोगी अत्यन्त दीन (उत्साहहीन) हो, वमन, मूर्च्छा एवं प्यास से पीड़ित हो और जिसका शरीर श्वेतवर्ण से लिप्त जैसा प्रतीत हो, वह भी असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक रक्तक्षय के कारण जिस पाण्डु रोगी का वर्ण सफेद हो गया हो, वह रोगी मर जाता है॥ १२-१३॥

पाण्डुरोग के अन्य असाध्य लक्षण

पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति॥ १४॥
(सु. सू. ३३।१३)

जिस पाण्डुरोगी के दाँत, नख एवं नेत्र पाण्डुवर्ण के हो गये हों, तथा जो सम्पूर्ण वस्तुओं को पाण्डुवर्ण का देखे, उसकी मृत्यु हो जाती है ॥

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् ।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।
विवर्जयेत् पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥ १५ ॥
(सु. उ. तं. ४४।३९-४०)

जिस रोगी के हाथ-पैर और सिर में शोथ हो, शरीर का मध्य भाग दुर्बल हो, उसे असाध्य समझें । इसके विपरीत जिसके शरीर के अन्य भाग में शोथ हो एवं हाथ-पैर तथा शिर दुर्बल हो उसे भी असाध्य समझना चाहिए । गुदा, लिङ्ग एवं अण्डकोष पर शोथ हो, तथा रोगी प्रताम्यन्त (मोहयुक्त=मूर्छित) एवं असंज्ञकल्प (मृतप्राय) हो, अतिसार एवं ज्वर से पीड़ित हो, तो यशोऽर्थी चिकित्सक को ऐसे पाण्डुरोगी की चिकित्सा नहीं करना चाहिए ॥

असाध्यलक्षणमाह—पाण्डुरोग इत्यादि । पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षात् खरीभूतो जठरतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि शूनानां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स पाण्डुरोगी न सिध्यतीत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटस्य योजना । चक्रस्त्वाह—'चिरोत्पन्नः खरीभूतोऽत्यर्थरूक्षितसर्वधातुर्न सिध्यति, तथा कालप्रकर्षादित्यादिनाऽपरमसाध्यलक्षणम्' इति । अत्र शूनानां शोथवतां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स न सिध्यतीति । 'शूनो ना' इति पाठान्तरे ना पुरुषः । 'शूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति' इति पाठान्तरं सुगमम् । अपरमसाध्यलक्षणमाह—बद्धेत्यादि । अत्र सकफत्वेऽपि बद्धत्वाल्पत्वहरितत्वानि व्याधिप्रभावात्, बद्धाल्पस्थाने बहुलमिति पाठान्तरम् । विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्तीत्येतन्निर्देशादेवोन्नेयमित्याहुः । अपरमसाध्यलक्षणमाह—दीन इत्यादि । दीनः ग्लानः । श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इवेत्यर्थः । स नास्ति नष्ट इव असाध्य इत्यर्थः । अपरमाह—असृगित्यादि । अपरमसाध्यलक्षणमाह—पाण्डुदन्तेत्यादि । पाण्डुसंघातदर्शी नयनरश्मिसहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं संपिण्डितं पश्यति । अपरमसाध्यलक्षणमाह—अन्तेष्वित्यादि । अन्तेषु बाहुजङ्घाशिरःसु, शूनं शोथयुक्तम् । परिहीणमध्यं दुर्बलमध्यदेहम् । एतद्वैपरीत्येनापरमसाध्यलक्षणमाह—म्लानमित्यादि । म्लानं दुर्बलम् । असंज्ञकल्पं मृतप्रायम् । एवंविधं पाण्डुकिनं पाण्डुरोगिणं यशोऽर्थी वैद्यो विवर्जयेदिति । अत्र सौश्रुतश्लोके 'पाण्डुकिनम्' इत्यत्र 'पालकिनम्' इति पाठान्तरं, युक्तं चैतत्, एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात् । उक्तं हि सुश्रुते—'सका-

मलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽलसाख्यः' (सु. उ. अ. ४४) इति। अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्—'अन्ते शूनः कृशो मध्येऽन्यथा च गुदशेफसि। शूनो ज्वरातिसारार्तो मृतकल्पस्तु पालको' इति ॥ १२-१५ ॥

सरोज व्याख्या—असाध्य पाण्डु रोग का लक्षण कहते हैं। चिरोत्पन्न अर्थात् पुराना पाण्डु रोग काल के प्रभाव से खरीभूत (जठर भाव शरीर में व्याप्त होना) हो जाता है, तब सिद्ध नहीं होता अर्थात् ठीक नहीं होता। अधिक पुराना न होने पर भी जब रोगी शोथयुक्त हो जाता है और शोथ होने पर उसे प्रत्येक वस्तु पीली दिखलाई पड़ती है, तब वह पांडु रोगी असाध्य होता है। यह दूसरा पांडु रोग का असाध्य लक्षण है। यह आचार्य जेज्जट का मत है। 'चिरोत्पन्नः खरीभूतः' का अर्थ चक्रपाणि ने किया है कि शरीर की सभी धातुएँ अति रूक्ष हो जाती है, ऐसा पाण्डु रोग सिद्ध नहीं होता। कालप्रकर्षात् इत्यादि से दूसरा असाध्य लक्षण समझना चाहिए। शूनानाम्—अर्थात् शोथरोगियों में जिसे पाण्डु रोग हो गया हो और इसे प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई देती हो, तो वह भी असाध्य होता है। 'शूनो ना' इस पाठान्तर में 'ना' शब्द पुरुषवाचक है, अर्थात् शोथयुक्त पुरुष। 'शूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति' इस प्रकार का पाठान्तर सुगम (सुबोध) है। अर्थात् कालप्रकर्ष से जो पाण्ड रोगी शोथयुक्त हो गया हो, अथवा कालप्रकर्ष से जिस रोगी को प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई पड़ती हो, वह असाध्य होता है।

अन्य असाध्य लक्षण कहते हैं—बद्धेत्यादि। यहाँ कफयुक्त होने पर भी बद्ध एवं हरितवर्ण का मल आना व्याधिप्रभाव से होता है। 'बद्धाल्प' के स्थान पर 'बहुल' ऐसा पाठान्तर मिलता है। 'विट्' शब्द का यहाँ नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग देखकर इसका नपुंसकान्त में प्रयोग आचार्य लोग करते हैं। पुनः अन्य असाध्य लक्षण कहते हैं--दीन इत्यादि। दीन अर्थात् ग्लानियुक्त। श्वेतातिदिग्धाङ्ग--अर्थात् श्वेतवर्ण से रोगी का शरीर लिप्त सा प्रतीत हो। स नास्ति--अर्थात् वह नष्ट रोगी की तरह असाध्य होता है। असृग्—इत्यादि से अन्य लक्षण कहते हैं। पाण्डुदन्त—इत्यादि से भी अन्य असाध्य लक्षण कहते हैं। पांडुसंघातदर्शी—अर्थात् नेत्ररश्मियों के साथ बाहर निकलने वाला पित्त रोगी को मूर्तरूप में दिखाई पड़ता प्रतीत होता है।

अन्य असाध्य लक्षण कहते हैं--अन्तेष्वित्यादि। अन्तेषु अर्थात् बाहु, जंघा और शिर में शोथ हो जाता है और 'परिहीणमध्यम्' अर्थात् मध्य शरीर दुर्बल हो जाता है। इसके विपरीत दूसरा असाध्य लक्षण कहते हैं—म्लानमित्यादि। म्लान (दुर्बल) अर्थात् हाथ, पैर एव शिर दुर्बल तथा मध्य शरीर शोथयुक्त हो जाता है।

असंज्ञकल्पम् (मृतप्राय)। इस प्रकार के पांडु रोगी को यशोऽर्थी वैद्य छोड़ देवे। यहाँ सुश्रुत में पाण्डुकिनम् के स्थान पर 'पाळकिनम्' पाठान्तर मिलता है, जो युक्त प्रतीत होता है। ऐसा पाठान्तर मान लेने पर पाण्डुरोग के अवस्थाविशेष के सूचक 'पालकी रोग' का भी लक्षण हो सकता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है कि 'सकामलापालकिपाण्डुरोगः ......' इत्यादि। इसी अभिप्राय से किसी विद्वान् ने लिखा है कि हाथ, पाँव एवं शिर में शोथ हो और मध्य शरीर कृश हो गया हो अथवा हाथ, पाँव शिर आदि कृश हो गया हो एवं मध्य शरीर में शोथ हो गया हो, गुद एवं लिङ्ग में शोथ हो गया हो तथा ज्वर एवं अतिसार से पीड़ित मृतक के समान पालकी को समझना चाहिए।

कामला रोग की सम्प्राप्ति

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ १६ ॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १७ ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ १८ ॥

(च. चि. १६।३४-३६)

जो पाण्डुरोगी पित्तकारक पदार्थों का अधिक सेवन करता है, उसका पित्त (दूषित होकर) रक्त तथा मांस को दूषित करके कामला रोग को उत्पन्न कर देता है, जिससे रोगी के नेत्र, त्वचा, नाखून एवं मुख हल्दी के समान पीले हो जाते हैं, मूत्र एवं पुरीष रक्त मिश्रित पीतवर्ण के हो जाते हैं, रोगी बरसाती मेंढक के समान वर्ण वाला हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त दाह, अपच, दुर्बलता, आलस्य एवं अरुचि से रोगी पीड़ित होता है। यह कामला पित्त की प्रबलता या अधिकता से होता है और इसके दो भेद हैं--(१) कोष्ठाश्रया, (२) शाखाश्रया।

पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह—पाण्डुरोगीत्यादि। दग्ध्वा संदूष्य। रोगाय कामलारूपाय। भेकवर्णः प्रावृषेण्यभेकवर्णः। कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रया, अपरा शाखाश्रया, शाखा रक्तादयो धातवः त्वक् च। स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः ॥ १६-१८ ॥

सरोज व्याख्या—पाण्डुरोगावस्था में कामला हो जाता है, उसका लक्षण कहते

हैं—पाण्डु रोगीत्यादि । दग्ध्वा—अर्थात् दूषित करके । रोगाय—कामला रूप रोग के लिये कल्पित कर देता है । भेकवर्णः—कामला रोगी बरसाती मेढक के समान पीले रंग का हो जाता है । कोष्ठशाखाश्रया—अर्थात् कामला रोग दो प्रकार का होता है—(१) कोष्ठाश्रया, (२) शाखाश्रया । शाखा शब्द से यहाँ रक्तादि धातुओं का ग्रहण करना चाहिए । पांडु रोग के विना स्वतंत्र रूप से भी कामला होता है । जैसे राजयक्ष्मा स्वतंत्र रूप से भी होता है और कास रोग की उपेक्षा अर्थात् समय पर चिकित्सा न करने से भी हो जाया करता है ।

विमर्श—आचार्य चरक ने शोणितज रोगों का उल्लेख करते समय कामला का ग्रहण नहीं किया है (सू.२४।११-१६), किन्तु रक्तप्रदोषज रोगों का उल्लेख करते समय कामला का वर्णन किया है (च. सू. १८।१२) । इसके अतिरिक्त पित्त के नानात्मज विकार के रूप में भी चरक ने इसका ग्रहण कर यह स्पष्ट किया है कि कामला यद्यपि रक्तज व्याधि नहीं है किन्तु इसकी उत्पत्ति पित्त के दुष्ट होकर रक्त धातु में अवस्थित होने से होती है ।

कामला शब्द की निरुक्ति—

१. कुत्सितत्वं--ज्योतिरावर्तत्वमिति । कुत्सितं आमलं यस्मिन् रोगे इति कामलारोगः ।
२. काम+श्रृणच्+क्लच्--तोप अधिकरणे रोगविशेषः कृष्णपीति इति विख्यान्तः । (शब्द कल्पद्रुम) ।
३. के जलं ईषत् मलं यस्यां सा कामला ।
४. कामं पित्तं लाति वर्द्धयति इति कामला ।
५. कामं इच्छा, तां लुनाति (लुञ् छेदने) इति कामला ।
६. कामला--पुं० स्त्री A Complaint Called Jaundice रोगविशेषे पाण्डुरोगिणोऽतिपित्तकरद्रव्यसेवनबाहुल्येन कारणम् नेत्र-त्वक्-मूत्रादि हरिद्र-लक्षण च—वाचस्पत्यम् ।

सामान्यतया कोष्ठशाखाश्रित कामला (Hepatocellular and Haemolytic Jaundice) ही मिलता है । शाखाश्रित कामला आधुनिक दृष्टि से Obstructive Jaundice है; जो पित्त नलिका में हुये अवरोध से से होता है । इसमें रोगी श्वेत या तिलपिष्टनिभ मल का त्याग करता है । इसमें दूसरे भेद कोष्ठाश्रित कामला का तात्पर्य है प्रवृद्ध पित्त का कोष्ठ में ठहरना एवं कामला की अभिव्यक्ति करना । परन्तु पित्त दोष के बिना शाखागत हुए कामला की अभिव्यक्ति नेत्र-मूत्र, त्वचादि का पीतवर्ण होना सम्भव नहीं है । अतः इस भेद का नामकरण

कोष्ठशाखाश्रित कामला करना ही उचित होगा, जिसमें प्रवृद्ध पित्त दोष की उत्पत्ति कोष्ठ एवं शाखा दोनों में होगी, जिससे कामला के पीत वर्ण की व्यक्तता त्वक्, नेत्र, मूत्र, मलादि सभी में होगी।

सम्प्राप्ति घटक—

दोष–पित्त

दूष्य–रक्त, मांस (जीर्णावस्था में)।

अग्नि–जाठराग्नि एवं धात्वग्नि की विकृतावस्था।

स्रोतस्–रक्तवह स्रोतस्।

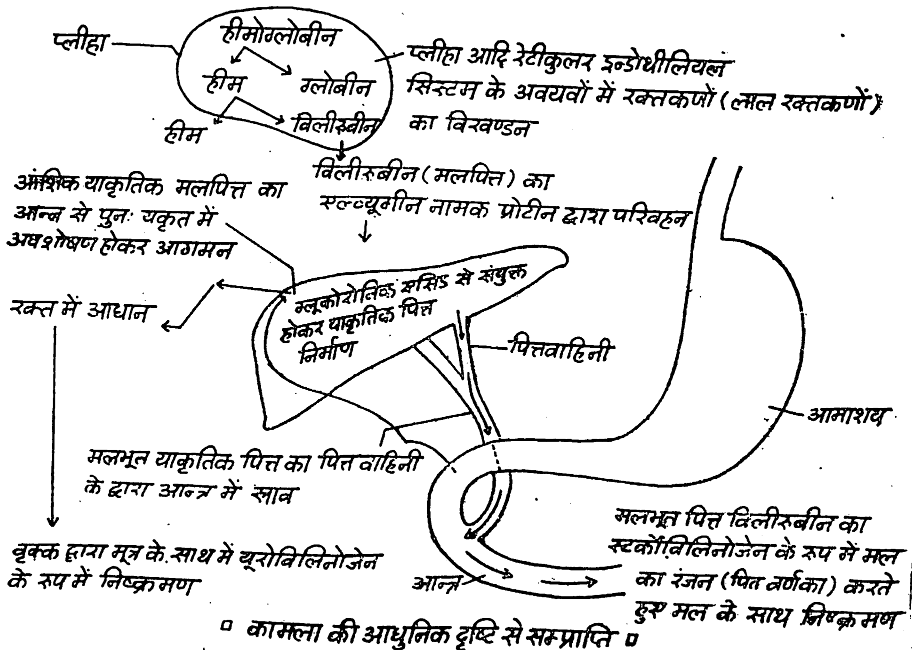
स्रोतोदुष्टि–विमार्गगमन।

अधिष्ठान–शाखा, कोष्ठ।

अभिव्यक्ति–त्वक्, नेत्र, मुख, मल, मूत्र में।

उद्भव–आमशयोत्थ।

स्वभाव-चिरकारी।



▫ कामला की आधुनिक दृष्टि से सम्प्राप्ति ▫

कुम्भकामला

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।

(च. चि. १६।३७-१)

वही कामला रोग समय अधिक बीत जाने पर धातुओं को रूक्ष (खरीभूत) कर देता है, तब कुम्भकामला हो जाता है। यह कामला की अपेक्षा कृच्छ्रसाध्य होता है।

तस्या अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह--कालान्तरादित्यादि। खरीभूतेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। कृच्छ्रा च कृच्छ्रसाध्या। कुम्भः कोष्ठः, अन्तःशुषिर-साधर्म्यात्; तद्गता कामला कुम्भकामला कोष्ठाश्रयेत्यर्थः॥

सरोज व्याख्या--उस कामला के अवस्थान्तर को कुम्भकामला रोग कहते हैं, कालान्तरादित्यादि—खरीभूता अर्थात् जिसमें सभी धातुएँ रूक्ष हो। कृच्छ्र–अर्थात् कुम्भकामला कृच्छ्रसाध्य होता है। कुम्भ शब्द से कोष्ठ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कोष्ठ भी कुम्भ के समान खोखला होता है तद्गता अर्थात् कुम्भ या कोष्ठ में होने वाले कामला को कुम्भकामला कहते हैं। कुम्भकामला से कोष्ठगत कामला का ही अभिप्राय होता है।

विमर्श-'कालान्तर खरीभूता कृच्छ्रास्यात् कुम्भकामला' का अभिप्राय है कि चिरकाल तक प्रकुपित पित्त स्रोतों में परिभ्रमण करता हुआ अपनी उष्णता से शरीर के स्नेहांश का शोषण करके त्वचा में रूक्षता पैदा कर कुम्भकामला को जन्म देता है। यह अवस्था आधुनिक दृष्टि से (Cirrhosis of Liver) में मिलती है। सुश्रुतोक्त कुम्भकामला यकृज्जन्य जलोदर की अवस्था कही जा सकती है।

कामला का असाध्य लक्षण

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः॥ १९॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥ २०॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते।

(च. चि. १६।३७-३९)

जिस रोगी को मल और मूत्र काले एवं पीले रंग के हो। तथा जिसको शोथ हो गया हो, अथवा जिसके नेत्र, मुख, वमनद्रव्य, मल, मूत्र रक्त वर्ण के हो जाय, जिसे मूर्च्छा आती हो, ऐसा कामला रोगी असाध्य होता है।

जो दाह, अरुचि, पिपासा, आनाह, तन्द्रा तथा मोह से पीड़ित हो, जिसकी

अग्नि तथा चेतना नष्ट हो गयी हो, वह कामला का रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

कामलाया असाध्यलक्षणमाह—कृष्णेत्यादि। कृष्णेत्यादिना ताम्यतीत्यन्तेनैकमसाध्यलक्षणम्। ताम्यति मुह्यति। दाहेत्यादिना विपद्यत इत्यन्तेनापरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटः॥ २०॥

सरोज व्याख्या—कामला के असाध्य लक्षण कहते हैं—कृष्णेत्यादि। कृष्णपीतादि से लेकर ताम्यति पर्यन्त एक असाध्य लक्षण कहा गया है तथा दाहारुचि इत्यादि से लेकर से विपद्यते तक अन्य असाध्य लक्षण कहा गया है। अर्थात् दोनों श्लोकों में अलग-अलग असाध्य लक्षण बतलाये गये हैं—ऐसा जेज्जट का कथन है। ताम्यति का अर्थ मूर्छित होना है॥२०॥

कुम्भकामला की असाध्यता

छर्घरोच कहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः ॥ २१॥
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।

छर्दि, अरुचि, हृल्लास, ज्वर, क्लम (बिना श्रम के थकावट) एवं विडभेद (सद्रव मलप्रवृत्ति) से पीड़ित कुम्भकामला के रोगी को असाध्य समझना चाहिए।

कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—छर्दीत्यादि॥ २१॥

सरोज व्याख्या— छर्दि इत्यादि श्लोक में कुम्भकामला का असाध्य लक्षण कहते हैं॥२१॥

हलीमक

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः॥ २२॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥ २३॥

(च० चि० १६।१३२-१३४)

जब पाण्डु रोगी का वर्ण हरा, नीला या पीला हो जाय, उसके बल एवं उत्साह का ह्रास हो, तन्द्रा, मन्दाग्नि तथा मृदुज्वर से पीड़ित हो, स्त्री-प्रसंग की अनिच्छा एवं अङ्गमर्द हो और दाह, तृष्णा, अरुचि तथा भ्रम से युक्त हो, इसे हलीमक रोग समझना चाहिए। यह वात एवं पित्त की विकृति से होता है॥ २३॥

पानकी

(सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत्॥)

जब ज्वर, अतिसार, बाहर-भीतर पीलिमा, नेत्रों में पाण्डुता के लक्षण हों, तो उसे 'पानकी' रोग कहते हैं।

इति श्रीमाधवकरविरचिते मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामला-
हलीमकनिदानं समाप्तम् ॥ ८ ॥

पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह—यदेत्यादि। यदा तु पाण्डोः पाण्डुरोगिणः हरितादिवर्णयुक्तस्यैते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वातपित्तकोपजं हलीमकं जानीयात्। हरितः शाकवर्णः। श्यावो नीलवर्णः। बलोत्साहक्षयो बलोत्साहयोः क्षीणता। स्त्रीष्वहर्षकं स्त्रीरिरंसाया अभावः। अङ्गमर्दो अङ्गमोटनम्। लाघवकालसकादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रुतादिष्वनुस्मर्तव्यमिति ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोगकामलाकुम्भ-
कामलाहलीमकनिदानं समाप्तम् ॥ ८ ॥

सरोज व्याख्या—पाण्डु रोगावस्था में हलीमक रोग हो जाता है, उसके लक्षण बतलाते हैं—यदेत्यादि। यदा तु पाण्डोः—अर्थात् जब पाण्डु रोगी का वर्ण हरित, पीत एवं श्याव हो जाता है और उपर्युक्त वल एवं उत्साह क्षय, तन्द्रा आदि उपद्रव हो जाता है, तब ऐसी अवस्था में उसे वात-पित्त के प्रकोप से होने वाला हलीमक जानना चाहिए। हरित अर्थात् हरे पत्र शाक के वर्ण का श्याव अर्थात् नीले रंग का। स्त्रीषु अहर्ष—अर्थात् मैथुनेच्छा का अभाव। अङ्गमर्द—अङ्गों में दर्द या अँगड़ाई।

पाण्डु रोग के लाघवक एवं अलसक आदि अन्य भेद एवं लक्षण सुश्रुत में देखने चाहिए।

विमर्श—लाघवक, अलसक एवं हलीमक (Chlorosis) है। यह शाखाश्रित कामला के ज्वरोपद्रुत होने पर उत्पन्न होता है। पानकी कामला की अतिसारोपद्रुत अवस्था है।

कामला में कतिपय आवश्य प्रयोगशालीय परीक्षण (लीवर फंक्सन टेस्ट)—

रक्त परीक्षा—

(i) सीरम विलीरुवीन—सामान्य से अधिक होने पर कामला की अभिव्यक्ति।

(ii) एस. जी. ओ. टी. एवं एस-जी-पी. टी.—कामला में इन दोनों एन्जाइम्स की मात्रा सामान्य से अधिक।

(iii) सीरम एल्कालाइन फास्फेटेज-सामान्य से मात्रा बढ़ जाता है। यकृत कोषाणुओं के नाश में यह मात्रा ढाई गुना, किन्तु अवरोधजन्य कामला में अत्यधिक बढ़ जाती है।

(iv) सीरम प्रोटीन--जीर्ण यकृत विकार में एल्व्यूमिन नामक प्रोटीन की मात्रा समान्य से कम तथा ग्लोव्यूलिन की मात्रा सामान्य से अधिक पायी जाती है। तीव्र यकृत शोथ में एलव्यूमिन की मात्रा सामान्य रहती है ॥२२-२३॥



रक्तपित्तनिदानम्

रक्तपित्त का निदान एवं सम्प्राप्ति

धर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः ।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ १ ॥
पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥ २ ॥

(सु. उ. ४५।४-५)

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः ।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

(अ. हृ. नि. ३।७)

आतप (धूप), व्यायाम, शोक, मार्गगमन तथा मैथुन के सेवन से एवं तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल एवं कटु पदार्थों के अधिक सेवन से प्रकुपित पित्त अपने ही गुणों (तीक्ष्ण, द्रव, पूति आदि) से रक्त को भी दूषित कर देता है। इससे रक्त ऊर्ध्वमार्ग या अधोमार्ग तथा कभी-कभी दोनों मार्गों से भी निकलने लगता है। नाक,आँख,कान एवं मुख ऊर्ध्व मार्ग हैं; मेढ्र (लिङ्ग), योनि तथा गुदा अधोमार्ग है। अत्यन्त प्रकुपित होने पर रक्त शरीर के सम्पूर्ण रोमकूपों से भी निकलने लगता है।

पाण्डुरोगवद्रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात्तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह— धर्मेत्यादि। धर्म आतपः, तीक्ष्णं तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽग्नितापः, क्षारो यवक्षारादिः, घण्टापाटल्यादिकृतश्च, विदग्धं कुपितम्। स्वगुणैरिति 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति' इत्यादिभिः; विदहति कोपयति स्वगुणैरेव, विदाहश्चास्य पित्तवत्' (सु. सू. २१) इत्युक्तेः। ततः प्रवर्तते निःसरति, पित्तं रक्तं च धातुरूपं, ननु केवलं रक्तं, रक्तपित्तमिति व्यपदेशानुपपत्तेः। अथ पित्तेन दुष्टं रक्तं रक्तपित्तमित्युच्यते, तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत, एतेन 'रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासान्निरुक्तिरुक्ता' सुश्रुतेन। ननु चरके— 'रागपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तम्' इत्युक्तम्, तेन रक्तं च तत् पित्तं चेति कर्मधारसमासेन निरुक्तिरुक्ता। अत्र च कारणत्रयमुक्तम्। यदाह— 'संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः।' (च. चि. ४) इति, तत्कथं न विरोधः? नैवम्, अत्रापि

रक्तप्रवृत्तेः, दुष्टं हि रक्तं पित्ते रागमादधत्तत्संसर्गि रक्तं स्वयमपि प्रवर्तत इति पूर्व एवार्थः। तेन रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तं, रक्तं च तत् पित्तं चेत्युभयथाऽपि निरुक्तावदोषः॥ १-३॥

सरोज व्याख्या—पाण्डु रोग के समान रक्तपित्त भी पित्तजन्य होता है, इसलिए पाण्डु रोग के पश्चात् रक्तपित्त का निदान कहते हैं—घर्मेत्यादि। 'घर्म' आतप या धूप को कहते हैं। तीक्ष्ण शब्द से तीक्ष्ण वीर्य वाले मरिच आदि लिये जाते हैं। उष्ण से अग्निताप समझना चाहिये। क्षार से यवक्षार एवं घण्टापाटली (पाटला) आदि द्रव्यों से निर्मित क्षार लिया जाता है। पूर्वोक्त कारणों से विदग्ध अर्थात् कुपित हुआ पित्त। स्वगुणैः—अर्थात् तीक्ष्ण, द्रव, पूति आदि पित्त गुणों से ही रक्त को प्रकुपित कर देता है, क्योंकि सुश्रुत में कहा गया है कि इसका (रक्त का) विदाह भी पित्त के समान होता है (सु०सू० २१)। तब उपर्युक्त अवस्था में प्रकुपित पित्त एवं प्रकुपित धातुरूप रक्त दोनों का निःसरण होता है, न कि केवल रक्त का, क्योंकि रक्तपित्त में बाहर निकलने वाले रक्तवर्ण के द्रव को केवल रक्त मानने से उसको रक्तपित्त नहीं कहा जा सकता। यदि पित्त से दूषित रक्त को रक्तपित्त कहा जाय, तो रक्तपित्त की जगह 'पित्तरक्त' कहना उचित होगा। इसी से सुश्रुत ने 'रक्तञ्च पित्तञ्च' इस प्रकार के द्वन्द्व समास द्वारा रक्तपित्त की निरुक्ति बतायी है। अर्थात् रक्त-पित्त दोनों समान रूप से प्रदूषित होने से यह 'रक्तपित्त' कहलाता है।

अब शंका होती है कि चरक में 'रागप्राप्तं रक्तपित्तं' अर्थात् 'रागपरिप्राप्त (रंगा हुआ ही) पित्त रक्तपित्त कहलाता है', ऐसा कहा गया है, इसलिए 'रक्तञ्च तत् पित्तम्' इस तरह कर्मधारय समास द्वारा निरुक्ति कही गयी है। यहाँ पर अपने कथन को स्पष्ट करने हेतु तीन कारण महर्षि चरक ने प्रस्तुत किये हैं। जैसे—'संयोगाद् दूषणात् तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः……'। (च. चि. ४) अर्थात् रक्त के संयोग से, रक्त के दूषण से तथा दोनों के गन्ध एवं वर्ण में समानता होने से इस रोग को रक्तपित्त कहा जाता है। तो इस प्रकार सुश्रुत एवं चरक की उपर्युक्त निरुक्तियों में परस्पर विरोध क्यों नहीं होता?

इसका समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ पर भी रक्तप्रवृत्ति उसी प्रकार का होती है, क्योंकि दुष्ट हुआ रक्त ही पित्त में अपनी रक्तिमा प्रदान कर वह उसके साथ संसर्ग (मिलकर) कर स्वयं भी उसके साथ बाहर निकलने लगता है। इसलिए 'रक्तं च पित्तं च' अर्थात् दूषित रक्त और पित्त को रक्तपित्त कहते हैं, अथवा 'रक्तं च तत् पित्तं' अर्थात् रक्त द्वारा रंगे हुए पित्त को 'रक्तपित्त' कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों निरुक्तियों में कोई दोष नहीं है।

विमर्श—रक्तपित्त के दोष-दूष्य—

१. दोष–पित्त (प्रधान)
२. दूष्य--रक्त
३. स्रोतस्–रक्तवह स्रोतस् ।
४. अधिष्ठान–यकृत, प्लीहा एवं रक्तवाहिनियाँ ।
५. स्रोतोदुष्टि—संग–विमार्गगमन ।
६. उद्भव–आमाशयोत्थ ।
७. व्याधिस्वभाव–आशुकारी ।

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति

निदानसेवन (पित्तप्रकोपक)
|
पित्तप्रकोप
|
पित्त के तीक्ष्ण, द्रव, उष्ण पूति आदि गुणों द्वारा संयोग
|
रक्तदुष्टि
|
रक्तपित्त

आधुनिक दृष्टि से रक्तपित्त को Haemorrhagic Disease or Coagulation Disorder कहा जा सकता है ॥३॥

रक्तपित्त का पूर्वरूप

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥ ४ ॥

(सु. उ. ४५।७-२।८-३)

अङ्गसाद, शीतल पदार्थों के खाने की अभिलाषा, कण्ठ से धूमनिर्गमन की प्रतीति, वमन, श्वास में लोह गन्ध आना रक्तपित्त का पूर्वरूप है ॥४॥

पूर्वरूपमाह--सदनमित्यादि । कण्ठधूमायनं कण्ठाद् धूमनिर्गमनम् इव प्रतीतिः ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—रक्तपित्त के पूर्वरूप कहते हैं—सदनमित्यादि । कण्ठधूमायनम्—कण्ठ से धुआँ के निकलने जैसा प्रतीत होता है ।

श्लैष्मिक रक्तपित्त

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

(च. चि. ४।११-१)

श्लैष्मिक रक्तपित्त गाढ़ा, हल्का पाण्डु वर्ण, थोड़ा स्नेहयुक्त तथा पिच्छल होता है ।

श्लैष्मिकमाह—सान्द्रमित्यादि । सान्द्रं घनं, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डुस्नेहम् ।

सरोज व्याख्या—श्लैष्मिक रक्तपित्त के लक्षण कहते हैं—सान्द्रमित्यादिना सान्द्र अर्थात् घना । सपाण्डु सस्नेहम्—हल्का पाण्डु वर्ण एवं थोड़ा सा चिकना ।

वातिक रक्तपित्त

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ५ ॥

(च. चि. ४।११-२)

वातिक रक्तपित्त काला, लाल, झागयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है ।

वातिकमाह—श्यावेत्यादि । तनु अघनम् ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—वातिक रक्तपित का लक्षण करते हैं—श्यावेत्यादि । तनु अर्थात् जो अघन (पतला) हो ॥५॥

पैत्तिक रक्तपित्त

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥

(च. चि. ४।१२)

पैत्तिक रक्तपित्त वटादि के क्वाथ के समान काला, गोमूत्र के समान वर्ण का चिक्कणता लिए हुए काले रंग का, गृह-धूम एवं अञ्जनसदृश काले रंग का होता है ॥ ६ ॥

द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक रक्तपित्त

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

(च. चि. ४।१३-१)

वातादि दो-दो दोषों के सम्मिलित लक्षणों से द्वन्द्वज एवं तीनों दोषों के लक्षणों से सान्निपातिक रक्तपित्त होता है ।

पैत्तिकमाह—रक्तेत्यादि। कषायाभं वटादिक्वाथवर्णम्। मेचकागार-धूमाभमिति मेचकारागारधूमयोरिवाभा यस्य तत्तथा, मेचकाभम्, आगार-धूमाभं च। मसृणीकृतकृष्णमणिवर्णस्येव वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः प्राहुः, चिक्कणकृष्ण इत्यर्थः। अञ्जनाभं सौवीराञ्जनवर्णभम्। ननु सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्तमिति? उच्यते; सत्यं, किं तु यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किं वा दोषान्तरासश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिक-मिति व्यपदेश इति। ननु केवलपैत्तिकं न सम्भवत्येव, यद्वक्ष्यति-- 'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्' इति; न च तस्य निर्दिष्टो मार्गः? उच्यते, यदा स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्यपदेशः, नतु मार्गसम्बन्धानुगतेन कफवात-सम्बन्धेन। ऊर्ध्वगं हि मार्गसम्बन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते। न च तत्र कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरदि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः। यदुक्तं, 'कुर्यात्पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः' (च. चि. ३) इति। तेन यदैकदोषलिङ्गयुक्तं भवति तदैकदोषानुगम्, द्विदोषलिङ्गं त्रिदोषलिङ्गं च बोध्यम्। तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वित्रिलिङ्गं भवति। एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक रक्तपित्त का लक्षण कहते हैं—रक्तेत्यादि। कषायाभं अर्थात् वट आदि वृक्षों के क्वाथ के समान रंग का पैत्तिक रक्तपित्त का रंग होता है। मेचकागारधूमाभम्--मेचक (कृष्णराजि) के ंग के समान अथवा गृहधूम के रंग के जैसा पैत्तिक रक्तपित्त होता है। कृष्णमणि को घिसने से जो रंग हो जाता है, उसे मेचक वर्ण कहा जाता है, ऐसा जेज्जट आदि का कथन है। अतः चिकने कृष्ण वर्ण को मेचक वर्ण समझना चाहिए। अञ्जनाभम्—सौवी-राञ्जन के वर्ण का भी पित्तज रक्तपित्त होता है।

अब यहाँ शंका होती है कि जब सभी रक्तपित्त दूषित पित्त से उत्पन्न होते हैं, तब पैत्तिक रक्तपित्त का पृथक् से निर्देश क्यों किया गया? इसका उत्तर देते हैं कि यह सत्य है कि सभी रक्तपित्त पित्तज हैं, किन्तु जब स्वस्थानस्थ पित्त रक्तपित्त को उत्पन्न करते हुए दूसरे स्थानस्थ पित्त के साथ संगृहीत (संयुक्त) होता है, अथवा दूसरे दोषों से संश्लिष्ट (संयुक्त) हुए बिना केवल पित्त ही रक्तपित्त का आरम्भक (उत्पादक) होता है, तब उसे पैत्तिक रक्तपित्त ही कहा जाता है।

अब प्रश्न होता है कि केवल पैत्तिक रक्तपित्त सम्भव नहीं है; क्योंकि आगे

कहेंगे कि 'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टं अधोगं पवनानुगम्'। अर्थात् ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ एवं अधोग में वायु का संसर्ग होता है। केवल पैत्तिक का कोई मार्ग निर्दिष्ट नहीं है? इसका उत्तर देते हैं कि जब अपने-अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित एवं अपने-अपने लक्षणों को करने वाले वात या कफ से पित्त का संसर्ग हो जाता है, तब श्लैष्मिक अथवा वातिक रक्तपित्त का कहा जाता है, केवल मार्गसम्बन्ध की महिमा (प्रभाव) से कफ का अवश्य अनुबन्ध होता है; क्योंकि ऊर्ध्वग मार्ग कफ का अधिष्ठान है। इसमें उस समय कफ और वात अपने-अपने लक्षण नहीं प्रकट करते। जैसे शरद् ऋतु में ज्वरकारक पित्त काल की महिमा या कालक्रम द्वारा अनुगत कफ से अनुबन्ध होने पर भी वह पैत्तिक ही प्राकृत ज्वर कहा जाता है। जैसा कि चरक में कहा गया है—'कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः'। (च. चि. ३) अर्थात् शरद ऋतु में पित्त ज्वर का उत्पादक होता है और कफ उसका अनुबल होता है। इस प्रकार जब रक्तपित्त एक दोष के लक्षणों से युक्त होता है, तब एक-दोषानुगत, जब दो दोषों के लक्षण पाये जाँय, तो द्विदोषज एवं तीनों दोषों के लक्षण मिले, तो त्रिदोष लक्षणों वाला समझना चाहिए। इससे ऊर्ध्वगत हो या अधोग हो, उसमें एक दोष या दो दोष या तीनों दोष के लक्षण मिलते हैं। इसी से पैत्तिक रक्तपित्त के पृथक मार्ग का उल्लेख नहीं किया गया है।

मार्गभेद से दोषों का अनुबन्ध

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते॥ ७॥

(च. चि. ४।२४)

मुख आदि ऊर्ध्व मार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध होता है तथा गुदा आदि अधोमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में वात का अनुबन्ध होता है। जब उभय (दोनों) मार्ग से रक्त निकलता है, तो कफ और वात दोनों का संसर्ग होता है॥ ७॥

संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि॥ ७॥

सरोज व्याख्या—संसर्गविशेष द्वारा रक्तपित्त के मार्गभेद को कहते हैं—ऊर्ध्वगम् इत्यादि॥ ७॥

मार्गभेद से साध्यासाध्या

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद् गतम्।

(सु. उ. ४५)

ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य, अधोग रक्तपित्त याप्य एवं दोनों मार्ग से उत्पन्न रक्तपित्त असाध्य होता है।

मार्गभेदन साध्यत्वादिकमाह—ऊर्ध्वमित्यादि। ऊर्ध्वं साध्यमिति, ऊर्ध्वस्य कफपित्तसंश्लिष्टत्वेन कषायतिक्तौ रसौ कफपित्तहरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम्। अधोगे त्वेक एव मधुरो वातपित्त-प्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्गत्वेन वेगमात्रविरोधी, न तु पित्तहरणम्। उभय-मार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्। यदुक्तं चरके—'साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च। विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्' (च. नि. २) इत्यादि॥

सरोज व्याख्या—मार्गभेद से रक्तपित्त की साध्यसाध्यता कहते हैं—ऊर्ध्वमि-त्यादि। ऊर्ध्वं साध्यम्—अर्थात् ऊर्ध्व मार्ग (मुख-नासा-नेत्र-कर्ण) द्वारा निकलने वाला रक्त-पित्त साध्य होता है, क्योंकि इसमें कफ और पित्त का संसर्ग होता है, अतः रक्तपित्त को ठीक करने वाला कषाय एवं तिक्त रस कफ एवं पित्त शामक होता है। इसके अतिरिक्त 'पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं' के अनुसार विरेचन पित्त की शान्तिहेतु सर्वश्रेष्ठ उपाय होता है, इसलिए प्रतिलोम चिकित्साविधि से भी विरेचन ऊर्ध्वग रक्तपित्त की विशिष्ट चिकित्सा है। अतः उपर्युक्त दोनों चिकित्साविधियों से ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य होता है।

अधोग मार्ग (गुद-लिङ्ग-योनि) द्वारा निकलने वाला रक्तपित्त याप्य होता है, क्योंकि इसमें वात एवं पित्त का संसर्ग होता है। केवल मधुर रस ही ऐसा है जो वात एवं पित्त दोनों का शामक है। 'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते' के अनुसार अधोग रक्तपित्त में प्रयुक्त वमन वेगमात्र का ही अवरोध कर सकता है, वह पित्त या वायु का निर्हरण नहीं कर सकता। इसलिए वमनसाध्य एवं अत्यल्प औषधियों के कारण अधोग रक्तपित्त को 'याप्य' कहा गया है।

उभयमार्ग से निकलने वाला (प्रवृत्त) रक्तपित्त विरुद्धोपक्रम (विरुद्ध चिकित्सा) होने से असाध्य होता है। इस अवस्था में रक्तपित्त की प्रवृत्ति दोनों मार्गों से होती है, इसलिए वमन अथवा विरेचन द्वारा संशोधन कराने पर रक्तपित्त की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाने से मृत्यु हो सकती है। त्रिदोषशामक औषधियाँ भी न होने से इसे असाध्य माना गया है। चरक ने कहा है—'साध्यं लोहितं पित्तम्… …' (च. नि. २।१२) अर्थात् जो ऊर्ध्वभाग से निकलता है, वह रक्तपित्त साध्य होता है, क्योंकि उसमें विरेचन दिया जाता है और उसकी बहुत सी औषधियाँ है, विरेचन पित्त को शमन करने के लिए परमौषध (उत्तम औषधि) है।

रक्तपित्त

- मार्ग भेद
  - ऊर्ध्वग (कफ) साध्य —कषाय तिक्त रस औषधियाँ —पित्त हरणे प्रधानं विरेचनं
  - अधोग (वात) याप्य —केवल मधुरस औषधियाँ —प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते वमनं (वेगमात्र का अवरोध)
  - उभयग (वात-कफ) असाध्य —विरुद्धोपक्रमत्वाद् (विरुद्ध चिकित्साक्रम से)
- दोष भेद
  - वातज
  - पित्तज
  - कफज
  - द्वन्द्वज
  - सन्निपातज

चरकमत से रक्तपित्त की साध्यसाध्यता

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥ ८ ॥
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।
(च. चि. ४।२२)

जब रक्तपित्त एक मार्ग से प्रवृत्त हो रहा हो, रोगी बलवान् हो, रक्तस्राव अधिक वेग से न [मन्दवेग] हो, रोग नवीन हो, अनुकूल काल [ऋतु] में उत्पन्न हो एवं उपद्रवरहित हो, तो वह साध्य होता है ॥ ८ ॥

साध्यत्वे हेतुमाह—एकमार्गमित्यादि । एकमार्गमत्रोर्ध्वंगमभिप्रेतम्, अधोगस्य याप्यत्वात् । नवोत्थितम् अचिरजम् । सुखे काले हेमन्तशिशिरयोः । निरुपद्रवं वक्ष्यमाणदौर्बल्याद्युपद्रवरहितम् ॥ ८ ॥

सरोज व्याख्या—रक्तपित्त के साध्यत्व में हेतु बतलाते हैं—एकमार्गमित्यादि । एक मार्ग से यहाँ पर ऊर्ध्वग रक्तपित्त समझना चाहिए, क्योंकि अधोग रक्तपित्त याप्य होता है । नवोत्थितम्—जो नूतन (अचिरकालज) हो, 'सुखे काले' हेमन्त शिशिर ऋतु में होने वाला, निरुपद्रवं—आगे कहे जाने वाले 'दौर्बल्य-श्वास' आदि उवद्रवों से रहित रक्तपित्त साध्य होता है ॥ ८ ।

दोषभेद से साध्यासाध्यता

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ ९ ॥

यत् त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥ १० ॥

(च. चि. ४।१३-२, १४)

जो रक्तपित्त एक दोष से उत्पन्न होता है, वह साध्य है, जो दो दोषों से उत्पन्न होता है, वह याप्य है, जो तीनों दोषों से उत्पन्न होता है, वह असाध्य होता है । मन्दाग्नियुक्त पुरुष का अतिवेग वाला तथा रोग से क्षीण (कृश) शरीर, वृद्ध और भोजन न करने वाले व्यक्ति का भी रक्तपित्त असाध्य होता है ।

दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह--एकदोषानुगमित्यादि । मार्गभेददोषभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्वविरोधेऽर्शःस्वभिहितदोषभेदवलिभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्ववद् व्याख्येयम् । मन्दाग्नेस्तथा व्याधिभिः क्षीणदेहस्य यदतिवेगवत्तदसाध्यम् । अनश्नतः अरुच्यादिना अन्नाभावाद्वा ॥ ९-१० ॥

सरोज व्याख्या--दोषभेद से रक्तपित्त की साध्यासाध्यता कहते हैं--एकदोषानुगम् । मार्गभेद एवं दोष भेद से साध्यासाध्यता में कुछ विरोध होने पर अर्श रोग में वर्णित दोष भेद एवं वलिभेद के अनुसार साध्यासाध्यता अवस्था की व्याख्या कर लेनी चाहिए । जैसाकि पूर्व में अर्शनिदान (५।३५-३७) में बतलाया जा चुका है । अर्थात् एकदोषानुगत एवं ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य है तथा त्रिदोषज और उभयग रक्तपित्त असाध्य होता है । मन्दाग्नेः—जिस रोगी को मन्दाग्नि हो, रोग से शरीर क्षीण हो चुका हो, ऐसे रोगी का अति वेग वाला रक्तपित्त असाध्य होता है । अनश्नतः—अरुचि आदि के कारण अथवा अन्न के अभाव के कारण उपवास करने वाले रोगी का भी रक्तपित्त असाध्य होता है ॥ ९-१० ॥

रक्तपित्त का उपद्रव

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं,
भक्तद्वेषाविपाको विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥ ११ ॥

(सु. उ. तं. ४५।१९)

दौर्बल्य, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद, पाण्डु, दाह मूर्च्छा, (चेतनाच्युति) खाये हुए अन्न का दारुण, विदाह, धैर्यरहित होना, हृदय प्रदेश में असह्य वेदना, प्यास, अतिसार, शिर में ताप, दुर्गन्धित थूक का निकलना, भोजन में अरुचि, भोजन का परिपाक न होना तथा निकले हुए रक्तपित्त का वर्ण मांसप्रक्षालित जल के समान होना रक्तपित्त के उपद्रव है ॥ ११ ॥

उपद्रवानाह--दौर्बल्येत्यादि । दौर्बल्यं 'शक्त्युपचययोरभाव'–इति गयदासः । भुक्ते इति 'षष्ठयर्थे सप्तमी' इति कार्तिकः । हृद्यतुल्येति, हृदि अतुल्या असदृशी पीडा। कोष्ठस्य भेदः । तपनं तापः । 'प्रविततशिरस' इति पाठान्तरे प्रविततं विस्तीर्यमाणमिव 'प्रवितता विस्तीर्णा वेदना शिरसि यस्य स तथा' इति कार्तिकाः । 'प्रविततसिरता' इति पाठान्तरे सिराव्याप्तगात्रता । अविपाक आहारस्य । विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गा इति, एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा उपद्रवाः, तथा तस्य विकृतिरपि भवेदिति योज्यम् । सा च वक्ष्यमाणमांसप्रक्षालनाभमित्यादिरूपा । 'रक्तपित्तोपसर्गात्' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ११ ॥

सरोज व्याख्या—रक्तपित्त के उपद्रवों को कहते हैं--दौर्बल्येत्यादि । शक्ति (शारीरिक बल) एवं मांस आदि धातुओं के उपचय (अभाव) को दौर्बल्य कहते हैं । ऐसा आचार्य गयदास का कथन है । भुक्तेः–यहाँ पर षष्ठी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग हुआ हैं, ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है। हृद्यतुल्येति अर्थात् हृदय में अतुल्य अर्थात् असदृश (बेजोड़) पीड़ा होती है । कोष्ठभेद अर्थात् कोष्ठस्थ मल का भेद (अतिसार) हो जाता है । तपन शब्द का अभिप्राय ताप से है । 'प्रविततशिरसः' इस प्रकार के पाठान्तर में प्रवितत का अर्थ विस्तीर्ण होता है अर्थात् सिर वेदना से फटता सा मालूम पड़ता है अथवा प्रवितता अर्थात् विस्तीर्ण रूप से वेदना जिसके सिर में होती है, उसे 'प्रविततशिरस्' कहते हैं। ऐसा आचार्य कार्तिक का कथन है । प्रविततसिरता--यदि इस प्रकार का पाठान्तर हो, तो इसका अर्थ सिराव्याप्तगात्रता करना चाहिए । अर्थात् सारे शरीर में शिरायें व्याप्त (उभरी) होती है । आहार का पाचन नहीं होता । विकृतिरपि भवेत्—ये सभी रक्तपित्त के उपद्रव होते हैं । तथा च तस्य विकृतिरपि भवेत् इति योज्यम्-- तथा उसकी विकृति हो जाया करती है, ऐसा समझ लेना चाहिए । वह विकृति 'मांसप्रक्षालनाभम्' इत्यादि से आगे कही गयी है । यदि 'रक्तपित्तोपसर्गात्' पाठान्तर कर लिया जाय, तो अर्थ सुगम हो जायगा ॥ ११ ॥

असाध्य लक्षण

मांसप्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा,
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ।।१२।।

(सु. उ- तं. ४५।१०)

जो रक्तपित्त मांसप्रक्षालित (मांस धोवन) जल के समान वर्णवाला, सड़ा हुआ,

दुर्गन्धित, कीचड़युक्त जल सदृश, मेद एवं पूय मिश्रित रक्त के समान, यकृत या पके हुए जम्बू फल के समान, काला तथा नीला, मुर्दे जैसा दुर्गन्ध वाला तथा उपर्युक्त दौर्बल्य आदि उपद्रवों से युक्त एवं इन्द्रधनुष के समान अनेक वर्णवाला हो, वह असाध्य होता है ॥ १२ ॥

अन्य असाध्य लक्षण

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥

(च. नि. २।२६)

रक्तपित्त से पीड़ित रोगी जब सम्पूर्ण वस्तुओं तथा वर्णहीन आकाश को भी रक्तसदृश लाल रंग का देखे, तो उसे निश्चित ही असाध्य समझना चाहिए ॥ १३ ॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः।
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥ १४ ॥

(सु. सू. ३३।१४)

इति माधवकरविरचिते माधवनिदाने रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ९ ॥

जो रोगी अधिक मात्रा में बार-बार रक्तवमन करे, जिसके नेत्र लाल वर्ण के हो गये हों तथा जिसके उद्गार में भी रक्त दिखाई पड़े, वह निश्चय ही रक्तपित्त से मर जाता है ॥ १४ ॥

असाध्यलक्षणमाह--मांसेत्यादि। कुथितमिव पूतितां गतमिव। कर्दमम् आविलमिवाम्भः कर्दमाम्भः, अथवा कर्दमनिभमम्भोनिभं च। तथा मेदः-पूयास्रकल्पमिति 'कल्पशब्दो मेदःप्रभृतिभिस्त्रिभिः संबध्यत' इति गयदासः। यकृदिव यकृत्खण्डमिव। पक्वजम्बूफलाभं स्निग्धकृष्णम्। कृष्णम् अञ्जनाभम्। नीलं चाषपक्षप्रतिमम्। ननु पैत्तिके कृष्णत्वं पठितं नच तदसाध्यं? नैवम्, अतिशब्देनात्र विशेषितत्वात्, 'तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यम्' इति जेज्जटः, अथवा जम्बूफलाभं यत् कृष्णं तदिति योज्यम्। उक्ता विकाराः श्वासकासादयः। सुरपतिधनुषा तुल्यं नानावर्णम्। येनेत्यादि। येन रक्तपित्तेनेति योज्यम्। पश्येद् दृश्यं वियच्चापि, अदृश्यमपि वियद् दृश्यमिव पश्यतीति योज्यं रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वादिति; अथवा दृश्यं घटपटादि, वियच्च रक्तं पश्यतीति। अपरमसाध्यलक्षणमाह-लोहितमित्यादि। यो बहुशश्छर्दयेदिति संबन्धः, लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च, उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः, अथवा लोहितमुद्गारं पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शीति ॥ १२-१४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥९॥

सरोज व्याख्या— रक्तपित्त के असाध्य लक्षण कहते हैं—मांसेत्यादि। कुथितम् इव—जो सड़ा हुआ एवं दुर्गन्धित हो। कर्दमाम्भः—कीचड़ मिले गन्दे पानी के वर्ण का अथवा कर्दभ (कीचड़) के समान और जल की तरह रक्तपित्त होता है तथा जो मेद, पूय (Pus) और रक्त के समान गन्ध-वर्ण वाला हो। यहाँ कल्प-शब्द भेद आदि तीनों से सम्बन्धित होता है—ऐसा आचार्य गयदास का मत है। यकृदिव—यकृत के टुकड़े के समान वर्ण वाला तथा पके जामुन के फल के समान स्निग्ध एवं कृष्ण वर्ण का अथवा कृष्णाञ्जन के समान अत्यन्त कृष्ण वर्ण का। चाषपक्ष—नीलकण्ठ पक्षी के पंख के समान हल्के-गहरे नीलवर्ण का। अब सन्देह होता है कि पूर्व में पैत्तिक रक्तपित्त के लक्षणों में कृष्ण वर्ण का उल्लेख किया गया है किन्तु वहाँ असाध्य नहीं कहा गया ? इसका उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है, वहाँ पर केवल कृष्णवर्ण कहा गया है, किन्तु यहाँ पर अतिकृष्ण होता है। पैत्तिक में रक्तपित्त हलका काला होता है —ऐसा आचार्य जेज्जट का मत है अथवा पके हुए जामुन फल के समान कृष्णवर्ण का जो होता है, वह असाध्य होता है। श्वासकास आदि उपद्रवयुक्त भी असाध्य होता है। सुरपतिधनुषा तुल्यं—अर्थात् इन्द्रधनुष के समान अनेक वर्ण का दिखता हो। येनेत्यादि—'येन रक्तपित्तेन उपहतः' इस प्रकार अर्थ करना चाहिए, अर्थात् जिस रक्तपित्त से ग्रस्त मानव (रोगी) को अदृश्य आकाशादि भी दृश्य के समान लाल रंग का दिखलाई पड़े, क्योंकि रोगी के नेत्र भी रक्तपित्त से उपहत हो जाते हैं अथवा दृश्य घटपटादि रक्तवर्ण का दिखलाई पड़े।

यो बहुशः लोहितं छर्दयेत् —जो बार-बार रक्त का वमन करे, ऐसा अर्थ करना चाहिए। लोहितोद्गारदर्शी च—जिसे लोहित उद्गार आवें और प्रत्येक वस्तु लाल दिखलाई पड़े अथवा उद्गार के साथ रक्त का प्रवर्तन हो, ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

रक्तपित्त एवं जीवरक्तविभेदक लक्षण (च. सि. ६।७९-८०)

विधि/रोग	रक्तपित्त	जीवरक्त
१. रक्त को अन्न में मिलाकर कौआ या कुत्ता को खिलायें।	नहीं खायेगा।	खा जायेगा।
२. श्वेत वस्त्र रक्त में भिगोकर सुखा लें, तत्पश्चात् उष्ण जल से उस वस्त्र को धोयें।	वस्त्र विवर्ण हो जायेगा।	वस्त्र शुद्ध (दागरहित) हो जायेगा।
३. रोग	×	अर्श, राजयक्ष्मा, रक्तप्रदर, रक्तातिसार, अर्बुद, अभिघात आदि का इतिहास

प्राकृत एवं वैकृत रक्त के गुण धर्म

प्राकृत गुण धर्म	वैकृत गुण धर्म			
	वात	पित्त	कफ	सन्निपात
१. वर्ण—तप्त स्वर्ण / इन्द्रगोप, पद्म, अलक्तक, गुञ्जाफल के समान वर्ण।	अरुण, कृष्ण	पीत श्याव, हरित, नील, असित	ईषद् पाण्डु, मांसपेशीप्रभव उदक	मिश्रितवर्ण
२. संगठन	तनु	—	पिच्छिल	
३. स्राव	फेनिल	—	तन्तुमय	चिरस्रावी
४. गन्ध	—	विस्र	—	दुर्गन्ध
५. कौओं एवं कुत्तों द्वारा खाया जाना।	—	कौआ-कुत्ता द्वारा न खाया जाना, रक्तपित्त।	चींटी एवं मक्षिका आदि का लगना, मधुमेह।	
६. गुण—द्रवादि	विशद, परुष	उष्ण	शीत, स्निग्ध, गुरु, स्थिर, वहल।	
७. सिरागत	सिरापूरण	—	गौरव ?	
८. स्कन्दन	शीघ्र	अस्कन्दि	शीघ्रस्कन्दि	

दशमोऽध्यायः

राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानम्

राजयक्ष्मा का निदान

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् ।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ १ ॥

वेगविधारण, क्षय, साहस तथा विषमाशन इन चार कारणों से त्रिदोषज 'राजयक्ष्मा' नामक रोग उत्पन्न होता है ।

राजयक्ष्मरूपेषु 'पित्ताद्रक्तस्य चागमः' इति वचनाद्रक्तपित्तानन्तरं यक्ष्मनिदानम् । चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टकारणं चतुर्विधमाह—वेगरोधादित्यादि । वेगोऽत्र वातमूत्रपुरीषाणां, नतु नवेगान्धारणीयोक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम् । यदुक्तं चरके—'ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम् । वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः' ॥ (च. चि. ८) इत्यादि । क्षयादिति, क्षीयते अनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादादयो धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते । साहसादिति, साहसं बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन कारणम् । विषमाशनादिति, सुश्रुतोक्तद्वादशासनप्रविचारव्यतिरेकेणोपयोगः, तस्य शीघ्रं स्रोतोरोधकत्वात् । उक्तं हि चरके—विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नताम् । जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः ॥ रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः । दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः' (च. चि. ८) इति । त्रिदोष इति, मिलितत्रिदोषज एक एव, न तु कारणभेदादनेकः । यदाह सुश्रुतः—'एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको यतः । उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि' (सु. उ. ४१) इति । ननु वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति, तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत् ? उच्यते, वातप्रकोपादेवाग्निदुष्टया कफपित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः । हेतुचतुष्टयादित्यनेनासंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टयेऽन्तर्भवन्तीति दर्शयति । शोषादिनानाशब्दवाच्यत्वेन चास्य सुश्रुतोऽन्वयमकार्षीत् । यथा—'संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः ॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः' (सु. उ. ४१) इति । वाग्भटे तु—'यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा' इत्युक्तम् । 'राजदन्तादिषु परम्'—इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य परनिपातः ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या— राजयक्ष्मा के लक्षणों में 'पित्ताद् रक्तस्य चागमः' इस वचन के अनुसार रक्तपित्त के पश्चात् यक्ष्मा का निदान कहते हैं। राजयक्ष्मा के चिकित्सोपयोगी चार विप्रकृष्ट कारण कहते हैं—वेगरोधादित्यादि। वेगरोध से यहाँ पर वात, मूत्र और पुरीष को ग्रहण करना चाहिए, न कि जृम्भा आदि सभी 'न वेगान्धारणीय अध्याय' में कहे गये वेगों को। जैसा चरक में कहा गया है—

ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिर्वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते बुधैः॥ (च. चि. ८।२०-२३)

अर्थात् जब लज्जावश, घृणावश अथवा भयवश होकर मनुष्य मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकता है, तब वेगों को रोकने से कुपित हुई वायु कफ और पित्त को उभारती हुई शरीर में ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् प्रदेश में गमन कर यक्ष्मा के प्रतिश्यायादि एकादश लक्षणों को उत्पन्न करती है।

क्षयादिति—'क्षीयते अनेन इति क्षयः'-अर्थात् जिसके कारण रोगी क्षीण होता है, उसे 'क्षय' कहते हैं। इसके अनुसार अतिव्यवाय, अनशन, ईर्ष्या, विषाद आदि क्षयोत्पादक हेतु समझने चाहिए। साहसात् इति--अपने से बलवान् व्यक्ति से लड़ना अथवा इसी प्रकार अन्य ढंग से अपना शक्ति-प्रदर्शन करना 'साहस' कहलाता है। इस प्रकार साहस करने से उरःक्षत हो जाता है, उरःक्षत से यक्ष्मा हो जाता है। विषमाशनात्--सुश्रुतोक्त द्वादश अशन (भोजन के नियम) प्रविचार के प्रतिकूल भोजन का उपयोग विषमाशन कहलाता है।[1] विषमाशन से शीघ्र ही स्रोतोरोध हो जाता है। जैसाकि चरक में कहा गया है--

१. (क) द्वादशाशनप्रविचार--तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः। (सु० उ० ६४।५६)

(ख) चरक ने अष्ट आहारविधि विशेषायतन का उल्लेख विमानस्थान में किया है।

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नताम् ।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः ॥
रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः ।
दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः ॥

(च० चि० ८।२८–२९)

अर्थात् अनेक प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेयआदि आहार को विषम रूप से सेवन करने वाले व्यक्तियों के शरीर में वातादि दोष प्रकुपित होकर अनेक प्रकार के घोर (भयंकर) रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त स्रोतों को अवरुद्ध करके धातुओं के वैषम्य से स्वयं भी विषम हुए दोष यक्ष्मा रोग को उत्पन्न करते हैं। स्रोतों के बन्द हो जाने से धातुओं की पुष्टि आहार रस से नहीं हो पाती।

त्रिदोष इति--अर्थात् तीनों दोषों के मिलित प्रकोप से यक्ष्मा होता है, न कि कारणभेद से अनेक प्रकार का। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है कि सन्निपातात्मक (त्रिदोषात्मक) यह शोष (यक्ष्मा) रोग एक ही होता है। इसमें दोषों के लक्षण आधिक्य से (उद्रेकात्) सान्निपातिक हो जाते हैं। (सु. उ. ४१।७)

अब शंका होती है कि वेगावरोध आदि कारण वात को प्रकुपित करते हैं, तब वातजनित यक्ष्मा त्रिदोषज कैसे होता है? इसका उत्तर देते हैं कि वायु के प्रकोप से जब पाचक अग्नि दूषित होती है, तब कफ एवं पित्त भी प्रकुपित हो जाता है। ऐसा विद्वानों ने कहा है। हेतुचतुष्टयाद्—इस वेगरोधादि हेतुचतुष्टय के निर्देश से अन्य असंख्य हेतुओं का भी उपर्युक्त चारों में अन्तर्भाव हो जाता है। महर्षि सुश्रुत इसको शोष आदि अनेक नामों से कहते हैं। जैसे रसादि धातुओं का संशोषण करने से इसे 'शोष' कहते हैं। धातुओं की क्रिया (कर्म) का क्षय होने से इसे 'क्षय' कहते हैं। सर्वप्रथम यह राजा चन्द्रमा को हुआ था, अतः इसे 'राजयक्ष्मा' कहा है। (सु. उ. ४१।४--५)

वाग्भट में इसको यक्ष्माओं (रोगों) का राजा होने से राजयक्ष्मा कहा है। यहाँ पर 'राजदन्तादिषु परम्' इस व्याकरण के नियम से उपसर्गस्थ यक्ष्मा शब्द का परनिपात हो जाता है।

विमर्श--आयुर्वेद में वर्णित यह रोग Pulmonary Tuberculosis से बिलकुल साम्य रखता है॥ १॥

राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।
अतिव्यवायिनो वापि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ २ ॥

(सु. उ. ४१।९-२, १०)

कफप्रधान दोषों से रसवाही स्रोतों में अवरोध होने के कारण उत्तरोत्तर सभी धातुओं का अथवा अत्यधिक मैथुन करने वाले व्यक्ति का शुक्र क्षीण होने पर पूर्ववर्त्ती शेष सभी धातुएँ क्षीण हो जाती हैं, जिसके कारण वह व्यक्ति सूखने लगता है ॥ २ ॥

न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभिरपीति दर्शयितुं विशिष्टां सम्प्राप्तिमाह—कफेत्यादि । यदा त्वेवं न स्यात् तदा धातुक्षय एव रोगो नतु यक्ष्मा । कफः प्रधानं येषामनिलादीनां दोषाणां ते तथा । ननु दोषैरित्यनेन दोषत्रयमुच्यते, कफस्य विशेषणत्वेनोपात्तत्वात्, कथं तस्यैवान्यपदार्थवाच्यता ? उच्यते, स्वावयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, यथा—बहुवृक्षं वनमिति । समाधानविस्तरस्तु सुश्रुते जेज्जटे द्रष्टव्यः । कफप्रधानता च वेगरोधादिकुपितवातविप्लुताग्निमान्द्यादिना बोद्धव्या । रसवर्त्मसु रसवहधमनीषु, अत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तेन रक्तादिवहस्रोतोरोधोऽपि बोध्यः । अथवा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्तिकः । इदमत्र सूचितम्—यन्मार्गरोधादवृदयस्थो रसस्तत्रैवावस्थितो विकृतो मुखेन निःसरति । यदाह चरकः—'रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते । स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते' (च. चि. ८) इति । एतेनानुलोमक्षयो दर्शितः, कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभावेन क्षीयमाणत्वात् । प्रतिलोमक्षयं दर्शयितुमाह--अतिव्यवायिनो वेत्यादि । रेतसि क्षीणे सत्यनन्तराः समीपगा धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा–शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम् । ननु कार्यभूतस्य शुक्रस्य क्षयात् कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत् ? उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः प्रकुप्यति । यदुक्तम्--'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च. चि. १८) इति । स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति, एवं पूर्वपूर्वधातून् । दृष्टं च प्रत्यासत्त्याऽपि कार्यजननं यथा—अग्निसन्तप्तायोगोलकसन्निधानादार्द्रभूभागस्यापि शोषः । तथा च रससंचारपक्षे सुश्रुतवचनम्--पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम् । तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्' (सु. सू. १५) ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—न केवल धातुक्षय मात्र से ही यक्ष्मा होता है, अपितु रसादिवह स्रोतों में निरोध से भी होता है । इसी को बताने के लिये उसकी विशिष्ट सम्प्राप्ति को कहते हैं—कफेत्यादि । जब तक इस प्रकार की सम्प्राप्ति न होगी, तब तक इसे धातुक्षय ही कहा जायेगा, न कि राजयक्ष्मा । कफ है मुख्य जिन वातादि दोषों में, उन्हें कफप्रधान दोष कहते हैं । यहाँ शंका होती है कि 'दोषैः' इस बहुवचन पद से तीनों दोष वात-पित्त-कफ का बोध होता है । कफ को

विशेषणत्वेन कहा गया है। इसलिये किस प्रकार से उस कफ का अन्वय और पद का अर्थ बन रहा है ? इसका समाधान कर रहे हैं कि कफ का अपने अवयव से ही विग्रह किया गया है समास का अर्थ दोषसमुदाय हुआ। जैसे 'बहुवृक्षं वनम्' अर्थात् वृक्षों का समूह ही वन कहा जाता है। सुश्रुत की जेज्जट व्याख्या में यह अवलोकनीय है।

यक्ष्मा में कफ की प्रधानता से वेगावरोध आदि कारणों से प्रतिलोमभूत वायु के विप्लव (प्रकोप) से अग्निमान्द्य आदि कफज विकार स्पष्ट देखे जा सकते हैं। रसवर्त्मसु—यहाँ 'आदि' शब्द लुप्त समझना चाहिए। इससे 'रसादिवर्त्मसु' ऐसा पाठ होता है। अर्थात् रसवह स्रोतस् से रसवह धमनियों का ही बोध होता है। आदि शब्द लुप्त होने से रक्तादिवह स्रोतों का निरोध भी हो जाता है अथवा रक्तादि सब धातु रस से ही उत्पन्न होते हैं, अतः केवल रस के दूषित होने से रक्तादि भी दूषित हो जाते हैं और रक्त दूषित होने पर उत्तरोत्तर अन्य धातुएँ भी दूषित होंगी। अतः 'रसवर्त्मसु' इसी से अन्य स्रोतों का अवरुद्ध होना स्पष्ट हो जाता है। ऐसा आचार्य कार्तिक का कथन है। इससे यहाँ स्पष्ट होता है कि स्रोतोमार्ग का अवरोध होने से हृदयस्थ अर्थात् वहाँ पर अवरुद्ध रस विकृत होने पर वह मुख द्वारा निकलता है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥ (च. चि. ८।४३)

अर्थात् स्रोतों के अवरोध से अपने हृदय रूप स्थान में अवस्थित रस बढ़ता है और वह बढ़ा हुआ रस अनेक रूप में होकर कास के वेग से ऊपर आता रहता है।

इस प्रकार अनुलोम क्षय स्पष्ट हो जाता है। कारणरूप रसधातु के क्षय होने पर रस के कार्यरूप रक्तादि धातुओं को पोषक तत्त्व के अभाव से रक्तादि धातु उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं।

इसके पश्चात् प्रतिलोम क्षय बताते हैं—अतिव्यवायिनो वाऽपि इत्यादि। अर्थात् अतिव्यवाय से शुक्र के क्षय होने पर क्रमशः मज्जा आदि पूर्व के धातु क्षीण होने लगते हैं। अब शंका होती है कि कार्यभूत शुक्र धातु के क्षय से कारणभूत मज्जादि धातु का क्षय किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर देते हैं कि शुक्रक्षय से वायु का प्रकोप हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च'। (च. चि. २८) अर्थात् धातुक्षय हो जाने पर या अन्य दोषों द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर वायु का प्रकोप हो जाता है। शुक्रक्षय से प्रकुपित वायु अपनी समीस्थ मज्जा धातु को सुखा देती है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व धातुओं का शोष होने लगता है। प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपता से कार्यजनन (कार्य

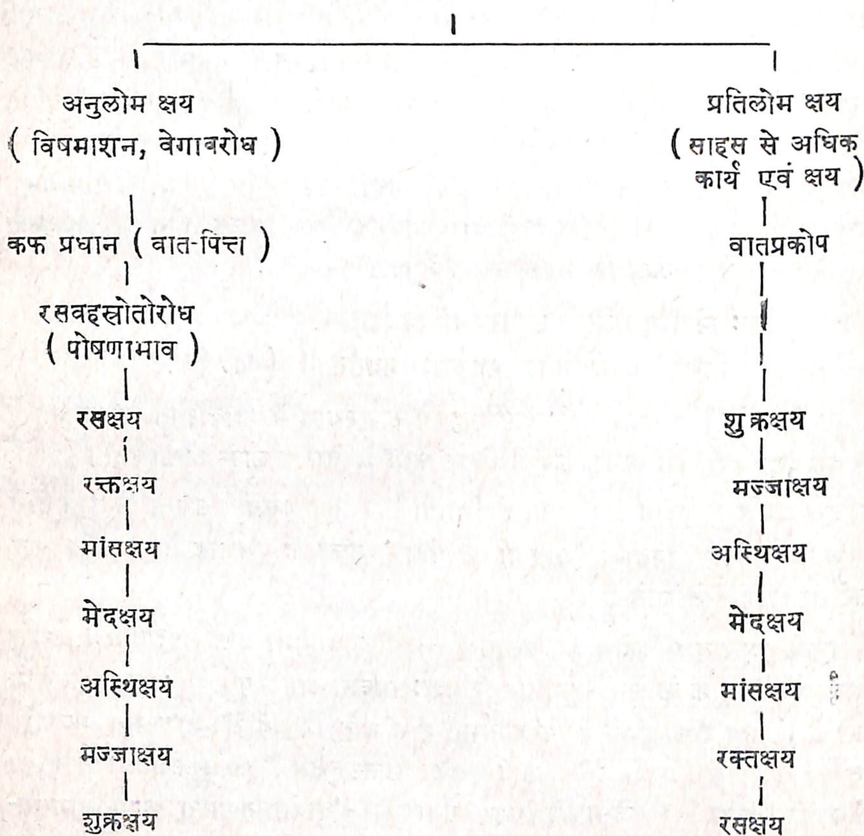
सम्पादन--पूर्वोत्तर धातुओं का शोषरूप कार्य) होता है। जैसे अग्निसन्तप्त लोहे के गोल के संयोग से समीपस्थ गीले भूभाग का शोष हो जाता है। इस रस संचार के पक्ष में सुश्रुत का वचन है—

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्।

तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्॥ (सु. सू. १५।१६)

अर्थात् प्रत्येक धातु अत्यन्त बढ़ने पर अपने समीपवर्ती उत्तरधातु को बढ़ा देता है। इसलिए अत्यधिक बढ़े हुए धातुओं को घटाना हितकर होता है।

राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति



दोष-दूष्य-अधिष्ठान--

१. दोष--त्रिदोष (कफ-वात प्रधान)।

२. दूष्य--सभी धातुएँ, मुख्यतः रसधातु।

३. स्रोतस्--सभी स्रोत, मुख्यतः रसवह स्रोतस्।

४. अधिष्ठान—फुफ्फुस।
५. आमपक्वाशयोत्थ चिरकारी व्याधि।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप

श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा-
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च ॥ ३-४ ॥
(सु. उ. ३९।२९-३०)

श्वास, अङ्गमर्द (अङ्गग्लानि), कफष्ठीवन, तालुशोष, वमन, अग्निमान्द्य, मद (मनोमोह), पीनस, कास, निद्रा, शुक्ल वर्ण के नेत्र होना तथा मांसभक्षण एवं मैथुन की प्रबल इच्छा राजयक्ष्मा का पूर्वरूप है।

रोगी को स्वप्नावस्था में ज्ञात होता है कि वह तोता, साही, मोर, गिद्ध, बन्दर एवं गिरगिट पर सवारी करता है तथा वह स्वप्न में ही विना जल की नदियों एवं वायु, धूम और दावाग्नि से अभिभूत शुष्क वृक्षों को देखता है ॥ ३-४ ॥

पूर्वरूपमाह—श्वासेत्यादि। संस्रवः ष्ठीवनम्। पीनसः प्रतिश्यायः। मांसपरो मांसभोजनेच्छुः। रिरंसुः स्त्रियं रन्तुमिच्छुः; एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषात्। तथा स्वप्नेषु काकादिवाहनं च पूर्वरूपमेव। शल्लकी 'शरारु' इति ख्याता, नीलकण्ठो मयूरः। विजला निर्जलाः। दवो वनाग्निः। अर्दितान् अभिभूतान्। चकारात्तृणकेशनिपातादयो द्रष्टव्याः। यदुक्तं चरके—'पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चातिवर्धनम् ॥ पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्' (च. चि. अ. ८) इति। तत्र श्वापदा व्याघ्रादयः ॥ ३—४ ॥

सरोज व्याख्या—राजयक्ष्मा के पूर्वरूप कहते हैं—श्वासेत्यादि। संस्रवः अर्थात् कफष्ठीवन, पीनस-प्रतिश्याय। मांसपरो—मांसभोजनेच्छु। रिरंसु—स्त्रीरमण की इच्छा, यह दोनों इच्छाएँ रोग के प्रभाव से होने वाले मनोदोष से होती है। स्वप्न में

काक आदि की सवारी करना पूर्वरूप ही है। शल्लकी (शरारु) सेह अथवा साही को कहा जाता है। नीलकण्ठ मोर को कहा जाता है। विजला-निर्जला नदी। दवो-वनाग्नि। अर्दितान्—अर्थात् शुष्क वृक्षों को वायु, धूम एवं दावाग्नि से अभिभूत देखता है। चकार से भोजन में गिरने वाले तृण, केश आदि को ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि चरक में कहा गया है—'यक्ष्मा के पूर्वरूप में प्रतिश्याय, दौर्बल्य, दोषरहित वस्तुओं में भी दोष दर्शन, शरीर में बीभत्सता दिखाई पड़ना, प्रत्येक वस्तुओं में घृणा होना, उचित करने पर भी बल और मांस का क्षय होना, स्त्री (मैथुन), मद्य एवं मांस के सेवन में रुचि, शरीर को अच्छे वस्त्र से ढकने की इच्छा, प्रायः अन्न और पेय पदार्थों में मक्षिका, घुण, केश एवं तृण का गिरना या दिखाई पड़ना, केश एवं नख का अधिक मात्रा में बढ़ना, स्वप्न में पक्षियों, पतंग (टिड्डी) एवं व्याघ्र आदि श्वापद (हिंसक जीव) आदि से पराजित होना दिखलाई पड़ता है (च. चि. ८।३३-३६)। यहाँ पर श्वापद से व्याघ्र आदि हिंसक जीव का ग्रहण करना चाहिए ॥ ३-४ ॥

राजयक्ष्मा के सामान्य लक्षण (तीन रूप)

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५ ॥

(च. चि. ८।५२)

(१) अंस प्रदेश और पार्श्व में अभिताप, (२) हाथ और पैर में संताप (दाह) तथा (३) सम्पूर्ण शरीर में ज्वर—ये तीन लक्षण सामान्य रूप से यक्ष्मा पाये जाते हैं।

त्रिरूपसम्पन्नमाह--अंसेत्यादि। अंसपार्श्वयोरभितापः पीडा, अंसो भुजस्योपरिभागः, अभितापत्वे नैकं रूपम्, एवं सन्तापेऽपि वाच्यम्। करपादयोरित्यत्र प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावं मन्यमानाः काश्मीराः-'तापः पादकरस्य च' इति पठन्ति, 'करपादिका' इति च पाठान्तरम्। एतत् त्रयं प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्तं, तैनेकादशरूपेषु मध्येऽन्यदपि त्रयं बोध्यम्। तथा च भोजः-'कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि' इति। अन्ये त्वाहुः-राजयक्ष्मणि यो ज्वरस्तस्यैतल्लक्षणमिति। जेज्जटस्तु त्रिरूपसंपत्तिमेव व्याख्यातवान् ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या--त्रिरूपसम्पन्न यक्ष्मा का सामान्य लक्षण कहते हैं—अंसेत्यादि। अंसपार्श्वाभिताप—दोनों कन्धों और पार्श्व प्रदेश में अभिताप (पीड़ा) होता है। भुजाओं के ऊपरी भाग को अंस (कन्धा) कहा जाता है। यहाँ 'अंसपार्श्वाभितापश्च' एक लक्षण हो गया, इसी प्रकार 'करपादयोः संतापः' दूसरा लक्षण हो गया। यहाँ पर कर (हाथ) और पाद (पैर) प्राणी का अङ्ग होने से व्याकरण

के अनुसार एकवद्भाव मानते हुए कश्मीर प्रान्त के आचार्य 'तापः पादकरस्य च' इस प्रकार अथवा 'सन्तापः करपादिकः' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। ये तीनों लक्षण प्रायः यक्ष्मा के रोगी में होते हैं, इसी से चरक ने इनका उल्लेख किया है। इसीलिए यक्ष्मा के ग्यारह रूपों में तीन और भी समझ लेना चाहिये। भोज भी कहते हैं कास, ज्वर एवं रक्तपित्त—तीन यक्ष्मा के लक्षण होते हैं। अन्य लोग कहते हैं कि यक्ष्मा में जो ज्वर होता है, इसके ये लक्षण होते हैं; किन्तु आचार्य जेज्जट इसे त्रिरूपसम्पत्ति मानते हैं अर्थात् तीनों लक्षण ही यक्ष्मा के विशेष लक्षण होते हैं।

राजयक्ष्मा के सुश्रुतोक्त षड्रूप

(भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।
ज्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि ॥)

(सु. उ. ४१।११)

(१) भोजन में अरुचि, (२) ज्वर, (३) श्वास, (४) कास (५) रक्तष्ठीवन तथा (६) स्वरभेद—ये राजयक्ष्मा के छह मुख्य लक्षण हैं।

महर्षि चरक ने यक्ष्मा का षड्रूप बताया है—कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः। (च. चि. ८।४६) अर्थात् कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वरभेद, अतिसार एवं अरुचि—ये छः यक्ष्मा के षड्रूप है।

राजयक्ष्मा के एकादश रूप

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ ६ ॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥ ७ ॥

(सु. उ. ४१।१२-१३)

वात के कारण (१) स्वरभेद, (२) अंसप्रदेश एवं पार्श्व में पीड़ा तथा (३) संकोच, पित्त के कारण (४) ज्वर, (५) दाह, (६) अतिसार और (७) रक्तष्ठीवन, कफ के कारण (८) सिर का भारीपन, (९) अरुचि, (१०) कास तथा (११) कण्ठ में भेद होता है।

राजयक्ष्मणस्त्रैदोषिकस्यैकादशरूपाणि विभज्य व्याधिप्रभावाज्जायन्ते, नतु सन्निपातज्वरलिङ्गवत्सर्वदोषैः सर्वाणीत्याह—स्वरभेदोऽनिलादित्यादि। शूलमंसपार्श्वयोरेव, अंसपार्श्वयोः संकोच एव एव गणनीयः। अभक्तच्छन्दो भक्तारुचिः। कण्ठस्योद्ध्वंसः कण्ठभेदः 'उत्कासिका' इति कार्तिकः ॥६-७॥

सरोज व्याख्या—त्रिदोषज यक्ष्मा में तीनों दोषों से उत्पन्न ग्यारह रूप व्याधि-प्रभाव से अलग-अलग पाये जाते हैं, ताकि सन्निपात ज्वर के समान सभी लक्षण त्रिदोषात्मक होते हैं। इन ग्यारह लक्षणों को उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है—स्वरभेद इत्यादि। शूल से कन्धों एवं पार्श्व प्रदेश में पीड़ा समझना चाहिए। इसी प्रकार अंश एवं पार्श्व प्रदेश में संकोच भी एक लक्षण मानना चाहिए। अभक्तच्छन्द—अर्थात् आहार में अरुचि होता है। कण्ठस्योद्ध्वंसः—अर्थात् कण्ठभेद (स्वरनाश) हो जाता है। आचार्य कार्तिक कण्ठोद्ध्वंस को उत्कासिका कहते हैं।

राजयक्ष्मा का असाध्य लक्षण

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् ।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥ ८ ॥

त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः ।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥ ९ ॥
(सु. उ. ४१।१४-१५)

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ १० ॥
(च० चि० ८।४७)

महाशनं क्षीयमाणमतिसारनिपीडितम् ।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥
(सु० उ० ४१।३१)

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥
(सु० सू० ३३।१०)

स्वरभेदादि उपर्युक्त ग्यारह लक्षण अथवा कास, अतिसार, पसलियों की पीड़ा, स्वरभेद, अरुचि एवं रक्तष्ठीवन इन लक्षणों से पीड़ित यक्ष्मा रोगी को, असाध्य होने के कारण, विमल यश चाहने वाले चिकित्सक छोड़ देवें। अर्थात् इनकी चिकित्सा न करें।

सभी उपर्युक्त ग्यारह लक्षण अथवा छः लक्षण अथवा तीन लक्षणों से युक्त रोगी का बल तथा मांस यदि क्षीण हो गया हो, तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। यदि बल एवं मांस का क्षय न हुआ हो, तो उपर्युक्त एकादश, षड्रूप एवं त्रिरूप लक्षणों के होने पर भी चिकित्सा करनी चाहिए।

अधिक भोजन करने पर भी क्षीण होने वाले, अतिसार से पीड़ित, अण्डकोष

तथा उदरशोथ से युक्त हो, तो यक्ष्मा रोगी को असाध्य होने के कारण छोड़ देना चाहिये।

श्वेत नेत्रों वाले अन्न के द्वेषी, ऊर्ध्वश्वास, मूत्रकृच्छ्र एवं बहुमूत्र से पीड़ित रोगी को यक्ष्मा मार डालता है।

असाध्यलक्षणमाह--एकादशभिरित्यादि। एकादशभिरेभिरिति स्वरभेदादिभिः कण्ठोद्ध्वंसान्तैः। षड्भिरिति सुश्रुतेन षड्रूपाणि पठितानि--'भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि' (सु. उ. अ. ४१) इति। 'कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः' इति तु कस्यचित्तन्त्रस्य षड्रूपाणि माधवकरेण लिखितानीति। एतानि चैकादश षड् वा त्रिरूपाणि वा प्रयोभावित्वादुक्तानि, अन्यतमरूपपरिहारात्, रूपान्तरयोगेऽप्येकादशत्वं षट्त्वं च स्यादेव'। तथाहि चरको निदाने एकादशरूपाणि पठित्वा चिकित्सितेऽपि वेगरोधादिकारणचतुष्टयजे प्रतिकारणं चतुर्धा एकादशरूपाणि पठितवान्। यथा—'कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासो वर्चोग्रहोऽरुचिः॥ रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्माणि षडिमानि च। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः' (च. चि. अ. ८) इति। एकादशवचनेनैवं बोधयति--सम्पूर्णे यक्ष्मण्येकादशैव रूपाणि भवन्तीति। जह्यादिति 'बलमांसक्षये सति' इति शेषः। तथा च चरकः—'वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी व्रघ्नी चिरज्वरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥ अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्। स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत् (च. इ. अ. ९) इति। सर्वैरित्यादि। ननु सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कथमस्य रूपस्यार्धत्वं किंभूतं वा भवति? उच्यते, एकस्य रूपस्यार्धत्वासम्भवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोरुत्कृष्टत्वात् षड्रूप एवार्धोऽर्थो ग्राह्यः। लिङ्गैर्युक्त इति सम्बन्धः। अतोऽन्यथेति बलमांसक्षयाभावे सति। महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्यलक्षणम् अरिष्टरूपत्वात्; अतीसारनिपीडितमिति द्वितीयम्, यक्ष्मिणो मलायत्तजीवितस्योक्तत्वात्; शूनमुष्कोदरमिति तृतीयं मुष्कशोथस्य विरेकसाध्यत्वेन विरुद्धोपक्रमत्वात्। शुक्लेत्यादि। शुक्लाक्षयत्वादय एकैकशोऽसाध्यलक्षणानि ॥ ८-१२ ॥

सरोज व्याख्या—यक्ष्मा के असाध्य लक्षण कहते हैं—एकदशभिरित्यादि। स्वरभेद से लेकर कण्ठोद्ध्वंस तक पूर्वोक्त ग्यारह लक्षणों से युक्त। षड्भिः—अर्थात् सुश्रुतोक्त छः लक्षण—भक्तद्वेष, ज्वर, श्वास, कास, रक्तष्ठीवन, और स्वरभेद ये छः लक्षण यक्ष्मा में होते हैं (सु० उ० ४१)। कास, अतिसार, पार्श्व शूल,

स्वभेद, अरोचक और ज्वर—ये छः रूप माधवकर ने किसी अन्य तन्त्र से लिये हैं। ये जो एकादश लक्षण पूर्व में बताये हैं, वह प्रायः यक्ष्मा रोगी में होते हैं। किसी अन्य लक्षण के परिहार (कम) होने अथवा किसी (लक्षण) अन्य रूप के योग (अधिक) होने पर भी ये ग्यारह एवं छः लक्षण रहते हैं। चरक ने निदानस्थान में एकादश लक्षणों का निर्देश करके चिकित्सास्थान में भी वेगरोध, क्षय, साहस और विषमासन रूप कारणचतुष्टय से उत्पन्न यक्ष्मा में प्रतिकारण चार प्रकार से कहा है। यथा—

कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा।
छर्दनं रक्तकफयोः श्वासो वर्चोग्रहोऽरुचिः॥
रूपाण्येकादशैतानि, यक्ष्माणि षडिमानि च।
कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चो ग्रहोऽरुचिः॥
(च० चि० ८)

'एकादश'-वचन से ही बोध होता है कि सम्पूर्ण राजयक्ष्मा में ये ग्यारह लक्षण निश्चित ही मिलते हैं।

जह्यात्—बल-मांसक्षय होने पर रोगी को छोड़ देना चाहिए, अर्थात् उसकी चिकित्सा नहीं करना चाहिए। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है कि वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, ब्रध्न (उपदंश आदि), जीर्णज्वर, गुल्म, मधुमेह और राजयक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति का जब शारीरिक बल एवं मांस क्षीण हो जावे, तब इनकी चिकित्सा न करें, क्योंकि ऐसी अवस्था में ये अचिकित्स्य हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इनमें यदि थोड़ा भी विकार (उपद्रव) हो जाय, तो इन्हें छोड़ देना चाहिए (च० इ० ६)। सर्वैरित्यादि—अब शंका होती है कि यक्ष्मा के सम्पूर्ण लक्षण ग्यारह होते हैं और उनका अर्धांश साढ़े पाँच होता है, तब उनमें किस लक्षण का आधा किया जाय और वह किस प्रकार होता है? इसका समाधान करते हैं कि एक लक्षण का आधा नहीं किया जा सकता, किन्तु छः और पाँच इस तरह आधा-आधा कर लेने से षड्रूप का उत्कृष्ट अर्ध ग्राह्य है।

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैः—इसके आगे युक्त का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अर्थात् मांस और बल का क्षय होने पर सम्पूर्ण एकादश या छः आधा अथवा तीन ही लक्षण मिलने पर रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। मतोऽन्यथा—इसके विपरीत बल-मांस का क्षय न हुआ हो, तो सम्पूर्ण लक्षण होने पर भी चिकित्सा करनी चाहिए।

महाशनं क्षीयमाणं—यह एक-एक असाध्य लक्षण है अरिष्टरूप होने से।

अतिसारनिपीडितम्—यह द्वितीय असाध्य लक्षण है, क्योंकि यक्ष्मा रोगी का जीवन मल पर ही आश्रित होता है, जैसा कि कहा गया है—

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं तु जीवितम्। तस्मादतिप्रयत्नेन संरक्षेन्मल-रेतसी ॥

शूनमुष्कोदरम्—यह तीसरा असाध्य लक्षण है, अण्डकोष शोथ की विरेचन चिकित्सा है, किन्तु यक्ष्मा में विरेचन विरुद्धोपक्रम है।

शुक्लेत्यादि—शुक्लाक्ष आदि शेष एक-एक असाध्य लक्षण होते हैं।

यक्ष्मा के साध्य लक्षण

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्[1] ॥१३॥

(सु. उ. ४१।२०)

जो रोगी ज्वर के अनुबन्ध से रहित, बलवान्, चिकित्सा की कठिनाइयों को सहन करने वाला, आत्मबलसंयुक्त, दीप्ताग्नि वाला तथा कृशतारहित हो, उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्स्यत्वमाह—ज्वरेत्यादि। उपक्रमेत् चिकित्सेत्। अकृशमित्यनेन वयःस्थोऽपि प्रत्याख्यायोपक्रम्यत इति सूच्यते। यदुक्तमन्यत्र-'परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः। सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः' इति ॥ १३ ॥

सरोज व्याख्या--चिकित्सायोग्य यक्ष्मा रोगी का लक्षण कहते हैं-ज्वरेत्यादिना। उपक्रमेत्—अर्थात् ज्वर आदि के अनुबन्ध से रहित रोगी की चिकित्सा करें। अकृशम्--इस लक्षण से वयस्थ (युवक) की भी प्रत्याख्यान करके चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसा सूचित (ज्ञात) होता है। जैसा कि अन्य तन्त्र में कहा गया है--

परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः।
सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीड़ितः ॥

(वृन्दमाधव)

अर्थात् तरुण शोषपीड़ित भी जब सुयोग्य चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा किये जाने पर यदि एक हजार दिन तक जीवित रहता है, तब वह बच जाता है।

कारणानुसार शोषभेद

व्यवायशोकवार्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान्।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥ १४ ॥

(सु. उ. ४१।१६)

व्यवाय् शोक, वृद्धावस्था, व्यायाम एवं मार्गगमन तथा व्रण एवं उरःक्षत जन्य सात प्रकार के शोष के लक्षणों को सुनो।

---

१. यादव जी द्वारा सम्पादित सुश्रुतसंहिता में यह श्लोक नहीं है।

व्यवायादिजनितधातुशोषणमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरस्यन्नाह—व्यवायेत्यादि । यदुक्तं सुश्रुते–'केषांचिदेवं शोषो हि करणैर्भेदमागतः । न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्' (सु. उ. अ. ४१) इति । 'वृद्धस्य भावो वार्धक्यमिति स्वार्थेक्य(ष्य) ञ्' इति कार्तिकः ॥१४ ॥

सरोज व्याख्या--मैथुनादि से उत्पन्न होने वाले धातुशोषणमात्र से राजयक्ष्मा नहीं होता, इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—व्यवायेत्यादि । सुश्रुत में कहा गया है—

"केषाञ्चिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः ।
न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥
क्षया एव हि दोष्यास्ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः" ।
(सु० उ० ४१।३२--३३)

अर्थात् कुछ आचार्यों का मत है कि व्यवाय आदि कारणों की भिन्नता के कारण शोष के भेद हो जाते हैं । अतएव उक्त व्यवाय, शोक, वार्धक्य आदि जो शोष के सात भेद बताये गये हैं, वे यक्ष्मा के ही स्वरूप है, किन्तु सुश्रुत का मत है कि इन सप्तविध शोषों में राजयक्ष्मा के त्रिदोषों से उत्पन्न होने वाले समस्त एकादश लक्षण नहीं पाये जाते हैं, अतएव इन्हें केवल धातुक्षय के कारण क्षय या शोष ही कहना चाहिए, राजयक्ष्मा नहीं । राजयक्ष्मा स्रोतःसन्निरोधादि विशिष्ट सम्प्राप्ति पूर्वक अनुलोम या प्रतिलोम धातुक्षय के रूप में त्रिदोषज तथा एकादश लक्षण युक्त होता है ।

वृद्ध की अवस्था को वार्धक्य कहते हैं । यहाँ पर स्वार्थ में क्य (ष्य) ञ् प्रत्यय होता है—यह आचार्य कार्तिक का मत है । शोक–पुत्रादिवियोग से उत्पन्न चित्तोद्वेग को कहते हैं । अध्वा—दीर्घमार्गाटन, व्रण-क्षत, उरःक्षतः—उर के अन्दर अभिघात जनित व्रण ॥ १४ ॥

व्यवायजन्य शोष के लक्षण

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः ।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥ १५ ॥
(सु.उ. ४१)

व्यवायशोषी शुक्रक्षय के लक्षणों से युक्त तथा पाण्डु शरीर वाला होता है तथा इसमें पूर्वोत्तर धातुओं का क्षय होता है ।

सुश्रुत में निम्नलिखित पाठान्तर मिलता है—

व्यवायंशोकस्थाविर्यव्यायामाध्वोपवासतः ।
व्रणोरःक्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि ॥

व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—व्यवायेत्यादि। शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः। तद्यथा–'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पं रक्तशुक्रदर्शनम् (सु. सू. १५) इति ॥ १५ ॥

सरोज व्याख्या––व्यवायशोषी के लक्षण कहते हैं—व्यवायेत्यादि। शुक्रक्षय का सुश्रुतोक्त लक्षण—शुक्रक्षय में मेढ्र एवं वृषण में वेदना होती हैं, मैथुनशक्ति नष्ट हो जाती है, यदि मनुष्य मैथुन करता है, तो देर से वीर्य निकलता है और उसमें अल्प मात्रा में शुक्र अथवा रक्त निकलता है (सु. सू. १५) ॥ १५ ॥

शोकजन्य शोष के लक्षण

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः।

(सु. उ. ४१।१८-१)

अत्यधिक सोचना तथा अङ्गों की शिथिलता शोकशोषी के लक्षण है। इसके अतिरिक्त शुक्रक्षय के लक्षणों को छोड़कर व्यवायशोषी के अन्य लक्षण भी शोकशोषी में मिलते हैं।

शोकशोषिणो लक्षणमाह—प्रध्यानेत्यादिना। शोकशोष्यपि तादृश इति शुक्रस्य क्षयलक्षणव्यतिरिक्तेन शुक्रशोषलिङ्गेन युक्तः। यदुक्तं सुश्रुते—'विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः' (सु. उ. ४१) इति ॥

सरोज व्याख्या—शोकशोषी के लक्षण कहते हैं—प्रध्यानशील इत्यादि। शोकशोष्यपि तादृशः––अर्थात् शुक्रक्षय के अतिरिक्त शोकशोषी के अन्य लक्षण व्यवायशोषी के समान होते हैं। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है––"विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः।" (सु. उ. ४१) इस श्लोक का भी पूर्वोक्त अभिप्राय है।

प्रध्यानशीलः—चिन्तापरः, स्रताङ्गः—अवसन्नगात्रः॥

वृद्धावस्थाजन्य शोष के लक्षण

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः॥ १६ ॥
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः।
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारतिपीडितः॥१७॥
संप्रस्रुतास्यनासाक्षिः शुष्करूक्षमलच्छविः।

(सु. उ. ४१।१९-२०)

जराशोषी कृशगात्र, मन्दवीर्य, मन्दबुद्धि, क्षीणबल, दुर्बलेन्द्रिय, कम्पन एवं अरुचि से युक्त होता है। उसका स्वर फूटे हुए कांस्य पात्र के समान हो जाता है। कफरहित थूकता है। शरीर के भारीपन एवं बेचैनी से पीड़ित होता है। मुख, नाक एवं आँख से निरन्तर स्राव निकलता रहता है। उसका मल सूख जाता है और मुखकान्ति रूक्ष हो जाती है॥

वार्धक्यशोषिणो लक्षणमाह--जरेत्यादि। कम्पनः कम्पयुक्तः। भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा। ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम्। शुष्करूक्षमलच्छविरिति शुष्करूक्षे यथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा॥ १६-१७॥

सरोज व्याख्या—वार्धक्यशोषी के लक्षण कहते हैं—जरेत्यादि। कम्पनः—अर्थात् रोगी काँपता है। भिन्नस्य इत्यादि…। अर्थात् फूटे हुए कांसे के पात्र को डण्डे आदि से चोट करने पर जैसी आवाज होती है, वैसी आवाज जराशोषी की होती है। ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनम्—अर्थात् श्लेष्मा निकालने के लिये यत्न करने पर भी वह नहीं निकलता है। शुष्करूक्षमलच्छविः—क्रमशः मल शुष्क एवं छवि (कान्ति) रूक्ष हो जाती है।

अध्वशोष के लक्षण

अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः सम्भृष्टपरुषच्छविः॥ १८॥
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः।
(सु. उ. ४१।२१)

अधिक पैदल चलने से अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, मुख की कान्ति संभृष्ट (झुलसी हुई) रूखी हो जाती है। शरीर में स्पर्श-ज्ञान का अभाव हो जाता है। क्लोम, गला तथा मुख में शुष्कता हो जाती है॥

अध्वशोषिणो लक्षणमाह--अध्वेत्यादि। संभृष्टस्येव भर्जितस्येव परुषः छविः वर्णो यस्य स तथा। प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञः। क्लोम पिपासास्थानं; क्लोमस्थाने तात्विति पाठान्तरम्॥ १८॥

सरोज व्याख्या—अध्वशोषी के लक्षण कहते हैं—अध्वेत्यादि। सम्भृष्टस्येव-भुने हुए के समान झुलसा हुआ सा दिखलाई पड़ता है। प्रसुप्तगात्रावयवः—स्पर्श ज्ञान का अभाव गात्रावयव में हो जाता है। पिपासा-स्थान को क्लोम कहते हैं, उसमें शोष हो जाता है। क्लोम के स्थान पर 'तालु' पाठान्तर मिलता है॥

व्यायामजन्य शोष के लक्षण

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः।
लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना॥ १९॥
(सु. उ. ४१।२२)

व्यायामजन्य शोष से पीड़ित रोगी में अध्वशोषी के लक्षण (भूयिष्ठ) अत्यधिक बलवान् मिलते हैं और बिना क्षत के ही उरःक्षत के समान लक्षण मिलते हैं॥ १९॥

व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—व्यायामेत्यादि। एभिरिति स्रस्ताङ्गता-

दिभिरध्वशोषलक्षणैः, अध्वनो व्यायाममात्रसामान्यात् । भूयिष्ठम् अत्यर्थम् । अध्वशोषेऽल्पानि लक्षणानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः । तथा 'उरःक्षतकृतैः लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः' इति सुगमः पाठः । गदाधरस्तु--'लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना' इति पठति, व्याचष्टे च-उरःक्षतेन व्यायामभाराध्ययनद्रुतयानादिहेतुना यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः, क्षतं क्षतकार्यं विना । क्षतकार्यं तु सुश्रुते यथा--'तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति'—इत्यारभ्य 'भिन्नवर्णस्वरो नरः' (सु. उ. त. ४१)—इत्यन्तमेतान्येव लक्षणानि क्षतेऽधिकानि, उरःक्षतकारणव्यायामभारादिकृतशोषस्य लक्षणमेव भूयिष्ठं यत्तदेवोरःक्षतकारणमात्रात्वादध्वनोऽपीत्यर्थः । अथवा 'क्षतं विना व्रणं विना, उरःक्षतनिमित्तभाराध्ययनादिनाऽतिमात्रेण यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवात्यर्थाध्वशोषलिङ्गैः समन्वितः' इति प्रकृतेन सम्बन्धः, सव्रणस्य तु वक्ष्यमाणमेव लक्षणमिति ॥ १९ ॥

सरोज व्याख्या—व्यायामशोषी के लक्षण कहते हैं—व्यायामेत्यादि । एभिः—अर्थात् अध्वशोष के लक्षणों से युक्त । यात्रा भी व्यायाम के समान होती है । भूयिष्ठम्—अर्थात् अधिक मात्रा में । अध्वशोष के पूर्वोक्त लक्षण अध्वशोष की अपेक्षा व्यायामशोष में अत्यधिक बलवान् हो जाते हैं । लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः का पद-अन्वय उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः कर देने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् क्षत को छोड़ अन्य उरःक्षत के सभी लक्षण व्यायामशोषी में मिलते हैं ।

'लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना' ऐसा पाठ आचार्य गदाधर ने किया है और उसका अर्थ किया है कि व्यायाम, अधिक बोझ, जोर-जोर से अध्ययन और तेज चलने वाले घोड़े आदि की सवारी से होने वाले उरःक्षत से जो शोष होता है, वह भी इन पूर्वोक्त बलवान् अध्वशोष के लक्षणों में संयुक्त होता है, किन्तु उसमें क्षत के लक्षण नहीं होते । क्षत-कार्य का लक्षण सुश्रुत में कहा गया है । जैसे—'तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति' अर्थात् उपर्युक्त कारणों से वक्षःस्थल में चोट लगने से वक्ष से रक्त, पूय और कफ निकलता है । यहाँ से आरम्भ कर 'भिन्नवर्णस्वरो नरः' यहाँ तक समाप्त होता है (सु० उ० ४१) । यही लक्षण क्षत में अधिक बतलाये गये हैं । उरःक्षत के कारण (हेतु) व्यायाम एवं भारादि से किये गये शोष के लक्षण ही बलवान् होते हैं । वे ही उरःक्षत के कारण मान्य होने से अध्वशोषी में पाये जाते हैं अथवा क्षत (व्रण) को छोड़कर उरःक्षत के हेतु भार-अध्ययन आदि के अतिमात्रा में करने से जो शोष होता है, वह भी इन्हीं अतिमात्र करने वाले अध्वशोष के लक्षणों से संयुक्त होता है । व्रणयुक्त शोष के लक्षण आगे बताये गये हैं ।

व्रणशोष के लक्षण

रक्तक्षयाद् वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् ।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥

(सु. उ. ४१।२३)

रक्तक्षय, वेदना एवं आहार-नियन्त्रण के कारण व्रणरोगी में जो शोष होता है, वह असाध्य होता है ॥ २० ॥

कारणत्रयेण व्रणशोषिणमाह—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना व्रणवेदनाः, ताभिर्भयशोकवन्मनःक्षोभाद्वातप्रकोपादेव शोषः । स चासाध्यतम इति स्वार्थिकस्तमप्, यथा—'युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्' इति; अत्रेष्ठनैवातिशायिकप्रत्ययेन प्रशस्ततमत्वस्य प्रतिपादितत्वात् अथवा याप्यापेक्षयाऽसाध्यतमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते, याप्यस्याप्यसाध्यरूपत्वात् । ननु एवं सति 'कृशानां व्रणशोषिणाम् । बृंहणीयो विधि कार्यः' (सु. चि. १)' इति सुश्रुतेनैवोक्तम् चिकित्सितस्थाने विरुध्यते ? उच्यते; प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले तु चिकित्साविधानमिति समर्थनीयम् । चन्द्रिकाकारस्तु 'स चासाध्यतमः स्मृतः'—इत्यस्य स्थाने 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' इति पठति, चिकित्सायां बृंहणविधेरभिधानादिति ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—कारणत्रय से होने वाले व्रणशोषी के लक्षण कहते है—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना से व्रणवेदना का ग्रहण करते हैं । उनके कारण भय-शोक से पीड़ित मन में क्षोभ से वात का प्रकोप होता है और वातप्रकोप से ही शोष होता है । 'असाध्यतमः' यहाँ स्वार्थ में 'तमप्' प्रत्यय होता है । जैसे 'युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरुणाम्' यहाँ युधिष्ठिर को अन्य कुरुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है, वैसे पूर्वोक्त व्यायामशोषी आदि की अपेक्षा व्रणशोष अतिशय असाध्य होता है अथवा याप्य की अपेक्षा असाध्यतम शब्द से व्रणशोष की प्रत्याख्येयता बतलायी गयी है । याप्य भी असाध्य का एक रूप (भेद) होता है ।

यहाँ शङ्का होती है कि इसको असाध्य कहा गया है, किन्तु सुश्रुत में 'कृशानां व्रणशोषिणाम् । बृंहणीयो विधिः कार्यः' (सु. चि. १) अर्थात् बृहंण विधि द्वारा इसकी चिकित्सा बतलायी गयी है । इस प्रकार दोनों बातें परस्पर विरुद्ध लगती है ? इसका समाधान करते हैं कि शोष की प्रबलावस्था में प्रत्याख्येय समझना चाहिए तथा नातिप्रबलावस्था में चिकित्सा-विधान करना चाहिए । चन्द्रिकाकार 'स चासाध्यतमः स्मृतः' के स्थान पर 'याप्यासाध्यतमस्तु' ऐसा पाठ मानते हैं, क्योंकि चिकित्सा में 'बृहंणविधि' का विधान किया गया है ॥ २० ॥

उरःक्षत का निदान एवं लक्षण

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥ २१ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ २२ ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चाऽपि प्रनृत्यतः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पमिताशिनः ॥ २५ ॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते ।
प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ २६ ॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते ।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः ।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥ २८ ॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ।
(च. चि. ११।४-१२।१)

ऐसा व्यक्ति जो अपनी शक्ति से अधिक बल लगाकर धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) खींचता हो, अपनी शक्ति से अधिक भार (बोझ) ढोता हो, विषम तथा ऊँचे स्थान से गिरा हो, अपने से अधिक बलवान् व्यक्ति के साथ युद्ध करता हो, दौड़ते हुए बैल या घोड़ा तथा अन्य दमन करने योग्य ऊँट या हाथी आदि को रोकता हो, अतिभारी शिला (पत्थर), काठ, अश्म (इतर प्रस्तरखण्ड), निर्घात (अस्त्रविशेष) को बलपूर्वक फेंकता हो, शत्रुओं के साथ लड़ाई करता हो, अति ऊँचे स्वर से पढ़ता हो, दूर तक शीघ्रगामी सवारी के साथ दौड़ता हो, महानदी (चौड़ी नदी) को तैरता हो, सहसा दूर या ऊँचे स्थान से गिरा हो, जल्दी-जल्दी देर तक नाचता हो, अन्य इसी प्रकार क्रूर कर्म करता हो तथा जिसे दारुण आघात लगा हो, ऐसे व्यक्ति के वक्षःस्थल में क्षत हो जाने पर बलवान् उरःक्षत नामक व्याधि हो जाती है। इसी प्रकार रूक्ष, अल्प एवं परिमित भोजन करते हुए स्त्रियों के साथ अधिक सम्भोग करने से उरःस्थल विदीर्ण हो जाता है ॥

इससे छाती में अत्यधिक भेदनवत् पीड़ा होती है और पार्श्व में भी पीड़ा होती है। शरीर के अङ्ग रूखे हो जाते हैं। क्रमशः बल, वर्ण, रुचि एवं अग्नि क्षीण

होने लगती है। वह रोगी ज्वर-व्यथा, मन की हीनता अतिसार तथा अग्निमान्द्य से पीड़ित होता है। खाँसते समय दुष्ट, श्याववर्ण, दुर्गन्धयुक्त, पीला, गठीला तथा रक्तमिश्रित कफ निकलता है। उरःक्षत का रोगी क्षत के कारण तथा शुक्र एव ओज के क्षय के कारण अत्यन्त क्षीण हो जाता है॥

शोषनिदानेनैव साहसादिना उरःक्षतस्य सम्भवात्, उरःक्षतेनापि शोषसंभवात्, शोषाधिकारे सनिदानमुरःक्षतमाह—धनुषेत्यादि। आयस्यत इति आयासं कुर्वतः 'नरस्य' इति शेषः, 'आयम्यतः' इति पाठान्तरे विस्तीर्यमाणहृदयस्य। दम्यं दमनार्हं वृषादिकमेव बलवन्तमित्यर्थः। अन्यं वा गजोष्ट्रादिकं, निगृह्णतः। शिला दीर्घशिला, अश्मा तदितरप्रस्तरखण्डः, निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसम्पादितः। निघ्नतः परान् शत्रून् ताडयतः। अधीयानस्य पठतः। महानदीस्तरत इति, 'बाहुभ्याम्' इति शेषः। तूर्णं शीघ्रम्। तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्मल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य। क्रूरैरित्यत्र शूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये। एषां कारणानां मध्ये किंचिन्निखिलदेहस्यायासकरं, किंचिदुरस एवेति बोद्धव्यम्। व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपि व्याधिशब्दं लभन्त' इत्यागमादिति जेज्जटः। उरो विभज्यते भज्यत इव, भिद्यते विदार्यते द्विधा क्रियत इति पाठान्तरमसंगतम्; कारणाभावात्, टीकाकारैरव्याख्यातत्वाच्च। वीर्यं शक्तिः, बलं मांसोपचयः। 'विड्भेदोऽग्निवधादपि'ति पाठान्तरे अग्निवधाद्धेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः। अपिशब्दात् व्याधिमहिम्ना विनाऽप्यग्निवधाद्विड्भेदो भवतीत्याहुः। दुष्टो व्यापन्नः, तदेव विवृणोति—श्याव इत्यादि। 'विग्रथितो विशेषेण ग्रन्थिलः विबद्धः' इति जेज्जटः। स पुरुषः क्षती उरःक्षतवान्, क्षीयते धातुशोषमाप्नोति। न केवलं क्षतादेव क्षीयते, किं तर्हि स्त्रीसेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपीत्याह--तथेत्यादि॥ २१-२८॥

सरोज व्याख्या— शोष के कारण साहस आदि से उरःक्षत सम्भव है और उरःक्षत से शोष हो जाता है। अतः शोषाधिकार में उरःक्षत का निदान कहते हैं—धनुषेत्यादि। आयस्यतः—अर्थात् आयास (श्रम) करने वाले मनुष्य का। आयम्यतः ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। अर्थात् जिसका हृदय विस्तीर्ण हो गया हो। दम्यम्—दौड़ते हुए बलवान् बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट को रोकते हुए पुरुष का। दीर्घशिला—(लम्बे पत्थर) को शिला कहते हैं। अन्य पत्थर के टुकड़े को अश्म कहते हैं। निर्घात अस्त्रविशेष को कहते हैं। पत्थर आदि पर विशेष बल से किये गये प्रहार को शिलानिर्घात कहते हैं। निघ्नतः परान्—शत्रुओं पर प्रहार करने वाले। अधीयानस्य—ऊँचे स्वर से पढ़ना। महानदी (चौड़ी) को बाहुओं से तैरने वाले, यहाँ 'बाहुभ्यां' जोड़ लेना चाहिए। तूर्णम्—शीघ्र। तथाऽन्यैः कर्मभिः—अन्य मल्ल युद्धादि क्रूर

कर्मों से आहत हुए हो। अन्य आचार्य क्रूर शब्द का अर्थ शत्रु करते हैं। इन कारणों में कुछ कारण सम्पूर्ण शरीर में श्रमजनित थकावट पैदा करते हैं और कुछ उरःक्षत को।

व्याधि शब्द से उरःक्षत रोग का लक्षण अथवा वायु समझना चाहिये, क्योंकि दोष भी व्याधि शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है। उपर्युक्त कारणों से जब वक्षःस्थल पर आघात होता है, तब वक्षस्थल में भेदनवत् पीड़ा होती है। 'विदह्यते' पाठान्तर भी मिलता है, किन्तु वह पाठ असंगत है, क्योंकि इसके लिये कोई कारण नहीं है तथा टीकाकारों ने इस शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की है। वीर्य शब्द से शक्ति समझना चाहिये। बल शब्द से मांसोपचय जानना चाहिए। विड्भेदोऽग्निवधादपि—ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है कि कोष्ठाग्नि के नष्ट होने से विड्भेद (अतिसार) हो जाता है। 'अपि' शब्द से कभी-कभी अग्निवध (मन्दाग्नि) के विना भी व्याधिप्रभाव से अतिसार हो जाता है। ऐसा कुछ लोग मानते हैं। दुष्ट—विकृत हुआ कफ। श्याव इत्यादि कफ का विशेषण है। विग्रथित—विशेष रूप से ग्रन्थिल (गांठदार) कफ निकलता है। जेज्जट ने विग्रथित शब्द का विबद्ध अर्थात् बँधा हुआ अर्थ किया है। उपर्युक्त कारणों से उरःक्षतयुक्त पुरुष धातुशोष को प्राप्त हो जाता है। रोगी न केवल क्षत से ही क्षीण होता है बल्कि मैथुन आदि के कारण शुक्र एवं ओज के क्षय से भी क्षीण हो जाता है॥

पूर्वरूप

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥ २९॥

(च. चि. ११।१२-२)

उरःक्षत के लक्षणों का जो ऊपर वर्णन किया गया है, उनका अव्यक्त (अप्रकट) अवस्था में होना ही उसका पूर्वरूप होता है॥ २९॥

पूर्वरूपमाह—अव्यक्तमित्यादि॥ २९॥

सरोज व्याख्या—पूर्वरूप कहते हैं—अव्यक्तमित्यादि। उरःक्षत के अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप होते हैं॥ २९॥

क्षत एवं क्षीण के विभेदक लक्षण

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः॥ ३०॥

(च. चि. ११।१३)

उर में पीड़ा, रक्तवमन एवं विशेष प्रकार की खाँसी का होना उरःक्षत का विशेष लक्षण होता है। रक्तसहित मूत्रत्याग, पार्श्व, पृष्ठ एवं कटी में जकड़ाहट होना क्षीण का लक्षण है॥ ३०॥

क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—उरोरुगित्यादि। वैशेषिको विशिष्टः कासः, स च विशेष उक्तो दुष्टश्यावादिकफसंयुक्तत्वेन किंवा वैशेषिक उद्भूतः। क्षत इति छेदः। क्षीण इति क्षय इत्यर्थः। सरक्तमूत्रत्वम् आलोहितमूत्रता ॥ ३० ॥

सरोज व्याख्या—क्षत और क्षीण के असाधारण लक्षण कहते हैं—उरोरुगित्यादि। वैशेषिकः कासः—अर्थात् उरःक्षत में विशेष प्रकार का कास होता है। वह दुष्ट, श्याव आदि कफ से मिला हुआ होता है। क्षय अर्थात् क्षीण कास की अपेक्षा उरःक्षत में कास अधिक होता है। क्षते-यहाँ उरःक्षत विषय समाप्त हो जाता है। क्षीण से क्षय समझना चाहिए। सरक्तमूत्रत्वम्—मूत्र लालवर्ण अथवा रक्तमिश्रित होता है ॥ ३० ॥

साध्यासाध्य

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ ३१ ॥
(च. चि. ११।१४)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ॥

यदि रोगी अल्पलक्षणयुक्त एवं बलवान् हो अग्नि प्रदीप्त हो तथा रोग नया हो, तो वह साध्य होता है, यदि एक वर्ष पुराना हो, तो असाध्य होता है ॥ ३१ ॥

तयोः साध्यलक्षणमाह—अल्पेत्यादि ॥ ३१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां राजयक्ष्मक्षतक्षीण-
निदानं समाप्तम् ॥ १० ॥

प्रयोगशालीय-परीक्षण—

१. ष्ठीवन परीक्षण—थूक का परीक्षण करने पर यक्ष्मा के जीवाणु मिलते हैं।
२. रक्त परीक्षण—रक्तावसादन गति (E. S. R.) वृद्धि से निदान में सहायता मिलती है। श्वेत रक्तकणिकाएँ बढ़ी होती है।
३. ट्यूबरकुलीन परीक्षण—इस परीक्षण में अधस्त्वक् में मानटूक्स (Mantoux) विधि से इन्जेक्शन लगाते हैं। यदि यक्ष्मा की स्थिति होती है, तो उस क्षेत्र में ५ मि० मी० क्षेत्र में ३६ से ७२ घण्टे के अन्दर एक गाँठदार रक्तिमा उत्पन्न हो जाती है।
४. एक्सरे परीक्षण--एक्सरे के द्वारा इस रोग के निदान में पर्याप्त सहायता मिलती है। अतः थोड़ा संशय होने पर तत्काल एक्सरे (P. A. Chest) कराना चाहिए ॥ ३१ ॥

⊙

एकादशोऽध्यायः

कासनिदानम्

कास का हेतु एवं सम्प्राप्ति

धूमोपघाताद् रसतस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥ १ ॥
(सु० उ० ५१।४८)

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥ २ ॥

मुख एवं नासिका में धूम के प्रवेश करने से, रजसः—धूल आदि के मुख एवं नासिका में जाने से अथवा 'रसतः' वायु द्वारा कण्ठतक पहुँचाए गये आमरस से, रूक्ष अन्न के सेवन से, विमार्ग (प्राणवह स्रोतस) में भोजन के चले जाने से, तथा मलादि एवं छींक के वेग से रोकने से दुष्ट प्राणवायु उदानवायु से मिलकर फूटे हुए कांस्यपात्र के ठोकने से हुए शब्द के समान शब्द करता हुआ दोष (कफ-पित्त) सहित मुख से सहसा निकलता है । इस अवस्था को बुद्धिमान् चिकित्सक 'कास' कहते हैं ॥ १-२ ॥

क्षयरूपे कासपाठात् कासोपेक्षया च क्षयोत्पत्तेस्तदनन्तरं कासनिदानमाह- धूमोपघातादित्यादि । धूमेन मुखनासाप्रविष्टेनोपघातो धूमोपघातः । रसत इति वातेनोर्ध्वनीतादामरसात् । रजस इति पाठान्तरे मुखनासाप्रविष्टधूलेरित्यर्थः । विमार्गगत्वं च हि भोजनस्यातिद्रुताभ्यवहारादिना, च-शब्दः समुच्चये, हि-पादपूरणे । वेगावरोधादिति पुरीषादेः, तेन हि वायुरूर्ध्वगः स्यात् । क्षवथोस्तथैवेति, वेगावरोधादिति सम्बन्धः । प्राणो वायुरुदानेन दुष्टेनानुगतो वक्त्रान्निरेति । स वायुः, भिन्नकांस्यपात्रवत् हतस्वनः कास इति प्रदिष्टः । सदोषः सकफपित्तः, वातिकपैत्तिकादिभेदभिन्न इति वा । एतेनैव समानस्थाननिदानाभ्यां हिक्काश्वासाभ्यामस्य भेदः, न हि तत्र वातिकपैत्तिकादिभेदेन व्यपदेश इति गदाधरः । कसति शिरः कण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, 'कस गतौ' इत्यस्मात् । 'कसनात् कासः' (च. चि. १८) इति चरके पाठः, कासनं कास इति वा, 'भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव' (सु. उ. २) इति सुश्रुतदर्शनात् ॥ १-२ ॥

सरोज व्याख्या—क्षयरोग के लक्षणों में कास प्रमुख लक्षण होने से तथा

कास की उपेक्षा करने से क्षय की उत्पत्ति होने के कारण क्षय के पश्चात् कास का निदान बतलाते हैं—धूमोपघातादित्यादि। धूमोपघात—मुख एवं नासा में सहसा धूम का प्रवेश होने से। रसतः—वायु द्वारा कण्ठ तक लाये गये आम रस से। 'रसतः' के स्थान पर 'रजसः' पाठान्तर भी मिलता है। 'रजसः'—धूल इत्यादि नाक एवं मुँह में जाने से। त्रिमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य—भोजन के विमार्गगामी होने से। अर्थात् भोजन का कुछ कण मुख से आहार नली द्वारा आमाशय में न जाकर प्राणवह स्रोतस् में फँस जाँय। वेगावरोधादिति—पुरीषादि का वेग रोकने से अपान वायु प्रतिलोम होकर ऊपर की ओर उठता है तथा छींक का वेग रोकने से प्राणवायु दूषित उदान वायु से मिलकर सहसा मुखमार्ग से निकलता है। वह वायु फूटे हुए काँसे के पात्र की तरह शब्द करता हुआ निकलता है, उसको 'कास' कहा जाता है।

सदोषः--पित्त और कफ सहित वायु। अर्थात् खाँसते समय वायु के साथ पित्त या कफ निकलता है। हिक्का, श्वास तथा कास तीनों के स्थान एवं निदान समान होने पर 'कास' को दोनों से भिन्न इसीलिए किया जाता है कि हिक्का एवं श्वास के वेग के समय कोई पदार्थ बाहर नहीं निकलता, जब कि कास में कफ या पित्त बाहर निकलता है तथा कास का वातिक पैत्तिक एवं कफादि भेद होता है, जबकि श्वास को वातिकादि भेद न होकर ऊर्ध्वश्वास आदि तथा हिक्का का अन्नजा, यमला इत्यादि भेद होता है। ऐसा आचार्य गदाधर का कथन है। वैयाकरणों की रीति से कास शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है--वायु शिर कण्ठ से ऊपर निकल जाय, उसे कास कहते हैं। कसति इति कासः। 'कस्' धातु से 'कास' शब्द की निष्पत्ति होती है। चरक के अनुसार सूखी हो अथवा कफयुक्त हो, खाँसने से ही, उसी कास को खाँसी कहते हैं अथवा 'कसनं कासः' ऐसी निरुक्ति भी देखी जाती है॥

कास की सम्प्राप्ति

बाह्य निदान धूमोपघात आदि आभ्यन्तर निदान
प्राणवह स्रोतस् में खवैगुण्य गलशोथ आदि } → वातप्रकोप



उदानानुगत प्राणवायु का मुख से सहसा बहिर्गमन



कास

दोष-दूष्य--अधिष्ठान—

दोष—वात (प्रधान) कफ।

दूष्य--रस, स्वरयन्त्र।

स्रोतस्--रसवह एवं प्राणवह ।
अधिष्ठान--प्राणवह स्रोतस्, उरःकण्ठ, श्वासपथ ।
स्रोतोविकार--शोथ एवं संग आदि ।

कास का भेद

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३ ॥

(अ. हृ. नि. ३।१७।२-१८।१)

कास पाँच प्रकार का होता है—वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षतज एवं क्षयज । सभी कास उपेक्षा करने पर क्षय में परिवर्तित हो जाते हैं । यह सब उत्तरोत्तर एक दूसरे से बलवान होते हैं ॥ ३ ॥

संख्यामाह—पञ्चेत्यादि । पञ्च कासा इति संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पञ्चग्रहणं जराकासस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिकत्वनिरासार्थम्, पञ्चानामपि वा क्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थमिति । क्षयाय धातुक्षयाय ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—कास की संख्या कहते हैं--पञ्चेत्यादि । वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षतज एवं क्षयज पञ्च भेद से पाँच प्रकार का कास होता है, इस प्रकार नामनिर्देश से पाँच प्रकार का कास ज्ञात होने पर पुनः 'पञ्चकास' कहने का प्रयोजन है कि 'जराकास', जो कि अन्त में पृथक् से बताया गया है, का भी दोषज कास में अन्तर्भाव हो जाय, अथवा पाँचों को क्षय का कारण प्रतिपादन करने के लिये 'पञ्च' शब्द का उल्लेख किया गया है । यहाँ पर क्षय शब्द से धातुक्षय समझना चाहिये ॥ ३ ॥

पूर्वरूप

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

(च. चि. १८।५)

गले एवं मुँह में शूक भर जाने के समान प्रतीत होना, कण्ठ में खुजली होना तथा भोजन निगलने में अवरोध (रुकावट) होना कास का पूर्वरूप है ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—पूर्वेत्यादि । भोज्यानामवरोध इत्यरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यं वा ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—कास का पूर्वरूप कहते हैं—पूर्वेत्यादि । भोज्यानाम् अवरोधः-भोज्य पदार्थों में अरुचि होती है अथवा उनके खाने का सामर्थ्य (शक्ति) नहीं होता । अर्थात् कास के वेग के कारण कुछ खाने-पीने में कठिनाई होती है तथा भोजन में अरुचि होती है ।

शूक—धान्य के अग्रभाग में सूक्ष्म कण्टकाकार रचना को कहा जाता है। सुश्रुत में पूर्वरूप कहा गया है—

भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डूर्भोज्योपरोधो गलतालुलेपः।
स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्निसादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि ॥
(सु० उ० ५२।७)

अर्थात् कण्ठ में कण्डू, भोज्य पदार्थों का गले में रुकना, गले और तालु में लेप, अपने प्राकृतिक शब्द में विषमता, अरुचि और अग्निमान्द्य होता है ॥ ४ ॥

वातज कास

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥
(सु. उ. ५२।८)

इसमें हृदय प्रदेश, शंख प्रदेश, सिर, उदर तथा पार्श्व में शूल होता है। रोगी का मुख सूखा तथा कान्तिहीन हो जाता है। बल, स्वर तथा ओज भी क्षीण हो जाता है। कास का वेग हमेशा आता रहता है। स्वर बैठ जाता है और सूखी खाँसी आती है ॥ ५ ॥

वातिककासस्वरूपमाह—हृदित्यादि। शङ्खो ललाटैकदेशः। क्षामाननः शुष्कमुखः, वातेन शोषणात्। प्रसक्तवेगः। शुष्कमिति श्लेष्मादिनिष्ठीवन-रहितम् ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—वातिक कास के लक्षण कहते हैं--हृदित्यादि। शङ्खो-ललाट के एक देश (Temporal Region) को शंख प्रदेश कहते हैं। क्षामाननः-शुष्कमुख, वायु द्वारा शोषण करने से मुख सूख जाता है। प्रसक्तवेगः-सतत (निरन्तर) कास का वेग आता है। शुष्कम्---श्लेष्मादि निष्ठीवन रहित कास का वेग आता है ॥ ५ ॥

पित्तज कास

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः ॥ ६ ॥
(सु. उ. ५२।९)

इसमें रोगी की छाती में जलन, ज्वर तथा मुख शोष होता है। मुख का स्वाद तिक्त रहता है एवं प्यास अधिक लगती है खाँसते समय पीला एवं कडुवा वमन निकलता है। शरीर पाण्डुवर्ण का हो जाता है और सारे शरीर में दाह होता है ॥६॥

पैत्तिककासमाह—उर इत्यादि। अभ्यर्दितः पीडितः ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या--पैत्तिक कास के लक्षण कहते हैं---उर इत्यादि। अभ्यर्दितः अर्थात् पीड़ित ॥ ६ ॥

श्लेष्मज कास

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥७॥
(सु. उ. ५२।१०)

इसमें रोगी का मुख कफ से लिप्त रहता है, अङ्ग अवसादयुक्त होता है, शिर में वेदना तथा शरीर कफ से भरा हुआ प्रतीत होता है। भोजन में अरुचि, शरीर में भारीपन तथा खुजली होती है, खाँसने से गाढ़ा कफ निकलता है ॥ ७ ॥

कफजकासमाह—प्रलिप्यमानेनेत्यादि। प्रलिप्यमानेन श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन् अङ्गावसादयुक्तः। अभक्तरुगरुचिः ॥ ७ ॥

सरोज व्याख्या---कफज कास के लक्षण कहते हैं—प्रलिप्यमानेनेत्यादि। प्रलिप्यमानेन--अर्थात् मुख कफ से लिप्त रहता है, सीदन—अङ्ग शिथिल हो जाता है, अभक्तरुक--भोजन में अरुचि होती है ॥ ७ ॥

क्षतज कास

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ १० ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥ ११ ॥
(च. चि. १८-२०।२२)

अत्यधिक मैथुन, अतिभारवाहन, अतिमार्गगमन, बलवान् व्यक्ति से युद्ध करना, घोड़े-हाथी को रोकना— इन कारणों से रूक्ष पुरुष के वक्षःस्थल में क्षत हो जाता है, तो वायु उस क्षत स्थान में पहुँचकर खाँसी को उत्पन्न करता है। पहले सूखी खाँसी आती है और बाद में खाँसी के साथ रक्त भी आने लगता है। इस अवस्था में गले में अत्यन्त पीड़ा तथा छाती में दर्द होता है। उसमें तीक्ष्ण सूइयाँ चुभती प्रतीत होती है। छाती तथा पार्श्वों में स्पर्शमात्र से वेदना, फटने की सी पीड़ा, जलन, सन्धियों में पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृष्णा एवं स्वरभेद होता है। क्षतज कास के वेग से कबूतर के समान घुर्घुराहट युक्त आवाज निकलती है ॥ ८--११ ॥

क्षतजकासमाह—अतिव्यवायेत्यादि। विग्रहो विधारणं युद्धस्योपात्तत्वात्; विग्रह इति पाठे स एवार्थः। ततः ष्ठीवेत् सशोणितमिति कासाभिघातेन हृदयस्य विदारणात्। कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुरसेति। विरुग्णेनेव, भग्नेनेव, सूचीभिरिव तुद्यमानेन, शूलिना दुःखस्पर्शेन चोरसेति संबन्धः, दुःखस्पर्शत्वं स्पर्शासहत्वम्। शूलेनोपलक्षितः तच्च पार्श्वादौ बोध्यम्। वाग्भटेनापि पठ्यते-'पार्श्वशूली' (वा. नि. अ. ३) इति। भेदपीडाभितापिनेति शूलविशेषणम्। पारावत इव कूजन्, भवतीति शेषः॥ ८-११॥

सरोज व्याख्या--क्षतज कास के लक्षण कहते हैं--अतिव्यवायेत्यादि। यहाँ विग्रह का विधारण (रोकना) अर्थ करना चाहिए, न कि युद्ध, क्योंकि युद्ध शब्द का उल्लेख पहले हो चुका है। ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्--अर्थात् कास के वेग से हृदय (फेफड़ा) के फट जाने से कास के साथ रक्त निकलता है। कण्ठेन—यहाँ उपलक्षण में तृतीया विभक्ति है, इसी प्रकार 'उरसा' में तृतीया विभक्ति है। विरुग्णेन इव--छाती में दर्द होता है, उसमें सूइयाँ चुभती प्रतीत होती हैं। शूलिना दुःखस्पर्शेन--अर्थात् स्पर्शमात्र से वेदना होती है। इन सबका सम्बन्ध 'उरसा' अर्थात् वक्षस्थल से है। इतना ही नहीं, बल्कि पार्श्व में अत्यन्त तीव्र शूल होता है। वाग्भट में भी 'पार्श्वशूली' (अ० हृ० नि० ३) ऐसा पाठ मिलता है। 'भेदपीडाभितापिनेति' यह भी शूल का विशेषण है, अर्थात् शूल के सन्दर्भ में आया है। रोगी की आवाज कबूतर की आवाज की तरह होती है। यहाँ 'भवति' क्रिया को जोड़ लेना चाहिए॥ ८--११॥

क्षयजकास का निदान एवं सम्प्राप्ति

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात्।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्॥ १२॥
(च. चि. १८।२४ २५-१)

विषम एवं असात्म्य भोजन करने से, अतिव्यवाय से, मल मूत्रादि के वेग रोकने से, अत्यन्त घृणा करने से एवं चिन्ता करने से मनुष्य की अग्नि के विकृत हो जाने पर कुपित हुए तीनों दोष शरीर का क्षय करने वाले क्षयज कास को उत्पन्न करते है॥ १२॥

क्षयज कास के लक्षण

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्।

तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥
(सु. उ. ५२।१२-१३)

रोगी के सम्पूर्ण शरीर में वेदना, ज्वर, दाह एवं मोह होता है और अन्त में प्राण का क्षय हो जाता है। रोगी धीरे-धीरे सूखता जाता है, उसका बल और मांस क्षीण हो जाता है तथा खांसी के साथ पूययुक्त रक्त निकलता है। इस प्रकार सब लक्षणों से युक्त कास को चिकित्सा में पारङ्गत विद्वान् दुश्चिकित्स्य (असाध्य) 'क्षयज कास' कहते हैं ॥ १३ ॥

क्षयजकासमाह—विषमेत्यादि। घृणिनां शोचतां चाहारभावात्कुपितेन वायुनाऽग्नेरुपप्लवाद्दोषत्रयप्रकोप इति। क्षयजमिति शुक्रादिधातुक्षयजं, न तु राजयक्ष्मजम्। त्रिदोषजेऽपि राजयक्ष्मणि कासः कफेनैव क्रियते। यदुक्तं—'कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः' इति; क्षयजकासस्तु त्रिदोषज इति। ननु कासादेव क्षयो जायते, तत्कथं क्षयजः कास इति; उक्तं हि—'कासात्सञ्जायते क्षयः' इति ? उच्यते, दृष्टो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्यकारणभावो बहुशः, यथाऽतीसारार्शोऽग्निमान्द्यादाविति। स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य क्षयजकासमध्ये पाठोऽयुक्तः प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात्; क्षयकासश्चात्र चरकसुश्रुतवाक्ये मेलयित्वा माधवकरेण लिखितः, उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकासः सुश्रुतेन पठितः; तेन स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य परेण सम्बन्धात् क्षयकासलिङ्गत्वमिति माधवकरस्याभिप्रायः; एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यतः क्षतकासस्यावस्थायामसाध्यत्वख्यापनपरमेतद्व्याख्यातं जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ॥ १३ ॥

सरोज व्याख्या--क्षयज कास के लक्षण कहते हैं--विषमेत्यादि। घृणिनां शोचतां--घृणा और चिन्ता के कारण रोगी जब कुछ भोजन नहीं लेता, तब प्रकुपित वायु से अग्नि का उपप्लव हो जाने से तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं। क्षयजम्--अर्थात् शुक्रादि धातुओं के क्षय से उत्पन्न होता है, न कि राजयक्ष्मा से। क्योंकि राजयक्ष्मा त्रिदोषज होता है, कास कफ से उत्पन्न होता है। जैसा कि कहा गया है--"कासः कण्ठस्य चोद्ध्वसो विज्ञेयः कफकोपतः" इति। इसके विपरीत क्षयज कास त्रिदोषज होता है।

अब शंका होती है—कास से ही क्षय उत्पन्न होता है फिर क्षय से कास कैसे उत्पन्न होता है; जैसाकि कहा गया है—'कासात्सजाते क्षयः' इति ? इसका समाधान यों किया गया है कि बहुधा व्याधिभेद से परस्पर कार्यकारणभाव देखा जाता है; जैसे अतिसार, अर्श और अग्निमान्द्य आदि में। अर्थात् अतिसार,

अग्निमान्द्य और अर्श को उत्पन्न करता है । अर्श, अग्निमान्द्य एवं अतिसार को तथा अग्निमान्द्य भी अर्श एवं अतिसार को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार कास से क्षय और क्षय से कास हो जाता है ।

स गात्रशूलज्वरमोहकासान्—इत्यादि श्लोकार्ध का 'क्षयज कास' में पाठ अयुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि सुश्रुत में इस श्लोकार्ध को 'क्षयज कास' में कहा गया है । यहाँ पर क्षयज कास को माधवकर ने चरक एवं सुश्रुत के वाक्य को मिलाकर लिखा है । इसको कुछ विद्वान् अनुचित मानते हैं । इस सम्बन्ध में कहते हैं कि सुश्रुत ने 'स गात्रशूल' इत्यादि क्षतज कास के अनन्तर क्षयज कास का उल्लेख किया है । इससे 'स गात्रशूल' इत्यादि श्लोकार्ध का पर से सम्बन्ध कर दिया है । अर्थात् क्षयज कास के साथ सम्बन्ध जोड़ करके क्षयज कास के लक्षणों के साथ मिला दिया है, ऐसा माधवकर का अभिप्राय है, किन्तु अन्य आचार्य माधवकर के उपर्युक्त अभिप्राय को नहीं मानते, क्योंकि आचार्य जेज्जट इस पाठ को क्षतज कास की असाध्यावस्था का ज्ञापक मानते हैं । आचार्य गयदास भी इसे क्षतज कास का लक्षण मानते हैं ॥ १३ ॥

कास की साध्यासाध्यता

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ १४ ॥

नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ।
त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥ १५ ॥

(च. चि. १८, २९।३१-१)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कासनिदानं समाप्तम् ॥

क्षयज कास क्षीण व्यक्तियों के शरीर का नाश कर देता है । बलवान् रोगियों में यह कास साध्य अथवा याप्य होता है । इसी प्रकार क्षतज कास भी क्षीण रोगियों का असाध्य एवं बलवान् में कभी साध्य एवं कभी याप्य होता है । नवीन क्षयज अथवा क्षतज कास वैद्य आदि चतुष्पाद की सम्पत्ति होने पर कदाचित् साध्य हो जाता है । वृद्धों में होने वाला सभी प्रकार का 'जरा कास' (धातुक्षयजन्य) याप्य होता है । इनमें प्रथम तीन (वातिक, पैत्तिक एवं कफज) कास की चिकित्सा करें, याप्य कास का पथ्यादि से यापन करें, जिससे वह असाध्य न होने पावे ॥ १४,१५ ॥

असाध्यत्वादिलक्षणमाह—इतीत्यादि । पादगुणान्विताविति वैद्यादि-

स्थविराणां वृद्धानां; स्थविराणामित्युक्तेऽपि जराशब्दोपादानं जरानिमित्तधातुक्षयज एव कासो याप्यः; अपचारजनितदोषजस्तु साध्य इति बोधनार्थम् ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कासनिदानं समाप्तम् ॥

इति कासनिदानं समाप्तम्

●

सरोज व्याख्या—कास की साध्यासाध्यता कहते हैं—इतीत्यादि। पादगुणान्वितौ–वैद्य, औषध, परिचारक एवं रोगी रूप चतुष्पाद् से सम्पन्न हों, स्थविराणां–वृद्धों का। स्थविर शब्द वृद्धावस्था के कास का सूचक है। वृद्धावस्था के कारण होने वाले धातुक्षय से उत्पन्न कास को स्थविराणां 'जराकासः' कहा गया है। ऐसा कास याप्य होता है। जो कास मिथ्याहारजन्य अपचार से तथा दोषजन्य होता है, वह साध्य होता है ॥

●

द्वादशोऽध्यायः

हिक्काश्वासनिदानम्

हिक्का-श्वास का निदान

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः ।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥ १ ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥ २ ॥

(सु. उ. ५०।३-४।१. ५।२)

विदाही, गुरु, विष्टम्भी, रूक्ष, अभिष्यन्दी भोजन के सेवन से, शीतल पेय तथा आहार से, शीतल स्थान में रहने से, धूल, धूम, धूप एवं वायु, व्यायाम, भारवाहन, मार्गगमन, वेगों को रोकने एवं अपतर्पण से मनुष्यों में हिक्का, श्वास एवं कास रोग उत्पन्न होता है ।

समाननिदानत्वात्कासानन्तरं हिक्काश्वासौ । ननु एतेषां प्रायस्तुल्यनिदानचिकित्सितत्वेनैकाधिकारे कथमनभिधानम् ? उच्यते; यद्यपि कासश्वासहिक्कानां निदानं समानं, तथापि कासस्य दोषभेदाद्भेदः, यथा--वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिक इत्यादि । हिक्काश्वासौ तु कफवातात्मकावेव, यदाह दृढबलः–'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ' (च. चि. १७) इति। सुश्रुतोऽप्याह–'वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि' (सु. उ. ५१) इति । भेदस्त्वनयोः संप्राप्तिभेदाद्वेगक्रियादिना च; न तु कासवद्दोषभेदेन; श्वासकासभ्यां हिक्कायाः स्वनतोऽपि भेदः । पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं सुश्रुतमते क्षुद्रां न प्राप्नोति, सा हि जत्रुमूलात्प्रधावितेति पठ्यते; चरकमते तु व्यपेतां न प्राप्नोति, साऽपि जत्रुमूलादसन्ततेति पठ्यते । तस्मात् 'पित्तस्थानसमुद्भवा'विति विशेषणं छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन बोध्यम्। शीतशब्दः पानादिभिस्त्रिभिः संबध्यते । रजो धूलिः, सा च धूमवन्नासादिप्रवेशात् कारणम् । व्यायामकर्म धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो मलादिवेगविधारणम्, अपतर्पणमनशनादि । कासश्चोक्तोऽप्येकनिदानत्वप्रतिपादनार्थं पुनरभिहित इति ॥ १-२ ॥

सरोज व्याख्या—हिक्का एवं श्वास रोग का कास के समान निदान होने से कास के पश्चात् इनका वर्णन किया है । अब शंका होती है, यदि इन दोनों के

निदान एवं चिकित्सा कास के तुल्य (समान) हैं, तब इनको कास के अधिकार में ही सम्मिलित क्यों नहीं किया गया ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि यद्यपि कास, श्वास एवं हिक्का का निदान समान ही है, तो भी दोषभेद से कास की इन दोनों से भिन्नता है। जैसे कास वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक इत्यादि होता है, किन्तु हिक्का एवं श्वास कफवातात्मक ही होते हैं। जैसा कि आचार्य दृढ़बल ने कहा है—'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ' (च. चि. १७)। सुश्रुत ने भी कहा है—"वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि" (सु. उ. ५१) इति। इसके अतिरिक्त इनमें सम्प्राप्ति, वेग तथा क्रिया में भिन्नता से भी अन्तर मिलता है, न कि कास के समान दोषभेद से। अर्थात् हिक्का को अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा, महती एवं श्वास को महा, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक तथा क्षुद्र इस प्रकार वेग एवं क्रिया के आधार पर भेद किया गया है, किन्तु कास को वातादि दोषभेद से विभक्त किया गया है। श्वास और कास की अपेक्षा हिक्का में एक विशेष शब्द होता है, अतः शब्दभेद से हिक्का इन दोनों से भिन्न हो जाती है।

चरकोक्त 'पित्तस्थानसमुद्भवौ' यह विशेषण क्षुद्रा नामक हिक्का में नहीं घटता, क्योंकि वह जत्रुमूल से उत्पन्न होती है, ऐसा सुश्रुत का कथन है और स्वयं चरक के कथनानुसार यह विशेषण व्यपेता (यमला) नामक हिक्का में भी नहीं घटता, क्योंकि वहाँ भी 'जत्रुमूलादसन्तता' ऐसा कहा गया है। इसलिए 'पित्तस्थानसमुद्भवौ' यह विशेषण 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से समझना चाहिए। अर्थात् यदि भीड़ में छतरी वालों की संख्या अधिक हो, तो कुछ छत्र-रहित व्यक्तियों की गणना भी उनमें ही कर ली जाती है।

'शीतपानाशनस्थान' में शीत शब्द पान (पेय पदार्थ), भोजन एवं स्थान तीनों के साथ लगेगा। अर्थात् शीतल पेय, शीतल भोजन एवं शीतल स्थान समझना चाहिए। रज धूल को कहा जाता है। वह धुएँ की तरह नासा में प्रवेश से श्वास का कारण हो जाती है। व्यायामकर्म से धनुष आदि खींचना समझना चाहिए। वेगाघातः—अर्थात् मलादि वेग धारण। अपतर्पण—अनशन आदि। कास का निर्देश पूर्व अध्याय में हो चुका है, फिर तीनों का निदान समान होने से 'हिक्का श्वासश्च कासश्च' ऐसा कहा गया है।

विमर्श—पूर्वोक्त पित्तस्थान पर व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने कहा है कि यहाँ पित्त स्थान से आमाशय समझना चाहिये। चरक ने आमाशय को कफ एवं पित्त दोनों का अधिष्ठान माना है। (च. सू. २०)। चक्रपाणि ने कहा है

कि आमाशय का ऊर्ध्व भाग कफ का तथा अधोभाग पित्त का स्थान है। आमाशय के अधोभाग में अम्लरसप्रधान पाचकरस का उद्रेचन होता है। आहार द्वारा गृहीत अन्न जो ऊर्ध्व आमाशय में उद्रिक्त मधुर रस-प्रधान क्लेदक कफ से क्लिन्न और मृदु हुआ करता है, इस अम्लरसप्रधान पाचक रस से विश्लेषित होता है। इस आधार पर कुछ लोग अम्लरसप्रधान पाचक पित्त की अल्पता या अधिकता के साथ श्वास और हिक्का का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

वास्तव में पच्यमानाशय को भी आमाशय अथवा चक्रपाणिके अनुसार अधो-आमाशय मानना ठीक है। सुश्रुत ने आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य में स्थित महास्रोत के भाग को प्रधान पित्तस्थान कहा है—'पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तम्' (सु. सू. २१।६)। पाचक पित्त एवं पाचक अङ्गों की दुर्बलता से अन्न का जो भाग अपक्व या अपूर्ण पक्व होता है—वही आम कहलाता है। अशोष्य आम महास्रोत में रहकर छर्दि, अतिसार एवं विसूचिका आदि का कारण होता है। जो मार्ग आंशिक पाक होने के कारण शोषणीय होता है, परन्तु धातुओं के लिये ग्राह्य नहीं होता, वह भी आम कहलता है। धातुओं द्वारा ग्राह्य न होने के कारण अपनी विकृति एवं दोषों के साथ सम्बन्ध के अनुसार अनेक विकारों को उत्पन्न करता है। विकृति की अल्पता एवं अधिकता के अनुसार यह अहित, असात्म्य, विरुद्ध एवं आमविष आदि नामों गृहीत होता है। अर्वाचीन शास्त्रों में इसे 'अलर्जन' (Allergen) कहते हैं। इन्हीं आम विषों में 'हिस्टेमीन' (Histamine) नामक एक आमरस मांस तत्त्व भी होता है, जो हिक्का एवं श्वास का प्रधान कारण होता है।[1]

हिक्का का स्वरूप एवं निरुक्ति

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः॥ ३॥
(सु. उ. ५०।६)

जिस रोग में बार-बार हिक्-हिक् इस प्रकार शब्द करता हुआ प्रकुपित (प्राण एवं उदान) वायु यकृत, प्लीहा तथा आन्त्र को मुख द्वारा बाहर निकालता हुआ सा प्रतीत होता है। चूंकि यह शब्द प्राणघातक होता है, इसलिए बुद्धिमान् लोग इसे 'हिक्का' कहते हैं।

हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिं चाह—मुहुर्मुहुरित्यादि। वायुरत्र सोदानः

---

१. हिक्का श्वास में पित्त स्थान का विवेचन, वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ।

प्राण इत्याहुः। उदेति ऊर्ध्वं गच्छति। सस्वन इति हिगितिशब्दवान्। ऊर्ध्वं-गमनमेव विशिनष्टि—यकृदित्यादि। अत्र प्लिहेति ह्रस्वेकारश्छन्दोऽनुरोधात्। मुखादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, तेन यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमानीय, आक्षिपन् निःसारयन्निवेत्यर्थः। स इति वायुः। 'हिनस्त्यसून्' इति हिक्केति निरुक्तिः, पृषोदरादिना रूपसिद्धिः। 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का' इति शाब्दिकाः॥ ३॥

सरोज व्याख्या—हिक्का का स्वरूप एवं निरुक्ति कहते हैं—मुहुर्मुहुरित्यादि। यहाँ पर वायु से उदानसहित प्राणवायु का ग्रहण होता है। उदेति—अर्थात् हिक्-हिक् इस प्रकार शब्द करता हुआ वायु ऊपर की ओर उठता है। वायु के ऊर्ध्वगमन का यकृत, प्लीहा एवं आन्त्र द्वारा विश्लेषण बतलाते हैं। 'प्लीहा' शब्द में दीर्घ ईकार होता है, किन्तु यहाँ पर छन्द के अनुरोध (छन्दोभङ्ग दोष से बचने हेतु) से 'प्लिहा' इस प्रकार ह्रस्व का प्रयोग किया गया है। मुखात्—यहाँ पर 'ल्यप्' प्रत्यय का लोप होने पर पञ्चमी विभक्ति कर दी गयी है, इससे इसका अर्थ यकृत, प्लीहा एवं आन्त्र को मुख तक लाकर बाहर निकालना ऐसा अर्थ हो जाता है। 'स' शब्द से वायु समझना चाहिए। 'हिनस्त्यसून् इति हिक्का' अर्थात् प्राणों को नष्ट करने वाली हो, उसे हिक्का कहते हैं। यह हिक्का की निरुक्ति है। पृषो-दरादिगण से इसकी रूपसिद्धि जाती है। अर्थात् 'हिनस्ति कायं' इस विग्रह में 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' पाणिनीय सूत्र द्वारा हिक्का शब्द की सिद्धि होती है, अथवा शाब्दिक (वैयाकरण लोग) हिक्का की निरुक्ति करते हैं—'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का'। अर्थात् जिसके कारण रोगी हिक्-हिक् इस प्रकार शब्द करता है, उसे 'हिक्का' कहते हैं।

विमर्श—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से हिक्का की उत्पत्ति महा-प्राचीर पेशी (Diaphragm) के असामयिक संकोच (Clonic Spasm) के कारण होता है। महाप्राचीर पेशी के असंयत संकुचन के कारण से उरोगुहा की शून्यता तथा इपीग्लाटिश के खुलने की प्रक्रिया में व्यतिक्रम हो जाने से श्वास वायु-मार्ग में ही अवरुद्ध हो जाती है और तत्फलस्वरूप हिक्-हिक् शब्द उत्पन्न होता है।

दोष—कफयुक्त वायु (प्राण-उदान)।

दूष्य—अन्न, श्वासवायु।

अधिष्ठान—पित्तस्थान समुद्भव एवं स्वरयन्त्र।

हिक्का के भेद

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥ ४ ॥

(सु. उ. ५०।७)

कफ से युक्त वायु अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती नाम की पाँच हिक्काओं को उत्पन्न करती है ।

तासां भेदं संप्राप्तिं चाह—अन्नजामित्यादि । यमलैव चरके व्यपेतेति नाम्ना पठिता, अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो हेतोः । अस्यां चानुक्तमपि यमलवेगत्वं सुश्रुतदर्शनाद्विज्ञेयम् । अन्नजायाः साध्यत्वेन प्राशस्त्यात्पूर्वमभिधानम् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—हिक्का के भेद एवं सम्प्राप्ति कहते हैं—अन्नजामित्यादि । 'यमला' हिक्का को ही चरक में 'व्यपेता' नाम से कहा गया है । यह अन्नपान के पच जाने पर होती है, इस कारण से इसको 'व्यपेता' कहते हैं । यद्यपि चरक ने व्यपेता में यमल (दो) वेगों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि सुश्रुत के वर्णनानुसार व्यपेता में उसका समावेश कर लेना चाहिए ॥ ४ ॥

अन्नजा हिक्का साध्य होने के कारण प्रशस्त होने से सर्वप्रथम उसका वर्णन किया जा रहा है ।

हिक्का का सामान्य पूर्वरूप

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५ ॥

(च. चि. १७।१८)

कण्ठ एवं वक्षःस्थल (कण्ठनलिका एवं फुफ्फुस) में भारीपन, मुख में कसैलापन और उदर में गुड़गुड़ाहट—ये हिक्का के पूर्वरूप है ।

पूर्वरूपमाह—कण्ठोरसोरित्यादि । वदनस्य कषायता वातात्, न तु कफात्, माधुर्यं व्याधिप्रभवात् ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—हिक्का का पूर्वरूप कहते हैं—कण्ठोरसोरित्यादि । वदनस्य कषायता—अर्थात् मुख का स्वाद वात के कारण कसैला हो जाता है । वायु के साथ कफ का भी अनुबन्ध होता है, इसलिए मुख का स्वाद मधुर भी होना चाहिए, किन्तु व्याधिप्रभाव से ऐसा नहीं होता ।

अन्नजा हिक्का

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ६ ॥

(सु. उ. ५०.९।२-१०।१)

अत्यधिक पेय और भोज्य पदार्थों के सेवन से एकाएक पीड़ित हुआ वायु ऊर्ध्वगामी होकर हिक्का को उत्पन्न करता है। इसे वैद्य लोग अन्नजा हिक्का कहते हैं ॥ ६ ॥

अन्नजाया लक्षणमाह—पानान्नैरित्यादि। हिक्कयति हिक्कां करोति ॥

सरोज व्याख्या—अन्नजा हिक्का के लक्षण कहते हैं—पानान्नैरित्यादि। हिक्कयति अर्थात् हिक्का को करती है ॥ ६ ॥

यमला हिक्का

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते ।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ ७ ॥

(सु. उ. ५०.१०।२, ११।१)

जो हिक्का विलम्ब से किन्तु युगल वेग से शिर तथा ग्रीवा में कम्पन के साथ उत्पन्न हो, उसे यमला हिक्का कहते हैं ॥ ७ ॥

यमलामाह—चिरेणेत्यादि। कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणम्, तेन चरकोक्तप्रलापमूर्च्छावमितृष्णावैचित्यजृम्भाविप्लुताक्षत्वमुखशोषा बोध्या इति गयदासः ॥ ७ ॥

सरोज व्याख्या—यमला हिक्का का लक्षण कहते हैं—चिरेणेत्यादि। कम्पयन्ति शिरोग्रीवम्-अर्थात् शिर एवं ग्रीवा का कम्पन उपलक्षणमात्र है। इसके अलावा चरकोक्त प्रलाप, मूर्च्छा, वमन, तृष्णा, बेचैनी, जृम्भा, विप्लुताक्ष (आखों में पानी आना) तथा मुखशोष भी हो जाता है। ऐसा गयदास का मत है।[1]

क्षुद्रा हिक्का

प्रकृष्टकालैर्या[2] वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥ ८ ॥

(सु. उ. ५०.११।२-१२।१)

---

१. यमलैव चरके व्यपतेति पठ्यते। (डल्हण)
२. आतङ्कदर्पण में 'विकृष्टकालैः अचिरकालैः' कहा गया है।

जो हिक्का विलम्ब से मन्द-मन्द वेगों के साथ जत्रु-मूल से उत्पन्न हो, उसे क्षुद्रा हिक्का कहते हैं।

क्षुद्रामाह—प्रकृष्टेत्यादि। प्रकृष्टकालैश्चिरेण। जत्रु कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः; जत्रु ग्रीवामूलं तद्ग्रहणेनैव हृदयक्लोमकण्ठग्रहणमिति गयदासः ॥ ८ ॥

सरोज व्याख्या—क्षुद्रा का लक्षण कहते हैं—प्रकृष्टेत्यादि। प्रकृष्टकालैः—चिरकाल से। कण्ठ और उरस् (वक्षःस्थल) की सन्धि को जत्रु कहा जाता है, ऐसा जेज्जट का मत है। ग्रीवामूल को जत्रु कहा जाता है। उसके ग्रहण से हृदय, क्लोम एवं कण्ठ का ग्रहण होता है, ऐसा आचार्य गयदास का कथन है ॥ ८ ॥

गम्भीरा हिक्का

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ ९ ॥

(सु. उ. ५०.१२।२-१३।२)

जो हिक्का नाभि से उठकर गम्भीर शब्द उत्पन्न करती हो तथा अनेक उपद्रवों से युक्त हो, उसे गम्भीरा हिक्का कहते हैं ॥ ९ ॥

गम्भीरामाह—नाभीत्यादि। नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रभृति सञ्जाता, अत एवास्या गम्भीरत्वम्। अनेकोपद्रववती तृष्णाज्वरादियुक्ता ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—गम्भीरा हिक्का का लक्षण कहते हैं—नाभीत्यादि नाभिप्रवृत्त अर्थात् नाभि से उत्पन्न होती है। यही इसकी गम्भीरता है। अनेकोपद्रववती अर्थात् तृष्णा, ज्वर आदि से अनेक उपद्रव युक्त होती है ॥ ९ ॥

महा हिक्का

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥ १० ॥

(सु. उ. ५०.१४।१-१४।३)

जो हिक्का मर्मों (शिर, हृदय एवं वस्ति) को पीड़ित करती हुई निरन्तर चलती रहती है तथा सम्पूर्ण शरीर को कंपाने वाली होती है, उसे महा हिक्का कहते हैं ॥

महतीमाह—मर्माणीत्यादि। मर्माणीति प्रधानानि बस्तिहृदयशिरांसि ॥ १० ॥

सरोज व्याख्या—महती हिक्का का लक्षण कहते हैं—मर्माणीत्यादि। मर्माणि अर्थात् वस्ति, हृदय एवं शिर-इन तीन प्रधान मर्मों को पीड़ित करती है ॥ १० ॥

हिक्का की साध्यासाध्यता

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो,
दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम्।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं,
तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥ ११ ॥
(सु० उ० ५०।१५)

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।
यमिका च प्रलापार्तिमोहतृष्णासमन्विता ॥ १३ ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः।
तस्य साधयितुं शक्यो यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ १४ ॥
(च. चि. १७। ४१-४३)

हिचकी लेते समय जिस रोगी का शरीर फैल जाता हो, जिसके नेत्र ऊपर को चढ़ गये हो, शरीर संकुचित हो गया हो, जो रोगी क्षीण हो गया हो तथा भोजन में अरुचि हो, जिसको अत्यधिक छींक आती हो, वह हिक्का असाध्य होती है। इसके अतिरिक्त अन्त की दो हिक्काएं (महती तथा गम्भीरा) स्वभावतः असाध्य होती हैं।

जिसके शरीर में दोष अतिमात्रा में संचित हो गये हों, भोजन न करने से जो कृश हो गया हो, रोगों द्वारा जिसका शरीर क्षीण हो गया हो, जो वृद्ध एवं अति मैथुनशील हो, ऐसे लोगों को जो भी हिक्का होती है, वह उन्हें मार देती है।

प्रलाप, पीड़ा, मोह और तृष्णा से युक्त यमला हिक्का असाध्य होती है। अक्षीण (बलवान्), अदीन (प्रसन्नमन), जिसकी धातुएँ एवं इन्द्रियाँ स्थिर हो, ऐसे रोगी की यमला हिक्का साध्य होती है, इसके विपरीत अवस्था में होने पर असाध्य होती है ॥ १४ ॥

अवस्थायामसाध्यत्वमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते विस्तार्यत इव दृष्टिश्चोर्ध्वं भवतीति शेषः। नाम्यते आकुञ्च्यते देह इति सम्बन्ध इति जेज्जटगयदासौ। ताम्यतीति पाठान्तरे मुह्यति हिक्की। क्षौति छिक्कति। तौ द्वाविति आयम्यत इत्यादिना नित्यमित्यन्तेनैकावस्थो हिक्की, क्षीणेत्यादिनाऽतिमात्रान्तेनापरः; साध्यानामपि मध्ये एवंविधौ वर्जयेदित्यर्थः। गम्भीरामहत्योः स्वभावादेवासाध्यत्वमिति तद्युक्तौ हिक्कमानावन्त्यौ शेषपठितावसाध्यौ। पाठान्तराणि व्याख्याविशेषाश्च विस्तरभयान्न लिखिताः।

आसां या सेति । आसां साध्यहिक्कानां मध्ये याऽतिसञ्चितदोषादेर्भवति सा हन्तीति योज्यम्, अथवा आसामिति पञ्चविधानामेव। तेन महतीप्रभृतीनां स्वरूपेण यदसाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकम्। यदाह जतूकर्णः—'आद्या दुःसाध्या, यमिका मोहतृष्णावतः सद्यः प्राणहृत्—इति। यमिकेत्यादि। यमिका चेत्यनेन चकारात् क्षुद्रा अन्नजा वा या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलैर्वेगैर्जायमाना हन्तीति योज्यम्। सैवाक्षीणादेः साध्या भवतीत्याह—अक्षीण इत्यादि। अक्षीणो बलवान्। अदीनः प्रसन्नमनाः। अन्ये तु अन्नजां यमलामित्यादिसुश्रुतग्रन्थपठितां यमलां यमिकाशब्देन व्याचक्षते, तन्न; 'यमिका च प्रलापार्ती'त्यादिश्लोकश्चरके पठितः, अत्र यमला यमिकानाम्ना न पठितैव हिक्केति। यमिकशब्देनैवार्थगत्या व्यपेतोच्येतेति चेत्, न, तर्हि 'व्यपेता च प्रलापार्ती'त्येवमभिदध्यात्।। ११-१४।।

सरोज व्याख्या—हिक्का की असाध्यावस्था को कहते हैं—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते—शरीर फैल सा जाता है, इसी प्रकार दृष्टि भी ऊर्ध्व हो जाती है—अर्थात् नेत्र ऊपर की ओर चढ़ जाते हैं। नाम्यते का भी सम्बन्ध देह से होता है। अर्थात् देह संकुञ्चित हो जाता है, ऐसा जेज्जट एवं गयदास का मत है। 'ताम्यति' इस पाठान्तर का अर्थ होता है कि रोगी मोहयुक्त हो जाता है। क्षौति—छींकता है। तौ द्वौ—अर्थात् 'आयम्यते' इत्यादि से लेकर 'नित्यम्' तक एक तथा 'क्षीणोऽन्नद्विट्' इत्यादि से दूसरा। साध्य रोगियों के मध्य में इस प्रकार उपर्युक्त अवस्था वाले दोनों असाध्य होते हैं।

गम्भीरा एवं महती—दोनों स्वभाव से असाध्य होती हैं। 'अन्त्यौ च' से दोनों अन्त में कही जाने वाली हिक्का का बोध होता है। अन्य पाठान्तर तथा व्याख्या विशेष विस्तारभय से नहीं कही जा रही है।

आसां या सेति—इन साध्य हिक्काओं में जिसमें दोषों का अतिसञ्चय होता है, भोजन करने से कृशता आदि लक्षण उत्पन्न होता है, वह भी असाध्य होता है। अथवा इन पाँच प्रकार की हिक्काओं में जो इन लक्षणों से युक्त होगी, वह असाध्य होता है। इनमें महती प्रभृति हिक्काओं का स्वरूप से असाध्यता बतलाया गया है, वह प्रायिक होता है। जैसा कि जतुकर्ण ने कहा है कि—आद्या अर्थात् प्रारम्भ की दुःसाध्य होती है, मोह, तृष्णादि से युक्त यमिका सद्यः प्राणहर होती है। यमिकेत्यादि—'यमिका च' यहाँ चकार से क्षुद्रा अथवा अन्नजा जो कि साध्य कही गयी है, वह यमल वेगों से होने पर प्राणघातक होती है—ऐसा अर्थ लगाना चाहिए। वही यमिका अक्षीणादि रोगी की साध्य होती है। अक्षीण—बलवान्। अदीन—प्रसन्न मन वाला। आचार्य लोग यमिका को 'यमला' मानते हैं, किन्तु यह ठीक

नहीं है; क्योंकि 'यमिका च प्रलापार्ति' इत्यादि श्लोक चरक से लिया गया है, यहाँ 'यमला' को यमिका नहीं कहा गया है। इसी तरह यदि 'यमिका' का 'व्यपेता' अर्थ किया जाय तो, वह भी उपयुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसी स्थिति में 'व्यपेता च प्रलापार्ति' मूल पाठ में लिखा होता। अतः यमिका से 'यमिका' ही लेना चाहिए।

श्वास रोग

श्वास रोग के भेद

महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः॥ १५॥
(सु. उ. ५१।५)

श्वास रोग, एक महारोग होते हुए भी हेतु एवं लक्षण भेद से महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास तथा क्षुद्रश्वास नाम से पाँच प्रकार की होती है।

श्वास रोग में दोषों का अनुबन्ध

(वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः।
कफवाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः॥ १-२॥)
(सु. उ. ५१।५)

क्षुद्र श्वास में वायु, तमक श्वास में कफ, छिन्नश्वास में कफ और वायु तथा महान् एवं ऊर्ध्वश्वास श्वास में वायु का प्रकोप होता है॥ १५॥

श्वासानाह—महोर्ध्वेत्यादि। एको विशेषत इति श्वासत्वेनैक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य पञ्चधा भिद्यते, पञ्चसु श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वम्, यदुक्तमन्यैः—'श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता'—इति। संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारत्वे सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्य पृथक्त्वसंख्यानिरासार्थम्॥ १५॥

सरोज व्याख्या—श्वास का वर्णन करते हैं—महोर्ध्वेत्यादि। एको विशेषतः—श्वासत्व (श्वास रोग) एक होता हुआ निदान एवं लक्षण भेद से पाँच प्रकार का होता है। इन पाँच प्रकार के श्वासों में वायु की वेगवत् ऊर्ध्वगति होती है, जैसा कि अन्य आचार्य कहते हैं—'श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता।' अर्थात् भाथी धौंकने के समान वायु श्वास रोग में निकलता है। संख्येयनिर्देशात्—अर्थात् महा, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक और क्षुद्र—इन पाँच प्रकार के श्वासों का निर्देश करके पुनः 'क्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा' इत्यादि पञ्च शब्द का निर्देश करने से तमक के अवान्तर और प्रतमक एवं संतमक की पृथक् संख्या का निरास सिद्ध हो जाता है॥

पूर्वरूप

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च॥ १६॥

हृदय में पीड़ा, पार्श्व शूल[1], आध्मान (आटोप), आनाह[2] मुख की विरसता तथा शंख प्रदेश में पीड़ा होना श्वास रोग का पूर्वरूप है ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ति

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥ १७॥

(च. चि. १७।४०)

जब कफ के द्वारा अवरुद्ध एवं विमार्गगामी वायु प्राणवह स्रोतों को अवरुद्ध कर सब ओर (फुफ्फुस) व्याप्त होता है, तो श्वास रोग उत्पन्न होता है।

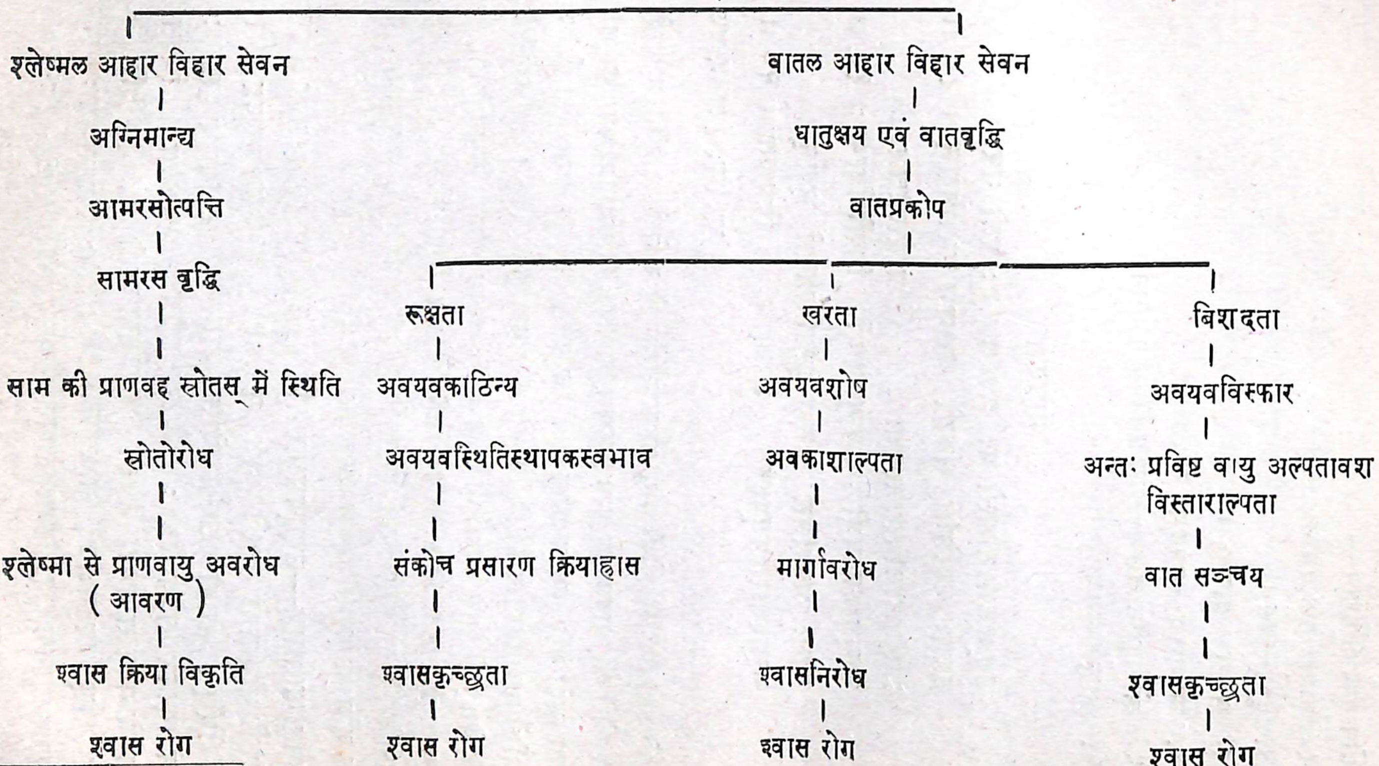
सम्प्राप्तिमाह—यदेत्यादि। स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवहानि। कफः पूर्वं प्रधानं यस्य स तथा, तेनैव कफेन रुद्धो विमार्गगतिर्विमार्गगत्वेन, विष्वग्व्रजति विष्वगञ्चतीति, विष्वक् सर्वत इत्यर्थः॥ १७॥

सरोज व्याख्या—श्वास रोग की सम्प्राप्ति कहते हैं--यदेत्यादि। स्रोतांसि अर्थात् हिक्का रोग में निर्दिष्ट प्राणवाही एवं उदानवाही स्रोत। 'प्राणान्नोदवहानि' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। तब प्राण से उदान का भी ग्रहण हो जाता है तथा साथ में अन्नवाही एवं उदकवाही स्रोत का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् श्वसन संस्थान के साथ-साथ आहार नली एवं आमाशय में भी विकृति हो जाती है। कफपूर्वकाः— अर्थात् कफ है प्रधान जिसका, तथा उसी कफ से ही अवरुद्ध हुआ वह वायु विमार्गगामी होकर चारों ओर घूमता है। तब श्वास रोग उत्पन्न होता है।

---

१. शूलं उदरे इति। (आतङ्क दर्पण)।
२. आनाह आमं शकृद्वा विगुणानिलेन निबद्धमयथावत्प्रवृत्तम्। (आ. द.)।

सम्प्राप्ति



१. तमक श्वास, श्री राजेन्द्र उपाध्याय, कायनिदान चिकित्सा, धन्वन्तरि ।

दोष दूष्य अधिष्ठान—

१. दोष—कफ प्रधान वात ।

२. दूष्य—रस ।

३. स्रोतस्—प्राणवह ।

४. आमाशय—समुद्भव रोग ।

५. स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग एवं विमार्ग गमन ।

६. आशुकारी व्याधि ।

महाश्वास

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।। १८ ।।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ।। १९ ।।
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ।। २० ।।

(च. चि. १७।४५-४७)

जो श्वास पीड़ित रोगी वायु की ऊर्ध्वगति हो जाने के कारण, मतवाले साँड़ के समान जोरों की आवाज के साथ फुफकार मारता हुआ लगातार कष्ट के साथ श्वास खींचता रहता है । जिसका शास्त्र ज्ञान एवं उसके अर्थ का ज्ञान नष्ट हो जाता है । जो आँखें नचाता रहता है, जिसके नेत्र और मुखाकृति विकृत हो जाती है, मल-मूत्र के वेग नहीं आते और जिसके मुख से अस्पष्ट वाणी निकलती हो, वह दीन बना रहता है, उसके श्वास का वेग ध्वनि के साथ निकलने से दूर से ही उसके श्वासपीड़ित होने की पहचान हो जाती है । इस प्रकार के महाश्वास रोग से ग्रस्त व्यक्ति शीघ्र ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर देता है ।। २० ।।

महाश्वासमाह—उद्धूयमानेत्यादि । उद्धूयमानवात इति उत् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्य स तथा । शब्दवत् सशब्दं यथा भवति, उच्चैर्दीर्घम् । संरुद्धो मत्तर्षभ इवेति स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः । ज्ञानं शास्त्रं विज्ञानं तदर्थनिश्चयः । विभ्रान्तलोचनश्चञ्चलनेत्रः । विवृते स्तब्धे अक्ष्यानने यस्य स तथा, नेत्रस्य विभ्रान्तस्तब्धत्वे कालभेदादिति जेज्जटः । विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा । दीनः क्लान्तमनाः । हीनमिति पाठान्तरमयुक्तम्, 'दूराच्छिज्ञायते भृशमित्यनुपपत्तेरित्याहुः ।। १८-२० ।।

सरोज व्याख्या—महाश्वास के लक्षण कहते हैं—उद्धूयमानेत्यादि । जिस रोगी

का प्राणवायु 'उत्' अर्थात् ऊपर की ओर खिंचा जा रहा हो, उसे उद्धूयमानवात कहते हैं। शब्दवत्—शब्द करता हुआ, उच्चैः—दीर्घम् (लम्बी), श्वसिति—श्वास लेता है। मत्तर्षभ इव—जैसे मस्त साँड़ फुफकारता है, वैसे ही महाश्वास से पीड़ित रोगी के श्वास की फुफफुफकार सुनाई पड़ती है। प्रनष्टज्ञानविज्ञान—ज्ञान (शास्त्र) और विज्ञान (उसके अर्थ का विनिश्चय) नष्ट हो जाता है। विभ्रान्त-लोचन—नेत्र चञ्चल हो जाते हैं अथवा जिसके नेत्र एवं मुख विवृत अर्थात् खुले या स्तब्ध (जकड़े) रह जाते हैं। यहाँ पर नेत्रों की चञ्चलता और स्तब्धता काल-भेद से होती है, ऐसा जेज्जट का मत है। विशीर्णवाक्—बोलने में अक्षम होता है अथवा बहुत कम बोलता है। दीन—क्लान्तमन, दीन के स्थान पर हीन पाठान्तर भी मिलता है, जो कि उचित नहीं है। यदि 'हीन' पाठ मान लिया जाय, तो 'दूराद् विज्ञायते भृशम्' यह पाठ व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि शरीर के हीन होने पर उसका श्वास दूर तक कैसे सुनाई पड़ेगा। ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है।

ऊर्ध्वश्वास

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥ २१॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः॥ २२॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्॥ २३॥

(च. चि. १७।४८-५०)

ऊर्ध्वश्वास का रोगी ऊपर की ओर श्वास देर तक छोड़ता है, किन्तु वह अन्दर की ओर उतनी देर तक नहीं खींचता है। रोगी कुपित वायु की पीड़ा से बेचैन रहता है। मुख तथा श्वास मार्ग के कफ से आवृत्त होने से वह पीड़ित रहता है। रोगी की आँखें ऊपर की ओर टँग जाती है। वह चञ्चल नेत्रों से इधर-उधर देखता रहता है। पीड़ा की असह्यता के कारण, वह बेहोश हो जाता है, उसका मुख सूख जाता है और वह व्यग्र हो जाता है। ऊर्ध्वश्वास के प्रकुपित होने पर अधःश्वास रुक जाता है, अतएव रोगी बार-बार बेचैन होकर मूर्च्छित हो जाता है। इस स्थिति में ऊर्ध्वश्वास रोगी के प्राण का हरण कर लेता है।

ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—ऊर्ध्वमित्यादिना। ऊर्ध्वमिति विशेषपरं, सर्वश्वासानां तथाविधत्वात्। दीर्घमिति दीर्घकालम्। न च प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधःकरोति दीर्घकालमित्यर्थः। श्लेष्मावृतमुखस्रोता इति श्लेष्मणा

आवृतानि मुखं स्रोतांसि च यस्य स तथा। क्रुद्धगन्धवहार्दितः कुपितवात-पीडितः, समस्तपाठे तु श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः। विपश्यन् इतस्तत इति इतस्ततो विक्रांतं पश्यन्। ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च 'प्रत्याहरत्यधः' इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि। निरुध्यत इति हृदय एवातिस्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते; ऊर्ध्वं श्वास ऊर्ध्वश्वासः। ताम्यतो ग्लायतो मुह्यतश्चासून् प्राणान् हन्ति, नान्यथेति ॥ २१-२३ ॥

सरोज व्याख्या—ऊर्ध्वश्वास का लक्षण कहते हैं—ऊर्ध्वमित्यादि। यद्यपि सभी प्रकार के श्वासों में श्वास ऊपर की ओर छोड़ता रहता है, किन्तु ऊर्ध्वश्वास में दीर्घकाल तक छोड़ता है। न च प्रत्याहरत्यधः—अर्थात् श्वास लेते समय देर तक नहीं खींचता। श्लेष्मावृतमुखस्रोताः—मुख नाक आदि स्रोत कफ से भरे रहते हैं। क्रुद्धगन्धवहार्दितः—ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित रोगी में वायु का अत्यन्त प्रकोप होता है। यदि समस्त पाठ को 'श्लेष्मावृत्तमुखस्रोतःक्रुद्धगन्धवहार्दितः' ऐसा कर दिया जाय, तो इसका अर्थ होगा कि कफ से आवृत हुए मुखादि स्रोतों के कारण कुपित हुए वायु से पीड़ित होता है। 'विपश्यन् तु इतस्ततः'—रोगी चञ्चल नेत्रों से इधर-उधर देखता है।

'ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घम् न च प्रत्याहरत्यधः इति' ऐसा जो कहा गया है, उसका कारण बतलाते हैं—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि। निरुध्यते—अर्थात् वह श्वास हृदयप्रदेश (फुफ्फुस) में रुका रहता है। अथवा श्वास से वायु अर्थ लिया जाता है और वह वायु नीचे की ओर नहीं जाने पाता। इसी से इसकी निरुक्ति 'ऊर्ध्वश्वासः' ऊर्ध्वश्वास ऐसा किया गया है। ताम्यत—अर्थात् जब रोगी अत्यन्त क्लान्त एवं बार-बार मूर्च्छित होता है, तभी उसकी मृत्यु होती है। अन्यथा वह बच जाता है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से इसे Failing Respiration तथा Stertorous Breathing कह सकते हैं।

छिन्न श्वास

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥ २४॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥ २५॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥ २६॥

(च. चि. १७।५१-५३)

जो रोगी अपनी पूरी ताकत लगाने के बावजूद रुक-रुक कर श्वास लेता है या हृदय आदि मर्म स्थानों की महती वेदना से व्याकुल होकर एवं पीड़ा से बेचैन होकर श्वास ही नहीं ले पाता है, वह उदर में आनाह, शरीर में स्वेद या मूर्च्छा से पीड़ित रहता है। वस्ति में दाह, आँखें अश्रुपूर्ण एवं शरीर में क्षीणता होती है। श्वास लेते समय एक आँख में लाली होती है। वह व्यग्रचित्त, शुष्कमुख, विवर्ण (कान्तिहीन) और प्रलाप करने वाला होता है। छिन्न श्वास से पीड़ित रोगी की सभी सन्धियाँ शिथिल हो जाती है और वह शीघ्र ही अपने प्राण त्याग देता है ॥ २४–२६ ॥

छिन्नश्वासलक्षणमाह—यस्त्वित्यादि। विच्छिन्नं सविच्छेदम्। सर्वप्राणेन यावद्बलेन। न वा श्वसिति श्वासं न लभते। मर्मच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेदवेदनयेव पीडितः। दह्यमानेन वस्तिनोपलक्षितः, एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः। विप्लुताक्षश्चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्णचक्षुर्वा। न वा श्वसिति न वा श्वासं लभते। रक्तैकलोचनत्वं व्याधिप्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात्। विचेता उद्विग्नचित्तः। विच्छिन्नो विमोक्षितसन्धिः, पीडित इत्यन्ये, 'विहतः' इति पाठान्तरम् ॥ २४–२६ ॥

सरोज व्याख्या—छिन्न श्वास के लक्षण कहते हैं—यस्त्वित्यादि। विच्छिन्नं अर्थात् श्वास कट-कट (रुक-रुक) कर आता है। सर्वप्राणेन पीडितः—प्राणवायु के प्रकोप से अत्यन्त पीड़ित होता हुआ। न वा श्वसिति—कई बार श्वास बिलकुल नहीं ले पाता है। मर्मच्छेदरुगर्दितः—हृदय कटा जा रहा हो, इस प्रकार हृत्पीड़ा से पीड़ित होता है। दह्यमानेन वस्तिना उपलक्षितः —वस्ति प्रदेश में दाह होता है, इससे वायु का पित्तानुबन्ध भी प्रतीत होता है। विप्लुताक्षः—नेत्र चञ्चल होते हैं अथवा अश्रुपूर्ण नेत्र होते हैं। रक्तैकलोचनत्वं—इस रोग में एक आँख लाल होती है। व्याधि-प्रभाव से ऐसा होता है। यदि दोषप्रकोप से ऐसा होता, तो दोनों नेत्र लाल होते। विचेताः—उद्विग्न चित्त वाला, विच्छिन्नः—सन्धियाँ टूटती रहती हैं अथवा शिथिल हो जाती हैं। छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः—छिन्न श्वास से पीड़ित रोगी। विच्छिन्न के स्थान पर 'विहत' पाठान्तर भी पाया जाता है। इसे Cheyne Strockes Breathing कहा जा सकता है।

तमक श्वास (सम्प्राप्ति एवं लक्षण)

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवा शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ २७ ॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ २८ ॥

प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ २९ ॥

श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥ ३० ॥

तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ३१ ॥

पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ३२ ॥

उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान्।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ३३ ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ३४ ॥

(च. चि. १७।५४-६१)

जब प्राणवह स्रोतों में विपरीत गति करती हुई वायु संचरण करती है, तो वह ग्रीवा तथा शिर को जकड़ लेती है एवं कफ को उत्प्रेरित कर पीनस (प्रतिश्याय) रोग को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कफ से अवरुद्ध वायु कण्ठ में घुर-घुर शब्द करती हुई अति तीव्र वेगयुक्त प्राण (प्राणों के अधिष्ठान हृदय) को संकट में डालने वाले श्वास रोग को उत्पन्न करती है।

श्वास का वेग अधिक तीव्र होने पर रोगी ग्लानि का अनुभव करता है, उसे खाँसी आती है और कभी रुक जाती है। खाँसते-खाँसते कदाचित् बेहोश हो जाता है। कफ निकलते समय उसे बड़ी पीड़ा होती है और जब कफ निकल जाता है, तो क्षण भर के लिये आराम मालूम होता है। रोगी का गला बैठ जाता है और बड़ी कठिनाई से कुछ बोल पाता है। श्वास से पीड़ित होने के कारण बिस्तर पर लेटने पर भी उसे नींद नहीं आती। सोते समय उसके दोनों पार्श्व प्रदेशों में वायु-पीड़ा उत्पन्न करती है और जब वह बैठा रहता है, तो उसे सुख मालूम होता है। उष्ण वातावरण तथा गरम पदार्थ उसे पसन्द आते हैं। उसकी आँखें चढ़ी होती हैं या उभरी हुई होती हैं। उसके ललाट पर पसीना आता रहता है एवं उसे अत्यन्त वेदना सताती रहती है। उसका मुख सूखता रहता है, बार-बार श्वास लेता है और धौंकनी की तरह फूत्कार करके श्वास छोड़ता है। बादलों का छा जाना, शीतल जल का प्रयोग, पुरवैया पवन और कफवर्धक पदार्थों के सेवन से यह

श्वास रोग बढ़ जाता है, यह तमक श्वास याप्य होता है या नया रोग होने पर 'साध्य' भी है ॥ २७-३४ ॥

तमकश्वासलक्षणमाह—प्रतिलोममित्यादि। श्लेष्माणं समुदीर्य चेत्यनेन सामान्यसम्प्राप्तिलब्धस्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानादिह विशेषेण कारणत्वं बोधयति। तेन रुद्धः कफेनावृतः। घुर्घुरकं कण्ठे घुर्घुरशब्दम्। प्राणप्रपीडकं प्राणाधिष्ठानहृदयस्य पीडकम्। प्रताम्यति तमसि प्रविशतीव। सन्निरुध्यते निश्चेष्टो भवतीति चक्रः, जेज्जटस्तु सन्निरुध्यते 'श्वासः' इति शेषमाह। तस्यैवेति श्लेष्मणः। सुखं सुखमिव। उद्ध्वंसते कण्डूयते। पार्श्वे इति कर्मपदम्, अवगृह्णाति पीडयति। उष्णमभिनन्दति वातकफारब्धत्वात्। उच्छ्रिताक्ष उच्छूननेत्रः। ललाटेनेत्युपलक्षणे तृतीया। अवधम्यते गजारूढस्येव सर्वगात्रं चाल्यते ॥ २७-३४ ॥

सरोज व्याख्या—तमक श्वास के लक्षण कहते हैं—प्रतिलोममित्यादि। यद्यपि श्वास रोग की सामान्य सम्प्राप्ति पूर्व में बतायी जा चुकी है, किन्तु 'श्लेष्माणं समुदीर्य च' इत्यादि वाक्य द्वारा तमक श्वास की विशेष सम्प्राप्ति का उल्लेख है एवं श्लेष्मा का विशेष रूप से कारणत्व दर्शाया गया है। तेन रुद्धः—उस उत्प्रेरित कफ द्वारा अवरुद्ध वायु कण्ठ में घुर्घुरक शब्द उत्पन्न करता है। प्राणप्रपीडकम्—प्राणों के अधिष्ठान हृदय को पीड़ित करने वाला तमक श्वास रोग को उत्पन्न करता है। प्रताम्यति—अर्थात् रोगी अन्धकार (बेहोशी) में प्रविष्ट हो जाता है। सन्निरुध्यते—निश्चेष्ट हो जाता है। ऐसा चक्रपाणि का मत है। आचार्य जेज्जट 'सन्निरुध्यते' क्रिया के साथ 'श्वास' शब्द को जोड़ देते हैं, अर्थात् श्वास रुक जाता है। तस्यैव—उस श्लेष्मा के निकलते ही, सुखं—सुख जैसा अनुभव होता है। उद्ध्वंसते—अर्थात् गले में कण्डू (खराश) सा होता है। पार्श्वे—यह कर्मपद अर्थात् द्वितीया विभक्ति (द्विवचन) है। इसका अर्थ होता है कि श्लेष्माधिष्ठित वायु दोनों पार्श्वों को, अवगृह्णाति—पीड़ित करता है। यह रोग वात-कफ के प्रकोप से उत्पन्न होने से उष्ण आहार-विहार के सेवन की इच्छा होती है। उच्छ्रिताक्षः—नेत्रों में शोथ हो जाता है। ललाटेन—यह उपलक्षण में तृतीया विभक्ति है। अर्थात् स्विद्यता ललाटेन उपलक्ष्यते। अवधम्यते—हाथी पर आरूढ हुए व्यक्ति के समान सम्पूर्ण शरीर हिलता रहता है। इसे Bronchial Asthma कह सकते हैं ॥ २७-३४ ॥

प्रतमक श्वास

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्।
उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ३५ ॥

(च. चि. १७।६२)

यदि तमक श्वास में ज्वर और मूर्च्छा का भी अनुबन्ध हो जाय, तो उसे 'प्रतमक श्वास' कहते हैं। यह उदावर्त, रज (धूलि), अजीर्ण, क्लिन्नकाय (आर्द्र या वृद्ध काय) तथा वेगनिरोध से उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह—ज्वरेत्यादि। ज्वरमूर्च्छाभ्यां परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः, ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः। एतस्यैवापरकारणं लक्षणं चाह—उदावर्तेत्यादि। उदावर्तो रोगः, रजो धूलिः, अजीर्णमामादि, क्लिन्नं विदग्धम्, काये वेगानां निरोधः कायनिरोधः अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः, निरोधो वेगनिरोधः, अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्जटः ॥ ३५ ॥

सरोज व्याख्या—तमक श्वास में पित्त का अनुबन्ध होने पर ज्वरादि हो जाता है, तब उसे प्रतमक श्वास कहते हैं—ज्वरेत्यादि। ज्वर एवं मूर्च्छा से युक्त श्वास को 'ज्वरमूर्च्छापरीत' कहते हैं। ज्वर से जो मूर्च्छा होती है, उस मूर्च्छा से युक्त ज्वर को ज्वरमूर्च्छापरीत कहते हैं, ऐसा जेज्जट का कथन है। आचार्य इसका अपर कारणजन्य लक्षण बतलाते हैं—उदावर्तेत्यादि। उदावर्त एक रोग है, (इसको इसी ग्रन्थ के सत्ताइसवें अध्याय में बतलाया गया है)। रजः—धूल, अजीर्ण—आमादि, क्लिन्नं-विदग्ध, कायनिरोधः—शरीर के वेगों का निरोध, अथवा क्लिन्नकाय से वृद्धतर और निरोध से वेगनिरोध समझना चाहिए। अथवा कुयोगी अर्थात् गुरु से योग साधना की शिक्षा प्राप्त किये विना कुम्भक-पूरक-रेचक आदि प्राणायाम किया जाता है, तो शरीर में वायु का निरोध हो जाता है—ऐसा जेज्जट का कथन है।

सन्तमक श्वास

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्सन्तमकं तु तम् ॥ ३६ ॥

(च. चि. १७।६३)

जब श्वास अन्धकार या मानसिक दोषों से बढ़े एवं शीतोपचार से शान्त हो तथा रोगी अपने को अन्धकार में डूबता हुआ सा समझे, तो उसे सन्तमक श्वास समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

तमसा अन्धकारेण, मानसदोषेण वा; अत्यर्थमिति इतरकारणापेक्षया विशेषेण; वातकफारब्धोऽपि पित्तसम्बन्धाच्छीतैरुपशाम्यतीत्याहुः। सन्तमकः प्रतमक एवेति। अन्ये तूदावर्तेत्यादिना प्रतमकस्योपसर्गमाहुरिति जेज्जटः ॥

सरोज व्याख्या—तमसा—अन्धकार अथवा तमोगुण रूप मानस दोष से। अत्यर्थम्—अन्य कारणों की अपेक्षा तम से अधिक प्रकुपित होता है। यह श्वास

वात-कफजन्य होता है, किन्तु जब पित्त का का अनुबन्ध होता है, तब शीत पदार्थों के उपयोग से शान्त होता है, ऐसा कहा जाता है। सन्तमक, प्रतमक ही होता है। कुछ लोग 'उदावर्त' इत्यादि श्लोक द्वारा सन्तमक को प्रतमक का उपद्रव मानते हैं, ऐसा जेज्जट का कथन है।

तमकश्वास एवं इसिनोफिलिया में भेद

तमकश्वास	ट्रापीकल पल्मोनरी इसिनोफिलिया
१. यह द्वन्द्वज व्याधि है।	१. यह एकदोषज व्याधि है।
२. इसमें मेघाच्छन्न काल, शीतकाल तथा रात्रि के समय वेगविशेष होते हैं।	२. प्रायः रात्रि में अधिक होता है।
३. रक्त में इसिनोफिल की वृद्धि।	३. रक्त में इसिनोफिल की अत्यधिक वृद्धि।
४. आर्सेनिक के योग से कोई लाभ नहीं।	४. आर्सेनिक (संखिया) के योग से लाभ।
५. एक्सरे परीक्षा में श्लेष्मपूरित वायु-कोष मिलता है।	५. एक्सरे परीक्षा में श्लेष्मपूरित वायुकोष नहीं होता है।

क्षुद्र श्वास

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः॥ ३७॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम्॥ ३८॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काञ्चिदापादयेद्रुजम्।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः॥ ३९॥

(च. चि. १७।६४-६६)

रूक्ष आहार-विहार और अधिक श्रम का कार्य करने से अल्प प्रकुपित वायु श्वास मार्ग की ओर बढ़कर क्षुद्र श्वास को उत्पन्न करता है। अतः इसमें वेग प्रबल नहीं होते, इसलिए यह शरीर के अंगों को अधिक कष्ट नहीं पहुँचाता। यह शरीर की क्रियाओं को बाधित नहीं करता। अन्य श्वासरोगों की तरह कष्टदायक नहीं होता। यह खाने-पीने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं उत्पन्न करता। इन्द्रियों में कोई विकार नहीं

उत्पन्न करता है, न किसी प्रकार की पीड़ा पैदा करता है। यह साध्य होता है तथा अन्य चार प्रकार के श्वास रोग, यदि रोगी बलवान् हो, तो अपनी अव्यक्तावस्था में साध्य होते हैं।

साध्यासाध्यता

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥ ४० ॥

(सु. उ. ५१।५४)

क्षुद्र श्वास साध्य, तमक श्वास कृच्छ्र साध्य तथा अन्य तीनों श्वास असाध्य होता है। दुर्बल रोगी में तमक श्वास भी असाध्य होता है ॥३७–४०॥

क्षुद्रश्वासमाह—रूक्षेत्यादि। रूक्षमन्नपानम्। क्षुद्रोऽल्पनिदानलिङ्गः। उदीरयन् ऊर्ध्वं गच्छन्। इतरे ऊर्ध्वश्वासादयः। स साध्य उक्त इति च्छेदः। सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम्। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति महोर्ध्वच्छिन्नाः सम्पूर्णलक्षणाः ॥ ३७-४० ॥

सरोज व्याख्या—क्षुद्र श्वास का वर्णन करते हैं—रूक्षेत्यादि। रूक्षम्—रूक्ष अन्न पान के सेवन करने से। क्षुद्र—जिसमें निदान एवं लक्षण अल्प है। उदीरयन्—ऊपर की ओर प्रतिलोम गति से जाता हुआ। इतरे—अर्थात् पूर्वोक्त ऊर्ध्वश्वासादि। स साध्यः उक्तः—यहाँ सन्दर्भ समाप्त हो रहा है। सर्वे—अर्थात् जब तक अन्य चार प्रकार के महाश्वास आदि के लक्षण अव्यक्तावस्था में रहते हैं, तब तक यह साध्य होता है। इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास जब ये तीनों सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होते हैं, तो असाध्य होते हैं।

हिक्का एवं श्वास की भयंकरता

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥ ४१ ॥

(च. चि. ८)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हिक्का-श्वासनिदानं समाप्तम् ॥

यद्यपि प्राणनाशक रोग अनेक होते हैं, किन्तु वे हिक्का एवं श्वास की समानता नहीं कर सकते, क्योंकि हिक्का एवं श्वास में रोगी की मृत्यु तत्काल हो सकती है ॥ ४१ ॥

उपेक्षणासम्यगुपक्रमाभ्यां हिक्का-श्वासयोः शीघ्रावश्यमारकत्वमाह—

काममित्यादि । काममनुमतौ, प्राणहराः सन्निपातज्वरादयः । शेषं सुबोधमिति ॥ ४१ ॥

श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हिक्का-श्वासनिदानं समाप्तम्॥

सरोज व्याख्या—उपेक्षा करने से तथा सम्यक् प्रकार उपचार न करने से हिक्का एवं श्वास रोग अवश्य ही शीघ्र मारक होते हैं, इस विषय में कहते हैं—काममित्यादि । काम शब्द अनुमति बोधक है । सन्निपातज्वरादि अनेक रोग प्राणनाशक होते हैं । शेष सुबोध है ।

प्रयोगशालीय-परीक्षण—यह रोग अनेक कारणों से होता है, अतः विशेष ज्ञान हेतु श्वास-वायु मापन, एक्सरे परीक्षण एवं श्वेत तथा लाल रक्त कणिकाओं का परीक्षण निदान में सहायक होगा । एक्सरे में श्लेष्मपूरित वायुकोष दिखाई देते हैं । 'एलर्जी-टेस्ट' रोग निदान में महत्त्वपूर्ण परीक्षण होता है ॥ ४१ ॥

हिक्काश्वासनिदान समाप्त ।

त्रयोदशोऽध्यायः

स्वरभेदनिदानम्

हेतु एवं सम्प्राप्ति

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
सन्दूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥ १ ॥
(सु. उ. ५३।३)

अत्यन्त ऊँचे स्वर से बोलना, विष-सेवन, उच्च स्वर से अध्ययन, स्वरयन्त्र पर आघात तथा दूषित करने वाले आहार-विहारों से कुपित होकर वातादि दोष स्वरवाही स्रोतो में स्थिर होकर स्वर को विकृत कर देते हैं। इसी को स्वरभेद कहते हैं। यह छः प्रकार का होता है ॥ १ ॥

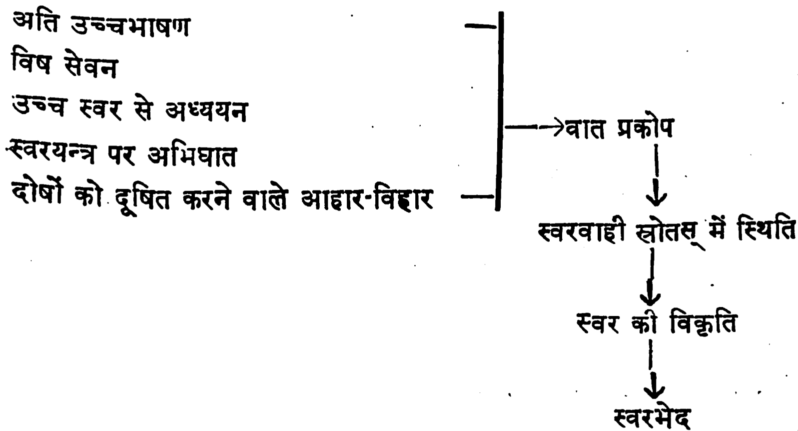
प्राणोदानदुष्टिसाधर्म्यात् श्वासे च स्वरभेदो भवतीति श्वासानन्तरं स्वरभेदमाह--अत्युच्चभाषणेत्यादि। अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः, अभिघातः कण्ठादिदेशे लगुडादिभिराघातः, एतैः संदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैः, विषं तु सर्वदोषप्रकोपणमेव। स्रोतःसु स्वरवहेषु चतुर्षु, यदुक्तं सुश्रुते-'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति' (सु. शा. अ. ९) इति, भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेदः। प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा। स इति स्वरभेदः षड्विधो वातपित्तकफसन्निपातक्षयभेदोजभेदात् ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या--स्वरभेद में हिक्का, श्वास और कास के समान प्राण और उदान में विकृति होती हैं और श्वास-रोग में भी स्वरभेद हो जाता है, इसलिये श्वास के पश्चात् स्वरभेद कहते हैं—अत्युच्चभाषणेत्यादि। वेदादि का ऊँचे स्वर से पाठ करना अध्ययन कहलाता है। कण्ठादि प्रदेश पर डण्डे आदि की चोट को अभिघात कहते हैं। इन आगन्तुक कारणों से और अपने-अपने कारणों से प्रकुपित वातादि दोषों से। विष तो सर्वदा दोषप्रकोपक होता ही है। इस प्रकार प्रकुपित दोष स्वरवाही चारों स्रोतों में स्थित हो जाते हैं। स्वरवह स्रोत चार होते हैं। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है—दो स्रोतों से भाषण तथा दो स्रोतों से घोष होता है। (सु. शा. ६) भाषण और घोष में अल्प भेद यह है कि 'भाषण' साधारण बात-

-चीत और ऊँची आवाज से बोलना 'घोष' है। दोषों की स्थिति अथवा वृद्धि को प्रतिष्ठा कहा जाता है। वह स्वरभेद छः प्रकार का होता है—

१. वात २. पित्त ३. कफ ४. सन्निपात
५. मेद और ६. क्षय से।

सम्प्राप्ति



दोष दूष्य अधिष्ठान आदि—

दोष—वातप्रधान।

दूष्य—स्वर।

अधिष्ठान—चार स्वरवाही स्रोतस्।

स्रोतोदुष्टि—संग।

भेद

(वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च।)

यह वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, भेदज एवं क्षयज भेद से छः प्रकार का होता है।

वातज स्वरभेद

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च।

(सु. उ. ५३.४।१)

वात से उत्पन्न स्वर भेद में आँख, मुख, मूत्र एवं मल काले रंग के हो जाते हैं, रोगी का स्वर फटा हुआ, धीरे-धीरे तथा गदहे के समान खर हो जाता है।

वातिकमाह--वातेनेत्यादि । कृष्णत्वं मूत्रादिषु स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अर्शोवत् । भिन्नं भिन्नस्वरं, तदेवाह–गर्दभवत् खरमिति, खरं निष्ठुरम्, उद्वेजकमिति यावत् ॥

सरोज व्याख्या—वातज स्वरभेद के लक्षण कहते हैं—वातेनेत्यादि । स्वरभेद को आरम्भ करने वाले दोष के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाने से मूत्रादि में कालापन आ जाता है । जैसा कि अर्श रोग में कहा गया है । भिन्न-भिन्न स्वर फट जाता है । गर्दभ के आवाज के समान खर (रुखी), निष्ठुर (कठोर) और उद्वेजक स्वर हो जाता है ।

पित्तज स्वरभेद

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा ब्रूयाद् गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥२॥

(सु. उ. ५३.४।२)

पित्तज स्वरभेद में रोगी का नेत्र, मुख, मूत्र एवं मल पीले रंग का हो जाता है तथा बोलते समय उसके गले में जलन हो जाती है ॥ २ ॥

पैत्तिकमाह---पित्तेनेत्यादि । गलेनेति विशेष्योपदर्शनं दाहसमन्वितेनेति विशेषणस्य विशेष्याधीनप्रतीतत्वात्, गलः सदाहो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक स्वरभेद का लक्षण कहते हैं—पित्तेनेत्यादि । 'गलेन' यह विशेष्यपद और 'दाहसमन्वितेन' यह विशेषण पद है । इसका अभिप्राय हुआ कि गला दाहयुक्त रहता है अथवा गले में जलन होती है ॥ २ ॥

कफज स्वरभेद

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् ।

(सु. उ. ५३.५।१)

कफ से कण्ठ सदा अवरुद्ध होने के कारण कफजन्य स्वरभेद से पीड़ित रोगी अल्प एवं धीरे-धीरे बोलता है, किन्तु दिन में कुछ स्पष्ट बोल सकता है ।

श्लैष्मिकमाह--ब्रूयादित्यादि । दिवा विशेषादिति दिने सूर्यरश्मिभिः कफस्य मन्दीभावाद्विशेषाद्विशिष्टं वदतीत्यर्थः । 'दिवा विशेषम्' इति पाठान्तरे स एवार्थः ॥

सरोज व्याख्या—श्लैष्मिक स्वरभेद के लक्षण कहते है—ब्रूयादित्यादि । दिवा विशेषात्—अर्थात् दिन में सूर्य की रश्मियों से कफ पिघल कर मन्द हो जाता है, इसलिए कफज स्वरभेद का रोगी रात्रि की अपेक्षा दिन में कुछ स्पष्ट बोल सकता है । 'दिवा विशेषं' इस पाठान्तर का भी यही अभिप्राय होता है ॥

सन्निपातज स्वरभेद

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंपत्तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥३॥

(सु. उ. ५३.५।२)

सन्निपातज स्वरभेद उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है एवं ऋषियों ने उसे असाध्य भी कहा है ॥ ३ ॥

सान्निपातिकमाह—सर्वात्मक इत्यादि। सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्गयोगः। तं चाप्यसाध्यमिति अपिशब्दो भिन्नक्रमे, असाध्यमपि, तेन 'सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्' (सु. उ. ५३) इति सुश्रुतवचनमुपपन्नं भवतीति ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—सन्निपातज स्वरभेद के लक्षण कहते हैं—सर्वात्मक इत्यादि। सर्वविकारसम्पत्—उपर्युक्त तीनों दोषों के सम्पूर्ण लक्षण इसमें पाये जाते है। तं चाप्यसाध्यम्—यहाँ पर अपि शब्द भिन्नक्रम का बोधक है, जिससे क्षयज के समान सन्निपातज प्रायः असाध्य भी होता है। यह अभिप्राय होता है। इसलिए सुश्रुत ने कहा है—'सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्'। (सु. उ. ५३) अर्थात् सन्निपातज एवं क्षयज स्वरभेद की प्रत्याख्याय चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

क्षयज स्वरभेद

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः।

(सु. उ. ५३.६।१)

इसमें बोलते समय धुँआ सा निकलता है और स्वर क्षीण हो जाता है। ऐसे हतवाक् (स्वर) रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥

क्षयजमाह—धूप्येतेत्यादि। धूप्येत वागिति सधूमेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते। क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे। क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेदः। एष च यदा हतवाग्भवति ओजःक्षयाद्वचनाक्षमस्तदा न साध्यः, अन्यथा तु साध्यः, तेन प्रत्याख्याय क्रियाकरणमुपपन्नं भवति। येषु चापीति पाठे वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवागसाध्यः, किन्त्वयं पाठष्टीकाकारैर्न व्याख्यातः।

सरोज व्याख्या—क्षयज स्वरभेद के लक्षण कहते हैं—धूप्येतेत्यादि। धूप्येत् वाक्—बोलते समय गले में जलता हुआ धुआ सा निकलता प्रतीत होता है। और गले में पीड़ा भी मालूम पड़ती है। क्षयकृते—इत्यादि धातुक्षयकृत स्वरभेद में क्षयमाप्नुयाच्च वाक् इस प्रकार पदच्छेद हो जाता है, अर्थात् वाक् (वाणी-आवाज) का क्षय हो जाता है।

यहाँ पर भी जब ओजःक्षय के कारण रोगी बोलने में अक्षम हो जाता है, तो वह असाध्य हो जाता है, अन्यथा साध्य होता है। इसमें प्रत्याख्याय चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् रोगी के अभिभावक को बताकर चिकित्सा करना ठीक होता है। 'एष चापि' के स्थान पर 'एषु चापि' ऐसा पाठ भी मिलता है। एषु का अर्थ है कि जब इन वातादि दोषजन्य स्वभेद का रोगी ओजःक्षय के कारण हतवाक् होता है, तो असाध्य होता है, किन्तु टीकाकारों को यह पाठ ठीक नहीं लगा, इसलिए ऐसी व्याख्या टीकाकारों द्वारा नहीं प्रस्तुत की गयी है।

मेदज स्वरभेद

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण।
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्त्तः ॥ ४ ॥

(सु. उ. ५३.६।२)

मेद से गले तथा स्वर तन्तुओं के आच्छादित होने से रोगी गले के अन्दर ही धीमा-धीमा बोलता है। उसकी आवाज अस्पष्ट तथा देर-देर से निकलती है तथा रोगी को प्यास बहुत लगती है ॥ ४ ॥

मेदोजलक्षणमाह—अन्तर्गतेत्यादिना। अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषणम्, 'अन्तर्गतम् स्वरम्' इति पाठे तु कण्ठस्यान्तर्गतं यथा भवति तथा स्वरं वचनं वदतीति योज्यम्; 'अन्तर्गलम्' इति पाठान्तरे गलस्यान्तरिति अन्तर्गलं स्वरं वदतीत्यर्थः। दिग्धगल इति श्लेष्मणा मेदसा वा लिप्तगल इत्यर्थः। तृषार्तश्च मेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—मेदजन्य स्वरभेद का लक्षण कहते हैं—अन्तर्गतेत्यादिना। यहाँ पर 'अन्तर्गत स्वरम्' यह क्रियाविशेषण है। 'अन्तर्गतं स्वरम्' ऐसा पाठ भी मिलता है। ऐसे पाठ में 'कण्ठ के अन्दर ही अन्दर जैसे-तैसे आवाज निकलती है'—ऐसा अर्थ कर लेना चाहिए। 'अन्तर्गलम्' ऐसे पाठान्तर में 'गलस्य अन्तर' अर्थात् गले के अन्दर ही बोल पाता है—ऐसा अर्थ करना चाहिए। 'दिग्धगलः' अर्थात् कफ अथवा मेद से गला आच्छादित रहता है, जिससे गला लिपा हुआ सा प्रतीत होता है। तृषार्तः—मेद के कारण जलवाही स्रोत के अवरुद्ध होने से रोगी तृषा (प्यास) से पीड़ित होता है ॥ ४ ॥

साध्यासाध्यता

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ५ ॥

(सु. उ. ५३.७)

क्षीण, वृद्ध एवं कृश रोगियों में होने वाला, चिरकालीन, जन्मजात तथा मेदस्वी को होने वाला एवं सान्निपातिक स्वरभेद असाध्य होता है ॥ ५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥

उक्तवातादिजानामेवावस्थायामसाध्यत्वमाह—क्षीणस्येत्यादिना सहोपजात इत्यन्तेन । क्षीणस्य क्षीणमांसस्य । कृशस्य अबलस्य । सहोपजातो जन्मप्रभृतिबद्धः 'काकस्वर' इति लोके। सहोपजात' इत्यत्र 'मदोपजात' इति पाठान्तरं, मदो रोगविशेषः । मेदस्विनोऽतिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जातः; अमेदस्विनस्तु मेदोदुष्ट्या यो जातः स साध्यः पूर्वमुक्त इति न विरोधः । सर्वसमुद्भवश्चावगाढः सम्पूर्णलिङ्गो वाऽसाध्यो द्रष्टव्य इति ॥ ५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥

सरोज व्याख्या—उपर्युक्त वातादिजन्य स्वरभेद की अवस्थाविशेष द्वारा असाध्यवा बतलाते हैं—क्षीणेत्यादि । यह अवस्थाविशेषजन्य असाध्यता 'क्षीणस्य' इत्यादि से आरम्भ होकर 'सहोपजातः' तक चलती है । क्षीण—जिसका मांस क्षीण हो चुका हो तथा जो कृश-बलहीन हो गया हो । सहोपजातः—जन्म से ही जिसके स्वर तन्तु विकृत हो गये हों, लोक में उसे काकस्वर कहा जाता है । 'सहोपजात' के स्थान पर 'मदोपजात' ऐसा पाठान्तर मिलता है । 'मद' एक रोगविशेष है । मेदस्विनः—अतिस्थूल मनुष्य का मेद द्वारा स्वर तन्तु मार्ग के अवरोध से जो स्वरभेद होता है, वह असाध्य होता है । अमेदस्वी व्यक्ति का मेद पुष्टि से होने वाला स्वरभेद साध्य होता है, इसलिए परस्पर कोई विरोध नहीं होता । सन्निपातज स्वरभेद में तीनों दोषों के सम्पूर्ण लक्षण मिलने पर वह असाध्य होता है ॥ ५ ॥

इति स्वरभेदनिदान समाप्त ॥



चतुर्दशोऽध्यायः

अरोचकनिदानम्

हेतु

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ।
अरोचकाः स्युः,

वातादि दोषों (वात, पित्त, कफ एवं सन्निपात), शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध, मन के प्रतिकूल भोजन, रूप एवं गन्ध के सेवन से (पाँच प्रकार के) अरोचक रोग की उत्पत्ति होती है ।

ऊर्ध्वंगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—वातादिभिरित्यादि । एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिना गन्धान्तेनागन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामेकं लक्षणं वक्ष्यति; सुश्रुते चोक्तं—'भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति-' (सु. उ. अ. ५७) इति । शोकादिजस्तु यद्यपि वातादिजः, तथाऽपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्साकरणार्थं पृथगुक्तः । अतिलोभोऽत्राहितस्य सततोपयोगहेतुतया दोषप्रकोपक इति दर्शयति अरोचकाः स्युरिति छेदः ॥

सरोज व्याख्या—ऊर्ध्वगत रोगों के साधर्म्य से अरोचक (Anorexia) रोग के हेतु बतलाते हैं—वातादिभिरित्यादि । वात, पित्त एवं कफ दोषों से एक-एक करके तीन, सन्निपात से एक—इस प्रकार चार और शोक से लेकर गन्धपर्यन्त भावों से होने वाला आगन्तुक अरोचक एक मानना चाहिए । इस प्रकार अरोचक रोग पाँच प्रकार का होता है । सुश्रुत में अरोचक पाँच ही प्रकार का कहा गया है । जैसे—भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति । (सु. उ. ५७) शोकादिजन्य आगन्तुक अरोचक यद्यपि वातादि रोगों से उत्पन्न होता है, तथापि मूल कारण से प्रतिकूल चिकित्सा करने हेतु ही यहाँ आगन्तुक भेद पृथक् से कहा गया है ।

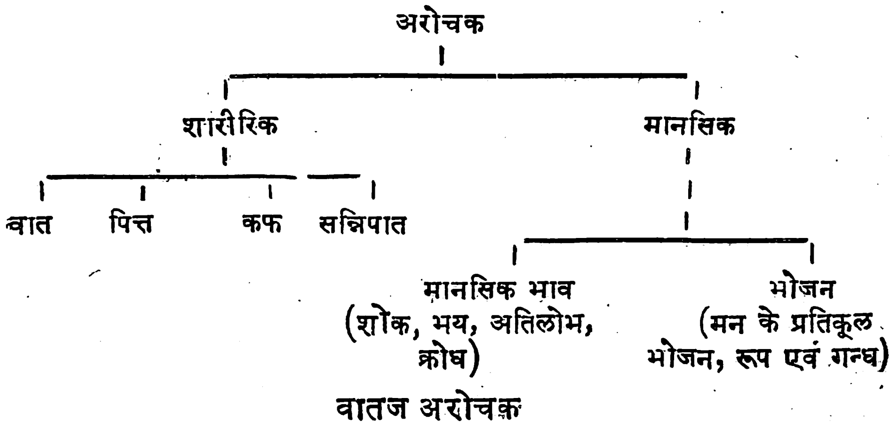
अहित पदार्थों का सतत् अधिक मात्रा में उपयोग (सेवन) करने से अतिलोभ भी दोषप्रकोपक हो जाता है । इसको यहाँ बतलाया गया है । अरोचकाः स्युः—यहाँ तक ही पूर्व प्रसङ्ग है ।

विमर्श—

दोष दूष्य आदि—
दोष—कफ प्रधान

दूष्य—रस ।
स्रोतस्—अन्नवह तथा रसवह ।
अधिष्ठान—आमाशय, जिह्वा एवं मनोवह स्रोतस् ।
स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग ।

आधुनिक दृष्टि से अरुचि की उत्पत्ति का स्थान आमाशय है। आमाशयिक कलाशोथ (Gastritis) आमाशय का कैन्सर (Gastric Cancer) तथा आमाशयिक उपाम्लता (Hypochlorhydria) आदि प्रमुख कारण है, जिससे भोजन में अरुचि होती है।



वातज अरोचक

परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १ ॥

(च. चि. २६. १२४।४)

वातज अरोचक में दन्तहर्ष तथा मुख का स्वाद कषैला होता है।

वातिकलक्षणमाह—परीत्यादि । परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—वातज अरोचक के लक्षण कहते हैं—परीत्यादि। परिहृष्टदन्तः—अम्ल पदार्थों के भक्षण में जैसे दाँत खट्टे हो जाते हैं, वैसे दाँत हो जाता है।

पित्तज अरोचक

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्,

(च. चि. २६. १२५।१)

पित्तज अरोचक में मुँह तिक्त (कड़वा), खट्टा, उष्ण, विरस तथा दुर्गन्धयुक्त हो जाता है।

पैत्तिकलक्षणमाह—कट्वित्यादि। कटुशब्दोऽत्र तिक्तवाची। यदाह

विदेहः—'पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्, स्वाद्वास्यहृल्लासकरः कफेन'—इति।

सरोज व्याख्या—पित्तज अरोचक के लक्षण कहते हैं--कटुवित्यादि। कटु शब्द यहाँ पर तिक्तवाची है। जैसा कि विदेह कहते हैं--पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्। अर्थात् पित्त से मुख का स्वाद तीता हो जाता है एवं विदाह होता है। इसी प्रकार कफजन्य अरोचक में मुख का स्वाद मीठा होता है तथा मिचली आती है।

कफज अरोचक

लवणं च वक्त्रम्।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन॥ २॥

(च. चि. २६. १२५।२-४)

कफज अरोचक में मुख का स्वाद लवणयुक्त एवं मीठा होता है। मुख में पिच्छिलता, गुरुता, शीतलता एवं जकड़ाहट होती है॥ ५॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—लवणमित्यादि। लवणं वक्त्रमिति विदग्धस्य श्लेष्मणो लवणरसत्वात्, उक्तं हि सुश्रुते-'श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्' (सु. सू. अ. ४०) इति। विबद्धसंबद्धयुतमिति विबद्धं च तत् संबद्धयुतं चेति विबद्धसंबद्धयुतम्। अत्र विबद्धं बद्धमिव, भक्षणाद्यसामर्थ्यात्, संबद्धयुतं 'कफस्य' इति शेषः, भावे क्तः, कफलिप्तमित्यर्थः। 'विदग्धसंबद्धयुतम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। 'विबद्धसन्नद्धयुतम्' इति पाठे विबद्धः सन्नद्धः, स च प्रकृतत्वात् कफस्य, सन्नद्धो बद्धः, 'णह बन्धने' इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् क्तादि। 'विबद्धसंस्तम्भयुतम्' इति काश्मीराः॥ २॥

सरोज व्याख्या--श्लेष्मज अरोचक का लक्षण कहते हैं--लवणमित्यादि। लवणं वक्त्रम्--कफ विदग्ध होकर नमकीन हो जाता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है--'श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्' (सु. सू. ४०) इति। विबद्धसम्बद्धयुतम्—विबद्धञ्च तत् सम्बद्धयुतं चेति—इस विग्रह से विबद्धसम्बद्धयुत् शब्द सिद्ध होता है। विबद्ध का अर्थ मुख के बँध जाने के कारण, और सम्बद्धयुतं में क्त प्रत्यय किया गया है, जिसका अर्थ कफ के सम्बन्ध से युक्त अथवा कफलिप्तमुख ऐसा अर्थ होता है। कहीं-कहीं पर विदग्धसम्बद्धयुतम् ऐसा पाठान्तर मिलता है। मुख विदग्ध एवं सम्बद्ध अर्थात् चिपकने वाले कफ से युक्त रहता है। 'विबद्धसन्नद्धयुतम्' ऐसा भी पाठ कहीं-कहीं प्रयुक्त होता है। प्रकृति से सन्नद्ध शब्द 'विबद्ध' अर्थात् चिपकने वाले कफ का ग्रहण होता है। चिपकना कफ की प्रकृति है।

यहाँ पर बन्धनार्थक 'णह' धातु से 'क्त' प्रत्यय के प्रयोग से सन्नद्ध ऐसा पाठ मिलता है। काश्मीर के आचार्य 'विवद्धसंस्तम्भयुतम्' ऐसा पाठ मानते हैं, जिसका अभिप्राय उपर्युक्त है।

आगन्तुज (मानसिक) अरोचक

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च (च. चि. २६.१२६।१-३)

शोक, भय, अतिलोभ, अतिक्रोध आदि से तथा मन के विपरीत पदार्थों, अपवित्रता एवं दुर्गन्ध आदि से उत्पन्न अरोचक में मुख का स्वाद स्वाभाविक होते हुए भी अरुचि रहती है।

आगन्तुजमाह—अरोचक इत्यादि। अहृद्यगन्धो घ्राणोद्वेजको गन्धः। स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं, न तु वातादिवत् कषायत्वादि॥

सरोज व्याख्या--आगन्तुज अरोचक के लक्षण कहते हैं--अरोचक इत्यादि। अहृद्यगन्ध-घ्राणोद्वेजक[1] गन्ध अर्थात् घृणोत्पादक गन्ध, ऐसा भाव समझना चाहिए। स्वाभाविकं च आस्यम्-मुख का स्वाद स्वाभाविक (प्राकृत) होता है। मुख का रस (स्वाद) अविकृत होता है, वातादि के समान कषाय, तीता अथवा नमकीन नहीं होता है, क्योंकि इसमें दोषों का अनुबन्ध नहीं होता।

त्रिदोषज अरोचक

त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥ ३ ॥
(च. चि. २६.१२६।४)

त्रिदोषज अरोचक में मुख का स्वाद एकरस न होकर अनेक रसों वाला होता है ॥ ३ ॥

त्रिदोषजमाह—त्रिदोषज इत्यादि। त्रिदोषजे नैकरसमिति वातजाद्युक्त-कषायाद्यनेकरसम् ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या---त्रिदोषज अरोचक के लक्षण कहते हैं---त्रिदोषज इत्यादि। त्रिदोषजे नैकरसम्----अर्थात् त्रिदोषज अरोचक में मुख का स्वाद भी एकरस न होकर वातादि तीनों दोषों से कषायादि रसों के मिश्रण से अनेक प्रकार का होता है ॥ ३ ॥

---

१. उद्वेगः=उद्वेजनम्
(डल्हण, सु० उ० ४०.६)

अरोचक के सामान्य लक्षण

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन पित्तात्
तृड्दाहचोषबहुलं, सकफप्रसेकम् ।
श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद्
वैगुण्यमोहजडताभिरथापरं च ॥

वातजन्य अरोचक में हृदय प्रदेश में पीड़ा होती है। पित्तज अरोचक में तृषा, दाह तथा दोष की अधिकता होती है। श्लेष्मज में कफ का प्रसेक (लालास्राव) अधिक होता है त्रिदोषज (बहुदोषजन्य) में अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त शोकादिजन्य आगन्तुक अरोचक में मन की व्याकुलता, मूर्च्छा एवं निश्चेष्टता होती है ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽरोचकनिदानं समाप्तम् ॥ १४ ॥

वातजादिभेदेन मुखविकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह—हृच्छूलेत्यादि। हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनम्। चोषश्चषणवत् पीडा। बहुभिरिति त्रिदोषैः। वैगुण्यमोहजडताभिरथापरमित्युपलक्षणे तृतीया, वैगुण्यं मनसो व्याकुलत्वम्। अपरमिति दोषजादन्यमागन्तुजमित्यर्थः। सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनं अन्नस्य श्रवणस्मरणदर्शनगन्धस्पर्शनैर्यत्रोद्विजते स भक्तद्वेषः। एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरकसुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः। उक्तं हि वृद्धभोजेन—

'प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः।
अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु ॥
चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम्।
द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥
कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च।
यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते' इति ॥ ४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामरोचकनिदानं समाप्तम् ॥

सरोज व्याख्या--पूर्वोक्त वातादि अरोचक में केवल मुख में होने वाली विकृति का निर्देश किया गया है, यहाँ पर मुख के अतिरिक्त शरीर के अन्य भाग में क्या विकृति होती है ? उसे कहते हैं--हृच्छूलेत्यादि। हृच्छूलपीडनम्--शूल से हृदय प्रदेश में पीड़न होता है। चोष--चूसने के समान पीड़ा को कहा जाता है।

बहुभिः—त्रिदोष से। वैगुण्यमोहजड़ताभिरथापरम्—यहाँ उपलक्षण में तृतीया विभक्ति की गयी है। वैगुण्यं—मन की व्याकुलता का बोधक है। अपरम्—दोष-जन्य अरोचक अतिरिक्त आगन्तुज को 'अपर' कहा गया है।

(१) अरुचि—भूख रहने पर भी खाने में असामर्थ्य अरुचि कहलाती है।

(२) अन्नानभिनन्दन—अभिलषित अन्न के मिलने पर भी न खा सकना 'अन्नानभिनन्दन' कहा जाता है।

(३) भक्तद्वेष—अन्न के श्रवण, स्मरण, दर्शन, गन्ध एवं स्पर्श से होने वाली उद्विग्नता को 'भक्तद्वेष' कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार के रोग को चरक एवं सुश्रुत ने 'अरोचक' शब्द से ग्रहण किया है। वृद्ध भोज ने कहा है—

(१) अन्न को मुख में रखने पर कोई स्वाद न मालूम पड़ना अरोचक कहा जाता है।

(२) अन्न का मन से चिन्तन कर, देखकर अथवा दूसरे किसी से सुनकर भी उससे द्वेष (घृणा) होना, भक्तद्वेष कहा जाता है।

(३) कोप, भय अथवा समय पर आहार न मिलने के कारण भूख के शान्त होने से आहार में श्रद्धा न होना, अभक्तच्छन्द कहा जाता है॥

इत्यरोचकनिदानं समाप्तम्।



पञ्चदशोऽध्यायः

छर्दिनिदानम्

भेद

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

पृथक्-पृथक् दूषित तीनों दोषों से (वातज, पित्तज एवं कफज), संयुक्त रूप से तीनों दोषों से दूषित होने से सन्निपातज एवं विभत्स वस्तुओं के दर्शन (आगुन्तज) कारणों) से पाँच प्रकार का छर्दि (Emesis) रोग होता है ।

निदान

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥
श्रमाद् भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ ३ ॥
बोभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैः,

((सु. उ. ४९.३-४)

अतिद्रव, अतिस्निग्ध, मन के प्रतिकूल लवणयुक्त पदार्थों के अधिक सेवन, अकाल भोजन, अतिभोजन तथा असात्म्य भोजन करने से, एवं श्रम, भय, उद्वेग, अजीर्ण उदर में कृमि हो जाने से छर्दि होती है। इसके अतिरिक्त गर्भवती स्त्री को, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक भोजन करने से एवं घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थों से भी वमन होता है।

विमर्श :

अतिद्रव आदि निदान—व्यान उदान प्रकोप—कफ पित्त का प्रेरण
।
उत्क्लेश
।
मुख का आच्छादन (पूरण)
।
छर्दि

दोष दूष्य अधिष्ठान आदि—

१. दोष—उदानवायु प्रधान तीनों दोष ।

२. दूष्य—अन्न एवं आहार रस ।

३. स्रोतस—अन्नवह, मनोवह ।

४. अधिष्ठान—आमाशय ।

छर्दि-निरुक्ति

द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।

निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ४ ॥

(सु. उ. ४९.५)

उपर्युक्त कारणों से अकस्मात् (शीघ्र) उत्क्लेशित होकर मुख को आच्छादित करके शरीर को पीड़ित करता हुआ मुख भाग से निकलता हुआ प्रकुपित दोष छर्दि कहलाता है ॥ ४ ॥

छर्द्यामप्यरुचेर्भावात्तथाऽरोचकवत् पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दिः, तस्या निदाने निरुक्ति चाह—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सालोचनं विकृतिदर्शनं, आदिग्रहणेनानिष्टगन्धभक्षणादीनां ग्रहणम् । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्याः, तस्या गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दिः । छादयन्नाननमिति वेगैर्मुखं छादयन् पूरयन्, अर्दयन् पीडयन्, अङ्गभञ्जनैरङ्गभेदैः । छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः; 'छद अपवारणे' अर्द हिंसायाम्' अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः ॥ १-४ ॥

सरोज व्याख्या—छर्दि रोग में भी अरोचक होता है तथा अरोचक के समान छर्दि भी पाँच प्रकार का होने से अरोचक के पश्चात् छर्दि का निदान एवं उसकी निरुक्ति कहते हैं—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सलोचनम्—विकृत पदार्थों का दर्शन । आदि शब्द से अनिष्ट गन्ध और अनिष्ट भोजन का भी ग्रहण होता है । नार्याश्च आपन्नसत्त्वायाः—गर्भिणी स्त्री को गर्भोत्पीडन से वायु के विगुण (प्रतिलोम) हो जाने से वमन होता है । छादयन् आननमित्यादि—मुख मार्ग में निकलने वाला दोष अपने आशुकारी वेग से मुख को पूरित कर देता है । अङ्गभञ्जनैः—अङ्गभेदादि से सारे शरीर को अर्दयन्—पीड़ित करता है । निरुक्ति बतलाते हैं—छादयति मुखं अर्थात् मुख को छादित करता है तथा अर्दयति चाङ्गानीति, शरीर अर्दित करती है । छर्दि शब्द 'छद' अपवारणर्थक और 'अर्द' हिंसार्थक इन दो धातुओं में पृषोदरादि गण से रूप सिद्धि होकर 'छर्दि' शब्द सिद्ध होता है । अर्थात् 'छद' ओर 'अर्द' इन दो धातुओं के योग से छर्दि शब्द बनता है ॥ १-४ ॥

पूर्वरूप

हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ ५ ॥

जो मिचलाना, उद्गार न आना, मुँह में नमकीन एवं पतला पानी आना एवं खाने-पीने में अत्यन्त अरुचि, ये वमन के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह—हृल्लासेत्यादि। उद्गाररोध उद्गाराप्रवृत्तिः। प्रसेको मुखप्रसेकः, तस्य लबणत्वं प्रभावात्, आमाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा; तनुरघनोऽल्पो वा ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या--छर्दि का पूर्वरूप कहते हैं—हृल्लासेत्यादि। उद्गाररोधः--डकार नहीं आती है, प्रसेक--मुख में पानी आता है, कुछ रोग के प्रभाव से मुख में आये जल का स्वाद नमकीन होता है अथवा आमाशय में उत्क्लेश से आमाशय का पाचक रस (अम्ल) भी मुख में प्रतिलोम गति से आने लगता है अथवा कफ के विदग्ध होने से भी वह नमकीन हो जाता है; क्योंकि कहा गया है—विदग्धो लवणः कफः। तनु—पतला अथवा अल्प ॥ ५ ॥

वातज छर्दि

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्षनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥ ६ ॥

(च. चि. २०. ८।२-९)

वातज छर्दि में हृदय एवं पार्श्व में वेदना, मुख का सूखना, शिर तथा नाभि में वेदना, कास, स्वरभेद तथा तोद (शरीर में सूई चुभने के समान पीड़ा) होता है। वमन प्रवल शब्द वाले उद्गार के साथ फेनयुक्त, विच्छिन्न काले रंग का, तनु (पतला) कसैला, अल्प (थोड़ा) कष्ट के साथ किन्तु बड़े वेग से निकलता है। इस छर्दि से रोगी अधिक दुःखी होता है ॥ ६ ॥

वातजाया लक्षणमाह—हृत्पार्श्वेत्यादि। शीर्षनाभ्यर्तिः मस्तके नाभौ च शूलम्, तोदैरित्यनन्तरं, 'युक्त' इति शेषः, उपलक्षणे वा तृतीया। आर्तो नरश्छर्दयतीति योज्यम्। किंभूतं छर्दयतीत्याह—उद्गारेत्यादि। उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्दप्रबलम्। विच्छिन्नं सान्तरवेगमल्पद्रवं वा वातस्य स्वतो द्रवत्वाभावात्। तनुकमघनम्। कषायं कषायरसं, कषायस्य वातकृतत्वात् ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—वातज वमन के लक्षण कहते हैं—हृत्पार्श्वेत्यादि। शीर्षनाभ्यर्ति—सिर और नाभि में शूल (वेदना) होता है। तोदैः के पश्चात् 'युक्त' शब्द को जोड़ लेना चाहिए। अर्थात् रोगी हृत्पीड़ा से लेकर तोदपर्यन्त पीड़ा से युक्त होता है अथवा उपलक्षण में तृतीया विभक्ति होती है, अर्थात् हृत्पीड़ादि लक्षणों से उपलक्षित होता है कि वात छर्दि से पीड़ित अथवा हृत्पीड़ा आदि उपद्रवों से आर्त रोगी वमन करता है। किस प्रकार वमन करता है? इसको बतलाते हैं—उद्गारेत्यादि। उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलम्—प्रबल शब्द वाली उद्गार के साथ। विच्छिन्नम्—रुक-रुक कर कुछ काल के अन्तर से वेग उठता है अथवा विच्छिन्न से स्वल्प द्रव अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वायु स्वयं तो द्रव होता नहीं, बल्कि रूक्ष होता है। तनुकम्—पतला। कषायं—कषाय रस, वायु से मुख में कषाय रस होता है।

पित्तज छर्दि

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः ।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम् ॥७॥

(च. चि. २०. ११)

पित्तज छर्दि में मूर्च्छा, पिपासा, मुख का सूखना, शिर, तालु एवं नेत्रों में जलन, आँखों के सामने अँधेरा तथा भ्रम हो जाता है। इससे पीड़ित रोगी अत्यन्त पीला, उष्ण, हरा, कड़ुवा तथा धूमिल वमन करता है। वमन के समय गले में दाह होता है ॥ ७ ॥

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादि। तमोऽन्धकारदर्शनमिव। धूम्रं कृष्णलोहितवर्णम् ॥ ७ ॥

सरोज व्याख्या—पित्तज वमन के लक्षण कहते हैं—मूर्च्छेत्यादि। तमः—आँखों के सामने अँधेरा सा छा जाता है। धूम्रम्—काला एवं लाल मिश्रित रंग वाला ॥ ७ ॥

कफज छर्दि

तन्द्राऽऽस्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्राऽरुचिगौरवार्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ ८ ॥

(च. चि. २०. १३)

कफज छर्दि में तन्द्रा, मुख में मधुरता, मुख से कफ का स्राव, तृप्ति (खाने की इच्छा न होना), निद्रा, अरुचि तथा शरीर का भारीपन होता है। वमन पदार्थ स्निग्ध, गाढ़ा, मधुर और सफेद रंग का होता है। रोगी के शरीर में रोमाञ्च एवं अल्प वेदना होती है ॥ ८ ॥

कफजामाह--तन्द्रेत्यादि। आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुररसत्वम्। सन्तोष इति सन्तोष इव सन्तोषः, अन्नानभिलाष इत्यर्थः; तृप्तो हि नान्नमभिलषति। अरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यम्। स्वादु मधुरम्। विशुद्धमतिशुभ्रं, सुश्रुते 'शुक्लं हिमं सान्द्रकफं कफेन' (सु. उ. ४९) इति पाठात् ॥ ८ ॥

सरोज व्याख्या—कफज छर्दि का लक्षण कहते हैं—तन्द्रेत्यादि। आस्यमाधुर्यम्—मुख का स्वाद मीठा होता है, सन्तोष—मन एवं शरीर से संतुष्टि रहती है, तृप्त होने, अन्न लेने की अभिलाषा नहीं होती। अरुचि--भोजन एवं पेय पदार्थ लेने में असमर्थता। स्वादु--मधुर, विशुद्ध—अतिशुभ्र (सफेद)। सुश्रुत में शुक्लं हिमं इत्यादि पाठ है। इसलिये विशुद्ध शब्द से श्वेत वर्ण ग्रहण करना चाहिए॥

त्रिदोषज छर्दि

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥९॥
(च. चि. २०।१५)

त्रिदोषज छर्दि में उदरशूल, अपच, अरुचि, शरीर में दाह, प्यास, श्वास एवं मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं। इन उपद्रवों से यह प्रबल होती है। वमनद्रव्य रस में लवण एवं अम्ल रंग में नीला, गाढ़ा, उष्ण और रक्तमिश्रित होता है ॥ ९ ॥

त्रिदोषजामाह—शूलेत्यादि। शूलादिभिः प्रमोहान्तैः प्रबला शूलादिप्रबला। प्रसक्तम् निरन्तरम्। त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठान्तरे त्रिदोषजेत्यर्थः ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या--त्रिदोष छर्दि के लक्षण कहते हैं--शूलेत्यादि। शूल से लेकर प्रमोह पर्यन्त उपद्रवों से युक्त त्रिदोषज छर्दि प्रबल होती है। प्रसक्तं--निरन्तर वमन होता रहता है। 'त्रिदोषज' के स्थान पर 'त्रिदोषा' पाठान्तर भी मिलता है। 'त्रिदोषा' का अर्थ त्रिदोषजा होता है ॥ ९ ॥

असाध्य छर्दि

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१०॥
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥११॥
(च. चि. २०. १६-१७)

प्रकुपित वायु जब मल, स्वेद, मूत्र और जलवाही स्रोत में अवरोध उत्पन्न करके ऊपरी भाग में आता है, तब जिन व्यक्तियों के शरीर में एकत्र दोष उभड़े हुए होते हैं, उन दोषों को कोष्ठ से बाहर निकाल कर प्रतिलोम गति से ऊपर ले जाती है, तो मल और मूत्र के समान गन्ध एवं वर्ण वाला दूषित वमन होता है। रोगी प्यास, श्वास तथा हिक्का से पीड़ित होता है। इस प्रकार अति वेग से युक्त वमन से पीड़ित रोगी का शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है ।। ११ ।।

असाध्यामाह—विडित्यादि। उत्सन्नदोषस्य उद्गतदोषस्य। दोषमिति पित्तं कफं वा, स्वेदादिकान् वा तद्दुष्टान् धातुमलान्। तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रोतोदुष्टिस्ततो हेतोर्विण्मूत्रयोः समगन्धवर्णं छर्दयतीति योज्यम्। इयं तु छर्दिर्विकृतिविषमसमवायारब्धा त्रिदोषजेति केचित्। अन्ये त्वाहुः—सर्वा एव छर्दयः प्रबला एवंविधाःस त्योऽसाध्याः स्युरिति ।। ११ ।।

सरोज व्याख्या—असाध्य वमन के लक्षण कहते हैं—विडित्यादि उत्पन्नदोषस्य—जिस मनुष्य के दोष उभड़े हों, दोषम्—पित्त या कफ को अथवा उन दोषों से दूषित हुए (आदि धातुओं एवं मलों को)। तदिति—मल-मूत्रवाही स्रोतों की विकृति हो जाती है, इसलिए वमन में भी मल-मूत्र का दुर्गन्ध माना है। ऐसा अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार की छर्दि को कुछ विद्वान् विकृतिविषमसमवाय जन्य त्रिदोषज मानते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि सब प्रकार की छर्दियाँ इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण होने पर असाध्य होती है ।। ११ ।।

आगन्तुक छर्दि

बीभत्सजा दौहृदजाऽऽमजा च ह्यसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ।।१२।।

(सु. उ. ४९.१२)

बीभत्स वस्तुओं के सम्पर्क से गर्भिणी स्त्रियों में, आमदोष या अजीर्ण में, असात्म्य भोजन के सेवन से तथा आन्त्रकृमियों की उपस्थिति से होने वाला यह पाचवाँ छर्दि 'आगन्तुज' कहलाता है। इस छर्दि का भी दोषानुसार ही विचार करना चाहिए।

आगन्तुजामाह—बीभत्सजेत्यादि। दौहृदजा दौहृदालाभजा, आमजा अजीर्णजा, असात्म्यजा असात्म्यभक्षणादिसंभूता, क्रिमिजा कोष्ठक्रिमिसंभवा; बीभत्सजेत्यादिना क्रिमिजान्तेनैकत्वेनैव गणनीया, आगन्तुजत्वसामान्यात्; आगन्तुज्वरवत्। सा पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया; यदि तु बीभत्सजापेक्षया क्रिमिजा पञ्चमोति गण्यते तदा तां च विभावयेद्दोषोच्छ्रयेणैवेत्यनेन क्रिमिजाया एव दोषसम्बन्धः स्यात्, ततश्च बीभत्सजादीनां चिकित्सोपयोगी दोष-

सम्बन्धो न लभ्यते । अन्ये तु तद्दोषपरिहारार्थं 'सा पञ्चमी ताश्च' इति बहुवचनान्तं पठन्ति, एवं सत्यन्तर्गणनया न प्रयोजनमित्यन्तर्गणनां नाद्रियन्ते । कथमत्र दोषोच्छ्रयो विभावनीय इत्याह--यथोक्तमादाविति । आदौ वातादिलक्षण इत्यर्थः ॥ १२ ॥

सरोज व्याख्या—आगन्तुक छर्दि के लक्षण कहते हैं—बीभत्सजेत्यादि । दौर्हृदजा—द्विहृदया (गर्भणी) स्त्री को मनोनुकूल वस्तु न मिलने पर वमन होता है । आमजा--अजीर्ण से उत्पन्न होने वाला, आसात्म्यजा--असात्म्य भोजन करने से, क्रिमिजा--कोष्ठ में कृमि उत्पन्न होने पर । बीभत्सजा से लेकर कृमिजा तक विभिन्न कारण होने पर भी आगन्तुजला धर्म सामान्य होने से एक ही छर्दि माननी चाहिए । सा पञ्चमी—१. वात, २. पित, ३. कफ, ४. त्रिदोषज की अपेक्षा आगन्तुज पाँचवा होता है । यदि बीभत्सजा की अपेक्षा कृमिजा को पाचवाँ मान लिया जाय, जैसा कि बताया गया है--१. बीभत्सजा २. दौहृदजा ३. आमजा ४. असात्म्यजा और ५. क्रिमिजा । इस तरह आगन्तुज छर्दि को पाँच प्रकार मान लेने पर पाचवीं कृमिजा होगी, तब उसमें ही दोषों के आधार पर विचार करना होगा, ऐसा समझना चाहिए । बीभत्सजादि से उत्पन्न होने वाली छर्दि में चिकित्सा की दृष्टि से दोष का सम्बन्ध उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । अन्य विद्वान् इस दोष के परिहार के लिये 'सा पञ्चमी तां च' के स्थान पर 'ताश्च' बहुवचनान्त पाठ पढ़ते हैं । ऐसा कहने पर अन्तर्गणना से प्रयोजन नहीं होता, अतः वे अन्तर्गणना का आदर नहीं करते । इसमें दोषों का आधार किस प्रकार समझना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं कि 'आदौ यथोक्तम्' अर्थात् वातादिजन्य छर्दि मे जिस प्रकार दोषों का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार इस आगन्तुक छर्दि में भी देखा जाता है । अर्थात् आगन्तुज छर्दि में भी आगे चलकर दोषों का अनुबन्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

क्रिमिजा छर्दि

शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः ।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १३ ॥

(सु. उ. ४९.१३)

कृमिज छर्दि में उदर शूल एवं हृल्लास के लक्षण विशेष रूप से मिलते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण कृमिज हृद् रोग के लक्षणों के समान होता है ॥१३॥

क्रिमिजाया लक्षणमाह--शूलेत्यादि । क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन लक्षितेति क्रिमिहृद्रोगे क्रिमिलक्षणात् (णं) यत् पीडादिकं तदस्यां भवतीत्यर्थः ॥१३॥

सरोज व्याख्या—कृमिजा छर्दि के लक्षण कहते हैं—शूलेत्यादि। क्रिमिजा छर्दि के लक्षण क्रिमिज हृदयरोग के लक्षणों के समान होता है। जैसा कि कहा गया है—

उत्क्लेदः ष्ठीवनं शूलं हृल्लासकस्तमः।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत्॥ (सु. उ. ४३-६)

असाध्य छर्दि

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां, साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च॥१४॥
(च. चि. २०-१९)

जो छर्दि क्षीण रोगी को निरन्तर अति वेग से आ रही हो, उपद्रवों से युक्त हो, वमन पदार्थ रक्त एवं पूय मिश्रित हो तथा मयूर पंख के समान नाना वर्ण वाला हो, उसे असाध्य समझना चाहिए। जो वमन रोग उपद्रव से रहित हो, उसे साध्य समझकर चिकित्सा करनी चाहिए॥ १४॥

असाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि। सचन्द्रिकामिति। मेदःप्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत् प्रतिभाति। निरुपद्रवामिति। कासाद्युपद्रवरहिताम्। तदुक्तम्—

'कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः' इति॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां छर्दिनिदानं समाप्तम्॥

●

सरोज व्याख्या—छर्दि के असाध्य लक्षण कहते हैं—क्षीणस्येत्यादि। सचन्द्रिकान्—मेद आदि धातुओं का स्नेहांश जब वमन द्रव्य के साथ मिलकर निकलने लगता है—तब वमन द्रव मोरपंख (चन्द्रिका) के समान हरा-नीला एवं बैगनी आदि अनेक रंग वाला होता है। निरुपद्रवात्—कास, श्वास आदि उपद्रवों से रहित। जैसा कि कहा भी है—कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृष्णा, बेचैनी, हृद्रोग और तमक श्वास, यह छर्दि के उपद्रव होते हैं।

छर्दि के उपद्रव

(कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥ १५ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥ १५ ॥

कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बेचैनी, हृद्रोग और तमकश्वास ये छर्दि के उपद्रव होते हैं ॥ १५ ॥

छर्दिनिदानं समाप्त ॥

तृष्णानिदानम्

निदान एवं सम्प्राप्ति

भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम्।
स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् सम्भवतीह जन्तोः॥ १॥

भय, श्रम तथा बल के क्षय से प्रकुपित वायु एवं पित्तवर्धक (कटु, अम्ल, उष्ण, क्रोध आदि) प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त से मिलकर ऊर्ध्वगमन के द्वारा तालु में पहुँचकर तृष्णा को उत्पन्न कर देता है। इसके अतिरिक्त दोषों से जलवाही स्रोतों के दूषित हो जाने से भी तृष्णा (प्यास) की उत्पत्ति होती है॥ १॥

विमर्श :

विविधनिदान—वात प्रकोप
पित्त प्रकोप] —उदकवह स्रोतोगमन
↓
उदक क्षय
↓
जिह्वा मूल तालु,गल-क्लोम शुष्कता
↓
तृष्णा रोग

दोष दूष्य अधिष्ठान—

दोष—पित्त एवं वात।
दूष्य—उदक जलीय धातु।
स्रोतस्—उदकवह (रस रक्तवह)।
अधिष्ठान—तालु।

तृष्णा का पूर्वरूप एवं सामान्य लक्षण

(ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहसन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि॥)

रोग के पूर्वरूप—तालु, ओष्ठ, कण्ठ और मुख सूखते हैं और उनमें दाह का विशेष अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य ताप, मोह, भ्रम एवं प्रलाप भी होता है। रूपावस्था में यही लक्षण प्रबल (भयंकर) हो जाता है।

तृष्णा का भेद

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥२॥
(सु. उ. ४८।६)

१. वातजा, २. पित्तजा, ३. कफजा, ४. क्षतजा, ५. क्षयजा, ६. आमजा तथा ७. अन्नजा (भक्तजा) भेद से तृष्णा रोग सात प्रकार का होता है। आगे क्रमशः उनके लक्षण कहे जाते हैं ॥ २ ॥

छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्द्यनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः संप्राप्तिमाह—भयेत्यादि। पित्तविवर्धनैरिति। कट्वम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थान एव संचितं कुपितं च पित्तम्, वातश्च भयश्रमबलक्षयै कुपितः, ऊर्ध्वं प्रसरत् पिपासां जनयति तालिवत्युपलक्षणं, तेन क्लोमाद्यपि बोध्यं, तस्य पिपासास्थानत्वेनोक्तत्वात्। चरकेऽप्युक्तम्—'रसवाहिनीश्चधमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः। संशोष्यं नृणां देहे कुरुतस्तृषमतिबलौ तौ तु' (च. चि. अ. २२) इति। अन्नकफामजानां संप्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि। ननु, अपांवाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, 'द्वे उदकवहे' (सु. शा. अ. ९) इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवं, तयोरेकानेकप्रतानयोगादिति। दोषैरिति अन्नकफामैः, दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टदोषसंबधाद्वाऽन्नामयोरपि दोषत्वमिति गदाधरः। तिस्रः इति वातादिभिः प्रत्येकम्। क्षतजेति क्षतनिमित्ता व्रणिनां या भवति। चतुर्थीत्यनेनोक्तानां चतसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु कष्टसाध्यत्वम् ॥ १-२ ॥

सरोज व्याख्या—तृष्णा पूर्वोक्त छर्दि रोग का उपद्रव होने से छर्दि के पश्चात् तृष्णा रोग का निदान एवं उसकी सम्प्राप्ति बतलाते हैं— भयेत्यादि। पित्तविवर्धनैः—कटु, अम्ल, उष्ण पदार्थों के सेवन से तथा क्रोध, उपवास आदि करने से अपने ही स्थान में सञ्चित एवं कुपित होने वाला पित्त और भय, श्रम, बलनाश से कुपित होने वाला वायु। इस प्रकार प्रकुपित वायु से मिलकर पित्त ऊर्ध्वगामी होकर प्रसार करता हुआ पिपासा (तृष्णा) रोग पैदा कर देता है। यहाँ पर तालु उपलक्षण मात्र है। इससे क्लोम आदि भी लेना चाहिए, क्योंकि क्लोम स्वयं पिपासा का स्थान है। चरक में कहा गया है—

रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोमम्नः।
संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृषामतिबलौ तौ तु ॥ (च. चि. २२-६)

अर्थात् प्रकुपित हुआ वात और कफ रसवाहिनी धमनियों, जिह्वामूल, गल, तालु और क्लोम को सुखाकर तृष्णा रोग उत्पन्न करता है।

अन्नजा, कफजा और आमजा की सम्प्राप्ति कहते हैं—स्रोतःस्वित्यादि। 'स्त्रोतस्स्वपां वाहिषु—यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि सुश्रुत ने कहा है—'द्वे उदकवहे'। (सु. शा. ९) अर्थात् उदकवह स्रोतस् दो होते हैं! इसका उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है, वास्तव में प्रधान तो दो ही होते हैं; किन्तु उनके अनेक प्रतान (भेद) हो जाते हैं।

दोष शब्द से यहाँ पर दूषित अन्न, कफ एवं आम लेना चाहिए। चूँकि अन्न एवं आम यह दोनों दोष नहीं होते, किन्तु दूषित कफ से मिलने से इन दोनों का भी दोष स्वभाव हो जाता है, ऐसा आचार्य गदाधर का कथन है। तिस्रः—वात, पित्त एवं कफ तीन प्रकार की होती है। क्षतजा—व्रण रोगियों को क्षत के कारण जो होती है, यह चारों १. वातजा, २. पित्तजा, ३. कफजा एवं ४. क्षतजा तृष्णा सुख-साध्य होती है। यह चतुर्थी पद से स्पष्ट हो जाता है। शेष अन्य तीन ५. क्षयजा, ६. आमजा एवं ७. अन्नजा कष्टसाध्य होती हैं॥ २॥

वातजा तृष्णा

क्षामास्यता मारुतसम्भवायां तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति॥ ३॥

(सु. उ. ४८।८)

वातजा तृष्णा में मुख में शुष्कता, सिर एवं शंख प्रदेश में सूई चुभने सी वेदना, स्रोतोरोध तथा मुख में विरसता होती है। शीतल जल पीने से तृष्णा की वृद्धि होती है।

वातजामाह—क्षामास्यतेत्यादि। क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वम्। स्रोतोनिरोध इति। रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः। शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम्। चकाराच्चरकोक्तनिद्रानाशस्य ग्रहणम्। यदाह चरकः—'निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कगलतालुः' (च. चि. अ. २२) इति॥ ३॥

सरोज व्याख्या—वातजा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—क्षामास्यतेत्यादि। क्षामास्यता—मुख का शुष्क (रूक्ष) होना। स्रोतोरोध—रसवाही एवं जलवाही स्रोतों का अवरोध हो जाता है। शीताभिरद्भिः—शीतल जल वायु की वृद्धि करता है, इसलिए वातजन्य तृष्णा में शीतल जल का प्रयोग करने पर वायु अत्यधिक प्रकुपित (संकुचित) होकर स्त्रोतोरोध उत्पन्न करके तृष्णा को पैदा करता है। शीतल जल के उल्लेख से अनुपशय की ओर ध्यान दिलाया गया है। अद्भिश्च—यहाँ पर 'चकार' से चरकोक्त 'निद्रानाश' का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि चरक

में कहा गया है—निद्रानाश, शिरोभ्रम एवं गलतालु में शोष होता है। (च. चि. २२)

पित्तजा तृष्णा

मूर्च्छाऽन्नविद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च॥ ४॥
(सु. उ. ४८।९)

पित्तजा तृष्णा में मूर्च्छा, अन्नद्वेष, विलाप (प्रलाप), दाह, नेत्रों में लालिमा, निरन्तर शोष (अतीव तृष्णा) एवं शीतल पदार्थों के प्रति अभिरुचि होती है। मुख का स्वाद तिक्त एवं शरीर में आग लगी सी प्रतीत होती है॥ ४॥

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादिना। विलापोऽत्र प्रलापः। प्रततश्च शोषोऽतीव महती तृष्णा। शीताभिनन्दा शीतेच्छा, 'गुरोश्च हलः—इत्यकारप्रत्ययः। परिदूयनमुपतापः, 'परिधूम(प)नम् इति पाठेऽन्तःक्षोभणम्, धूमनिर्गम इव वा। चकारात् पीतविण्मूत्रनेत्रत्वादयो ग्राह्याः॥ ४॥

सरोज व्याख्या—पित्तजा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—मूर्च्छेत्यादि। विलाप से यहाँ प्रलाप समझना चाहिए। प्रततश्च शोषः—अतीव (महती) तृष्णा। शीताभिनन्दा-शीतेच्छा। शीताभिनन्दा शब्द 'गुरोश्च हल;' सूत्र द्वारा गुरुयुक्त हलन्त से परे स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय लगाकर बनता है। परिदूयनम्—उपताप अर्थात् सम्पूर्ण शरीर तप्त रहता है। परिधूमनम् ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है कि शरीर के अन्दर अग्निदाह के समान क्षोभ (कष्ट) होता है, श्वास द्वारा धुआँ सा निकलता प्रतीत होता है। 'चकार' से मल, मूत्र एवं नेत्रादि का पीतत्व ग्रहण करना चाहिए॥ ४॥

श्लेष्मजा तृष्णा

बाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तयार्ऽदितः शुष्यति चातिमात्रम्॥ ५॥
(सु. उ. ४८।१०)

स्वकारण प्रकुपित कफ द्वारा अन्तराग्नि के आवृत्त होने से अम्बुवाही स्रोतों में ऊष्मा का अवरोध होने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे 'कफजा तृष्णा' कहते हैं। इसमें निद्रा अधिक आती है, शरीर में भारीपन तथा मुख का स्वाद मीठा होता है। रोगी बहुत अधिक सूख जाता है॥ ५॥

श्लेष्मजामाह—बाष्पेत्यादि। स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्टादाच्छादितेऽन्तरग्नौ कफावरुद्धबाष्पेण पावकोष्मणाऽधोगतेनाम्बुवहस्रोतःशोषणात्

कफजा तृष्णा भवति। ननु, कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना? कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवस्य पिपासाकर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात्। यदुक्तं—'पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्' इत्यादि। चरकेऽप्युक्तं-'नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू' (च. चि. २२) इति। सुश्रुतेऽप्युक्तं-'मद्यस्याग्नेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते' (सु. उ. ४७) इति। अत आह—तथेति। उक्तप्रकारेण कफाग्नेर्बाष्पावरोधादिना, नतु स्वगुणेन; अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुतेन तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेनैव श्लेष्मणा तृष्णा पठिता न तु केवलेन। यदाह—'स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा। प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णा संजनयेन्नृणाम्॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च। भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्' इति॥ ५॥

सरोज व्याख्या—कफजा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—वाष्पेत्यादि। अपने प्रकोपक कारणों से कुपित कफ द्वारा अन्तराग्नि के आच्छादित (आवृत) होने से अवरुद्ध अन्तराग्नि की अधोगत ऊष्मा से अम्बुवाही स्रोतों का शोषण होने के कारण कफजा तृष्णा होती है। अब यहाँ शंका होती है कि कफ से तृष्णा उत्पन्न हो नहीं सकती, क्योंकि प्रवृद्ध कफ द्रव होने से पिपासा का उत्पादक कारण नहीं होने से वात-पित्त को तृष्णा का उत्पादक कारण माना गया है। जैसाकि कहा गया है—पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्—इत्यादि। चरक में भी कहा गया है—'नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू' (च. चि. २२) अर्थात् अग्नि (पित्त) या वात के बिना तृष्णा नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों शोषण में कारण होते हैं। सुश्रुत में भी कहा गया है—मद्यस्याग्नेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते। (सु. उ. ४७) अर्थात् मद्य का आग्नेय एवं वायव्य गुण ही जलवाही स्रोतों को सुखाकर तृष्णा रोग को उत्पन्न करता है।

इसका समाधान करते हैं—तथेति। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से कफ द्वारा अग्नि के वाष्परोधादि से ही तृष्णा होती है न कि स्वगुण (प्रत्यक्षतः) केवल कफ से। अतएव चरक में कफजा तृष्णा नहीं मानी गयी है। सुश्रुत ने भी केवल चिकित्साभेद के लिए उसको माना है। इसी तरह हारीत ने भी पित्तयुक्त श्लेष्मा से तृष्णा मानी है न कि केवल कफ से। जैसा कि कहा गया है—मधुर, अम्ल एवं लवण पदार्थों के अत्यधिक सेवन से एवं अजीर्ण से कुपित कफ-पित्त के साथ मिलकर जब जलवाही स्रोतों में पहुँच जाता है, तब तृष्णा (पिपासा) उत्पन्न होती है। इसमें शिर में भारीपन, जम्भाई, मुख में भारीपन, भोजन में अरुचि, प्रसेक तथा निन्द्राधिक्य होता है। ऐसा लक्षण मिलने पर कफजन्य तृष्णा समझनी चाहिए॥ ५॥

क्षतजा तृष्णा

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षयजा मता तु ।

(सु. उ. ४८.१२।१)

क्षत के कारण अत्यधिक रक्तस्राव एवं पीड़ा के कारण क्षतजा नाम की तृष्णा उत्पन्न होती है ।

क्षतजामाह—क्षतस्येत्यादि । शास्त्रादिक्षतयुक्तस्य ।

सरोज व्याख्या--क्षतजा तृष्णा को कहते हैं---क्षतस्येत्यादि । शस्त्र आदि द्वारा कट (क्षत होना) जाने पर अत्यधिक रक्तस्राव होने पर क्षतजा तृष्णा हो जाती है ।

क्षयजा तृष्णा

रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥ ६ ॥
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥७॥

(सु. उ. ४८. १२।२, १४।१)

क्षयजा तृष्णा रसधातु के क्षय होने से उत्पन्न होती है । इससे पीड़ित रोगी दिन-रात बार-बार पानी पीता है, किन्तु फिर भी उसको सुख (आराम) नहीं मिलता । इस तृष्णा को कुछ लोग 'सन्निपातजा तृष्णा' भी कहते हैं । इन लक्षणों के अतिरिक्त चिकित्सकों को रसक्षय के सभी लक्षणों को भी इसका लक्षण समझना चाहिए ॥ ७ ॥

क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह—रसक्षयादित्यादि । पेपीयते पुनः पुनः पिबति; एतच्च विशेषपरम्, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात् । यदाह सुश्रुतः-'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्' (सु. उ. अ. ५८) इति । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि । तद्यथा—'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च' (सु. सू. १५) इति । तस्यां क्षयजायां, अशेषेण कात्स्न्र्येन ॥

सरोज व्याख्या--क्षय शब्द का अनेक विषय (अर्थ) होने से क्षयजा का विशेष वर्णन करते हैं--रसक्षयादित्यादि । पेपीयते-बार-बार पानी पीता है । यह क्षयजा तृष्णा का विशेष सूचक है, क्योंकि सभी तृष्णाओं में इस प्रकार की स्थिति होती है । जैसा कि सुश्रुत ने कहा है--'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्' ॥ (सु. उ. ४८) इति । अर्थात् जो व्यक्ति हमेशा पानी पीता रहता है, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती और तृष्णा भी

नहीं समाप्त होती है और कुछ क्षण के बाद पुनः पानी चाहता है, उसे तृष्णार्दित समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त क्षयजा तृष्णा में रसक्षय के लक्षण मिलते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—रसक्षय में हृत्-पीड़ा, कम्प, शोष, शून्यता (चेतना शक्ति का ह्रास) एवं तृष्णा होती है (सु. सू. १५)। अशेषेण—क्षयजा तृष्णा में रसक्षय के लक्षण सभी मिलते हैं।

आमजा तृष्णा

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री।
(सु. उ. ४८. १४।२)

तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त आमज तृष्णा में हृदय प्रदेश में वेदना, अधिक थूक आना तथा शरीर में शिथिलता, ये लक्षण मिलते हैं।

आमजामाह—त्रिदोषेत्यादि। त्रिदोषलिङ्गा त्रिदोषलिङ्गयुक्ता। आमादजीर्णात्त्रिदोषकोपः स्यादिति॥

सरोज व्याख्या—आमजा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—त्रिदोषेत्यादि। त्रिदोषलिङ्गा—पूर्वोक्त तीनों दोष के लक्षण मिलते हैं। आमात् अजीर्णात्—त्रिदोष सकोपजा, आमविषजा तथा अजीर्ण आदि में होने वाली तृष्णा को आमजा कहा जाता है।

भक्तोद्भव (अन्नजा) तृष्णा

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति॥ ८॥
(सु. उ. ४८. १५।१)

स्निग्ध, अम्ल, लवण और गुरु अन्न के अधिक खाने से भक्तोद्भव तृष्णा होती है॥ ८॥

भक्तोद्भवामाह—स्निग्धमित्यादि। चकरात् कटु च, न तु तिक्तकषायमधुराणीत्यर्थः। गुरुशब्देन मात्रागुरु द्रव्यगुरु च गृह्यते। दृढबलेन तु पञ्च तृष्णाः पठिताः, वातपित्तक्षयामोपसर्गजाः (च. चि. २२) इति; तत्र कफजा आमजायामेवावरुद्धा; क्षतजा वातजायां, भक्तजा च वातजायां, भक्तावरणेन वातप्रकोपात्; पित्तजायां वा, विदाहेन पित्तप्रकोपात्। सुश्रुते चोपसर्गजा यथास्वं दोषजासु। ननु, मद्यजाऽपि सुश्रुतेन मदात्यये (सु. उ. ४७) पठिता, तत् कथं सप्तेत्युच्यते? सत्यं, तस्या वातपित्तजायामवरोधः, एवं दृढबलमतेऽपि॥ ८॥

सरोज व्याख्या—भक्तोद्भवा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—स्निग्धमित्यादि। चकार से यहाँ कटु रस लेना चाहिए, न कि तिक्त, कषाय एवं मधुर रसों का। गुरु

शब्द से यहाँ पर मात्रा गुरु अर्थात् अधिक मात्रा में खाये गये आहार को लेना चाहिए तथा द्रव्य गुरु अर्थात् स्वभावतः गुरु माष आनूप देशी जन्तुओं का मांस इत्यादि का ग्रहण करना चाहिए। आचार्य दृढबल ने केवल पाँच प्रकार की तृष्णा मानी है। जैसे--वातजा, पित्तजा, क्षयजा, आमजा एवं उपसर्गजा (च. चि. २२)। वहाँ पर कफजा को आमजा एवं क्षतजा को वातजा में अन्तर्भाव कर लिया गया है। इसी तरह भक्तजा को भी वातजा में मान लिया गया है, क्योंकि पूर्वोक्त आहार के आवरण से भी वात का प्रकोप हो जाता है। अथवा भक्तजा को पित्तजा तृष्णा के अन्दर माना जा सकता है, क्योंकि विदाही पदार्थों के सेवन से पित्त का प्रकोप हो जाता है। सुश्रुत में उपसर्गजा तृष्णा को तत्प्रकोपक दोषों में समाविष्ट कर लिया गया है।

अब शंका होती है कि सुश्रुत ने मदात्यय रोग में 'मद्यजा तृष्णा' को माना है, तब कुल सात ही कैसे हुई ? इसका उत्तर देते है कि बात सत्य है, पर मद्यजा तृष्णा का वातपित्तजा तृष्णा में अवरोध हो जाता है एवं आचार्य दृढबल का भी यही कथन है॥ ८॥

उपसर्गजा तृष्णा

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कवक्त्रगलतालुः।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा॥ ९॥

(च. चि. २२. १६।२. १७।१)

रोगों के उपद्रव स्वरूप होने वाली तृष्णा को उपसर्गजा तृष्णा कहा जाता है। इससे पीड़ित रोगी का स्वर क्षीण हो जाता है, वह बार-बार मूर्च्छित होता रहता है, अपने को अत्यन्त हीन समझता है, उसका मुख, गला एवं तालु सूख जाता है। यह तृष्णा रोगी को सुखा देती है तथा कष्टदायी होती है।

तत्रोपसर्गजामाह—दीनेत्यादि। दीनस्वरः क्षामवचनः, प्रताम्यन् मुह्यन्, दीनः क्लान्तः। उपसर्गादित्युपद्रवाद्रोगात्, उपद्रवशब्दश्च सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते, यथा—'निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः' (सु. चि. ३८) इत्यत्र। कष्टा कष्टसाध्या, व्याधिकर्षितदेहत्वात्॥ ९॥

सरोज व्याख्या—उपसर्गजा तृष्णा के लक्षण कहते हैं—दीनेत्यादि। दीनस्वर—तृष्णा के कारण स्वर क्षीण हो जाता है, प्रताम्यन्—रोगी मूर्च्छित होता रहता है, दीनः—क्लान्त (असहाय), उपद्रवात्—उपद्रव भूत रोग से उत्पन्न होने वाली। उपद्रव शब्द सामान्य रोग मात्र में भी मिलता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है—निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। (सु. चि. ३८) यहाँ पर उपद्रव शब्द सामान्य रोगवाचक होता है। यह तृष्णा कष्टसाध्य होती है; क्योंकि शरीर पहले ही रोग से कृश हो जाता है॥ ९॥

औपसर्गिक तृष्णा के कारण

ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।

(च. चि. २२.७२)

ज्वर, मोह, क्षय, कास और श्वास आदि रोगों से जो व्यक्ति पीड़ित होते हैं, उन (व्यक्तियों) को उपद्रव रूप में तृष्णा रोग उत्पन्न होता है ।

तानेवोपसर्गानाह—ज्वरेत्यादि । आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम् ॥—

सरोज व्याख्या—जिन रोगों में तृष्णा उपद्रव रूप में मिलती है, उसका उल्लेख करते हैं—ज्वरेत्यादि । आदि शब्द से ज्वरादि के अतिरिक्त अतिसारादि का ग्रहण करना चाहिए ।

असाध्य तृष्णा

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम् ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १० ॥

(च. चि. २२।८)

रोग से कृश व्यक्तियों में जब सभी तृष्णाएँ अत्यधिक बढ़ी हुई हों, रोगी को वमन होता हो, वह बलवान् उपद्रवों से युक्त हो, तो उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥ १६ ॥

असाध्यानां लक्षणमाह—सर्वास्त्वित्यादि । सर्वा वातजादयः, अतिप्रसक्ता अतिप्रवृद्धाः घोरोपद्रवयुक्ता मुखशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवैः समन्विता इति जेज्जटः ॥ १० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥

सरोज व्याख्या—असाध्य तृष्णा के लक्षण कहते हैं—सर्वास्वित्यादि । सर्वा—वातजा आदि, अतिप्रसक्ता—अतिप्रवृद्धा अर्थात् अत्यधिक बढ़ी हुई वातजा आदि सभी तृष्णाएँ असाध्य होती है । घोरोपद्रवयुक्ता—मुखशोष आदि बलवान् उपद्रवों से समन्वित, ऐसा जेज्जट का कथन है ।

दृढबल ने तृष्णा का पूर्वरूप एवं सामान्य लक्षण बतलाया है—

प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम् ।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥ (च. चि. २२।८)

तृष्णानिदान समाप्त ॥

०

सप्तदशोऽध्यायः

मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानम्

मूर्च्छा का हेतु एवं सम्प्राप्ति

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥ २ ॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥ ३ ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः,

(सु. उ. ४६. ३-७)

बल तथा मांस के क्षीण हो जाने से, दोषों के बढ़ जाने से, विरुद्ध आहार के सेवन से, वेग के रोकने से, चोट लगने से, हीन सत्त्व वाले मनुष्यों के मन के बाह्य आयतन (चक्षुश्रोत्र आदि) तथा आभ्यन्तर आयतन (मनोवह स्रोतस्) में उग्ररूप से विकृत दोषों का प्रवेश हो जाने पर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है ।

वात आदि दोषों द्वारा संज्ञावाही नाड़ियों के आच्छादित हो जाने पर आँखों के आगे सुख दुःख का ज्ञान नष्ट करने वाला अन्धकार छा जाता है । सुख तथा दुःख का ज्ञान नष्ट होने पर मनुष्य सूखे काष्ठ के समान गिर पड़ता है । इस अवस्था को मोह या मूर्च्छा (Fainting) कहते हैं ।

मूर्च्छा का भेद

षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च ।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ ५ ॥

(सु. उ. ४६. ८)

वात, पित्त, कफ, रक्त, मद्य तथा विष से उत्पन्न होने के कारण मूर्च्छा छः प्रकार की होती है, किन्तु इन सभी मूर्च्छाओं में पित्त की प्रधानता होती है ।

तृष्णायां मोहो भवतीति तृष्णानन्तरं मूर्च्छा, उक्तं हि-'तृषितो मोहमायाति'-इति। निदानं सम्प्राप्तिं चाह—क्षीणस्येत्यादि। बहुदोषस्येति। विपुलदोषस्य न त्वनेकदोषस्य; तथा सत्येकदोषजायाः सम्प्राप्तिर्नोक्ता स्यात्। वेगाघातान्मलादिवेगधारणात्। अभीघाताल्लगुडादेः। हीनसत्त्वस्य हीनसत्त्वगुणस्य। करणं मनः, तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहानि स्रोतांसि, यैरागत्य मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति। अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि धीन्द्रियाणि; तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मूर्च्छन्तीति योज्यम्। पुनः कया संप्राप्त्या? इत्यत आह—संज्ञावहास्वित्यादि। संज्ञावहनाडीशब्देन सिराधमनीस्रोतसां ग्रहणमित्याहुः, यतस्तैर्मन इन्द्रियदेशं प्राप्नोति। पिहितासु आवृतासु। तमो मनोगुणोऽज्ञानहेतुः, अभ्युपैति वर्धते, सहसा झटिति। अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदात्ययादिषु सत्त्वरजसी न तथा लीयेते, यथा मूर्च्छायामित्यत आह--सुखदुःखव्यपोहकृदिति। सुखदुःखयोरसंवित्तिकरम्। एतत्तु प्रायिकत्वेनोक्तं, (त्रिविधं ज्ञानं भवति हेयोपादेयोपेक्षणीयभेदात्) तेनोपेक्षणीयज्ञानाभावोऽपि ज्ञेयः। व्यवहारार्थं तत्पर्यायावाह--मोहो मूर्च्छेति। वातादिभिस्तिस्रः शोणितमद्यविषैश्च तिस्रः, एवं षट्। प्रभुत्वेनेति व्यापकत्वेन, वातजादिष्वपि ज्वरवद्रोगमहिम्नाऽवश्यं पित्तसंबन्धः, अत एव वक्ष्यति--'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' इति; चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥ १-५ ॥

सरोज व्याख्या--तृष्णा रोग का उपद्रव मोह होता है, जैसाकि कहा गया है--'तृषितो मोहमायाति' इति। इसलिए तृष्णा रोग के पश्चात् मोह (मूर्च्छा) आदि का निदान एवं सम्प्राप्ति कहते हैं—क्षीणस्येत्यादि। बहुदोषस्य—बहुदोष का अर्थ दोषों की विपुलता (मात्रा में अधिकता) होता है, न कि संख्या में अधिकता। क्योंकि यदि 'विपुलदोषस्य' का अर्थ अनेक दोषों का प्रकोप मान लिया जाय, तो एक दोषजन्य मूर्च्छा की सम्प्राप्ति ही नहीं बन सकती। वेगाघातात्-मल मूत्रादि के वेग को रोकने से। अभिघातात्-लाठी आदि के प्रहार से चोट लग जाने से। हीनसत्त्वस्य[1]—सत्वगुण के हीन होने से, सत्त्व मन को कहा जाता है, सत्त्वगुण मन की शक्ति का प्रतीक होता है, यह गुण सर्वथा शुद्ध एवं विकार रहित होता है, जबकि रज एवं तम मन के दोष होते हैं। करण मन को कहा जाता है, उसके चक्षु आदि बाह्य आयतन तथा मनोवह स्रोतस् आभ्यन्तर आयतन (मार्ग) होते हैं, जिनके द्वारा मन बाहर की ओर आकर नेत्र आदि बाह्य अधिष्ठानों में अधिष्ठित होता है अथवा

१. (अ) सत्त्वमुच्यते मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात् (च. वि. ८.११९)।
(ख) रजस्तमश्च मनसो दोषौ। (च. वि.)

बाह्य शब्द से कर्मेन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ) तथा आभ्यन्तर शब्द से ज्ञानेन्द्रियों अथवा बुद्धीन्द्रियों (श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना एवं घ्राण) को लेना चाहिए।

जब उन बाह्य एवं आभ्यन्तर आयतनों में उग्र (अत्यन्त प्रकुपित) दोषों का प्रवेश हो जाता है, तो मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है।

पुनः मूर्च्छा की दूसरी सम्प्राप्ति बतलाते हैं—संज्ञावहास्वित्यादि। संज्ञावह नाडी शब्द से संज्ञावाहक सिरा, धमनी एवं स्रोतों का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा अन्य आचार्यों का कथन है, क्योंकि उनके द्वारा ही मन इन्द्रियों तक पहुँचता है। पिहितासु—प्रकुपित वातादि द्वारा आवृत्त होने पर तम मन का दोष बतलाया गया है, जो कि अज्ञान का हेतु है। तमः सहसा वर्धते—वह तम, सहसा बढ़ जाता है।

मूर्च्छा और मदात्यय आदि के कारण में अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि मदात्यय आदि रोगों में सत्त्व और रजोगुण का तमोगुण में उतना लय नहीं होता, जितना मूर्च्छा में होता है। इसलिए कहा गया है मूर्च्छा में तमोगुण द्वारा आवृत्त होने से सुख दुःख का ज्ञान नष्ट हो जाता है। (ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) हेय ज्ञान (२) उपादेय ज्ञान (३) उपेक्षणीय ज्ञान)। यहाँ उपेक्षणीय ज्ञान का अभाव होता है और यह प्रायिक होता है।

लोकव्यवहार के लिए मूर्च्छा के पर्याय कहते है—मोह एवं मूर्च्छा।

मूर्च्छा के भेद बतलाते हैं—१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. रक्त, ५. मद्य, एवं ६. विष भेद से मूर्च्छा छः प्रकार की होती है। प्रभुत्वेन—जैसे ज्वर में पित्त का सम्बन्ध अवश्य होता है, वैसे ही मूर्च्छा में भी वातादि किसी दोष से उत्पन्न होने पर भी पित्त का सम्बन्ध अवश्य होता है। इसीलिए कहा गया है—मूर्च्छा पित्त-तमःप्राया। चिकित्सा में 'शीतोपचार' हेतु पित्त का उल्लेख नहीं किया गया है।

पूर्वरूप

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत्॥ ६॥

(सु. उ. ४६. ५)

हृदय में पीड़ा, जम्हाई, ग्लानि और संज्ञादौर्बल्य (चेतना शक्ति का दुर्बल होना) सभी प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरूप हैं। इनके वातादि भेदों को उनके विशिष्ट लक्षणों के आधार पर समझना चाहिए।

तस्याः पूर्वरूपमाह—हृत्पीडेत्यादि। संज्ञादौर्बल्यमसम्यग्ज्ञानतः।

सर्वासां पूर्वरूपाणीति छेदः। यथास्वं विभावयेदिति। ता मूर्च्छा वातादिभेदेन जानीयात्; व्यक्तरूपावस्थायां, नतु पूर्वरूपावस्थायामिति जेज्जटः ॥६॥

सरोज व्याख्या—मूर्च्छा के पूर्वरूप कहते हैं—हृत्पीडेत्यादि। संज्ञादौर्बल्यम्–असम्यक् ज्ञानता। अर्थात् चेतना शक्ति दुर्बल हो जाती है। उपर्युक्त पूर्वरूप सभी मूर्च्छाओं में समान होते हैं। यथास्वं विभावयेत्—व्यक्तावस्था (रूपावस्था) में दोषों के लक्षणों के अनुसार मूर्च्छा के भेद की कल्पना कर लेनी चाहिए। पूर्वरूपावस्था में दोषबोधक लक्षण न मिलकर पूर्वरूप सब में सामान्य रूप से मिलते हैं, ऐसा जेज्जट का मत है ॥ ६ ॥

वातज मूर्च्छा

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम्।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ७ ॥

वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च।
कार्श्यं श्यावाऽरुणाच्छाया मूर्च्छाये वातसम्भवे ॥ ८ ॥

वातज मूर्च्छा में रोगी आकाश को नीला, काला या लाल देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है। रोगी के सारे शरीर में कम्पन एवं अङ्गमर्द होता है, हृदय प्रदेश में पीड़ा होती है, शरीर में कृशता तथा काली अथवा लाल छाया हो जाती है।

ता एवाह (वातजामाह)--नीलमित्यादि। नीलं स्निग्धकृष्णं कृष्णं रूक्षकृष्णम्, अरुणमीषल्लोहितम्। तमः प्रविशत्यन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतोत्यर्थः। शीघ्रं च प्रतिबुध्यत इति वायोः शीघ्रकारित्वात्। कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया, 'गात्रे' इति शेषः। मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः ॥ ७–८ ॥

सरोज व्याख्या--वातज मूर्च्छा के लक्षण कहते हैं—नीलमित्यादि। स्निग्ध कृष्ण को नील एवं रूक्षकृष्ण को कृष्ण वर्ण कहते हैं, एवं हल्के लाल रंग को अरुण वर्ण कहते हैं। तमः प्रविशति—रोगी को अन्धकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होता है, इस प्रकार मूर्च्छित हो जाता है। वायु के शीघ्र कार्यकारी होने से रोगी शीघ्र ही होश में आ जाता है। कार्श्यं श्यावाऽरुणा के साथ 'गात्रे' शब्द जोड़ लेने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् शरीर में कृशता हो जाती है और शरीर का वर्ण श्याव या अरुण हो जाता है। मूर्च्छाय शब्द मूर्च्छा का पर्याय है।

पित्तज मूर्च्छा

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ९ ॥
(सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः।
जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते।)
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे ॥ १० ॥

पित्तज मूर्च्छा में रोगी आकाश को लाल, हरा अथवा पीले रंग का देखता हुआ मूर्च्छित होजाता है। मूर्च्छा खतम होने पर होश में आने पर रोगी को पसीना होता है, इसके साथ ही प्यास लगती है, शरीर में दाह होता है तथा आँखें लाल या पीली हो जाती है। इन लक्षणों के होते ही रोगी गिर पड़ता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है। मूर्च्छा होने पर अनियन्त्रित रूप से मलत्याग होता है तथा रोगी का चेहरा पीला हो जाता है।

पित्तजमूर्च्छायमाह--रक्तमित्यादि। वियदाकाशम्। अत्र 'सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः'—इति क्वचिदधिकः पाठः ॥ ९-१० ॥

सरोज व्याख्या—पित्तज मूर्च्छा के लक्षण कहते हैं—रक्तमित्यादि। वियद्—आकाश रक्तादि वर्ण का मालूम पड़ता है। यहाँ 'सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः' इत्यादि पाठ विजयरक्षित के मत से प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है ॥ १० ॥

कफज मूर्च्छा

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसम्भवे ॥ १२ ॥

कफज मूर्च्छा में रोगी आकाश को मेघाच्छन्न अन्धकारयुक्त देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। इसमें होश विलम्ब से आता है। शरीर गीले चमड़े से ढके हुए के समान भारी प्रतीत होता है। रोगी के मुँह से लालास्राव निकलता रहता है तथा मिचली होती है ॥ १२ ॥

कफजमूर्च्छायमाह--मेघेत्यादि। तमोघनैरिति। तमोभिर्घनैश्च; तमोऽन्धकारः, धनोऽत्र मेघवाची ॥ ११-१२ ॥

सरोज व्याख्या—कफज मूर्च्छा का लक्षण कहते हैं—मेघेत्यादि। तमोघनैः—

आकाश अन्धकारयुक्त मेघाच्छन्न होता है। तम का अर्थ अन्धकार एवं घन शब्द मेघवाची है।

सन्निपातज मूर्च्छा

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
न जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ १३ ॥

(अ. हृ. नि. ६. ३५)

सन्निपातज मूर्च्छा में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। इसका आवेग बीभत्स चेष्टाओं (मुँह से झाग का आना, हाथ-पैरों का फड़कना एवं चेहरे की आकृति का विकृति होना) को छोड़कर अपस्मार के समान ही होता है। इससे रोगी शीघ्र ही बेहोश हो जाता है ॥ १३ ॥

सान्निपातिकीमाह—सर्वेत्यादि। ननु, सर्वाकृतिरिति विरुद्धं, उद्देशे 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' इत्यभिहितत्वात्, सन्निपातजया च सह सप्त प्रसज्येरन् ? उच्यते; उद्देशः सुश्रुतग्रन्थेन, चरकग्रन्थेन च विवरणम्। चरके ह्येकजास्तिस्रस्त्रिदोषजा चैकेति चतस्रः पठ्यन्ते। यदुक्तमष्टोदरीये—'चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः' (च. सू. १८) इति। रक्तमद्यविषजानां यथादोषमेतास्वन्तर्भावः; सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षणचिकित्साभेदख्यापनार्थं साक्षात् पठिताः, त्रिदोषजाया दोषजास्वन्तर्भावः इत्यभिप्रायेण भेद आचार्ययोः; संग्रहे चात्र सर्वतन्त्रस्वीकारादुभयमपि लिखितमित्यदोषः। अपस्मार इवेति। यथाऽपस्मारी महताऽभिघातेन पतति चिरेण प्रतिबुध्यते। अपस्मारे फेनवामित्वदन्तघट्टनाक्षिवैकृतादिकमधिकमिति भेदः। बीभत्सचेष्टितैरिति। फेनवामित्वादिभिरेव ॥ १३ ॥

सरोज व्याख्या—सान्निपातिक मूर्च्छा को कहते हैं—सर्वेत्यादि। यहाँ शंका होती है कि सर्वाकृतिः—इत्यादि पाठ विरुद्ध है, क्योंकि प्रारम्भ में छः प्रकार का मूर्च्छा कही गयी है, फिर सन्निपात के साथ उसके सात भेद हो जाते हैं, इसलिए परस्पर विरोध हो जाता है ? इसका समाधान करते हुए विजयरक्षित कहते हैं कि माधवकर ने यद्यपि सुश्रुत के मतानुसार छः प्रकार की मूर्च्छा प्रारम्भ में बतलायी है, किन्तु उसका विवरण चरक मतानुसार किया है। चरक में पृथक् दोषों से तीन और सन्निपात से चौथी मूर्च्छा कही है। जैसा कि चरक के अष्टोदरीय अध्याय में कहा गया है—चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः। (च. सू. १८) अर्थात् अपस्मार के समान मूर्च्छा चार प्रकार की होती है—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज। रक्तज आदि मूर्च्छाओं का दोषानुसार इन

चारों में अन्तर्भाव हो जाता है, किन्तु सुश्रुत में रक्तज आदि मूर्च्छाओं के लक्षण चिकित्सा-भेद को स्पष्ट करने हेतु पृथक् से बताये गये है और त्रिदोषज मूर्च्छा का तीनों ही दोषों में अन्तर्भाव कर दिया जाता है। इस प्रकार सुश्रुत के मतानुसार छः माना गया है। यही इन दोनों आचार्यों के अभिप्राय में भेद है। चूँकि संग्रह-ग्रन्थों में सम्पूर्ण तन्त्रों का सम्मान बराबर किया जाता है, इसीलिए दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों को मिलाकर लिखा गया है, अतः इसमें कोई दोष नहीं है।

अपस्मार इवेति—जैसे अपस्मार का रोगी सहसा बड़े वेग से गिर पड़ता है और चिरकाल के पश्चात् प्रतिबुद्ध (होश) होता है, वैसे सन्निपातज मूर्च्छा में होता है। इन दोनों में अन्तर यह है कि अपस्मार में फेनवमन, दन्तघट्टन तथा नेत्रों की विकृति होती है, किन्तु सन्निपातज मूर्च्छा में यह लक्षण नहीं होता है ॥ १३ ॥

रक्तजा मूर्च्छा

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ १४ ॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति।

(सु. उ. ४६. ९।२. १०)

पृथ्वी एवं जल तमोगुणबहुल होते हैं, रक्त की गन्ध भी पृथ्वी एवं जल से बनी होने के कारण तमोगुण से युक्त होती है (मूर्च्छा भी तमःप्राय होती है)। इसलिए कुछ लोग (तमो गुण प्रधान) रक्त की गन्ध से तथा कुछ लोग रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ आचार्य रक्त के स्वभाव को मूर्च्छा का हेतु मानते हैं।

रक्तजमूर्च्छासम्प्राप्तिमाह—पृथिव्याप इत्यादि। पृथिव्यापश्चैतद्द्वयं तमोरूपं तमोबहुलम्, उक्तं हि-'तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः (सु. शा. १)' इति। 'पृथव्यम्भः' इति पाठेऽयमेवार्थः। तदन्वयः पृथिव्यम्भोऽन्वयः, 'तन्मयः' इति पाठे पृथिवीजलमयः, प्रकृतिविकारभावे मयट्। तस्मादिति। यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वयः, मूर्च्छा च तमःप्राया, तस्मादित्यर्थः। भुवि मानवा इति। पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूतभूमिगुणा ये ते भुवि मानवाः पार्थिवाः, तामसा इत्यर्थः; न तु राजसा सात्त्विका वा। ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत, तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च तमोरूपत्वात्? इत्यत आह-द्रव्यस्वभाव इत्यादि। रक्तस्यायं स्वभावः, तेन तद्गत एव गन्धो मूर्च्छयतीति। स्वभाव-मेव द्रढयति--दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति। 'यच्च दृष्ट्वाऽपि मुह्यति'-इति पाठान्त-

रम्। अन्ये तु गन्धासम्बन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपलम्भादनैकान्तिकत्वं गन्धस्य मन्यमानाः स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः; एतेन गन्धस्य प्रायिकत्वमुक्तम्। अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते; तन्न, यदाह भोजः-'स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च। दर्शनादसृजस्तज्जाद् गन्धाच्चैव प्रमुह्यति' इति। 'पृथिव्या यत्तमोरूपम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। 'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्त्रयम्' इति पाठान्तरस्य जेज्जटलिखितस्यायमर्थः-रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयोस्तादर्थ्यात् किं तत्त्रयमित्यत उक्तं--पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति, पृथिव्यम्भस्तमसां रूपमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत्। दृष्ट्वेति रक्तमिति ॥ १४ ॥

सरोज व्याख्या—रक्तजा मूर्च्छा की सम्प्राप्ति कहते हैं—पृथिव्याप इत्यादि। पृथिवी एवं जल ये दोनों तमोरूप अर्थात् तमोबहुल होते हैं। कहा गया है—तमोबहुला पृथ्वी, सत्त्वतमोबहुला आपः। (सु. शा. १) अर्थात् पृथिवी तमोबहुल और जल सत्व तथा तमोबहुल होता है। 'पृथिव्यापः' के स्थान पर 'पृथिव्यम्भः' पाठान्तर में भी यही अर्थ होता है। तदन्वयः—अर्थात् रक्तगन्ध पृथिवी और जल से बना हुआ होता है। तन्मयः—पाठान्तर में भी पृथिवी जलमय उपर्युक्त अर्थ पाया जाता है। प्रकृतिविकार भाव में व्याकरण के अनुसार 'मयट्' प्रत्यय हो जाता है। तस्मादिति—चूँकि पृथिवी और जल तमोगुणप्रधान होते हैं तथा रक्त भी द्रव होने से जल के समान गुणवाला तथा रक्तज गन्ध पृथिवी का गुण होता है, इसलिए रक्त का सम्बन्ध इन दोनों महाभूतों से होता है और मूर्च्छा भी तमःप्राय होती है। इन कारणों से रक्त गन्ध से भूमानव मूर्च्छित हो जाता है। भुवि मानवाः—शरीर पाञ्चभौतिक होने पर भी पृथिव्यादि पाँचों भूतों में मानव आदि जीवों में पार्थिव भूत ही प्रबल होता है, इसीलिए यहाँ 'भुवि मानवाः' कहा गया है। भुवि मानवा से पार्थिव अथवा तामस प्रकृति की ओर संकेत किया गया है, न कि राजस अथवा सात्त्विक प्रकृति का।

अब यहाँ शंका होती है कि यदि गन्ध ही मूर्च्छा का हेतु होता है, तो चम्पक आदि पुष्पों की गन्ध से मूर्च्छा होनी चाहिए, क्योंकि गन्ध पृथिवी का गुण होने से पार्थिव होता है और पृथिवी तमोरूप होता है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—द्रव्यस्वभाव इत्यादि। अर्थात् रक्त का ऐसा स्वभाव होता है, इसलिए रक्तजन्य गन्ध ही मनुष्य को मूर्च्छित कर देती है। इसी द्रव्यस्वभाव को ही अधिक दृढ़ता से कहते हैं—दृष्ट्वा यदभिमुह्यति; अर्थात् रक्त ऐसा द्रव्य है, जिसे (रक्त) देखकर मानव मूर्च्छित हो जाता है। 'यच्च दृष्ट्वापि मुह्यति' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसका भी अर्थ पूर्ववत् होता है। अन्य विद्वान् गन्ध-सम्बन्ध के

विना भी दर्शनमात्र से मूर्च्छा हो जाने से गन्ध को मूर्च्छा का निश्चित कारण न मानकर स्वभाव को ही हेत्वन्तर मानते हैं। इससे गन्ध मूर्च्छा का प्रायिक कारण माना जाता है। अन्य आचार्य गन्ध को मूर्च्छा का कारण न मानकर केवल दर्शन-मात्र को ही मूर्च्छा का कारण मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। जैसा कि आचार्य भोज[1] कहते हैं—स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च।

दर्शनादसृजस्तज्जाद् गन्धाच्चैव प्रमुह्यति ॥

रक्त को देखने से मनुष्य का अङ्ग प्रत्यङ्ग एवं दृष्टि स्तब्ध हो जाती है। श्वास तेज हो जाता है तथा रक्त के गन्ध से मानव मूर्च्छित हो जाता है। 'पृथिव्यास्त-मोरूपम्' के स्थान पर 'पृथिव्या यत्तमोरूपम्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जो पहले पाठ की अपेक्षा सुगम है। 'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्त्रयम्' इस जेज्जट द्वारा लिखित पाठान्तर में रक्त गन्ध से युक्त जिसके मान लेने से विरोध नहीं है, प्रकृति एवं विकार का वही अर्थ होने से क्या वही तीन है। इसीलिए कहा गया है—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति। अर्थात् पृथ्वी, जल एवं तम का जो रूप है, शेष पूर्ववत् जानना चाहिए। इसके बाद दृष्ट्वा इति रक्तं यह जोड़ लेना चाहिए।

विषज तथा मद्यज मूर्च्छा

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥ १५ ॥
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ।

(सु. उ. ४६. ११)

विष और मद्य में लघु रूक्षादि गुण तीव्ररूप में रहते हैं। अतः इन्हीं गुणों के कारण विषज एवं मद्यज मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

विषमद्यजे प्राह—गुणा इत्यादि। गुणा दश; यदुक्तं दृढबलेन—'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दश-गुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः' (च. चि. २३) इति। ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः, अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किंतु विषमद्या-भ्यामिति। त एवेति गुणा लघुत्वादयः यथेरिताविति। विषजो मोहो न स्वयं निवर्तते, विषस्यापाकित्वात्, मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, अयं च भेदो विषमद्ययोः प्रभावात्। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः' इति ॥ १५ ॥

सरोज व्याख्या—विषज मूर्च्छा एवं मद्यज मूर्च्छा के विषय में कहते हैं—गुणा इत्यादि। गुणा दश—इनमें दस गुण होते हैं, जैसाकि दृढ़बल कहते हैं—लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायि, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण एवं अनिर्देश्य

---

१. भोज के स्थान पर भेड़ पाठान्तर भी मिलता है।

रस (जिसके रस का निर्देश न हो)। ये दस गुण विष के विद्वान् मानते है (च. चि. २३)। तैल आदि में केवल कुछ गुण तीव्र रूप से रहते हैं, किन्तु विष और मद्य में तीव्रतरावस्था में मिलते हैं। इसलिए तैलादि के प्रयोग से मोह-मूर्च्छा आदि नहीं होता, किन्तु विष एवं मद्य के सेवन से हो जाता है। त एव—पूर्वोक्त लघु रूक्षादि दशों गुण। यथेरितौ इति—इनके लक्षण और भी बताये गये हैं, विषजा मूर्च्छा बिना किसी औषधि के स्वयं निवृत्त (शान्त) नहीं होता, क्योंकि विष में अपाकि गुण होता है, किन्तु मद्यज मूर्च्छा मद्य के पच जाने पर स्वयं शान्त हो जाता है। विषजा एवं मद्यजा मूर्च्छा में यही परस्पर भेद होता है। तन्त्रान्तर में कहा गया है—ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ अर्थात् मद्य और विष में समान गुण होते हैं, केवल इतना अन्तर है कि ये गुण मद्य की अपेक्षा विष में अधिक तीव्र होते हैं।

रक्तजा मूर्च्छा के लक्षण

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः॥१६॥

(सु. उ. ४६. १२।१)

रक्तज मूर्च्छा में शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग जकड़ जाते हैं, नेत्र स्तब्ध (स्थिर) हो जाता है तथा श्वास गहरा हो जाता है ॥ १६ ॥

मद्यजा मूर्च्छा के लक्षण

मद्येन विलपञ्शेते नष्टविभ्रान्तमानसः।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां तावन्न याति तत्॥ १७ ॥

(सु. उ. ४६.१२।२-१२।३)

मद्य से रोगी विलाप करता हुआ विक्षिप्त मन होकर संज्ञाहीन हो जाता है। रोगी तब तक हाथ पैर पटकता रहता है, जब तक मद्य पच नहीं जाता ॥ १७ ॥

विषजा मूर्च्छा के लक्षण

वेपथुस्वप्नतृष्णा स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः॥ १८॥

(सु. उ. ४६. १३)

बिषजन्य मूर्च्छा में कम्पन, निद्रा, पिपासा तथा आँखों के आगे अँधेरा होता है। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विषों के विभिन्न तथा मृदु, तीव्र या तीव्रतर लक्षण होते हैं।

रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य रूपाण्याह—स्तब्धाङ्गेत्यादि। मूर्च्छित इत्यन्तं रक्तजायाः। गूढोच्छ्वासश्चास्पष्टोच्छ्वासः। 'मूढ' इति पाठे संनिरुद्ध इत्यर्थ इति जेज्जटः। मद्येनेत्यादि तदित्यन्तं मद्यजायाः। 'नष्टविभ्रान्तमानस'

इत्यत्र 'निष्टनन् भ्रान्तमानसः' इति पाठान्तरे निष्टनन् शब्दं कुर्वन्। वेपथ्वादिना विषजायाः। यथास्वं विषलक्षणैरिति। विषस्य मूलपत्रक्षीरादिभेदेन प्रातिस्विकं यल्लक्षणमुक्तं सौश्रुतकल्पस्थाने (सु. क. अ. २), तल्लक्षणयुक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः॥

सरोज व्याख्या—रक्तज, मद्यजा एवं विषजा मूर्च्छा के लक्षण कहते हैं—स्तब्धाङ्गेत्यादि। स्तब्धाङ्ग से मूर्च्छित तक रक्तजा मूर्च्छा का विवरण है। गूढोच्छ्वासः—रक्तजा मूर्च्छा में रोगी का श्वास गूढ़ (अस्पष्ट श्वास) होता है। 'गूढ़' के स्थान पर 'मूढ़' पाठान्तर होने पर मूढ़ का अर्थ सनिरुद्ध (रुका श्वास) ऐसा करना चाहिए, यह जेज्जट का कथन है—

'मद्येन विलपँश्छेते' से 'जरां यावन्न याति तत्' मद्यजा मूर्च्छा का लक्षण बतलाया गया है। 'नष्टविभ्रान्तमानसः' के स्थान पर 'निष्टनन् भ्रान्तमानसः' पाठान्तर भी मिलता है। निष्टनन् का अर्थ 'शब्द करता हुआ' होता है। 'वेपथुस्वप्नतृष्णाः' आदि विषजा मूर्च्छा के लक्षण है। 'यथास्वं विषलक्षणैः' अर्थात् मूल, पत्र एवं क्षीरादिभेद से जैसा विष सेवन किया जाता है, वैसा ही लक्षण विषजा मूर्च्छा में पाया जाता है। इनका विशेष उल्लेख सुश्रुत कल्पस्थान में अवलोकनीय है।

भ्रम, मूर्च्छा, तन्द्रा एवं निद्रा में दोषगुणविशेष से भेद

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा॥ १९॥

प्रायः मूर्च्छा पित्त एवं तमोगुण से, भ्रम पित्त-वायु एवं रजोगुण से, तन्द्रा कफ, वात एवं तमोगुण से और निद्रा श्लेष्मा तथा तमोगुण से उत्पन्न होता है।

संज्ञानाशसाधर्म्येऽपि मूर्च्छादीनां को भेदः ? इत्याह—मूर्च्छा पित्ततमःप्रायेत्यादि। तमोवातकफादिति समाहारद्वन्द्वः। निद्रातन्द्रयोश्चैतानि कारणानि व्यस्तसमस्तानि, तेन सुश्रुतेन यदतिलङ्घितलक्षणे निद्रातन्द्रे पठिते ते विनैव कफात्, अतिलङ्घनस्य श्लेष्मक्षयहेतुत्वात्॥ १९॥

सरोज व्याख्या—मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा एवं निद्रा में संज्ञानाश रूपी लक्षण का साधर्म्य होने पर इनमें क्या भेद है ? इसीको बतलाते हैं—मूर्च्छेत्यादि। मूर्च्छा पित्त एवं तमोगुण से प्रायः होती है। 'तमोवातकफात् तन्द्रा' अर्थात् तमोगुणयुक्त वात-कफ से तन्द्रा होती है। यहाँ पर वातकफात् समाहार द्वन्द्व में एकवचन होता है। निद्रा और तन्द्रा में ये कारण व्यस्त समस्त होते हैं। इसी से सुश्रुत में अतिलंघित लक्षण में जो निद्रा तन्द्रा कही गयी है, वह विना ही कफ से होती है, क्योंकि लंघित में अतिलंघन के अतियोग से कफ का क्षय हो जाता है।

भ्रम (Vertigo)

(चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मनः ॥ १ ॥)

रोगी का शरीर (विशेषतः सिर) चक्रवत् घूमता है तथा वह सर्वदा चक्कर खा कर भूमि पर गिर पड़ता है। इसे भ्रम रोग कहा जाता है। इसमें रजोगुण, पित्त एवं वायु की प्रधानता होती है।

तन्द्रा (Dreamy Condition or Stoupor)

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

इन्द्रियों के विषय का पूर्ण ज्ञान न होना, गौरव, जृम्भा, क्लम का होना तथा निद्रा से पीड़ित के समान चेष्टा करना तन्द्रा का लक्षण होता है ॥ २० ॥

तन्द्रालक्षणमाह—इन्द्रियार्थेष्वित्यादि। निद्राभ्रमयोस्तु लक्षणं नोक्तमिह, अतिप्रसिद्धत्वात्। निद्रा हि विप्लुतमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः। यदाह चरकः—'यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः' (च. सू. २१) इति। अत्र कर्मात्मानः इन्द्रियाणि; निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेति मतेऽप्ययमेवार्थः। निद्रातन्द्रयोस्तूक्तकारणभेदाद्भेदः उद्भूतजृम्भादेश्चानुभवसिद्धत्वादिति; तथा निद्रायामिन्द्रियमनोमोहः, तन्द्रायामिन्द्रियमनोमोहः। भ्रमलक्षणं तु चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमिति ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—तन्द्रा के लक्षण कहते हैं—इन्द्रियार्थेष्वित्यादि। निद्रा और भ्रम के अतिप्रसिद्ध होने से इसके लक्षण माधवकर ने नहीं बतलाये हैं। निद्रा के के विषय में कहते हैं कि इसमें मन कार्य करना बन्द कर देता है तथा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करना बन्द कर देती है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ (च. सू. २१)

अर्थात् मन के थक जाने पर इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को ग्रहण करना बन्द कर देती है, तब मनुष्य सो जाता है। यहाँ पर 'कर्मात्मानः' से ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों समझना को चाहिए। अथवा इन्द्रियरहित प्रदेश में मन के अवस्थान को 'निद्रा' कहा जाता है। इन दोनों का एक ही अर्थ होता है। निद्रा और तन्द्रा में उक्त कारणभेद से भेद (अन्तर) है, क्योंकि तन्द्रा में जम्भाई आदि होती है,

यह अनुभवसिद्ध है। निद्रा-तन्द्रा में अन्य भेद कहते है कि निद्रा में मन एवं इन्द्रियाँ दोनों ही मोहयुक्त हो जाते हैं, जब कि तन्द्रा में केवल इन्द्रियाँ मोहयुक्त होती हैं। चक्र में स्थित घूमती वस्तु के समान दिखलाई पड़ना 'भ्रम' कहा जाता है।

संन्यास, मद एवं मूर्च्छा में भेद

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ २१ ॥

(अ. हृ. नि. ६. ३६)

मद एवं मूर्च्छा दोषों का वेग शान्त होने पर स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, किन्तु संन्यास रोग विना औषधि के ठीक नहीं होता।

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—दोषेष्वित्यादि ॥ २१ ॥

सरोज व्याख्या—संन्यास का मूर्च्छा आदि से भेद कहते हैं—दोषेष्वित्यादि।

संन्यास (Deep Coma)

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥

स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २३ ॥

(अ. हृ. नि. ६. ३७ ३८)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूर्च्छाभ्रमनिद्रासंन्यास-
निदानं समाप्तम् ॥

दुर्बल मनुष्य के बहुत बढ़े हुए दोष जब प्राणायतन में पहुँचकर वाणी, शरीर तथा मन की क्रियाओं को अवरुद्ध कर देते हैं, तो रोगी चेतनाहीन हो जाता है, इसे 'संन्यास' कहा जाता है। इस अवस्था में रोगी लकड़ी के समान मरा हुआ सा प्रतीत होता है और यदि सद्यः लाभ पहुँचाने वाली चिकित्सा न की जाय, तो शीघ्र ही रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥ २२–२३ ॥

तल्लक्षणमाह—वागित्यादि। अतिबला इत्यनेन मूर्च्छायाः प्रारम्भक-दोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धा दोषास्तमश्चेति बोधयति। संन्यस्यन्ति मोहयन्ति। स ना पुरुषः, सन्याससंन्यस्तः संन्यासपीडितः काष्ठीभूत इति अत्यन्तनिष्क्रियत्वेन अकाष्ठ एव काष्ठवद्भूतः। अत एव मृतोपम इति। मुक्त्वा सद्यःफलां

क्रियामिति सूचीव्यधनाञ्जनावपीडशूकशिम्बीफलावघर्षणादिरूपा क्रिया यदि न क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु जीवतीति ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूर्च्छा-
भ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानं समाप्तम् ॥

सरोज व्याख्या—संन्यास के लक्षण कहते हैं—वागित्यादि । अतिबला अर्थात् मूर्च्छा के प्रारम्भिक दोष की अपेक्षा संन्यास के उत्पादक दोष अधिक बलवान् होते हैं और तम का अधिक कोप होता है । संन्यसन्ति—अत्यधिक मूर्च्छित कर देता है । 'स ना पुरुषः, संन्याससन्यस्तः'—संन्यास से पीड़ित वह पुरुष, काष्ठीभूत—अत्यन्त निष्क्रिय होने से काष्ठ के समान तथा मुर्दा के समान हो जाता है । मुक्त्वा सद्यः-फलां क्रियाम्—यदि संन्यास से पीड़ित रोगी को सद्यः सूचीव्यध (सूई चुभाना), अञ्जन, अवपीडन, शूकशिम्बी आदि फलों से घर्षण आदि आशुकारी चिकित्सा न की जाय, तो संन्यास-रोगी शीघ्र ही मर जाता है । अन्यथा जीवति—यदि शीघ्र उपचार किया जाता है, तो रोगी बच जाता है ॥ २२–२३ ॥

मूर्च्छाभ्रमादिनिदान समाप्त ॥



अष्टादशोऽध्यायः

पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानम्

मदात्यय (Excessive Drinking or Alcoholism)

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

विष के जो गुण बताये गये हैं, वे मद्य में भी पाये जाते हैं। अतएव विधि-विरुद्ध मद्यपान के सेवन से भीषण 'मदात्यय' नामक रोग हो जाता है ॥ १ ॥

'मूर्च्छा मद्येन च विषेण च' इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मद्यविकारात् मदात्ययादीनाह। ननु कथं मद्यं मोहयतीत्याह-ये विषस्येत्यादि। ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निर्दशिताः। मिथ्योपयुक्तेनेति अयथाविधिपीतेन, विधिश्चायं तद्यथा-कुसुमितलतोपगूढैः प्ररुढनिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाञ्चैर्मधुकरमधुरझङ्कारसीत्कारैर्मुक्तकण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैस्तरुणतरुभिरुपक्रान्तरतिभिरतिशोभनेषु तुषारकरकिरणराजिपराजिताशेषतापदोषेषु प्रदेशेषु श्रृङ्गाररससमुचितालङ्कृतिकमनीयकामिनीसेवितं ललितललनोपनीयमानं सुरभिरुचिररूपरसोपदेशं कं नाम परिमितं परार्ध्यमधुपानं न सुखयति ? चरके तु विस्तरेणैतदुक्तम् ॥

सरोज व्याख्या—'मद्य एवं विष से मूर्च्छा होती है', ऐसा पिछले अध्याय में बतलाया गया है, इसलिए मूर्च्छा के अनन्तर मद्यविकार मदात्यय आदि को कहते हैं। अब शंका होती है कि मद्य कैसे मूर्च्छा पैदा करता है ? इसका समाधान करते हैं—ये विषस्येत्यादि। मूर्च्छानिदान अध्याय में विष के दश गुण बताये गये हैं। मिथ्योपयुक्तेन—विधिविरुद्ध मद्यपान करने से उसके विधियुक्त लेने का विधिनिर्देश करते हैं। जैसे-—पुष्पित लताओं से मानों आलिङ्गित, लताओं एवं तरुओं के नवाङ्कुर से आलिङ्गनजन्य रोमाञ्च प्रतीत होता है, भ्रमरों की मधुर झङ्कार आलिङ्गनजन्य सीत्कार के समान लगती है, कोयल की कूक से व्याप्त हो, दक्षिणी वायु से झूमते हुए पल्लव मानों हाथों से हावभाव कर रहे हो, इस तरह तरुण तरुओं से आलिङ्गित लताओं से अतिशोभित, रात्रि में चन्द्रमा के किरणों से पराजित (शान्त) ताप (गर्मी) दोष वाले प्रदेशों (स्थानों) में, श्रृङ्गार रस को उद्दीप्त करने वाले आभूषणों से अलङ्कृत, कमनीय (सुन्दर) कामिनियों (स्त्रियों) से सेवित, ललित

(मनोहारी) ललनाओं (बालाओं) द्वारा लाया गया तथा सुन्दर रुचिकर (चटपटा) रसवाला परिमित (सीमित) एवं परार्ध्य (बहुमूल्य) मधुपान किसको सुख नहीं देता ? अर्थात् सबको सुख देता है। (चरक) चिकित्सा चौबीसवें अध्याय में इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

विमर्श—मद्य के विषय में शार्ङ्गधर ने कहा है—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।
तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्॥
(शा० प्र० अ० ४)

संहिताओं तथा संग्रहग्रन्थों में मद्य की जो प्रशंसा उपलब्ध होती है; वह इसके औषधि के रूप में प्रयोग करने के लिए ही की गयी है, सामान्यतया उपयोग लाने के लिए नहीं की गयी। अज्ञानता से इसका व्यवहार करना विभिन्न प्रकार की व्याधियों को निमन्त्रित करना ही है। निरन्तर सेवन से सुरा मांसादि धातुओं को जर्जरित करती है। 'सुरा जर्जरीकरोति--मांसादि शिथिलीकरोति'। सुरा रक्तवाहिनियों को विस्फारित करके तथा स्वेदग्रन्थियों के उद्दीपन द्वारा अतिस्वेदन करके शरीर के तापक्रम को भी द्रुत कर देती है।

आचार्य चरक ने मद्य की आहार से समता प्रतिपादित की है। जैसे--"किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं रसयानम्"। श्री आर० घोष ने कहा है कि कुछ अवस्थाओं में मद्य वसा के समान प्रोटीन के व्यय को नियमित तथा न्यूनतम करने में परम सहायक होता है। आयु, बल, पुष्टि, तुष्टि तथा पराक्रम आदि सभी गुण उत्तम पाचन पर ही निर्भर होते हैं और उत्तम पाचन युक्तिपूर्वक मद्यपान द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है—'विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः'।

मद्य के दश गुण चरक ने ये बतलाये है--

१. लघु, २, उष्ण, ३. तीक्ष्ण, ४. सूक्ष्म, ५. अम्ल, ६. व्यवायी, ७. आशुग, ८. रूक्ष, ९. विकासी, १०. विशद। ये गुण विष के गुणों के समान है तथा ओज के गुणों के विपरीत है। जैसे—१. गुरु, २. शीत, ३. मृदु, ४. श्लक्ष्ण, ५. बहल, ६. मधुर, ७. स्थिर, ८. प्रसन्न, ९. पिच्छिल, १०. स्निग्ध आदि ओज के गुण होते हैं। मद्य अपने उक्त गुणों के द्वारा ओज के गुणों को क्षुभित करके हृदय में प्रविष्ट होकर चित्त को विकृत करता है।

मुख्य रूप से मद्य का पाचनसंस्थान, रक्तवह संस्थान, मन एवं मस्तिष्कसंस्थान पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके निरन्तर सेवन से शरीर में स्थायी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। कतिपय अङ्गों आमाशय, हृदय, वृक्क,

रक्तवाहिनियाँ, यकृत्, वातनाडीसंस्थान की रोगप्रतिरोधक शक्ति का ह्रास हो जाता है। वास्तविकता यह है कि मद्य शरीरान्तर्गत शक्ति का अभिव्यंजक या उत्प्रेरक है, उत्पादक नहीं। चिकित्सकीय दृष्टि से मद्य को अम्लरसप्रधान कहा गया है। जैसे--'श्रेष्ठाम्लेषु मद्यं च' और 'सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति'। इसके अतिरिक्त मद्य में लवण रस छोड़कर चार अनुरस भी है—'मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्थूतमधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च'। यह उष्णवीर्य और लघुपाकी होता है।

मद्य का स्वभाव

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥ २॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥ ३॥
(च. चि. २४. ५९, ६०)

मद्य स्वभाव से अन्न के समान ही उपयोगी है। यह विधिविपरीत सेवन करने से रोगोत्पादक तथा विधिपूर्वक सेवन करने पर अमृत के समान गुणकारी होता है। जैसे अन्न प्राणियों का प्राण होते हुए भी विधिरहित सेवन करने से प्राणनाशक होता है, उसी प्रकार विष भी प्राणनाशक होते हुए विधिपूर्वक सेवन करने से 'रसायन' होता है॥ २-३॥

ननु विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति, तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं प्रसज्येत? अत आह—किन्त्वित्यादि। यथैवान्नमिति देहधारकस्वभावं तदेवायुक्तियुक्तमविधियुक्तं रोगाय; तस्मादहितमपि विशिष्टविधिनोपयुक्तं हितं, हितमप्यविधिनोपयुक्तमनर्थाय भवतीति। अत्रैव दृष्टान्तमाह—प्राणा इत्यादि। तदयुक्त्येति अतिमात्रत्वादिना विमूच्यादिकं कृत्वा मारयतीत्यर्थः। युक्तियुक्तमिति। यथा चरकरसायनप्रयोगे उक्तम्—'द्वौ यवावत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च' (च. चि. १) इति। अत्र तिलमिति तिलप्रमाणम्॥

सरोज व्याख्या—अब शंका होती है कि विष के जो गुण है, वे ही मद्य में भी पाये जाते हैं, तो विषवत् मद्य भी अनुपयोज्य (अनुपयोगी) होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—किंत्वित्यादि। यथैवान्नमिति। अर्थात् जैसे अन्न में देह-धारण का स्वभाव होता है, वैसे ही मद्य में भी होता है, किन्तु जैसे अयुक्तियुक्त (अविधियुक्त) अन्न रोग पैदा करता है, वैसे ही मद्य भी अयुक्तियुक्त मात्रा में सेवन करने से प्राणनाशक हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अहित पदार्थ भी विशिष्ट विधिपूर्वक सेवन करने से हितकारक (लाभप्रद) एवं हितकारक पदार्थ

भी अविधिपूर्वक सेवन करने पर अनर्थकारक (प्राणनाशक) होता है। यहाँ पर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—प्राणा इत्यादि। अर्थात् यदि अन्न अयुक्तिपूर्वक अतिमात्रा में खाया जाय, तो विसूचिका आदि रोग को उत्पन्न करके शरीर को नष्ट कर डालता है। युक्तियुक्तमिति—जैसे चरक के रसायनप्रयोग में कहा गया है—'द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च' (च. चि. १।३।२५) अर्थात् स्वर्ण दो यव की मात्रा में और विष तिल के समान मात्रा में। तिल से अभिप्राय तिलसमान मात्रा (प्रमाण) में है। इससे स्पष्ट है कि विधियुक्त मात्रा में विष भी रसायन (लाभप्रद) होता है।

विधिपूर्वक मद्यसेवन से लाभ

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्॥ ४॥
(च. चि. २४. २७)

स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च॥ ५॥
काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च।
विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः॥ ६॥
(सु. उ. ४७. ७-८)

जो व्यक्ति विधिपूर्वक, मात्रानुसार, उचितकाल में, बल के अनुसार हितकारक अन्नों के साथ प्रसन्न मन से मद्यपान करता है, उसके लिये वह अमृत के समान गुणकारी होता है। स्निग्ध भोज्य पदार्थ एवं मांस के साथ मद्यपान करने से आयु, बल तथा शरीर की वृद्धि होती है। विधिपूर्वक मद्य सेवन करने से उसमें सन्निहित गुणों के कारण शरीर में सौन्दर्य, मन की प्रसन्नता, तेज तथा पराक्रम की वृद्धि होती है॥ ४–६॥

विधिनोपयुक्तस्य फलमाह—विधिनेत्यादि। काल इति नित्यगे चावस्थिके च; तद्यथा—ग्रीष्मे शीतमधुरं माध्वीकादि, शीते उष्णतीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकादि, तथा वाते स्निग्धादि। एवं वयस्युदाहार्यम्। हितैरन्नैरिति। वक्ष्यमाणस्निग्धादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः। स्निग्धैरित्युपलक्षणं, तेनान्यैरपि मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यम्। यदुक्तं सुश्रुतेन—'मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च। रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च' (सु. उ. ४७) इति। अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तम्; यदुक्तमन्यत्र—'सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्' इति। मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम्। अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति। यदाह भोजः—'मैरेयं मदिरा सीधु चतुर्थं

मधु चोच्यते। एकैकं षड्रसं तत्र रसतो मद्यमीरितम्'—इति। अन्नभक्ष्य-शब्दयोरुपादानेन प्रायो लेह्यं द्रवान्तरपानं च मद्यपानोचितं न भवतीति दर्शयति। अन्नभक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे, मांसग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम्। बलं शक्तिः, उपचयः स्थौल्यम्।

अपरमपि विधिसेवागुणमाह— काम्यतेत्यादि। काम्यता कमनीयमूर्तिता, मनसस्तुष्टिः सन्तोषः। काम्यता मनस इति कमनीयवस्तुनि मनोवृत्तिः, तुष्टिश्च मनस एवेति योज्यम्। तेजः उत्साहः। विक्रमः पराभिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा॥ ४–६॥

सरोज व्याख्या—विधिपूर्वक मद्यपान का फल (लाभ) बतलाते हैं—विधिनेत्यादि। काल नित्यग एवं आवस्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। नित्यग काल ऋतुसम्बन्धी होता है। ग्रीष्म ऋतु में माध्वीक आदि पीना चाहिये, यह शीतल एवं मधुर होता है। शीतकाल में उष्ण, तीक्ष्ण गौडिक पैष्टिकादि मद्य का सेवन करना चाहिये, यह उष्ण एवं तीक्ष्ण होता है। इसी तरह वातप्रकोप में स्निग्धादि, पित्तप्रकोप में शीतल तथा कफप्रकोप में तीक्ष्ण मद्य सेवन करना करना चाहिए। वय के अनुसार भी बाल्यावस्था में कफशामक, युवावस्था में पित्तशामक तथा वृद्धावस्था में वातशामक मद्य लेना चाहिये।

हितैरन्नैरिति—आगे कहे जाने वाले स्निग्धादि आहार द्रव्य जो मद्यविपरीत गुण वाले होते हैं, मद्य के साथ उनको लेना चाहिये, क्योंकि मद्य आग्नेयगुणभूयिष्ठ होता है, अतः उसके दुष्प्रभाव को रोकने के लिये स्निग्धान्न तथा मांस रस का प्रयोग बतलाया गया है। मद्य के गुण सुश्रुत ने बतलाया है—

"मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च।
रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च॥

अर्थात् मद्य अम्ल, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, रूक्ष, आशुकर, व्यवायि तथा विकासी होता है। छः रसों में अम्ल रस इसमें मुख्य रूप से विद्यमान होता है। जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है—सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्। अर्थात् अम्ल जातीय द्रव्यों में मद्य, मूर्ध्नि व्यवस्थित—उत्कृष्ट होता है।

अन्य रस भी मद्य में होते है। जैसा कि भोज ने कहा है कि मैरेय, मदिरा, सीधु और चतुर्थ मधु इन प्रत्येक में छः रस पाये जाते हैं। अन्न और भक्ष्य शब्द से प्रायः चतुर्विध आहारद्रव्यों में केवल भक्ष्य और अन्न को ही मद्य के साथ सेवन करना चाहिये, लेह्य एवं पेय द्रव पदार्थ का प्रयोग मद्य के साथ उचित नहीं होता। अन्न और भक्ष्य से भी विशेष रूप से मांस का ग्रहण करना इसकी विशेष उपादेयता का बोधक है। इसका अभिप्राय है कि मद्य के साथ मांस का सेवन करना चाहिये।

बल—शक्ति, उपचयः—स्थौल्यम् । विधिपूर्वक प्रयुक्त मद्य के अन्य गुण कहते हैं—काम्यतेत्यादि । काम्यता अर्थात् चेहरा सुन्दर हो जाता है, मनसस्तुष्टिः—सन्तोष । काम्यतामनसः—अर्थात् कमनीय वस्तु में सेवन की इच्छा उत्पन्न होना । तुष्टि का सम्बन्ध मन से होता है । तेज—उत्साह, विक्रमः—दूसरे को परास्त करने की बलवती शरीर चेष्टा ॥ ६ ॥

मद्यपान की प्रथमावस्था

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च ।
सम्पाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ ७ ॥

मद की प्रथमावस्था में बुद्धि, स्मृति, प्रीतिकर (दूसरे से मैत्री) तथा सुख उत्पन्न होता है । इससे पीने, खाने एवं निद्रा में रति (अनुराग) बढ़ता है । पाठ करने, संगीत एव व्याख्यान आदि की शक्ति को बढ़ाता है । इसलिये मद की प्रथमावस्था अतिरम्य (अतिसुन्दर) होती है ॥ ७ ॥

उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय सम्पद्यते, स च त्रिविधो भवति—पूर्वो मध्यमोऽन्तिमश्चेति; तेषां क्रमेण लक्षणमाह-बुद्धीत्यादि । बुद्धिरनुभवः, स्मृतिरनुभूतार्थानुसन्धानम् । पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्चेति । पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः । संपाठः सम्यक् पाठः । गयदासस्तु 'संपाठ्य' —इति पठित्वा गीतनृत्यवाद्यानि मिलितानि संपाठ्यमुच्यते । गीतं तु केवलमेवेति व्याचष्टे । स्वरो ध्वनिः । प्रोक्तोऽतिरम्य इति । (ननु मनोविकारकारित्वात्कथमस्यातिरम्यता ? उच्यते;) मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन दुःखोपहृत्त्वात्, अत एव सुश्रुतेन मानसविकारेषु हर्षः पठितः ॥ ७ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त विधि से विपरीत मद्यसेवन करने से मदात्यय रोग हो जाता है । वह तीन प्रकार का होता है—(१) पूर्व (२) मध्यम एवं (३) अन्तिम । उनका क्रम से लक्षण कहते हैं—बुद्धीत्यादि । बुद्धि अनुभव को कहते हैं, अनुभूतार्थ के अनुसन्धान को स्मृति कहा जाता है । पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च—पान, अन्न एवं निद्रा में अनुराग वर्धन करने वाला होता है । संपाठ—सम्यक्पाठ । गयदास इसे संपाठ्य पढ़ते हैं और गीत, नृत्य, वाद्य आदि के सम्मिलित स्वरूप को संपाठ्य माना है । गीत से केवल गान समझना चाहिये । स्वर ध्वनि (आवाज) को कहते हैं । प्रोक्तोऽतिरम्यः—(मनोविकार कारक होने से अतिरम्य कैसे हुआ ? इसका उत्तर देते हैं) मनोविकार कारक होने पर भी उस मानसिक विकार से तात्कालिक दुःख का शमन हो जाता है, इसीलिए सुश्रुत ने मानस विकारों में हर्ष को माना है ॥ ७ ॥

मद्यपान की द्वितीयावस्था

अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ ८ ॥

मद्य की मध्य (द्वितीय) अवस्था में मनुष्य की बुद्धि, स्मृति, वाणी तथा अन्य चेष्टाएँ अव्यक्त (अस्पष्ट) हो जाती हैं। उसके क्रिया-कलाप तथा आकृति उन्मत (पागल) के समान हो जाते हैं। और रोगी प्रचण्ड हो जाता है, वह आलस्य तथा निद्रा में बार-बार ग्रसित हो जाता है।

द्वितीयमदमाह—अव्यक्तेत्यादि । विचेष्टो विरुद्धचेष्टः । उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तत इति सोन्मत्तलीलाकृतिः, उन्मत्तप्राय इत्यर्थः । अप्रशान्तः प्रचण्डः ॥ ८ ॥

सरोज व्याख्या—द्वितीय मद्य के लक्षण कहते हैं--अव्यक्तेत्यादि । विचेष्टोः—विरुद्ध चेष्टा वाला, उन्मत्त-पागल के समान, लीला-क्रियाकलाप, आकृति-शरीर का आकार (स्वरूप) हो जाता है, इसी को 'सोन्मत्तलीलाकृतिः' कहा जाता है। अप्रशान्तः--प्रचण्ड ॥ ८ ॥

मद्यपान की तृतीयावस्था

गच्छेदगम्यान्न गुरूँश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥ ९ ॥

मद की तृतीयावस्था में मनुष्य अगम्यागमन (दुष्ट यान सवारी या गुरुपत्नी आदि के साथ मजाक, छेड़-छाड़) करता है, बड़ों का सम्मान नहीं करता, अक्षम्य पदार्थों को खा लेता है, उसकी चेतना नष्ट होने लगती है, वह मन की गोपनीय बातों को भी अनायास बकता रहता है। नशे में डूबकर पराधीन हो जाता है ॥

तृतीयमदमाह—गच्छेदित्यादि ! ननु चरके द्वितीयतृतीययोर्मध्ये मदान्तरं पठितं, यदाह-'मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम् । न किंचिदशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥ को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् (च. चि. २४)' इति; तत् कुतोऽत्र न पठितम् ? उच्यते; द्वितीयमदान्ते तृतीयमदस्य पूर्वावस्थैवातिनिन्दनीया, सुतरां तृतीयो मद इति प्रतिपादनार्थं तत्पठितं, न तु तयोः परमार्थतोऽन्तराले पृथङ्मदान्तरमस्तियथा--'कुम्भमीनर्क्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः । नाहरेत्तृणकाष्ठानि न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्' इति । अत्र हि कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्द्वयं मध्यशब्देनोच्यत इत्याहुर्जेज्जटादयः । हरिचन्द्रव्याख्यानं तु विस्तरत्वान्न लिखितम् । अगम्यान् गुरुदारादीन् दुष्टयानादींश्च । नष्टसंज्ञ इति संज्ञा-

नामोल्लेखेन ज्ञानम्, तन्नष्टं यस्य स तथा। गुह्यानि गोप्यानि। अस्वतन्त्रो मदपरवशः ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—तृतीय मद के लक्षण कहते हैं—गच्छेदित्यादि। यहाँ शंका होती है कि चरक में द्वितीय एवं तृतीय मद के मध्य में 'मदान्तर' नाम से एक अन्य मद बताया गया है, जैसा कि कहा गया है—

"मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्।
न किञ्चिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः॥
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम्।"
(च. चि. २४.४६-४७)

अर्थात् मध्यम मद से आगे निकलकर और उत्तम मद तक न पहुँचकर राजस-तामस प्रकृति वाले मनुष्य से संसार में ऐसा कोई अशुभ कार्य नहीं होता, जिसे वह न कर सके, अर्थात् प्रत्येक अशुभ कार्य करने में वह समर्थ हो जाता है। पागल बना देने वाले ऐसे दारुण मद को भला कौन विद्वान् पुरुष ग्रहण करेगा! तो यहाँ पर इस मद का निर्देश माधवकर ने क्यों नहीं किया है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि द्वितीय मद की अन्त अवस्था तथा तृतीय मद की पूर्वावस्था (प्रथमावस्था) अतिनिन्दनीय होती है। उसके प्रतिपादन के लिए मद की तृतीयावस्था कही गयी है। अतः इन दोनों के बीच मदान्तर का पृथक् से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जब चन्द्रमा कुम्भ और मीन राशियों के मध्य में होता है, तब तृण-काष्ठ इकट्ठा नहीं करना चाहिए और न ही दक्षिण दिशा की ओर जाना चाहिए। यहाँ पर किसी विशेष राशि को न लेकर प्रत्युत कुम्भ राशि का शेषांश तथा मीन का प्रथमांश लेकर इन दोनों अंशों को मिलाकर मध्यांश कहा जाता है—ऐसा जेज्जट आदि आचार्यों का कथन है। यहाँ पर हरिचन्द्र की व्याख्या विस्तृत होने से नहीं लिखी जा रही है। 'अगम्य' शब्द से गुरुपत्नी आदि के साथ मैथुनादि करना अथवा दुष्ट यान (सवारी) पर चढ़ना समझना चाहिए। नष्टसंज्ञः-संज्ञा शब्द से यहाँ ठीक-ठीक नाम लेकर बुलाने का ज्ञान नष्ट होना, समझना चाहिए। गुह्यानि—गोपनीय, अस्वतन्त्रोः—मद के परवश अर्थात् मद से ग्रसित व्यक्ति बिलकुल उसके अधीन हो जाता है।

मद्यपान की चतुर्थावस्था

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतो ॥ १० ॥

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम्।
बहुदोषमिवागूढकान्तारं स्ववशः कृती ॥ ११ ॥

मद्य की चतुर्थ अवस्था में मनुष्य मूढ (अज्ञ) हो जाता है। टूटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय होकर जमीन पर गिर पड़ता है। उसे कार्य तथा अकार्य का ज्ञान नहीं रहता, मृतक से भी बुरी दशा को प्राप्त हो जाता है। उन्माद जैसी मद (नशा) की इस अवस्था को प्राप्त करने का कौन मनुष्य इच्छा करेगा? जैसे कि कोई बुद्धिमान् स्वाधीन मनुष्य बहुत से दोषों (हिंसक पशुओं) से युक्त जंगल में कभी नहीं जा सकता।

चतुर्थमदमाह—चतुर्थेत्वित्यादि। कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यमिति बुद्धया जानाति। 'कार्याकार्यविभागाज्ञः' इति पाठे कार्याकार्यविभागयोरज्ञ इत्यर्थः। मृतादप्यपरो मृत इति। मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात्। 'अवरः' इति पाठान्तरे मृतादप्यधम इत्यर्थः, तथाविधावस्थायाः स्वयं कृतत्वात्। क इत्यादि। कः कृती कुशलः, सुकृती वा, कृतकृत्यो वा; स्ववशोऽपराधीनः; तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मद, गच्छेत् प्राप्नुयात्; न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः। कमिवेत्याह—बहुदोषमिवामूढः कान्तारमिति। बहुदोषं हिंस्रादियुक्तं, कान्तारं दूरशून्यमध्वानम्। यदुक्तं चरके-'गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः' (च. चि. २४) इति, एवं विदेहेऽपि पठितमिति। अत्रास्वन्तमशोभमानमनिष्टफलत्वेन। ननु, चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथ सुश्रुते पठितः? उच्यते, चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठितः, यस्तु चरके तृतीयः स च सुश्रुते चतुर्थः पठित इत्यविरोधः। वस्तुगत्या तु त्रय एव मदा इत्युपपादितम्। ननु, किंकारणमेतत्त्रैविध्यमिति चेत्? उच्यते, मद्यं हि वह्नितुल्यं, यथा ह्यग्निः सुवर्णानामुत्तममध्यमाधमानामभिव्यञ्जकस्तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेणाभिव्यञ्जकमिति। तथाहि चरकः—'प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः। यथाऽग्निरेवं सत्त्वाद्यैर्मद्यं प्रकृतिदर्शकम्' इति (च. चि. २४)। तस्मात् प्रथमद्वितीयतृतीयमदाः सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः॥ १०-११॥

सरोज व्याख्या—चतुर्थ मद को कहते हैं—चतुर्थे त्वित्यादि। कार्याकार्यविभागज्ञः—मद्यपान की चतुर्थावस्था में मनुष्य कार्य को अकार्य एवं अकार्य को कार्य समझता है। 'कार्याकार्यविभागाज्ञः' ऐसा भी पाठान्तर मिलता है, इसका अभिप्राय कार्य और अकार्य के विभाग को न जानने वाला होता है। मृतादप्यपरो मृतः—इस अवस्था में मनुष्य मुर्दे के समान अत्यन्त अज्ञानावस्था में हो जाता है, इसलिए 'मृत इव' अर्थात् मुर्दे के समान कहा गया है। 'मृतादप्यवरो मृतः'

इस पाठान्तर में अवर शब्द का अर्थ उद्यम होता है, ऐसी अधम अवस्था मनुष्य मद्यपान के कारण स्वयं बना लेता है। इसलिए वह मुर्दे से भी अवर (नीच) होता है। क इत्यादि--कः कृती अर्थात् कौन कुशल अथवा सुकृत (अच्छा कार्य) करने वाला अथवा कृतकृत्य (ठीक ढंग से अपना कार्य करने वाला) अथवा स्ववशः (जितेन्द्रिय) मनुष्य इस प्रकार के निन्दनीय मद्यपान रूपी कार्य को करेगा ! अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस प्रकार निन्दित कार्य नहीं कर सकता। कमिव ? इत्याह-बहुदोषमिवागूढ़कान्तारम्-अर्थात् हिंसक प्राणियों से युक्त और दूर तक शून्य जंगल के समान बहुत से दोषों से युक्त मद्य को कौन सेवन करेगा ! जैसा कि चरक में कहा गया है--गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाऽध्वगः। (च. चि. २४. ४७) अर्थात् कौन व्यक्ति इस प्रकार के सुनसान, हिंसक प्राणियों से युक्त वन में जायेगा ? इति। विदेह ने भी ऐसे ही कहा है। यहाँ चरकोक्त 'अस्वन्तम्' का 'अशोभमान' अर्थ होता है, क्योंकि यह अनिष्ट फलकारक होता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि चरक, विदेह एवं वाग्भट्ट आदि ने चतुर्थ मद नहीं माना है, तो सुश्रुत ने कैसे लिखा है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं चरक में जो द्वितीय और तृतीय मद के बीच की अवस्था कही है, सुश्रुत ने उसी को तृतीय मद मानकर उसका निर्देश किया है और चरक में जो तृतीय मद कहा गया है, उसी को सुश्रुत ने चतुर्थ मद माना है, इसलिए कोई विरोध नहीं होता। वास्तव में मद तीन ही होते हैं। किस कारण तीन ही होते हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि मद्य अग्नि के समान होता है। जैसे अग्नि उत्तम, मध्यम और अधम वर्ण की अभिव्यञ्जक होती है, उसी प्रकार मद्य भी क्रमशः सत्त्व, रज और तमोभूयिष्ठ प्राणियों का अभिव्यञ्जक होता है। जैसा कि महर्षि चरक कहते हैं--

प्रधानावरमध्यानां रूपाणां व्यक्तिदर्शकः।
यथाग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शनम् ॥
(च. चि. २४. ७३)

अतः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय मद क्रमशः सत्त्व, रज एवं तम प्रधान प्रकृति वाले पुरुषों को होता है।

विमर्श—मद (Alcoholism) की चार अवस्थाएँ--

सुश्रुतोक्त	चरकोक्त		आधुनिक लक्षण
प्रथममद	प्रथममद	Stage I	Stage of Stimulation
द्वितीयमद	द्वितीयमद	Stage II	Stage of Excitement
तृतीयमद	मदान्तर	Stage III	Stage of Delerium
चतुर्थमद	तृतीयमद	Stage IV	Stage of Coma

कोल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एब्नारमल साइकोलोजी एण्ड माडर्न लाइफ' में मदात्यय से सम्बन्धित मानसिक विकृतियों को दो वर्गों में बाँटा है--गम्भीर प्रभाव वाली तथा जीर्ण प्रभाव वाली।

गम्भीर प्रभाव वाली मानसिक विकृतियों का प्रभाव प्रायः थोड़े समय के लिए होता है। विचारशैथिल्य, उत्तेजना तथा संज्ञाहीनता इसके प्रमुख लक्षण हैं। ये चार प्रकार की होती है--(१) व्याधिकारी मादकता (Pathological Intoxication), (२) कम्पकारी चित्तभ्रम (Delerium Tremous), (३) मदिराजन्य गम्भीर अतिभ्रम (Acute Alcoholic Hallucinosis), (४) कार्सकाफ मनोविकृति (Korsakow's Psychosis) ॥ ११ ॥

विधि विपरीत मद्यपान के विकार

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
आपादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ १२ ॥

(सु. उ. ४७. १४)

खाद्यपदार्थों के बिना अर्थात् खाली पेट अकेले ही एवं नित्य मद्य का सेवन करने से मनुष्य में कष्टतम व्याधि उत्पन्न हो जाती है एवं अन्त में शरीर भी नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—निर्भक्तमित्यादि। ननु, अयमर्थः स्निग्धैस्तदन्नैरित्यादिना यदुक्तं तद्विपर्ययेणैव लब्धः, तत्कथं पुनरुच्यते? नैवं, पूर्वं मद्यपानगुणाभिधानार्थमुक्तम्, इदं तु कृच्छ्रतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमिति भेदः। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यभिप्रायः। कष्टतमान्विकारानिति वक्ष्यमाणपानात्ययादीन् भेदं विनाशं शरीरस्य ॥ १२ ॥

सरोज व्याख्या--विधिविपरीत मद्यपान से अन्य विकार होते हैं, इसको कहते हैं--निर्भक्तमित्यादि। अब यहाँ शंका होती है कि 'स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च' इत्यादि श्लोक में पीछे बतलाये गये मद्यपान की विधि से विपरीत ढंग से मद्यपान करने से यह लक्षण स्वयं उत्पन्न हो जायेगा, तो यहाँ पर क्यों कहा गया? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि 'स्निग्धैस्वदन्तैः इत्यादि श्लोक में मद्यपान के गुणों को बतलाया गया है, यहाँ पर मद्य कृच्छ्रतम रोगों को करने वाला होता है, इस भेद (रहस्य) को बतलाया गया है। कष्टतमान् विकारान्--पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम आदि आगे बतलाये गये कष्टसाध्य विकारों को पैदा करता है। शरीरभेदम्--अर्थात् शरीर का विनाश हो जाता है ॥ १२ ॥

मद्यविकारजनक हेतु

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ १३ ॥
अत्यम्बुभक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥

(सु. उ. ४७.१५-१६)

क्रुद्ध (क्रोधयुक्त), भययुक्त, तृष्णायुक्त, शोकसन्तप्त, भूखा, व्यायाम, भारवहन या यात्रा करने से थका हुआ, वेगावरोध से पीड़ित, अति जल या भोजन से पेट भरे रहने पर, अजीर्णावस्था में भोजन करने पर, दुर्बल तथा गरमी से सन्तप्त (पीड़ित) होने पर सेवन किया गया मद्य अनेक प्रकार के रोगों उत्पन्न करता है ॥

अन्नसहितस्यापि मद्यस्य क्रुद्धत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह—क्रुद्धेनेत्यादि। परिक्षतेन क्षीणेन। अवततं व्याप्तम्। विविधान् विकारान् पानात्ययादीनिति ॥ १३-१४ ॥

सरोज व्याख्या—अन्न लेने (खाली पेट न होने) पर भी क्रोधादि कारणों के उपस्थित रहने पर सेवन किया गया मद्य अनेक प्रकार के रोगों को पैदा कर देता है, इसी बात को बतलाते हैं---क्रुद्धेनेत्यादि। परिक्षतेन---व्यायाम, भारवहन एवं यात्रा करने से क्षीण हो चुका हो, अवततम्---खाने-पीने से उदर व्याप्त हो। विविधान् विकारान्---पानात्यय आदि विविध विकारों को उत्पन्न कर देता है।

अविधि मद्यपान से होने वाले रोग

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १५ ॥

(सु, उ. ४७. १७)

उपर्युक्त कारणों से पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम नामक व्याधियाँ हो जाती है। उनके लक्षण कहते हैं ॥ १५ ॥

तानेव विवृणोति—पानात्ययमित्यादि। ननु, अयमर्थः 'आपादयेत्कष्टतमान्विकारान्—' इत्यनेनैवोक्तत्वात् कथं पुनरुक्तः ? उच्यते, पूर्वेण कष्टतमविकारित्वमुक्तम्, अनेन तु नानाविधविकारकारित्वमिति भेदः ॥१५॥

सरोज व्याख्या---उन्हीं पूर्वोक्त रोगों को कहते हैं---पानात्ययमित्यादि। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'आपादयेत् कष्टतमान् विकारान्' इसी से रोगी का बोध हो जाता है, तो पुनः 'पानात्ययम्' इत्यादि श्लोक क्यों कहा गया है ? इसका

उत्तर देते हैं कि वहाँ पर रोगों की कष्टतमावस्था बतलायी गयी और यहाँ पर अनेक प्रकार के रोगों का उल्लेख किया गया है—यही दोनों में भेद है।

विमर्श---मद्य मुख द्वारा (Oral) सेवन किया जाता है। मुख द्वारा प्रयुक्त द्रव्य पाचक रसों की क्रिया के पश्चात् आमाशय और आन्त्र से प्रचूषित होकर रस रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत में होता हुआ हृदय में पहुँचता है और रक्त को क्षुब्ध (दूषित) करता है। यह दूषित रक्त धमनियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँच कर मन, बुद्धि या वातनाड़ियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँच कर इन्द्रियों और मन को विक्षुब्ध करता हुआ मादकता उत्पन्न करता है। इनके प्रयोग से व्याधिसम्प्राप्ति निम्नलिखित ढंग से होती है----

मद्यसेवन

।

समानवायु, पाचक पित्त एवं क्लेदक कफ दुष्टि

।

अग्निमान्द्य

।

आम

।

आमविषोत्पत्ति

।

रसरक्त धातु दुष्टि

।

मनोवह स्रोतस् दुष्टि

।

व्याध्युत्पत्ति

दोष-दूष्य-अधिष्ठान आदि----

उद्भव स्थान----हृदय।

अधिष्ठान—मन, बुद्धि, इन्द्रियायतन।

दोष—व्यानत-उदान-प्राण वायु, बोधक-साधक-पाचक पित्त, क्लेदक कफ, रज एवं तम।

दूष्य—रस, रक्त।

स्रोतस्—मनोवह, संज्ञावह।

वातादि भेद से मदात्यय (Alcoholism)

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ १६ ॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ १७ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ।
ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥ १८ ॥

(च. चि. २४. ९१, ९४, ९७)

हिक्का, श्वास, शिर का काँपना, पार्श्वशूल, निद्रानाश तथा प्रलाप से वात-प्रधान मदात्यय जानना चाहिए। प्यास, दाह, ज्वर, पसीना, मोह, अतिसार, विभ्रम तथा शरीर के हरित वर्ण से पित्त प्रधान मदात्यय जानना चाहिए। वमन, अरोचक, हृल्लास, तन्द्रा, स्तैमित्य (शरीर का गीले कपड़े से ढका हुआ होना), भारीपन तथा शीत से कफप्रधान मदात्यय जानना चाहिए। उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होने पर त्रिदोषज मदात्यय जानना चाहिए ॥ १६–१८ ॥

तेषामुद्दिष्टानां लक्षणमाह—हिक्केत्यादि। प्रजागरो निद्राविच्छेदः। वातप्रायमित्यनेन सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा उद्भूतत्वेन व्यपदेश इति चरके दर्शितम्। यदाह—'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपणाः'—इत्यारभ्य, यावत् 'सर्वं मदात्ययं विद्यात्त्रिदोषश्च' (च. चि. २४) इति। एवं चरकसंवादात्सुश्रुतेऽपि बोध्यम्। विभ्रमो भ्रमः। हरितवर्णस्येत्यनेन हरित-वर्णताऽपि लक्षणम् ॥ १६-१८ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त मदात्यय के लक्षण कहते हैं---हिक्केत्यादि। प्रजा-गर---निन्द्राविच्छेद (नींद का न आना)। वातप्रायम्---इससे स्पष्ट होता है कि सभी मदात्यय त्रिदोषज होते हैं, इनमें जिस दोष की उल्वणता (प्रधानता) होती है, उसी के नाम से व्यपदेश होता है, ऐसा चरक में कहा गया है---

"ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपणाः।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥
हन्त्याशु हि विषं किञ्चित् किञ्चद्रोगाय कल्पते।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये।
दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वं चास्य लक्ष्यते ॥

सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम् ।
दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत्" ॥

(च. चि. २४. ९८, ९९, १००, १०७)

अर्थात् जो गुण विष में होते हैं, वे ही मद्य में होते हैं, किन्तु विष में वे गुण तीव्र होते हैं। अर्थात् मद्य में मृदु रहते हैं और विष में तीव्रतर होते हैं। जिस प्रकार कोई विष शीघ्र ही जीवन को समाप्त कर देता है और कोई विष सेवन करने पर रोगों को उत्पन्न करता है, इसी तरह मद्यपान जनित मद की अन्तिम अवस्था मारक होती है। इसी प्रकार सब मदात्यय त्रिदोषज होते हैं, किन्तु जिस दोष के लक्षण अधिक मिलते हैं, उसी दोष के अनुसार नाम हो जाता है। पुनः कहते हैं कि सभी प्रकार के मदात्यय रोग त्रिदोषजन्य होते हैं, किन्तु चिकित्सा करते समय मदात्यय रोग में जिस दोष की अधिकता दिखलाई पड़े, उस दोष की चिकित्सा पहले करनी चाहिए। इस प्रकार चरक के समान सुश्रुत में भी जानना चाहिए। विभ्रमः—भ्रम। हरितवर्णस्य--हरितवर्ण भी एक लक्षण होता है ॥१६-१८॥

परमद (Hang Over)

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च
विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च ।
लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥ १९ ॥

(सु. उ. ४७. १९।२, २०।१)

श्लेष्मा की अधिकता, अंगों की गुरुता, मुख में विरसता, मल तथा मूत्र का अवरोध, तन्द्रा, अरोचक, तृष्णा, तथा शिर एवं सन्धियों में वेदना 'परमद' के लक्षण होते हैं ॥ १९ ॥

परमदमाह—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि। श्लेष्मोच्छ्रयश्चात्र नासास्रावादिना ज्ञेयः। सक्तिः सङ्गः, अप्रवृत्तिरिति यावत्। तन्द्रिस्तन्द्रा। परस्य मदस्येति परमदस्य, छन्दोऽनुरोधादसमासनिर्देशः ॥ १९ ॥

सरोज व्याख्या—परमद के लक्षण कहते हैं—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि। श्लेष्मोच्छ्रय से यहाँ नासास्राव आदि जानना चाहिए। सक्तिः--सङ्गः, अर्थात् मलमूत्र रुक जाते हैं, समय से प्रवृत्ति नहीं होती। तन्द्रि--तन्द्रा। परस्य मदस्य--यहाँ छन्दोभङ्ग होने के कारण परमद का समास नहीं किया गया है।

पानाजीर्ण (Alcoholic Gastritis)

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि । (सु. उ. ४७. २०।२)

अत्यधिक आध्मान, वमन तथा विदाह पानाजीर्ण के लक्षण होते हैं।

पानाजीर्णमाह—आध्मानमित्यादि। उद्गिरणं वान्तिः, उद्गारो वा। पाने मद्ये, अजीर्णमुपगच्छति अपक्वत्वमुपगच्छतीति पानाजीर्णविकार इत्यर्थः ॥

सरोज व्याख्या—पानाजीर्ण के लक्षण कहते हैं—आध्मानमित्यादि। उद्गिरणम्—वमन अथवा डकार। पाने अजीर्णमुद्गच्छति—मद्य के न पचने पर 'पानाजीर्ण' रोग हो जाता है।

पानविभ्रम (Chronic Alcoholism)

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूमा
मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः ॥ २० ॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः।

(सु. उ. ४७. २१।२, २२।१)

हृदय और शरीर में सुई चुभने सी वेदना, मुख से कफ निकलना, कण्ठ से धुआँ सा निकलना, मूर्च्छा, वमन, सिर में पीड़ा, दाह, विविध प्रकार के मद्य एवं भक्ष्य पदार्थों से द्वेष 'पानाजीर्ण' के लक्षण बताये गये हैं।

पानविभ्रममाह—हृदित्यादि। कण्ठधूमः कण्ठाद्धूमनिर्गमवत्पीडा। शिरोरुजनं शिरःशूलम्। सुरान्नविकृतेष्विति। सुराविकृतेष्वन्नविकृतेषु च भावे क्तः। तेषु तेष्विति। नानाविकारेषु सुरामैरेयपिष्टकलड्डुकादिषु। उशन्ति इच्छन्ति। एते च परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातजेऽन्तर्भूतत्वात्; सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात्पृथगेते पठिताः, विकृत्या पूर्वलक्षणवैलक्षण्याभिधानार्थमित्याहुः ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—पानविभ्रम के लक्षण कहते हैं—हृदित्यादि। कण्ठधूमः—कण्ठ से धूआँ निकलने के समान पीड़ा होना। शिरोरुजनं–शिरःशूल। सुरान्नविकृतेषु–अनेक प्रकार के सुरा तथा अनेक प्रकार के भोजन से द्वेष (अरुचि) हो जाता है। विकृत–यहाँ पर भावार्थ में 'क्त' प्रत्यय होता है। तेषु तेषु—नाना प्रकार के सुरा मैरेय आदि मद्य विकार तथा पिष्टक, लड्डु आदि अनेक प्रकार के अन्न विकार से अरुचि हो जाती है। उशन्ति—इच्छा करते हैं। महर्षि चरक ने परमद, पानाजीर्ण एवं पानविभ्रम को पृथक् से नहीं माना है, इनका सन्निपातज में अन्तर्भाव कर लिया गया है, सुश्रुत में सन्निपातज मद से पृथक् इनका निर्देश किया है। विकृति से पूर्वोक्त लक्षणों में विशेषता बतलाने के लिये इनका पृथक् से उल्लेख किया गया है।

असाध्य लक्षण

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥ २१ ॥
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

(सु. उ. ४७. २२।२, २३।१)

जिसका ऊपर का ओष्ठ नीचे की ओर लटक गया हो, जो अत्यन्त शीत एवं दाह से पीड़ित हो, जिसके चेहरे पर तैल (वसा) की आभा हो, ऐसे मदात्ययी को असाध्य समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिसकी जिह्वा, ओष्ठ एवं दाँत काले या नीले पड़ गये हों तथा आँखें पीली या लाल हो गयी हो, तो उसको भी असाध्य समझना चाहिए ।

असाध्यलक्षणमाह—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीतं बहिः, अमन्ददाहमभ्यन्तरे, तैलप्रभास्यं तैलाक्तमुखमिव ॥ २१ ॥

सरोज व्याख्या—मदात्यय के असाध्य लक्षण कहते हैं—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठम्—अर्थात् ऊपर का ओष्ठ लटक गया हो। अतिशीतम्—शरीर के बाह्य भाग में अत्यन्त शीत हो और अन्दर अत्यन्त दाह हो। तैलप्रभास्यम्—मुख ऐसा लगता हो, जैसे उसपर तैल लगाया गया हो ।

मद्यपान के उपद्रव

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥

(सु. उ. ४७. २३।२)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पानात्ययपरमदपानाजीर्ण-पानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥ १८ ॥

हिक्का, ज्वर, वमन, कम्पन, पार्श्वशूल, कास तथा भ्रम मदात्यय के उपद्रव होते हैं ॥ २२ ॥

उपद्रवानाह—हिक्केत्यादि । एतैः कृच्छ्रसाध्यं भवति न असाध्यम्; असाध्यलक्षणेभ्यः पृथक्पाठादिति जेज्जटः । ध्वंसकविक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ चरके पृथक् पठितौ; तद्यथा—'विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता । तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः । तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम्' (च. चि. २४) इति; तौ च सुश्रुते—'विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं

निषेवते। तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि' (सु. उ. ४७) इत्यनेन संगृहीतौ बोद्धव्यौ। न वा चिकित्साभेदस्तयोरुक्तः, यतश्चरक एवोक्तवान्--'तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके यन्मदात्यये' (च. चि. २४) इति ॥ २२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥ १८ ॥

सरोज व्याख्या--मदात्यय के उपद्रव कहते हैं---हिक्केत्यादि। इन उपद्रवों से रोग कृच्छ्रसाध्य होता है, न कि असाध्य; क्योंकि असाध्य लक्षणों से इनको पृथक् कहा गया है, ऐसा जेज्जट का मत है।

चरक ने ध्वंसक एवं विक्षेपक दो मदविकार पृथक् से कहे हैं---

"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥
श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता।
तन्द्रा निन्द्राऽभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥
हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम्" ॥
(च. चि. २४. १९९, २०१, २०२)

अर्थात् जो मद्य-त्याग करने के बाद सहसा अधिक मात्रा में पुनः मद्य सेवन करता है, तो उस व्यक्ति को ध्वसंक एवं विक्षेपक नामक रोग हो जाता है। उनका लक्षण निम्नलिखित है---

ध्वसंक का लक्षण---मुख से कफ का प्रसेक होना, कण्ठ और मुख का सूखना, शब्द को न सहना, तन्द्रा एवं निद्रा का अधिक होना।

विक्षेपक का लक्षण----हृदयरोग, कण्ठरोग, मोह, वमन, शरीर में पीड़ा, ज्वर, तृष्णा, कास और शिर में पीड़ा।

सुश्रुत ने दोनों को पृथक्-पृथक् न कहकर एक ही श्लोक में संगृहीत कर दिया है---

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः सम्भवन्ति हि ॥ (सु. उ. ४७)

इनका वातिक मदात्यय से चिकित्साभेद नहीं कहा गया है, क्योंकि चरक ने कहा है---तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके यन्मदात्यये। (च. चि. २४. २०३) अर्थात् वातिक मदात्यय रोग में जो चिकित्साकर्म बताया गया है, वही चिकित्साकर्म ध्वसंक एवं विक्षेपक रोग में भी होता है ॥ २२ ॥



एकोनविंशोऽध्यायः

दाहनिदानम्

(१) मद्यज दाह

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥

(सु. उ. ४७. ५४१२, ५४१३)

मद्यपान से उत्पन्न गर्मी पित्त एवं रक्त को दूषित कर जब त्वचा में पहुँचती है, तो वह भयंकर दाह उत्पन्न करती है । इसकी चिकित्सा पित्त के समान करनी चाहिए ॥ १ ॥

मदात्ययेऽपि दाहो भवत्यतः सप्तप्रकारं दाहमाह । तत्र मद्यजमाह—त्वचमित्यादि । पानोष्मा मद्यपानकुपितपित्तस्यौष्ण्यं; समानोष्मेति पाठान्तरमयुक्तं, सुश्रुते पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् पित्तजोऽप्ययं हेतुभेदात् पृथक् पठितः ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या----मदात्यय में भी दाह होता है, इसलिए मदात्यय के अनन्तर सात प्रकार का दाह बतलाते हुए मद्यज दाह को पहले कहते हैं----त्वचमित्यादि । पानोष्मा---मद्यपान से कुपित पित्त की ऊष्मा को पानोष्मा कहा जाता है । समानोष्मा पाठान्तर भी दिखलाई पड़ता है, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि सुश्रुत में पानात्यय रोग के वर्णन में इस श्लोक को कहा गया है । पित्तज दाह भी होता है, किन्तु हेतु (कारण) भेद से उसको पृथक् से बतलाया गया है । इसे Alcoholic Peripheral Neuritis कह सकते हैं ।

विमर्श—दाह किसी भी असामयिक हेतु से होने वाली जलनविशेष की अनुभूति को कहा जाता है । यह अनेकों रोगों के प्रमुख या अप्रमुख लक्षणों के रूप में पाया जाता है । पित्तज रोगों में दाह एक प्रमुख लक्षण होता है । किन्हीं भी कारणों से शरीरान्तर्गत कफ का क्षय तथा पित्त की वृद्धि होने पर दाह की अनुभूति होती है, यथा----

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये ।
स्थानमादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥

(च. सू. १७।४५-४६)

यद्यपि दाह का प्रत्यक्ष कारण पित्त है, किन्तु उसके आभास का कारण बनाने वाला वायु है, जैसाकि चरक ने कहा है--'सर्वेन्द्रियार्थानामभिबोध' (च. सू. १२।८)। इस प्रकार यदि दोषों का विचार करें, तो दाह उभयात्मक व्याधि है और दोषभेद से इसे दो प्रकार माना जा सकता है--(१) पित्तप्रधान एवं (२) वातप्रधान। आचार्यों ने दाह को सात प्रकार का माना है। माधवकर ने यहाँ पर आठ प्रकार का शास्त्रोक्त दाह गिनाया है। इन दो श्रेणियों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है----

दाह

पित्तप्रधान	वातप्रधान
१. मदयज दाह	६. धातुक्षयज दाह
२. पित्तज दाह	७. मर्माभिघातज दाह
३. रक्तज दाह	८. क्षतज दाह
४. तृष्णानिरोधक दाह	
५. रक्तपूर्णकोष्ठज दाह	

सम्प्राप्ति--

पित्तप्रकोपक निदान
मद्यपान
धातुक्षय
मर्माभिघात
} निदान ——> कफसंक्षय

——> धमनी विस्फार + वातनाड़ी क्षोभ
पित्तप्रकोप + वातवृद्धि
|
दाहानुभूति
|
दाहरोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान--
दोष—पित्तप्रधान एवं वायु।
दूष्य—रस।
अधिष्ठान—त्वक्।

(२) रक्तज दाह

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम्।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥ २॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते।

(सु. उ. ४७. ६७, ६८।१)

सम्पूर्ण शरीर में भ्रमणशील रक्त कुपित होकर अत्यन्त दाह उत्पन्न करता है। रोगी शरीर में जलन एवं पिपासा क अनुभव करता है। शरीर एवं नेत्रों का वर्ण

ताँबे के समान लाल हो जाता है। मुख एवं अन्य अङ्गों से लोह की गन्ध आती है और वह अपने को अग्नि से व्याप्त सा मानता है।

रक्तजमाह—कृत्स्नेत्यादि। स उष्यते समीपस्थेनेव वह्निना तप्यते, संधूप्यत इति पाठान्तरे संधूपनवद्वेदनामनुभवति। ताम्राभ इति गात्रे। लोहगन्धाङ्गवदन इति लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—रक्तज दाह को कहते हैं—कृत्स्नेत्यादि। स उष्यते-आग के समीप बैठने पर आग से तप्त होने के समान रोगी को प्रतीत होता है। संचूष्यते ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, उसका अर्थ आचूषणवत् (खींचने के समान) वेदना का अनुभव होता है। ताम्राभ—शरीर ताम्रवर्ण का हो जाता है। लोहगन्धाङ्गवदन—अङ्ग प्रत्यङ्ग तथा मुख में लोहे के समान गन्ध प्रतीत होता है, इसे Burning Syndrome of Hypertension or Menstrual Disorder कह सकते हैं।

(३) पित्तज दाह

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः ॥ ३ ॥

(सु. उ, ४७. ७०।१)

पित्तज दाह में पैत्तिक ज्वर के समान लक्षण मिलते हैं तथा इसकी चिकित्सा भी उसी के समान करनी चाहिए ॥ ३ ॥

पित्तजमाह—पित्तेत्यादि। पित्तज्वरसमः पित्तज्वरलिङ्गयुक्तः, पित्तज्वरे त्वामाशयदुष्ट्यादयोऽधिका इति भेदः। स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरचिकित्सा ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—पित्तज दाह के लक्षण कहते हैं—पित्तेत्यादि। पित्तज्वरसमः—अर्थात् पित्तज्वर के जो लक्षण होते हैं, वह इसमें होते हैं, किन्तु पित्तज्वर में आमाशयदुष्टि आदि भी होती है, जो इसमें नहीं होती—यही पित्तज ज्वर एवं दाह में परस्पर भेद है। स चाप्यस्य विधिः स्मृतः—जो पित्तज ज्वर की चिकित्सा बतलायी गयी है, वही इसकी भी चिकित्सा है। इसे Burning Syndrome of Pyrexia कह सकते हैं ॥ ३ ॥

(४) तृष्णानिरोधक दाह

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्।
सबाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः ॥ ४ ॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते।

(सु. उ. ४७. ७२।२. ७१)

तृष्णानिरोध के कारण धातुओं में जल की कमी हो जाने पर बढ़ा हुआ तेज (पित्तोष्मा) शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर अवयवों में दाह उत्पन्न कर देता है, जिससे गला, तालु तथा ओष्ठ सूख जाते हैं, रोगी मूर्च्छित हो जाता है और जिह्वा बाहर निकाल कर कांपने लगता है।

तृष्णानिरोधजमाह--तृष्णेत्यादि। तेजः समुद्धतं पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः। निष्कृष्य निःसार्य ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—तृष्णानिरोधजन्य दाह के लक्षण कहते हैं—तृष्णेत्यादि। तेजःसमुद्धतम्-जलीयांश के क्षीण होने में पित्तोष्मा बढ़ जाती है। निष्कृष्य-जिह्वा बाहर निकाल कर रोगी कांपने लगता है। इसे Dehydration कह सकते हैं।

(५) रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुःसहः ॥ ५ ॥

(सु. उ. ४७. ७३।२)

आभ्यन्तर रक्तस्राव के फलस्वरूप होने वाला एक अन्य प्रकार का दाह अत्यन्त कष्टप्रद होता है ॥ ५ ॥

अवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—असृज इत्यादि। न चोक्त-रक्तजेनास्य पौनरुक्त्यं, कृत्स्नदेहानुगमितिवचनात्, कारणभेदाच्च। असृजः पूर्णकोष्ठस्येति 'पूरणगुणसुहितार्थ--' इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः। कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते। यदाह सुश्रुतः—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' (सु. चि. २) इति ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—भारी शस्त्र के प्रहार से कोष्ठ में चोट लगने पर आन्तरिक रक्तस्राव के कारण कोष्ठ रक्त से पूर्ण हो जाता है, तो दाह उत्पन्न होता है, उसे बतलाते हैं—असृज इत्यादि। पूर्वोक्त रक्तज दाह एवं इसमें समानता नहीं हो सकती है। 'कृत्स्नदेहानुगम्' वचन से दोनों में भेद (अन्तर) स्पष्ट है, क्योंकि पूर्वोक्त 'रक्तज दाह' सम्पूर्ण शरीर में स्थित रक्तप्रकोप से होता है और रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह केवल एकदेशीय कोष्ठ में अवरुद्ध रक्त से होता है। इसके अतिरिक्त दोनों के कारण में भी भेद है। असृजः पूर्णकोष्ठस्य—'पूरणगुणसुहितार्थ' इत्यादि व्याकरणानुसार कर्त्ता के अर्थ में षष्ठी हो जाती है, जिसका अर्थ कोष्ठ का रक्त से पूर्ण होना होता है। कोष्ठ शब्द से हृदय आदि का ग्रहण होता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ (सु. चि. २)

अर्थात् आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस को कोष्ठ कहा जाता है। इसे Peripheral Neuropathy caused by Internal Haemorrhage कह सकते हैं ॥ ५ ॥

(६) धातुक्षयज दाह

धातुक्षयोत्थो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृर्डदितः ।
क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः ॥ ६ ॥
(सु. उ. ४७)

रस रक्त आदि धातुओं का क्षय होने के कारण जो दाह होता है, उसे धातुक्षयज दाह कहा जाता है, इसमें मूर्च्छा, पिपासा, क्षामस्वर (दुर्बलस्वर) के साथ रोगी क्रियाहीन (निश्चेष्ट) होकर घोर अवसाद से पीड़ित होता है अथवा यदि उचित चिकित्सा रोगी की न की जाय, तो वह मर जायेगा ॥ ६ ॥

धातुक्षयजमाह--धात्वित्यादि। धातवो रसादयः क्रियाहीनो निश्चेष्टः; किंवा भृशपीडितो दाहेन क्रियाहीनश्चिकित्साहीनो यदि भवेत्तदा सीदेन्म्रियेत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—धातुक्षयज दाह को कहते हैं—धात्वित्यादि । रस रक्त आदि को धातु कहा जाता है। क्रियाहीन—निश्चेष्ट अथवा दाह से अतिपीड़ित रोगी की चिकित्सा न की जाय, तो वह मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा। इसे Burning Syndrome of Deficiency Disorder कह सकते हैं ॥ ६ ॥

(७) क्षतज दाह

(क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतो वाऽप्यनेकधा ।
तेनान्तर्दह्यतेत्यर्थं तृष्णा मूर्च्छा प्रलापवान् ॥)
(सु. उ. ४७. ७६)

क्षत के कारण अन्न न खाने से तथा नाना प्रकार की चिन्ताओं के कारण आन्तरिक दाह उत्पन्न होता है, जिससे रोगी पिपासा, मूर्च्छा एवं प्रलाप से अत्यन्त पीड़ित होता है।

क्षतजमाह--क्षतज इत्यादि ।

(८) मर्माभिघातज दाह

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः ।
सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥ ७ ॥
(सु. उ. ४७. ७८)

सिर, हृदय एवं वस्ति आदि मर्मों में अभिघात से भी सातवीं प्रकार का दाह होता है, वह असाध्य होता है। अन्तर्दाह के होते हुए भी यदि शरीर बाहर से शीत हो, तो सभी दाह असाध्य होते हैं ॥ ७ ॥

मर्माभिघातजमाह--धर्मेत्यादि। मर्माणि शिरोहृदयवस्त्यादीनि। जेज्जटस्तु सप्तत्वमन्यथा गणयति--'त्वचं प्राप्त' इत्यादिना प्रथमः, 'कृत्स्न-देहानुगं रक्तम्'--इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा एतदादिना 'स चाप्यस्य विधिः स्मृतः' इत्यन्तेन पैत्तिको द्वितीयः, तृष्णानिरोधजस्तृतीयः, 'असृजः पूर्णकोष्ठस्य' इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य तु क्षतजस्य लक्षणं पठति--'क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतश्चाप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णा-दाहप्रलापवान्' इति; मर्माभिघातजस्तु सप्तम इति ॥ ७ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां दाहनिदानं समाप्तम् ॥ १९ ॥
दाहनिदान समाप्त ॥

सरोज व्याख्या--मर्माभिघातज दाह के लक्षण कहते हैं—मर्मेत्यादि। मर्म शब्द से शिर, हृदय एवं वस्ति का ग्रहण होता है। यह दाह सातवें प्रकार का होता है, किन्तु जेज्जट ने अन्यथा क्रम से 'दाहरोग' की गणना की है। जैसे—(१) त्वचं प्राप्तं इत्यादि से, (२) 'कृत्स्नदेहानुगं रक्तं' यहाँ पर रक्त के स्थान पर 'कृत्स्न-देहानुगं पित्तं' ऐसा पाठ कहकर यहाँ से 'स चाप्यस्य विधिः स्मृतः' यहाँ तक पैत्तिक दाह, (३) 'तृष्णानिरोधज' दाह, (४) असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाह, (५) धातु-क्षयजन्य दाह, (६) क्षतज दाह (इसका लक्षण पहले बताया गया है) तथा (७) मर्माभिघातज दाह होता है। मर्माभिघातज दाह को Burning Syndrome of Traumatic Origin and Shock कह सकते हैं ॥ ७ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

उन्मादनिदानम्

उन्माद रोग की निरुक्ति

मदयन्त्युद्गता दोषः यस्मादुन्मार्गमागताः[1]।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ (सु. उ. ६२।३)

वृद्ध दोष उन्मार्गगामी होकर मनोविभ्रम को पैदा करते हैं, इसी कारण इस मानसिक रोग को उन्माद कहा जाता है।

मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्—इत्यनेनोन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तं, तथा मदाप्ययेऽपि दाहो भवतीति स्वल्पवक्तव्यतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—मदयन्तीत्यादि। मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, उन्मार्गमागता विमार्गमागता मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः। उद्गता वृद्धाः, अथवोर्ध्वं हृदयं गताः, एतेनोत्पूर्वेणैवं दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—मदात्यय रोग में मदात्यय का लक्षण बतलाते हुए उसको उन्माद के समान कहा गया है तथा मदात्यय में दाह भी होता है, इसी से उन्माद से पहले संक्षिप्त रूप में दाह का उल्लेख करके उन्माद का वर्णन करते हैं और उसकी निरुक्ति कहते हैं—मदयन्तीत्यादि। मदयन्ती—अर्थात् मन में विभ्रम (भ्रम) उत्पन्न करते हैं। उन्मार्गमागताः—विमार्गगामी होकर मनोवह धमनी में में पहुँच जाते हैं। उद्गता—बढ़े हुए या ऊपर हृदय प्रदेश तक गये हुए दोष। उन्माद (उत् + माद) में 'उत्' उपसर्ग लगने से ही दोषों की वृद्धि एवं विमार्गगामिता स्पष्ट है।

उन्माद के भेद

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः ॥ २ ॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥ ३ ॥

(सु. उ. ६२।४-५)

अत्यधिक प्रकुपित वात, पित्त, कफ से तीन, सन्निपात से चौथा, मानसिक

---

1. उन्मार्गमाश्रिता।

दुःख से पाचवाँ एवं विष से छठाँ उन्माद होता है। इनकी दोषानुसार भिन्न-भिन्न चिकित्सा बतलायी गयी है।

अधिक न बढ़े हुए तरुणावस्था (प्रारम्भिकावस्था) के उन्माद को 'मद' कहा जाता है।

प्रकारभेदमाह—एकैकश इत्यादि। मानसेन च दुःखेनेति शोकादिना। स चेति षड्विधोऽपि। अप्रवृद्धपदमुपादायापि तरुणपदप्रयोगं कुर्वता सुश्रुतेन स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति दर्शितम्। अतएव चरके विधिशोणितकीयाध्याये (च. सू. २४) उन्मादात्पृथगेव पठितः सनिदानचिकित्सित इति ॥ २-३ ॥

सरोज व्याख्या—उन्माद के भेद कहते हैं—एकैकश इत्यादि। दुःख, शोक आदि मानसिक विकार है। इनसे उन्माद होता है। स च-वह उन्माद छः प्रकार का होता है। स च अपवृद्धतरुणः—यहाँ अपवृद्ध पद तरुणता (प्रारम्भिक अवस्था) का सूचक है, किन्तु तरुण पद के प्रयोग करने से लगता है कि सुश्रुत में दोषजनित उन्माद से पृथक् स्वतन्त्र भी 'मद रोग' को माना है। इसीलिए चरक में विधिशोणित अध्याय में उन्माद से पृथक् मद रोग को बतलाया है, उनकी निदान, चिकित्सा आदि कही गयी है।

उन्माद के सामान्य हेतु

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

(च. चि. ९।४)

विरुद्ध, दुष्ट तथा अपवित्र भोजन करने से, देवता, गुरु एवं ब्राह्मण का अपमान करने से तथा अत्यधिक भय अथवा हर्ष या विषम चेष्टाओं से मनोविघात होने के कारण उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

सामान्यहेतुमाह—विरुद्धेत्यादि। दुष्टं गरसहितमन्नादि। प्रधर्षणं 'धृष' प्रधर्षणे, इत्यस्मात् प्रधर्षणमभिभवः। भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघात इति भयहर्षाभ्यां मनसोऽभिभवः, भयहर्षपूर्व इति भयं हर्षो द्वौ वा पूर्वं यस्य स तथा, पूर्वशब्दोऽत्र कारणवाची; चकारोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन कामक्रोधलोभादयोऽपि कारणमिति जेज्जटः। अन्ये त्वाहुः-क्रोधादिभिरपि भयहर्षपूर्वक एव भवतीति, तेन तौ निर्दिष्टौ। विषमाश्च चेष्टा इति। विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादय उन्मादहेतव इति योज्यम् ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—उन्माद के सामान्य कारण कहते हैं—विरुद्धेत्यादि। दुष्टं—गर विष से युक्त अन्न को दुष्ट भोजन कहा जाता है। 'धृष प्रधर्षणे' धातु

से प्रधर्षण रूप बनता है। प्रधर्षण—अपमान या निन्दा आदि। भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातः—भय और हर्ष से मन का अभिघात हो जाता है। इसका अर्थ करते हैं कि भय अथवा हर्ष या दोनों ही जिसके पूर्व हो, वह 'भयहर्षपूर्वः' कहा जाता है। यहाँ पर 'पूर्व' शब्द कारणवाची है, अर्थात् भय एवं हर्ष भी उन्माद में कारण होते हैं। 'विषमाश्च चेष्टाः' यहाँ पर चकार लुप्त निर्देशक (अन्य मनोभावों का) है, इससे काम, क्रोध, लोभ आदि भी उन्माद का कारण होते हैं, ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है किन्तु अन्य आचार्य कहते हैं कि भय एवं हर्ष करने वाले काम, क्रोध ही होते हैं और भयहर्षपूर्वः से कामक्रोधादि का निर्देश (बोध) हो जाता है। विषमाश्च चेष्टाः—शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की विषम चेष्टा, अपने से बलवान् व्यक्ति के साथ विग्रह (युद्ध) करना आदि विषम चेष्टाएँ कही जाती है। यह भी उन्माद का हेतु है।

उन्माद की सम्प्राप्ति

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥५॥

(च. चि. ९।५)

उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुए वातादि दोष दुर्बल मानसिक शक्तिवाले मनुष्य के बुद्धि के निवासस्थान हृदय अर्थात् मस्तिष्क को दूषित कर एवं मनोवह स्रोतों में अधिष्ठित होकर उसके चित्त को शीघ्र ही व्यवस्थित कर देते हैं।

संप्राप्तिमाह—तैरित्यादि। तैरुक्तहेतुभिः। अल्पसत्त्वस्य अल्पसत्त्वगुणस्येति चक्रः, जेज्जटस्त्वाह—सत्त्वं मनः, तस्य चाल्पत्वं रजस्तमोभ्यामावृतत्वेनाल्पज्ञानजनकत्वात्। मला वातादयः। बुद्धेर्निवासं हृदयमित्यनेन हृदयस्याश्रयस्य दुष्ट्या तदाश्रितज्ञानस्यापि दुष्टिर्भवतीति दर्शयति। स्रोतांसि मनोवहानीति। हृदयाश्रिता दश धमन्यः; एतच्च विशेषेण बोध्यं, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात्। अधिष्ठाय व्याप्येत्यर्थः ॥

सरोज व्याख्या—उन्माद की सम्प्राप्ति कहते हैं—तैरित्यादि। तैः—इन उपर्युक्त कारणों से। अल्पसत्त्वस्य—सत्त्वगुण का अल्प होना, ऐसा अर्थ चक्रपाणि करते हैं, किन्तु जेज्जट सत्त्व शब्द से मन का ग्रहण करते हैं, रज एवं तम से मन के आवृत्त होते वह अल्प (दुर्बल) हो जाता है। मलाः—वातादि दोष। बुद्धेर्निवासं हृदयं—अर्थात् आश्रयभूत हृदय में दुष्टि हो जाने पर तदाश्रितज्ञान अथवा बुद्धि में भी विकृति हो जाती है। स्रोतांसि मनोवहानि—यहाँ पर मनोवह स्रोतों से हृदयाश्रित दस धमनियों का विशेष रूप से बोध होता है। वैसे तो सम्पूर्ण शरीर के स्रोतों का ही मन से सम्बन्ध होता है। अधिष्ठाय—व्याप्त।

विमर्श—

प्रकुपित वातादि दोष
।
अल्पसत्त्व व्यक्ति
(दुर्बल मानसिक शक्ति वाले मनुष्य के)
।
बुद्धि के निवास स्थान हृदय अर्थात् मस्तिष्क को दूषित कर
।
मनोवह स्रोतस् में अधिष्ठित होकर
।
चित्त को अव्यवस्थित कर देना
।
उन्माद रोगोत्पत्ति

दोष-दूष्य अधिष्ठान—
दोष—शारीरिक—वात ।
मानस—रज एवं तम ।
दूष्य—मन ।

अधिष्ठान—बुद्धिनिवास हृदय (मस्तिष्क) एवं मनोवह स्रोतस् ।

मन तथा चेतना का स्थान—मन के स्थान के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। आचार्य चरक तथा सुश्रुत ने हृदय को मन का अधिष्ठान बतलाया है—हृदयं चेतनास्थानमुक्तम्, देहिनाम् (सु. शा. ४) तथा 'आत्मा च सगुणश्चेतः सर्वं च हृदि संस्थितम्' (च. सू. ३०)। हृदय का रचनात्मक वर्णन भी मिलता है, जिसे उरस्थ अवयव कहा गया है, इसकी गणना कोष्ठाङ्गों में किया गया है। कुछ लोग 'मस्तिष्क हृदय' 'उरोहृदय' तथा 'तलहृदय' आदि नामोल्लेख करके मन का अधिष्ठान मस्तिष्क मानते हैं। भेल संहिता में मन का अधिष्ठान शिर बतलाया गया है—शिरस्तात्वन्तरगतं सर्वेन्द्रिय परं मनः। हृदय एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, जो मेधा शक्ति, हर्ष, विषाद आदि मानसिक क्रियाओं का कर्त्ता है। अतः इस हृदय को उरःस्थल में स्थित शारीरिक हृदय न समझ कर मस्तिष्क स्थित ' 'Emotional Apparatus' समझना चाहिए। आयुर्वेद वाङ्मय में मेधा एवं मस्तुलुङ्ग ये दो शब्द प्रायः प्रयोग होते हैं। मस्तुलुङ्ग से Brain Substance समझना चाहिए।

सामान्य लक्षण

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ।। ६ ।।

(च. चि. ९।६)

बुद्धि में भ्रम का होना, मन की चञ्चलता, दृष्टि की व्याकुलता, अधीरता, असम्बद्ध प्रलाप एवं मस्तिष्क का ज्ञानशून्य होना उन्माद के साधारण लक्षण हैं।

सामान्यरूपमाह—धीविभ्रम इत्यादि। एतत् सामान्यं पूर्वरूपमिति जेज्जटः, सामान्यरूपमिति चक्रः। धीविभ्रमो भ्रान्तज्ञानत्वम्। सत्त्वपरिप्लवो मनसश्चञ्चलत्वम्। अधीरता कातरत्वम्। अबद्धवाक्त्वमसंबद्धवचनत्वम्। लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गं, तेन पूर्वरूपं रूपं चेति व्याख्यातम्॥ ६॥

सरोज व्याख्या—उन्माद का सामान्य रूप कहते हैं—धीविभ्रम इत्यादि। आचार्य जेज्जट इसको सामान्य पूर्व रूप और चक्रपाणि सामान्य रूप मानते हैं। धीविभ्रमः—ज्ञान का भ्रान्त होना, सत्त्वपरिप्लवः—मन का चञ्चल होना, अधीरता से कातर होना, अवद्धवाक्त्वं—असम्बद्ध प्रलाप। लिङ्ग की व्युत्पत्ति करते हैं—लिङ्ग्यतेऽनेन इति लिङ्गम् अर्थात् इससे रोग का स्वरूप जाना जाता है, इसलिये इसे लिङ्ग कहते हैं। रूप एवं पूर्वरूप दोनों से रोग का ज्ञान होता है, इसलिए जेज्जट एवं चक्रपाणि दोनों आचार्यों का कथन ठीक है।

वातज उन्माद

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम्॥ ७॥
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम्॥ ८॥
(च. चि. ९।९-१०)

रूक्ष, अल्प, शीत अन्न के सेवन, विरेचन, रसादि धातुक्षय, एवं उपवास से अत्यधिक बढ़ा हुआ वायु, चिन्ता आदि से दूषित हृदय (मन) को और भी दूषित करके बुद्धि एवं स्मरण शक्ति को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

इसमें रोगी निष्प्रयोजन हँसता, मुस्कराता, नाचता, गाता, बोलता तथा हाथ-पैर चलाता है और रोता है। उसका शरीर रूक्ष, कृश और अरुण वर्ण (ईषद् रक्त-वर्ण) हो जाता है। भोजन पचने के बाद रोग बढ़ता है। यह उन्माद का लक्षण है।

वातजमाह—रूक्षेत्यादि। विरेकशब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते, विरेचयति देहान्मलं पृथक्करोतीति व्युत्पत्त्या। अस्थानहासेत्यादि। अस्थानेऽविषये हासोऽस्थानहासः; एवमस्थानशब्दः स्मितादिषु प्रयोज्यः। स्मितमीषद्धासः। अङ्गविक्षेपो विरुद्धचेष्टा। जीर्णे बलमिति। जीर्णे आहारे व्याधेर्बलं भवति॥ ७-८॥

सरोज व्याख्या--वातज उन्माद का लक्षण कहते हैं—रूक्षेत्यादि। 'विरेक' शब्द से यहाँ पर वमन भी ग्रहण किया जाता है। 'विरेचयति देहात् मलं पृथक् करोति' अर्थात् जो क्रिया देह से मल को पृथक् करे, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वमन भी शरीर से मल को बाहर निकालने से विरेचन कहा जाता है। अस्थानहास—विना प्रयोजन के हँसना, स्मित—ईषद् हास (मुस्कराना), अङ्गविक्षेप—विरुद्ध चेष्टा, जीर्णबलम्—आहार जीर्ण हो जाने (पचने) पर रोग का बल बढ़ जाता है ॥ ७-८ ॥

पित्तज उन्माद

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः[1]।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥
(च. चि. ९. ११-१२)

अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाहकारी एवं उष्ण भोजन से सञ्चित एवं कुपित हुआ पित्त दुर्बल मन वाले मनुष्य के मस्तिष्क में पहुँच कर चिन्ता आदि से दूषित मस्तिष्क को पहले की अपेक्षा अधिक दूषित करके बुद्धि एवं स्मृति को विनष्ट कर देता है।

असहिष्णुता, चञ्चलता पूर्वक चेष्टा, वस्त्रादि त्याग कर नग्न होना, सन्तर्जन (परित्रासन, दूसरे को धमकाना), भागना, शरीर में गर्मी, रोष (क्रोध), छाया एवं शीतल अन्न तथा जल की अभिलाषा और रोगी के शरीर में पीलापन, यह पित्तज उन्माद का लक्षण है ॥ ९-१० ॥

पित्तजमाह—अजीर्णेत्यादि। अशीतैरिति उष्णैः। उन्मादमत्युग्रमिति। अत्युग्रं तीव्रवेगम्, । 'उन्मादयत्युग्रम्' इति पाठान्तरे उग्रं यथा भवति तथोन्मादं जनयति। अनात्मकस्य अनात्मवतः। पूर्ववदिति। चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहत्येत्यादिसंप्राप्त्या। कुर्यादिति। वक्ष्यमाणं लिङ्गमिति शेषः। अत्र पक्षे किं तल्लिङ्गमित्याह—अमर्षेत्यादि। अमर्षोऽसहिष्णुत्वं, न तु रोषः; तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। संरम्भ आरभटी; विनग्नभावो नग्नत्वम्। संतर्जनं परित्रासनम्, अतिद्रवणं पलायनम्, औष्ण्यं गात्रस्य; औष्ठ्यमिति पाठान्तरे विकृतौष्ठत्वम्। प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाष इति छायायां शीतयोरन्नजलयोश्चाभिलाषः ॥ ९-१० ॥

---

१. चोष (दाहविशेष) इति पाठान्तर।

सरोज व्याख्या - पित्तज उन्माद का लक्षण कहते हैं-अजीर्णेत्यादि । अशीतैः-उष्ण । उन्मादमत्युग्रम्—अति तीव्रवेग उन्माद को । उन्मादयत्युग्रम्—इस पाठान्तर में उग्रता के साथ उन्माद का होना समझना चाहिए । अनात्मकस्य—लोलुप । पूर्ववत्—वातोन्माद के समान चिन्तादि कारणों से दूषित हृदय को अत्यधिक दूषित करके बुद्धि आदि को विनष्ट करके उन्माद को कर देता है। कुर्यात्—इसका सम्बन्ध अमर्ष आदि वक्ष्यमाण लक्षणों से है। अब उन लक्षणों को बतलाते हैं—अमर्षेत्यादि । अमर्ष से असहिष्णुता समझना चाहिए, न कि रोष (क्रोध), क्योंकि रोष का आगे निर्देश है । संरम्भ से चेष्टा अथवा चञ्चलतापूर्वक कार्यारम्भ समझना चाहिए। विनयाभाव—नम्रता, संतर्जनम्—परित्रासन, अतिद्रवण—पलायन, औष्ण्यं—शरीर उष्ण रहता है। औष्ठ्यम्—इस पाठान्तर से ओष्ठ की विकृति ग्रहण करनी चाहिए। प्रच्छायशीतेत्यादि—छाया और शीतल भोजन एवं जल सेवन की इच्छा होती है ॥ ९-१० ॥

कफज उन्माद

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य
सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रदुष्टः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं
प्रमोहयन् सञ्जनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च,
नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते,
नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥ १२ ॥
(च. चि. ९. १३-१४)

स्निग्ध एवं गुरु भोजन न करने वाले एवं उचित परिश्रम न करने वाले व्यक्ति का पित्तसहित दूषित कफ मस्तिष्क में स्थित होकर बुद्धि एवं स्मृति को नष्ट करके चित्त को प्रमोहित करते हुए उन्माद रोग को उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

बोली (वाणी) एवं चेष्टा में मन्दता (अल्पता), अरुचि, स्त्री एवं एकान्त की इच्छा, अत्यन्त निद्रा आना, कभी-कभी वमन होना, लालास्राव निकलना, भोजन कर लेने पर रोग का बल बढ़ना एवं नख-नेत्रादि में श्वेतता, यह कफज उन्माद का लक्षण है ॥ १२ ॥

कफजमाह—संपूरणैरित्यादि । मन्दविचेष्टितस्य आयासशून्यस्य । सम्पूरणैर्भोजनादिभिः, कफो दुष्ट इति संबन्धः । सोष्मा सपित्तः । कफेनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्यं सपित्तेन क्रियते व्याधिमहिम्ना, यथा मूर्छा । अन्ये

त्वाहुः—केवलकफेनापि क्रियते, सोष्मपदेन तु द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते। अन्ये त्वाहुः—ऊष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः। मर्मणीति हृदये। विकारमुन्मादम्।

वागित्यादि। नारीविविक्तप्रियतेति। नारीप्रियता विजनप्रियता च। बलं च भुंक्ते इति। 'व्याधेः' इति शेषः। नखादीत्यादिशब्देन त्वङ्मूत्र-नेत्रादीनां ग्रहणम् ॥ ११-१२ ॥

सरोज व्याख्या—कफज उन्माद का लक्षण कहते हैं—सम्पूरणैरित्यादि। मन्दविचेष्टितस्य-- परिश्रमशून्य मनुष्य का। सम्पूरणैः ---स्निग्ध एवं गुरु भोजन से दूषित हुआ कफ। सोष्मा—पित्त सहित कफ। इससे स्पष्ट होता है कि कफ से उत्पन्न होने वाले उन्माद में भी पित्त का अनुबन्ध अवश्य होता है। यह उन्माद की विशेषता है, जैसे मूर्च्छा में पित्त अवश्य होता है। अन्य विद्वान् कहते हैं कि केवल कफ से भी उन्माद होता है। सोष्म पद से पित्त-कफजन्य द्वन्द्वज उन्माद का बोध होता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि 'ऊष्म' शब्द से शक्ति समझना चाहिए। सोष्मकफः—अर्थात् उत्कृष्टशक्ति वाला कफ। मर्माणि---हृदय में। विकारं---उन्माद रोग को। नारीविविक्तप्रियता च---स्त्रियों से प्रेम एवं एकान्त निवास की इच्छा। नखादि शब्द से त्वचा, मूत्र, नेत्र आदि का ग्रहण होता है।

सन्निपातज उन्माद

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः,
सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्,
विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३ ॥

(च. चि. ९. १५)

सन्निपातज उन्माद अत्यन्त भयङ्कर होता है, यह उपर्युक्त सभी कारणों से उत्पन्न होता है। इसलिए इसमें सभी दोषों के लक्षण भी पाये जाते हैं। यह विरुद्ध भेषज (उपक्रम) होने से असाध्य होता है ॥ १३ ॥

सान्निपातिकमाह—य इत्यादि। सर्वैः समस्तैरिति कृत्वाऽपि यत् समस्तैरिति करोति तेनैवं बोधयति—वातादयोऽनेकैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति, न तु प्रत्येकमेकनिदानकुपिताः। विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्य इति। अयमभिसन्धिः—त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्परविरोधिनी, त्रिदोषहरं च किंचिदेव द्रव्यमामलक्यादि, तत्तु नात्र यौगिकं, 'न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति' इति वचनात्।

ननु यद्येवं तदा सर्व एव हि त्रिदोषजविकारा असाध्या भवेयुरित्यत उक्तम्—ताद्दगिति। कोऽप्ययं सम्प्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्न तु सर्व इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—सर्वैः समस्तैर्हेतुभिर्यः कृतः स एवासाध्यः, न स्वल्पहेतुकृत इति॥ १३॥

सरोज व्याख्या—सन्निपातज उन्माद के लक्षण कहते हैं----य इत्यादि। सर्वैः समस्तैः इत्यादि में सर्वैः कहने से भी अर्थ का बोध हो जाता है, तो उसके साथ समस्तैः पद का प्रयोग करने का उद्देश्य है कि वात, पित्त एवं कफ ये तीनों दोष अपने-अपने अनेक कारणों से उन्माद को उत्पन्न करते हैं, न कि प्रत्येक एक कारण से।

विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः----अर्थात् त्रिदोष विकार में वातादि प्रत्येक दोष को शान्त करने के लिये तत्तद्दोष शामक औषधि चाहिए। चूंकि तीनों ही दोष परस्पर विरुद्ध गुण वाले होते हैं, इसलिए औषधियों द्वारा एक दोष के शान्त होने पर अन्य दोष प्रकुपित हो जाता है। त्रिदोषशामक आमलकी आदि कुछ द्रव्य है, तो वे 'सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति' यह शास्त्रवचन है। अब शंका होती है कि यदि यही बात है, तो सभी त्रिदोषज विकार असाध्य होने चाहिएँ! इसका समाधान करते हैं----ताद्दग् इत्यादि। अर्थात् उन्माद के समान कोई एकाध विशेष व्याधि होती है, जो अपनी विशेष सम्प्राप्ति से विरुद्ध भैषज्यविधि (उपक्रम) होने के कारण विवर्ज्य होती है, न कि सम्पूर्ण त्रिदोष रोग। अन्य विद्वान् कहते हैं कि जब सभी दोष अपने समस्त हेतुओं से प्रकुपित होकर सन्निपातज व्याधि उत्पन्न करते हैं, तब असाध्य होते हैं, न कि अल्प कारणों से॥ १३॥

मानसिक भावजन्य उन्माद

चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः॥ १४॥
चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः॥

(सु. उ. ६२--१२, १३।१)

चोर, राजकर्मचारी, शत्रु एवं सिंह और हाथी आदि से भयभीत होने से अथवा धन और बान्धव का विनाश होने से, नायिका के साथ रमण की उत्कट एवं असफल अभिलाषा से मन पर गहरी चोट पड़ने के कारण अत्यन्त भयानक मानसिक विकार

(उन्माद) हो जाता है। इससे रोगी विविध गोपनीय बातें करता है। रोगी को ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। वह कभी गाता है, कभी हँसता है, कभी रोता भी है ॥ १४ ॥

शोकादिजमाह--चोरैरित्यादि। क्षते उपहते, प्रियया रिरंसोः कामुकस्य, अप्राप्तया प्रियया क्षते मनसीति संबन्धः। तस्य लक्षणमाह--चित्रमित्यादि। चित्रं विविधम्। मनोऽनुगतं गोप्यमपि। विसंज्ञो विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ॥ १४ ॥

सरोज व्याख्या—शोकादि मानसिक भावों से उत्पन्न होने वाले उन्माद को कहते हैं—चौरैरित्यादि। क्षते--अर्थात् प्रिय नायिका के साथ रमण की उत्कट एवं असफल अभिलाषा से कामुक मनुष्य का मन टूट जाता है। इस प्रकार मन के उपहत होने पर, मनुष्य उन्मत्त होकर प्रलाप करता है। उसका लक्षण कहते हैं—चित्रमित्यादि। चित्र--विविध एवं मनोऽनुगत—गोपनीय बातें रोगी प्रकट करता है। विसंज्ञ—रोगी विपरीत ज्ञान वाला हो जाता है, इसलिए उसे मूढ़ कहा जाता है ॥ १४ ॥

विषजन्य उन्माद

रक्तेक्षणो हृतबलेन्द्रियभाः सुदीनः,
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥ १५ ॥

(सु. उ. ६२-१३-२)

विषजन्य उन्माद में रोगी की आँखें लाल हो जाती है। बल इन्द्रिय तथा कान्ति क्षीण हो जाती है। वह दीन हो जाता है, चेहरे का रंग काला हो जाता है, तथा वह संज्ञाहीन भी हो जाता है ॥ १५ ॥

विषजमाह--रक्तेक्षण इत्यादि। हृतबलेन्द्रियभा इति। हृतं बलमिन्द्रियाणि भाश्च यस्य स तथा। भा दीप्तिः ॥ १५ ॥

सरोज व्याख्या—विषजन्य उन्माद के लक्षण कहते हैं—रक्तेक्षण इत्यादि। हृतबलेन्द्रियभाः—अर्थात् जिसका बल, इन्द्रियों द्वारा स्वविषय को ग्रहण करने की शक्ति और कान्ति नष्ट हो चुकी हो। भाः शब्द का अर्थ दीप्ति (कान्ति) होता है ॥ १५ ॥

उन्माद के असाध्य लक्षण

अवाञ्ची वाप्युदञ्ची वा क्षीणमांसबलो नरः।
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥ १६ ॥

(सु. सू. ३३. २५)

उन्माद से पीड़ित जो रोगी मुख को सदैव नीचे की ओर अथवा ऊपर की ओर रखे, जिसका बल एवं मांस क्षीण हो गया हो तथा जो सदैव जागता रहे, उसकी निश्चित रूप से मृत्यु हो जाती है ।। १६ ।।

असाध्यलक्षणमाह--अवाञ्चीत्यादि । अवाञ्ची अधोमुखः, उदञ्ची ऊर्ध्वमुखः, अत एवान्ये 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पठन्ति । जागरूकोऽनिद्रः ॥ १६ ॥

सरोज व्याख्या—उन्माद के असाध्य लक्षण कहते हैं—अवाञ्चीत्यादि । अवाञ्ची—मुख को नीचे की ओर लटकाये रखे, अथवा उदञ्ची—मुख को ऊपर की ओर उठाए रखे । अन्यत्र भी कहा गया है—अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा इत्यादि । जागरूकः--निद्रारहित ।। १६ ।।

भूतोन्माद का सामान्य लक्षण

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥

(च. चि. ९. १७)

जिस व्यक्ति की वाणी पराक्रम शक्ति, चेष्टा, ज्ञान, विज्ञान एवं बल आदि मानव से अधिक हो, उन्माद का काल व (वेग) अनियत (अनिश्चित) हो, ऐसे उन्माद को भूतजनित उन्माद कहते हैं ।। १७ ।।

भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—अमर्त्यवागित्यादि । अमर्त्या अमनुष्या अनुचिता वा वागादयो यस्य स तथा । विक्रमः पराक्रमः, वीर्यं शक्तिः, चेष्टा शारीरिकी क्रिया । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरित्युपलक्षणे तृतीया । ज्ञानं तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं शिल्पादि ज्ञानं; किंवा ज्ञानं शास्त्रज्ञानं विज्ञानं तदर्थनिश्चयः; आदिशब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणं, तेषां बलम् । अनियत इति न वातजादिवदाहारजीर्णादिकालवत् कालनियमः । नियत इति पाठे तु वक्ष्यमणनियततिथ्यादीनां ग्रहणम्, देवग्रहाः पौर्णमास्यामित्यादि । भूतशब्देनात्र सर्व एव वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥ १७ ॥

सरोज व्याख्या—भूतोन्माद (भौतिक) के लक्षण कहते हैं—अमर्त्यवाग् इत्यादि । जिसकी वाणी, पराक्रम, शक्ति और चेष्टाएँ मानवीय शक्ति की सीमा से अधिक हो । विक्रम से पराक्रम और वीर्य से शक्ति समझना चाहिए । चेष्टा शारीरिक क्रिया को कहा जाता है । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः—यहाँ उपलक्षण में तृतीया विभक्ति है । ज्ञानं--तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं—शिल्पादि ज्ञानं; अथवा ज्ञानं--शास्त्रज्ञानं, विज्ञानं--ज्ञान का निश्चय । आदि शब्द से स्मृति आदि का ग्रहण

किया जाता है। आहार के पचने पर वातादि दोषों के प्रकोप के समान भूतोन्माद का काल (वेग) अनियत (अनिश्चित) होता है। 'अनियत' के स्थान पर 'नियत' पाठ भी मिलता है. वहाँ आगे कहे गये 'देवग्रहाः पौर्णमास्याम्' इत्यादि के अनुसार नियत तिथि का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर 'भूत' शब्द से आगे कहे गये सभी देवग्रहादिकों को समझना चाहिए ॥ १७ ॥

देवजुष्टोन्माद

सन्तुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो
निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी ।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता,
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ १८ ॥

(सु. उ. ६०. ८)

देवग्रह से पीड़ित उन्मादरोगी संतोषवान्, स्नान-आचमन आदि से पवित्र, दिव्य पुष्पमालाओं के गन्ध से युक्त, तन्द्रारहित, सत्यवादी, संस्कृत बोलने वाला, तेजोयुक्त, स्थिरनयनयुक्त (निमेषरहित), वरप्रदाता (दूसरों को आशीर्वाद देने वाला) तथा ब्राह्मणों का आदर करने वाला होता है ॥ १८ ॥

देवजुष्टमाह—संतुष्ट इत्यादि। अतिदिव्यमाल्यगन्ध इति। अतिमात्रो दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा। निस्तन्द्रीरनिद्रः। अवितथं सत्यम्। विदेहेऽपि-'निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषिणम्' इति पठितम्। ब्रह्मण्यो ब्रह्मणानुरक्तः। देवजुष्टो देवग्रहपीडितः। देवग्रहणेन गणमातृकादयोऽपि ग्राह्याः। विदेहेऽपि पठ्यते-'क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः। निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः' इति ॥ १८ ॥

सरोज व्याख्या—देवजुष्टोन्माद का लक्षण कहते हैं—संतुष्ट इत्यादि। अतिदिव्यमाल्यगन्धः—जिसके शरीर से अतिदिव्य पुष्पमालाओं की सुगन्ध आती हो। निस्तन्द्री—निद्रारहित, अवितथम्—सत्यभाषी। आचार्य विदेह भी कहते हैं कि निद्रारहित, सत्यभाषी एवं संस्कृत न जानते हुए भी धाराप्रवाह बोलने वाला हो। ब्रह्मण्यो—ब्राह्मणों का आदर करने वाला हो। ऐसे व्यक्ति को देवजुष्ट अर्थात् देवग्रह से पीड़ित समझना चाहिए। देव शब्द से देवताओं के गण और मातृकाओं का भी ग्रहण करना चाहिए। गणमातृकादिपीड़ित उन्माद रोगी का लक्षण विदेह ने बतलाया है—रोगी क्रोधी एवं शिथिल अङ्गों वाला होता है, उसके मुख से लालास्राव निकलता है, मुख कान्तिहीन हो जाता है, निद्रा अधिक आती है, शरीर में कम्पन होता है और रोगी मूक (शान्त) रहता है ॥ १८ ॥

देवशत्रु(दानव)जुष्टोन्माद

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता,
जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।
सन्तुष्टो न भवति चान्नपानजातै-
र्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥ १९ ॥

(सु. उ. ६०. ९)

दानव ग्रह से पीड़ित उन्माद रोगी को पसीना अधिक आता है। वह ब्राह्मण, गुरु एवं देवताओं का निन्दक होता है। जिह्माक्ष (कुटिल दृष्टिवाला) निर्भय, विमार्गदृष्टि (श्रुतिधर्मनिन्दक), अधिक खाने पीने पर भी सन्तुष्ट न रहने वाला तथा दुष्टात्मा (पापबुद्धि) होता है ॥ १९ ॥

देवशत्रुजुष्टमाह—संस्वेदीत्यादि ॥ १९ ॥

सरोज व्याख्या--देवशत्रुजुष्ट के लक्षण कहते हैं—संस्वेदीत्यादि ॥ १९ ॥

गन्धर्वग्रहजुष्टोन्माद

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी,
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन् वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं,
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २० ॥

(सु. उ. ६०. १०)

गन्धर्व ग्रह से पीड़ित मनुष्य चिन्तादि से रहित, संतुष्ट मन वाला, नदी के तटों एवं उदानों के मध्य भाग में रहने वाला, अच्छे आचरण वाला, गायन गन्ध एवं माला से प्रेम करने वाला, अतीव सुन्दर रूप से नृत्य करता हुआ, मन्द-मन्द मुस्कराता है, किन्तु बोलता कम है ॥ २० ॥

गन्धर्वाविष्टमाह—हृष्टेत्यादि। पुलिनं स्रोतोज्झितं तटम्, अन्तरं मध्यं विशेषो वा। स्वाचारोऽनिन्दिताचारः। प्रियेत्यादि। प्रियाणि परि सर्वतो गीतगन्धमाल्यानि यस्य स तथा। नृत्यन्नित्यादि। चारु (यथा भवति तथा) नृत्यन्नल्पशब्दं यथा भवति तथा प्रहसतीति योज्यम् ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—गन्धर्वारिष्ट के लक्षण कहते हैं--हृष्टेत्यादि। जल छोड़े तट को पुलिन कहा जाता है। वनान्तर—वन का मध्य भाग अथवा वनविशेष। स्वाचारः--अनिन्दित आचार। प्रियेत्यादि--जिसको संगीत, गन्ध एवं माला प्रिय हों, नृत्यन्नित्यादि---सुन्दर ढंग से नृत्य करता हो, मन्द-मन्द मुस्कराता हो एवं अल्पभाषी हो ॥ २० ॥

यक्षग्रहाविष्टोन्माद

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी,
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै,
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ।। २१ ।।

(सु. उ. ६०. ११)

यक्षग्रह से पीड़ित व्यक्ति की आँखें ताम्रवर्ण की होती हैं। वह सुन्दर, पतले एवं लाल वस्त्रों को धारण करता है, गम्भीर (अनाकुलित अन्तःकरण वाला), शीघ्र-गामी, अल्पभाषी, सहिष्णु (सहनशील) एवं तेजस्वी होता है तथा 'किसको क्या दूँ' पूछता रहता है ॥ २१ ॥

यक्षाविष्टमाह—ताम्राक्ष इत्यादि । प्रियेत्यादि । प्रियं शोभनं, तनु सूक्ष्मं रक्तं च वस्त्रं धर्तुं शीलं यस्य स तथा ।। २१ ॥

सरोज व्याख्या—यक्षाविष्ट के लक्षण कहते हैं—ताम्राक्ष इत्यादि । प्रिय (सुन्दर), तनु (सूक्ष्म—अत्यन्त पतला), रक्त (लाल रंग) का वस्त्र धारण करने का जिसका स्वभाव हो ॥ २१ ॥

पितृग्रहजुष्टोन्माद

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्,
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ।। २२ ।।

(सु. उ. ६०. १२)

पितृग्रहों से पीड़ित व्यक्ति शान्तस्वभाव का होता है, दाहिने कन्धे पर वस्त्र आदि रखकर कुश आदि के आसन पर पितरों को पिण्डदान एवं जलदान करता है। मांस, तिल, गुड़ और खीर जैसे पदार्थों के सेवन की इच्छा करता है तथा पितृभक्त होता है ॥ २२ ॥

पितृजुष्टमाह—प्रेतानामित्यादि । प्रेतानां मृतपितॄणां, संबन्धमात्रविवक्षया न चतुर्थी । दिशति ददाति । संस्तरेषु कुशपत्रादिरचितास्तरणेषु । अपसव्यवस्त्रो वामोत्तरीयः । मांसेप्सुरित्यादि । एतदभिधानप्रयोजनं यस्मिन् यस्येच्छा भवति तस्य तेनैव बलिर्दातव्यः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तद्भक्तः पितृभक्तः ॥ २२ ॥

सरोज व्याख्या—पितृजुष्ट उन्माद के लक्षण कहते हैं—प्रेतानामित्यादि ।

प्रेत से मृत पितरों का ग्रहण होता है। यहाँ पर केवल सम्बन्ध का उल्लेख होने के कारण चतुर्थी विभक्ति न होकर सम्बन्धसूचक षष्ठी (प्रेतानाम्) विभक्ति की गयी है। संस्तरेषु-पितरों के लिए कुशपत्रादि निर्मित संस्तरणों पर पिण्ड दिया जाता है। अपसव्यवस्त्र—दाहिने कन्धे पर वस्त्र रखता है। सामान्य रूप से वस्त्र (दुपट्टा, उत्तरीय आदि) एवं यज्ञोपवीत बायें कन्धे पर रखा जाता है। किन्तु श्राद्धकर्म के समय इसको दाहिने कन्धे पर रख लिया जाता है। रोगी भी ऐसा ही आचरण करता है। मांसेप्सु—मांस सेवन की इच्छा। इसका अभिप्राय यह है जैसी इच्छा होती है, उसे वैसी ही बलि रोगशान्त्यर्थ देनी चाहिए। ऐसा ही अन्यत्र समझना चाहिए। तद्भक्तः—पितृभक्तः ॥ २२ ॥

सर्पग्रहजुष्टोन्माद

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत् कदाचित्
सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ २३ ॥

(सु. उ. ६०. १३)

सर्पग्रह से पीड़ित व्यक्ति कभी-कभी सर्प के समान पृथ्वीपर लेटकर छाती के बल सरकता है और उसी प्रकार जीभ से ओठों को चाटता है, क्रोधालु होता है और उसे गुड़, मधु, दूध एवं खीर प्रिय लगते हैं ॥ २३ ॥

नागाविष्टमाह—यस्त्वित्यादि। प्रसरति सर्पवदिति। उरसा गच्छति। सृक्कण्यौ ओष्ठप्रान्तौ। सृक्कणीशब्द ईकारान्तोऽप्यस्तीत्युन्नेयम् ॥ २३ ॥

सरोज व्याख्या—नागाविष्ट उन्माद के लक्षण कहते हैं—यस्त्वित्यादि। प्रसरति अर्थात् स ं के समान छाती के बल सरकता है। ओष्ठ प्रान्त (सिरों) को 'सृक्कणी' कहा जाता है। सृक्कणी शब्द ईकारान्त भी होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥ २३ ॥

राक्षसग्रहजुष्टोन्माद

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी,
शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥ २४ ॥

(सु. उ. ६०-१४)

राक्षसग्रह से पीड़ित व्यक्ति मांस, रक्त एवं विविध प्रकार के मद्यों का इच्छुक,

निर्लज्ज (लज्जारहित अतिनिष्ठुर, (दयारहित), अतिशूर, क्रोधालु, विपुलबल (प्रभूतबल) वाला, निशाविहारी (रात्रि में विहार करने वाला), एवं शुचिद्वेषी (स्वच्छता का द्वेषी) होता है ।। २४ ।।

राक्षसाविष्टमाह--मांसेत्यादि । निशाविहारी निशायामेव भ्रमणशीलः । राक्षसशब्देन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि ग्राह्याः । तथा राक्षसानन्तरं विदेहोऽपि पठति, 'देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः । आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेवितः' इति ।। २४ ।।

सरोज व्याख्या—राक्षसपीड़ित उन्माद के लक्षण कहते हैं—मांसेत्यादि । निशाविहारी-रात में भ्रमण करता है । 'राक्षस' शब्द से ब्रह्मराक्षस आदि का ग्रहण करना चाहिए । आचार्य विदेह ने राक्षस के पश्चात् ब्रह्मराक्षसोन्माद का लक्षण पृथक् से कहा है--ब्रह्मराक्षसाविष्ट व्यक्ति देवताओं, ब्राह्मणों एवं गुरुओं से द्वेष करता है, वेद-वेदाङ्ग की निन्दा करता है, अपने को कष्ट देता और हँसता है ।।२४।।

पिशाचग्रहजुष्टोन्माद

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी-
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी,
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ।। २५ ।।
(सु. उ. ६०. १५)

पिशाच ग्रह से पीड़ित मनुष्य अपनी भुजाएँ ऊपर उठाये रहता है अथवा नग्न रहता है, दुर्बल एवं शरीर से रूक्ष होता है, शीघ्र बोलने वाला, दुर्गन्धित शरीर वाला, बहुत गन्दा रहने वाला, विरुद्ध चेष्टा करने वाला, एवं रोता हुआ घूमने वाला होता है ।। २५ ।।

पिशाचाविष्टमाह—उद्धस्त इत्यादि । उद्धस्त ऊर्ध्वबाहुः, उद्वस्त्र इति पाठान्तरं न्याय्यं, विदेऽहेपि दिगम्बरपाठात्; उद्वस्त्रो नग्नः । परुषो रूक्षः । लोलः सर्वस्मिन्नन्ने पाने च सतृष्णः । लोलुरिति पाठान्तरे स एवार्थः । व्याचेष्टन्निति । विरुद्धमाचेष्टन् ।। २५ ।।

सरोज व्याख्या—पिशाचाविष्ट उन्माद के लक्षण कहते हैं--उद्धस्त इत्यादि । उद्धस्तः—ऊर्ध्वबाहु—अर्थात् रोगी अपनी भुजाएँ उठाये रखता है । उद्वस्त्रः—यह पाठान्तर भी प्रतीत होता है । आचार्य विदेह ने भी 'दिगम्बर' ऐसा पाठ किया है, इसलिए 'उद्वस्त्र' का 'नंगा रहने वाला' अर्थ होता है । परुष—रूक्ष शरीर, लोलः—सभी प्रकार भोजन एवं पेय पदार्थों का लोभी । 'लोलुः' पाठान्तर का भी वही अर्थ होता है । व्याचेष्टन्—विरुद्ध चेष्टा करने वाला ।। २५ ।।

असाध्य उन्माद के लक्षण

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही,
निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि ।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्,
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥ २६ ॥
(सु.उ.६०. १६)

जिसकी आँखें स्थूल (बड़ी-बड़ी) हो, जो जल्दी-जल्दी चलता हो, जो मुख से निकले फेन को चाटता हो, जिसे निद्रा अधिक आती हो, जो अचानक गिर पड़ता हो या काँपता हो, एवं जो पर्वत, हाथी अथवा वृक्ष से गिरकर उन्मत्त हुआ हो, उसे असाध्य समझना चाहिए । इसके अतिरिक्त तेरह वर्ष से अधिक पुराना उन्माद भी असाध्य होता है ॥ २६ ॥

त्रिविधं हि हिंसाक्रीडापूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति । तदुक्तं-'अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च' (सु. उ. च. ६०) इति । तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति, तस्य श्लोकार्धद्वयेन लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इत्यादि । स्थूलाक्षो विकृतनेत्र इति जेज्जटः, द्रुतमटनो द्रुतगतिः, अत एव त्वरितगतिरिति जेज्जटेन पठितम् । यश्चेत्यादि । पर्वतादिपतितः सन् यो गृह्यते सोऽप्यसाध्यः, नगो वृक्षः । स सर्व एवोन्मादी त्रयोदशेऽब्दे देवतागृहीतोऽप्यसाध्यः । विदेहेऽधिकमप्यसाध्यलक्षणं पठ्यते—'मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः स्रस्ताक्षः स्रुतनासिकः । रूक्षजिह्वः पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बलः' इत्यादि ॥ २६ ॥

सरोज व्याख्या--आयुर्वेद में देवादि ग्रहों के आवेश का कारण हिंसा, क्रीडा (रति) एवं पूजा बतलाया गया है । जैसा कि कहा भी गया है--

"अशुचिं भिन्नमर्यादां क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् ।
हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च" ॥
(सु. उ. ६०)

अर्थात् गन्दा रहने वाले एवं मर्यादा को तोड़ने वाले, व्रणयुक्त अथवा व्रणरहित मनुष्य को ग्रह हिंसा, विहार (रति) एवं सत्कार (पूजा) के लिये मारते हैं । इस श्लोक में कथित लक्षण हिंसार्थ आवेश के सूचक हैं, इसलिए असाध्यताबोधक हैं । उस असाध्यता के लक्षण इन दो श्लोकार्धों में कहते हैं—स्थूलाक्षः इत्यादि । स्थूलाक्ष-विकृत नेत्र, ऐसा आचार्य जेज्जट का मत है । द्रुतम् अटनः— जल्दी चलने वाला । इसलिए जेज्जट ने 'त्वरितगति' ऐसा कहा है ।

यश्चेत्यादि--पर्वतादि से गिरकर जो उन्मत्त हो जाय, वह असाध्य होता है। नगो-वृक्ष। सभी उन्माद रोगी तेरहवें वर्ष देवता से गृहीत हुए भी असाध्य हो जाते हैं। विदेह तन्त्र में कुछ अधिक असाध्य लक्षण बतलाया है--मूत्र मार्ग से रक्त आना, आँख एवं नाक से स्राव निकलना, जिह्वा का रूक्ष होना, एवं अति-दुर्बलता, उन्माद रोग का असाध्य लक्षण होता है ॥ २६ ॥

देवादि ग्रहों के आक्रमण का काल

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ २७ ॥
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥ २८ ॥
(सु. उ. ६०. १७-१८)

प्रायः देवग्रह पूर्णिमा के दिन, असुर ग्रह प्रातः या सायंकाल, गन्धर्वग्रह अष्टमी के दिन, यक्ष प्रतिपदा के दिन, पितृग्रह आमावस्या के दिन, सर्पग्रह पञ्चमी के दिन, राक्षसग्रह रात्रि में, तथा पिशाचग्रह चतुर्दशी को आक्रमण करते हैं ॥

देवादीनां ग्रहणकालमाह—देवग्रहा इत्यादि। पौर्णमास्यां पूर्णिमायाम्। कृष्णक्षयेऽमावास्यायाम्। प्रायोग्रहणादन्यत्रापि। तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं तत्तिथौ बलिदानार्थम् ॥ २७-२८ ॥

सरोज व्याख्या—देवादि ग्रह के आक्रमण काल को कहते हैं—देवग्रहा इत्यादि। पौर्णमास्याम्-पूर्णिमा का दिन। कृष्णक्षये- आमावस्या के दिन। 'प्रायः' से नियत समय से अतिरिक्त समय में भी ग्रह आविष्ट होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। तिथिनिर्देश करने का प्रयोजन उन ग्रहों का लक्षण बताने के लिए एवं उन-उन तिथियों में बलि देने के लिए किया गया है ॥ २७-२८ ॥

ग्रहों के आवेश का प्रकार

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक्।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः ॥ २९ ॥
(सु. उ. ६०. १९)

जैसे दर्पण में छाया (प्रतिबिम्ब) प्राणियों में सर्दी एवं गर्मी, सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें, एवं शरीर में आत्मा अदृश्य रूप से प्रवेश करता है—वैसे ही ग्रह भी मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करता है ॥ २९ ॥

ननु यदि ग्रहाविष्टानां पुंसामुन्मादः स्यात्, तदा विशन्तो ग्रहाः कुतो न लक्ष्यन्ते ? इत्यत आह—दर्पणादीनित्यादि। अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वान्न दृश्यन्त इत्यर्थः। आदिशब्देन प्रकारवाचिना जलतैलादीनां ग्रहणम्। छाया प्रतिकृतिः, शीतोष्णमिति कर्तृपदं, प्राणिन इति कर्मपदम्। स्वमणिमिति सूर्यकान्तम्। देहधृगात्मा, मन इति जेज्जटः। अनेकदृष्टान्तप्रयोजनं जेज्जटलिखितं तच्चात्रानुपयुक्तत्वेन विस्तरभयाच्च न लिखितम्। देवशब्देन चात्र देवस्यानुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवानां मनुष्यशरीरेणाशुचिनः सम्बन्धाभावात्। यदाह सुश्रुतः—

'न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न ते मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपेताः'॥
(सु. उ. ६०) इति ॥ २९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतयां मधुकोशव्याख्यायामुन्मादनिदानं समाप्तम् ॥

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥ ३० ॥

(तपांसि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम्।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम्॥
न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः॥३२॥
तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तथाऽऽविशन्ति॥)

ये ग्रह शरीर में प्रवेश होकर असहनीय पीड़ा उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

सरोज व्याख्या—अब यहाँ शंका होती है कि यदि ग्रह के आवेश से मनुष्य को उन्माद रोग होता है, तो शरीर में प्रवेश करते समय ग्रह दिखलाई क्यों नहीं पड़ते ? इसका उत्तर देते हैं—दर्पणादीनित्यादि। हम लोगों के नेत्र इस योग्य नहीं है कि ग्रहों का दर्शन प्रवेश के समय कर सकें। 'आदि' शब्द से प्रकारवाची जल तैल आदि का ग्रहण करना चाहिए। छाया से प्रतिकृति (प्रतिबिम्ब) लेना चाहिए। 'शीतोष्ण' कर्तृवाचक पद तथा 'प्राणिनः' कर्म पद है। स्वमणि--सूर्यकान्त, देहधृग्—आत्मा, जेज्जट इससे मन ग्रहण करते हैं। जेज्जट द्वारा प्रयुक्त अनेक दृष्टान्तों का प्रयोजन विस्तारभय से नहीं कहा जा रहा है। यहाँ पर 'देव' शब्द से देवताओं के अनुचर का, जो तेज में देवताओं के समान होते हैं, ग्रहण करना चाहिए। देवता गुण में उत्कृष्ट होते हैं, वे मनुष्यों के अपवित्र शरीर में प्रवेश नहीं करते। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि वे देवादि मनुष्यों के साथ नहीं बैठते और न

मनुष्यों के शरीर में प्रवेश ही करते हैं, किन्तु जो लोग फिर भी अज्ञानवश मानव शरीर में इनका प्रवेश मानते हैं, उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ ही मानना चाहिए। (सु. उ. ६०)।

इन देवादि ग्रहों में तीव्र तप, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य तथा अष्ट सिद्धियाँ- १. अणिमा, २. महिमा, ३. गरिमा, ४. लघिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशित्व एवं वशित्व नित्य रहती हैं, जो अपने प्रभावानुसार व्यष्टि (आंशिक) अथवा समष्टि (समस्त) रूप में प्रकट होते हैं।

वे देवता आदि मनुष्यों के साथ नहीं बैठते और मनुष्यों के शरीर में प्रवेश नहीं करते, जो लोग अज्ञानवश उनका प्रवेश होना मानते हैं, उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ या बहिष्कृत समझना चाहिए।

उन ग्रहों के असंख्य परिचारक हैं और जो रक्त, वसा और मांस के भक्षी है, वे अत्यन्त भयानक और रात्रि में भ्रमण करने वाले होते हैं, वे ही मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं ॥ २९-३३ ॥

उन्मादनिदान समाप्त ॥

अपस्मारनिदानम्

हेतु एवं सम्प्राप्ति

(चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥ १ ॥)

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

(चिन्ता, शोक आदि कारणों से प्रकुपित वातादि दोष हृदय (मस्तिष्क) के मनोवाही स्रोतों में स्थित होकर स्मरण शक्ति का विनाश करके अपस्मार रोग उत्पन्न करता है ॥ १ ॥)

दोषों के प्रकोप से स्मृति नष्ट हो जाने पर आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, नेत्रविकृति, हाथ-पैर का पटकना तथा मुँह से झाग आना आदि लक्षण होते हैं। इस व्याधि को अपस्मार कहा जाता है। यह चार प्रकार की होती है ॥ १ ॥

मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समानचिकित्स्यत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारारम्भः । तस्य निरुक्तिः सुश्रुतेन कृता—'स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्' (सु. उ. अ. ६१) इति । स्मृतिश्च ज्ञानोपलक्षणम्, तेनानुभवागमोऽपि बोध्यः ।

तस्य सामान्यलक्षणमाह—तमःप्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभाव इत्यर्थः। संरम्भो नेत्रविकृतिः, हस्तपादादिक्षेपणादिकं च ॥१।

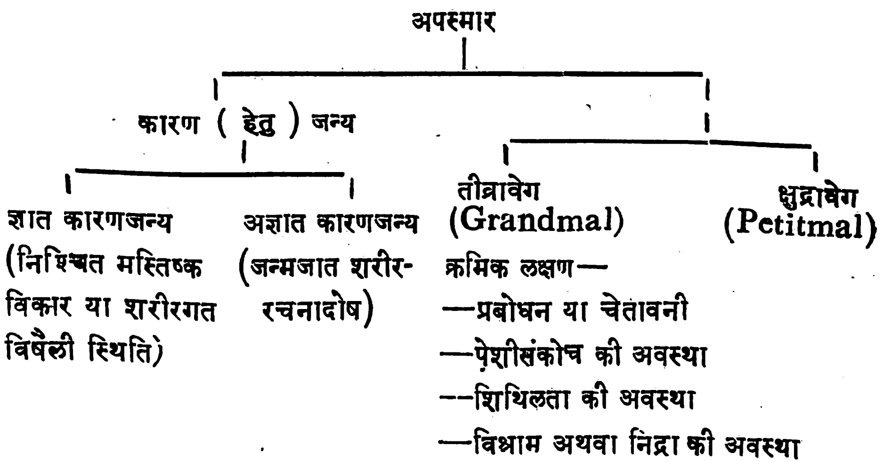
सरोज व्याख्या—अपस्मार एवं उन्माद दोनों में मन के दूषित होने तथा दोनों की एक समान चिकित्सा होने से उन्माद के अनन्तर अपस्मार की व्याख्या आरम्भ करते हैं। अपस्मार की निरुक्ति सुश्रुत ने यों की है—भूतार्थज्ञान (व्यतीत हुए एवं अनुभवजन्य ज्ञान) को स्मृति कहते हैं, 'अप' उस स्मृति के अपवर्जन (नाश) को कहते हैं। अतः स्मृति को नष्ट करने वाले इस रोग को 'अपस्मार' कहते हैं। (सु. उ. ६१.३)। स्मृति ज्ञान का उपलक्षणमात्र होता है, इससे अनुभवजन्य ज्ञान को स्मृति जानना चाहिए। उसका सामान्य लक्षण कहते हैं—तमः प्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेश अर्थात् आँख के सामने अँधेरा छा जाता है अथवा ज्ञान का अभाव हो जाता है। संरम्भः—नेत्र में विकृति हो जाती है और हाथ-पाँव आदि पटकने लगता है ॥ १ ॥

विमर्श—

सम्प्राप्ति—चिन्ता, शोक आदि कारणों से प्रकुपित वातादि दोष
↓
हृदय (मस्तिष्क)
↓
मनोवाही स्रोत
↓
स्मरण शक्ति का विनाश
↓
अपस्मार रोगोत्पत्ति

दोष दूष्य अधिष्ठान—
दोष—
शारीर—वात
मानस—रज एवं तम
दूष्य—स्मृति
अधिष्ठान—हृदय एवं मनोवाही स्रोतस् ।

पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान में अपस्मार का वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से किया गया है—



पूर्वरूप

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥

(सु. उ. ६१. ७)

हृदय में कम्पन, शून्यता की प्रतीति, पसीना आना, चिन्ता, मूर्च्छा, इन्द्रियों की क्रिया एवं निद्रानाश इसका पूर्वरूप होता है ॥ २ ॥

पूर्वरूपमाह--हृत्कम्प इत्यादि। शून्यता हृदयस्यैव। ध्यानं जिह्मायनम्। अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या—अपस्मार के पूर्वरूप कहते हैं—हृत्कम्प इत्यादि। शून्यता शब्द से हृदय की शून्यता समझनी चाहिए। शून्य हृदय होकर रोगी पड़ा रहता है। ध्यानम्—विकृति दृष्टि से देखता है, मूर्च्छा—मनोमोह, प्रमूढता—इन्द्रियमोह ॥ २ ॥

वातज अपस्मार

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ३ ॥

(सु. उ. ६१. ९)

वातज अपस्मार का रोगी काँपता है, दाँत किटकिटाता है, मुख से फेन निकलता है तथा जोर-जोर से श्वास लेता है। रोगी को दौड़ा पड़ने के पहले रूक्ष लाल एवं कृष्ण रंग की वस्तुएँ दिखलाई पड़ती है। ३ ॥

वातिकलक्षणमाह--कम्पत इत्यादि। श्वसिति खरश्वासो भवति। रूपाणीति। प्राणिनः, 'नीलो मामनुधावति'--इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिके 'पीतो मामनुधावति'--इति, एवं श्लैष्मिके 'श्वेतो मामनुधावति' इति ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—वातज अपस्मार का लक्षण कहते हैं—कम्पत इत्यादि। श्वसिति—श्वास का वेग बढ़ जाता है। रूपाणि - ऐसा मालूम पड़ता है कि नीलवर्ण का आदमी रोगी का पीछा कर रहा हो। ऐसा सुश्रुत कहते हैं। इसी तरह पित्त अपस्मार में पीले रंग का व्यक्ति और कफज में सफेद रंग का व्यक्ति पीछा कर रहा है, ऐसा रोगी समझता है ॥ ३ ॥

पित्तज अपस्मार

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शकः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ४ ॥

(च. चि. १०. १०)

पित्तज अपस्मार में मुंह से निकलने वाला फेन (झाग), शरीर, मुख एवं नेत्र पीले पड़ जाते हैं। सभी वस्तुएं पीली एवं लाल दिखलाई पड़ती है। प्यास अधिक लगती है, रोगी गर्मी से पीड़ित रहता है और उसे सम्पूर्ण संसार में अग्नि फैली हुई मालूम पड़ती है ॥ ४ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि। पीतासृग्रूपदर्शक इति पीतलोहितवर्णः समस्तवस्तुदर्शी। सतृष्णेत्यादि। सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्तलोकदर्शी चेति समासः ॥ ४ ॥

सरोज व्याख्या—पैत्तिक अपस्मार के लक्षण कहते हैं—पीतेत्यादि। पीतासृग्रूपदर्शकः—पित्तापस्मार में रोगी प्रत्येक वस्तु पीली एवं लाल रग को देखता है। सतृष्णोष्णः—रोगी तृष्णा एवं गर्मी से पीड़ित रहता है। सारा संसार उसको आग से जलता हुआ दिखलाई पड़ता है ॥ ४ ॥

कफज अपस्मार

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ ५ ॥

(च. चि. १०.११)

कफज अपस्मार में फेन, शरीर, मुँह एवं नेत्र सफेद हो जाता है। रोगी का शरीर शीतल, भारी एवं रोमाञ्चयुक्त होता है। सभी वस्तुएँ सफेद दिखलायी पड़ती है। अपस्मार का वेग चिरकाल तक रहता है ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—शुक्लेत्यादि। हृष्टाङ्गजो हृष्टरोमा। चिरादित्यनेन वातपित्तयोरचिरेण वेगमोक्ष इति सूचयति ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—कफज अपस्मार के लक्षण कहते हैं—शुक्लेत्यादि। हृष्टाङ्गजः—रोगी को रोमाञ्च हो जाता है। अङ्गज से रोमों को लेना चाहिए। चिरात्—कफज अपस्मार में चिरकाल के पश्चात् रोग का दौरा समाप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वातज एवं पित्तज में शीघ्र ही वेगमोक्ष होता है ॥ ५ ॥

सन्निपातज अपस्मार एवं उसकी असाध्यता

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥
प्रतिस्फुरन्तं बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ ७ ॥

(च. चि. १०.१२)

उपर्युक्त सभी लक्षणों से मिला हुआ त्रिदोषज अपस्मार होता है। यह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त क्षीण (दुर्बल) रोगियों में उत्पन्न एवं चिरकालिक (पुराना) अपस्मार असाध्य होता है ॥ ६ ॥

बार-बार वेग आना, रोगी का दुर्बल होना तथा भ्रू एवं नेत्रों की विकृति होना—इन लक्षण से युक्त रोगी इस अपस्मार रोग से मर जाता है ॥ ७ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—सर्वैरित्यादि। स चेति। सान्निपातिकः।

क्षीणस्यैकदोषजोऽप्यसाध्यः। एवमनवश्च बोध्यः। प्रस्फुरन्तं प्रकम्पन्तम्। नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमिति। नेत्राभ्यां विकृतिमासादयन्तम्॥ ६-७॥

सरोज व्याख्या—सन्निपातज अपस्मार के लक्षण कहते हैं—सर्वैरित्यादि। स चेति--यहाँ सः शब्द से सन्निपातज अपस्मार लेना चाहिए। क्षीणस्य—यदि रोगी क्षीण (दुर्बल) होगा, तो उसका एक दोषज अपस्मार भी असाध्य होगा। इसी तरह अनव (चिरकालीन) अपस्मार का सम्बन्ध जानना चाहिए। प्रस्फुरन्तम्—बार-बार काँपना। नेत्राभ्याम् विकुर्वाणम्—नेत्रों में विकृति होने से रोगी नष्ट हो जाता है॥ ६-७॥

अपस्मार का प्रकोप काल

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम्॥ ८॥
(च० चि० १०.१३)

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः॥ ९॥
(सु. उ. ६१. १९।२-२०।१)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽपस्मारनिदानं समाप्तम्॥ २१॥

कुपित वातादि दोषों के कारण रोग का वेग पन्द्रह दिन, बारह दिन अथवा एक माह के बाद होता है या अन्य समय भी होता है॥ ८॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु में भूमि में पड़े हुए बीज शरद् काल में अंकुरित होते हैं, उसी प्रकार व्याधियों के बीजरूपी कारण भी निश्चित समय पर अपना प्रभाव दिखाते है॥ ९॥

अपस्मारप्रकोपकालमाह—पक्षादित्यादि। पक्षात् पैत्तिकः, द्वादशाहाद् वातिकः, मासाच्छ्लेष्मिकः। द्वादशाहानन्तरं पक्षे वक्तव्ये तत्पूर्वं पक्षाभिधानं, तेनात्राऽधिककालेनापि वेगं करोतीत्याहुः। किंचिदर्थान्तरमिति। उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति। ननु, वेगं कृत्वाऽपस्मारारम्भको दोषोऽस्त्येव, तत् कुतः सर्वदा वेगं न कुरुते, द्वादशाहादिष्वेव कुरुत इत्याह—देवे वर्षतीत्यादि। अयमभिसन्धिः—तेजोऽवनीपवनपयःसनाथं विद्यमानमपि बीजं कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति, कालविशेषस्य सहकारित्वात्; तथा गतस्याप्यपस्मारस्य पुनरुद्भवः संभवति शरदीति। तत्कालोचितबीजाभिप्रायेण, तेन कानिचिद्बीजानि वर्षास्वपि भवन्तीति। अयं च न्यायश्चातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्यः॥ ८-९॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामपस्मारनिदानम्॥ २१॥

सरोज व्याख्या—अपस्मार के प्रकोपकाल का निर्देश करते हैं—पक्षादित्यादि। पित्तज अपस्मार का वेग पन्द्रह दिन बाद आता है, वातज का बारह दिन के पश्चात् और कफज का एक माह पश्चात् वेग आता है। पूर्वोक्त श्लोक में द्वादशाह के पश्चात् पक्ष का निर्देश करना चाहिए था, किन्तु यहाँ पर ऐसा न कहने से स्पष्ट है कि निर्दिष्ट काल से अधिक काल पश्चात् भी वेग आता है। किञ्चिदथान्तरम्—दोषों के तारतम्य (न्यूनाधिकता) से रोग निर्दिष्ट काल से पहले भी हो जाता है।

अब शंका होती है कि वेग कर चुकने के पश्चात् भी अपस्मार का आरम्भिक दोष विद्यमान रहता है, तो सर्वदा वेग क्यों नहीं उत्पन्न करता रहता ? बारह अथवा पन्द्रह दिन के पश्चात् क्यों करता है ? इसका उत्तर देते है—देवे वर्षतीत्यादि। तेज, पृथ्वी, वायु एवं जल का संयोग होने पर भी बीज वर्षाऋतु में न उत्पन्न होकर कालविशेष (शरद् ऋतु) में उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दोष भी वेग आने के पश्चात् पुनः उद्भव-हेतु काल की प्रतीक्षा करते हैं। शरदीति—यहाँ पर शरद् ऋतु का उल्लेख उन बीजों के लिये किया गया है, जो कि शरद् ऋतु में अंकुरित होते हैं। इसी तरह वर्षा आदि ऋतुओं में समझना चाहिए, चातुर्थिक ज्वर आदि में भी यही नियम (न्याय) जानना चाहिए।

अपस्मार में प्रयोगशालीय परीक्षण—

(१) मल-परीक्षण—एसकेरिस (Ascaris) या टेपवर्म के लार्वा की उपस्थिति।

(२) ई. ई. जी. (E. E. G.)।

(३) कैटस्केन—ट्यूबरकुलोमा, एसकैरिस या टेपवर्म का लार्वा, मस्तिष्क-अर्बुद एवं रक्तस्राव आदि ॥ ८-९ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

वातव्याधिनिदानम्

वातव्याधि का सामान्य निदान एवं सम्प्राप्ति

रूक्षशीताल्पलध्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥ १ ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥
वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माबाधाद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥ ३ ॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४ ॥
(च. चि. २८. १६-१९)

रूक्ष, शीत, मात्रा से कम एवं लघु भोजन के निरन्तर सेवन करने से, अति मैथुन एवं रात्रि में जागरण करने से, विषम अन्य उपचार से अर्थात् वमनादि पञ्चकर्मों का अनुचित रूप से सेवन या देश और काल के विरुद्ध असात्म्य आहार-विहार का सेवन करने से दोषों (मलादि) का या रक्त का अधिक मात्रा में निर्हरण होने से, लंघन (कूदने), प्लवन (तैरने), अधिक चलने, अधिक व्यायाम आदि चेष्टाओं को उचित रूप से न करने से, रस रक्तादि धातुओं का क्षय, चिन्ता, शोक, रोगजनित दुर्बलता, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से, शरीर में आम दोष का सञ्चय होने से, चोट लगने या उपवास करने से, हृदय आदि मर्म स्थानों में चोट लगने तथा हाथी, ऊँट तथा घोड़ा आदि तीव्र सवारियों से गिर जाने के कारण शरीर में प्रकुपित हुआ वायु शरीर के रिक्त स्रोतों को परिपूर्ण करके विविध प्रकार की सर्वाङ्गीण एवं एकाङ्गिक व्याधियों को उत्पन्न करता है ॥ १-४ ॥

अपस्मारवद्वातविकाराणामप्याक्षेपकादीनां रोगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं वाताव्याध्यारम्भः । ननु, वातव्याधिरिति कोऽर्थः ? किं वात एव व्याधिर्वातव्याधिः, उत वातेन जनितो व्याधिर्वातव्याधिः ? आद्ये स्वस्थेष्वपि प्रसङ्गः, द्वितीये ज्वरादिषु ? उच्यते; व्याधिपदसामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःखकारी वातो वातव्याधिः । उक्तं हि सुश्रुते–'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च' (सु. नि. अ. १) इति । वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणीयम्, तेनोभयत्राप्रसङ्गः । यच्चोक्तम्—'कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेक

च केवलः । कुर्यादाक्षेपकम्' इत्यादि; तत्रारम्भको वायुरेव, पित्तकफौ त्वनुबन्धाविति न विरोधः स्यात् । चरके हि द्विविधा व्याधय उक्ताः—सामान्यजा नानात्मजाश्चेति । तत्र सामान्यजा ये वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जयन्ते, यथा—ज्वरादयः, नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा—आक्षेपकादयो ये वातेनैव जन्यन्ते, न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा; तथौषचोषादयः पित्तेनैव, न वातेन कफेन च; तथा तृप्त्यादयः कफेनैव, न वातेन, न च पित्तेन; एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ? उच्यते— वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वाद्दाश्वेवात्ययकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानम्, न तु कफपित्तव्याध्यभिधानम् । अत एव चरकसुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टः, न तु पित्तकफरोगाध्यायः । चन्द्रिकाकारस्त्वाह—पित्तकफयो रूपरसादियोगाद् दूष्यविशेषयोगाद्वा हरिद्राचूर्णसंयोगवदत्यन्तविसदृशा रसादिमन्तो विकाराः पृथङ्नामानो जायन्ते, वायोस्तु रूपरसाद्यभावाद् दूष्यनिरपेक्षा आक्षेपकादयो वातादनतिभिन्नरूपा नानात्मजाः, तेन वातविकाराः पृथगुच्यन्ते, न तु पित्तकफविकारा इति । एतत्तु बकुलकष्प्रभृतयो नानुमन्यन्ते, चरकविरोधात् । चरके हि पित्तकफयोरपि नानात्मजा उक्ताः, यथा—'अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः' (च. सू. अ. २०) इति । सुश्रुतेन तु शल्याध्यायिना पित्तकफनानात्मजा न दर्शिताः, पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेणेति । लङ्घनमुत्पतनम्, उपवासस्यानशनशब्देन वमनादेश्च दोषस्रवणशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् । प्लवनं बाहुभ्यां जलप्रतरणम् । आमादिति आमरसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरणद्वारेण न तु स्वरूपेण; आयासादिति पाठान्तरमयुक्तं, तस्य व्यायामशब्देनोक्तत्वात् । मर्माबाधान्मर्माभिघातात् । अपतंसनं, गजादिभ्यः शीघ्रयानेन पतनं उच्छ्वासावरोधो वा; धातुकर्षणमिति खरनादः ॥ १-४ ॥

सरोज व्याख्या—अपस्मार के समान आक्षेपक आदि वातव्याधि वेगकारक होने से अपस्मार के पश्चात् वातव्याधि का व्याख्यान आरम्भ करते हैं । अब प्रश्न होता है कि 'वातव्याधि' शब्द का क्या अर्थ होता है ? क्या 'वात एव व्याधिः' अर्थात् 'वात ही व्याधि है'—ऐसा विग्रह किया जाय ? या 'वातेन जनितो व्याधिः' अर्थात् 'वायु से उत्पन्न किया जाने वाला रोग'—ऐसा अर्थ किया जाय ? यदि पहला अर्थ मान लिया जाय कि 'वात ही व्याधि है' तो स्वस्थ व्यक्तियों में 'वातव्याधि' की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी, कोई व्यक्ति स्वस्थ नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि वायु की उपस्थिति प्राणिमात्र में होती है, यदि दूसरा विग्रह माना

जाय, तो ज्वरादि रोग भी वातव्याधि माने जा सकते हैं; क्योंकि वे सब वात से भी उत्पन्न होते हैं ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि 'व्याधि' पद का समान अधिकरण अथवा व्याधि पद का समान वाचक होने से इसका अर्थ विकृत और दुःखकारक वात को वातव्याधि कहा जाता है। जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है—"पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च। (सु. नि. १) अर्थात् पक्वाशयस्थ वात आन्त्रों में कूजन, शूल एवं आटोप करता है। (सु. नि. १)। अथवा असाधारण पद को जोड़ करके 'वातजनित असाधारण व्याधि को वात व्याधि' कहते हैं--ऐसा अर्थ करना चाहिए। ऐसा अर्थ करने से पूर्वोक्त दोनों दोष समाप्त हो जाते हैं। जो यह कहा जाता है कि 'कफ पित्त युक्त वायु अथवा केवल वायु आक्षेपक रोग को करता है', यहाँ पर वायु ही रोगारम्भक होता है, अन्य पित्त एवं कफ—ये दोनों अनुबन्ध (अप्रधान) है, अतः आपस में कोई विरोध नहीं होता।

चरक में दो प्रकार के व्याधि कही गयी हैं—(१) सामान्यजा एवं नानात्मजा। सामान्यज उसे कहते हैं, जो व्यस्त (प्रत्येक) या समस्त वातादि दोषों से उत्पन्न होती हैं, जैसे ज्वर आदि। नानात्मज उसे कहते हैं, जो नियत (निश्चित) रूप से केवल एक दोष से उत्पन्न हुआ करती हैं, जैसे आक्षेपक आदि[1]। ये वात से ही उत्पन्न होती हैं, पित्त एवं कफ इनको स्वतन्त्र रूप से नहीं उत्पन्न कर सकते। ओष, चोष आदि केवल पित्त से उत्पन्न होते हैं, वात और कफ स्वतन्त्र रूप से इनको उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी तरह तृप्ति आदि कफ से उत्पन्न होते हैं, वात और पित्त स्वतन्त्र रूप से इन रोगों को नहीं पैदा कर सकते।

अब प्रश्न होता है—वातव्याधि के समान स्वतन्त्रतया पित्तव्याधि एवं कफव्याधि क्यों नहीं कहा गया है ? इसका उत्तर देते है कि वायु अतिबलवान् एवं शीघ्रकारी होता है, इसके रोगों की संख्या अधिक होती है[2]। ये रोग दुःसाध्य एवं आत्ययिक होते हैं, इसलिए इनकी विशिष्ट चिकित्सा बतलायी गयी है और वातव्याधि का पृथक से निर्देश किया गया है, पित्त एवं कफ विकारों का नहीं। अतएव चरक एवं सुश्रुत आदि ने वातरोगाध्याय का निर्देश किया है, न कि पित्त एवं कफ के अध्यायों का।

चन्द्रिकाकार तो कहते हैं कि पित्त और कफ का रूप एवं रस से योग होने से

१. सामान्यजा इति। वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते।
नानात्मजा इति। ये वातादिभिर्दोषान्तरासम्पृक्तैर्जन्यन्ते। (चक्रपाणि)

२. अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः कफविकाराः। (च० सू० २०)।

अथवा दूष्यों के साथ विशेष (मूर्त) योग होने से हरिद्रा एवं चूने के संयोग से उत्पन्न होने वाला तद्भिन्न वर्ण के समान अत्यन्त विभिन्न प्रकार के लक्षण वाले रसादियुक्त अनेक विकार हो जाते हैं। लेकिन वायु में रूप एवं रसादि का अभाव होने से दूष्य की सहायता विना भी आक्षेपकादि नानात्मज रोग हो जाते हैं। इसलिये वातविकार का पृथक् उल्लेख किया गया है, न कि कफ एवं पित्त से होने वाले रोगों का। चन्द्रिकाकार के इस विचार को वकुलकर प्रभृति आचार्य नहीं मानते, चरक से विरोध होने के कारण; क्योंकि चरक में पित्त एवं कफ के नानात्मज विकारों का उल्लेख मिलता है। यथा—अस्सी वायु के, चालीस पित्त के एवं बीस कफ के रोग होते हैं (च० सू० २०)। सुश्रुत शल्यप्रधान शास्त्र होने के कारण पित्त एवं कफ के नानात्मज रोगों का विवेचन नहीं किया है, क्योंकि यह विषय चिकित्साशास्त्र का होने से वहाँ पराधिकार में विस्तार से नहीं कहा गया है।

लंघनम्—उछलना-कूदना। 'उपवास' का अनशन शब्द से तथा वमनादि का 'दोषस्रावण' शब्द से भाव समझना चाहिए। प्लवन—वाह से जल में तैरना। आम शब्द से आमरस लेना चाहिए। आमरस से मार्गावरोध वातरोगों का कारण होता है, न कि स्वतन्त्र रूप से आमरस। आयास पाठान्तर ठीक नहीं है। उसका व्यायाम शब्द से ही बोध हो जाता है। मर्माघातात्—वस्ति, हृदय एवं सिर आदि मर्म स्थानों पर अभिघात होने से। अपतंसनम्—हाथी आदि अथवा शीघ्र चलने वाली सवारी से गिर पड़ना अथवा श्वास रुक जाना। खरनाद के मत से धातु-कर्षण (शोष) समझना चाहिए॥ १-४॥

वातव्याधि का पूर्वरूप

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः॥ ५॥
(च. चि. २८. १९।२-२०।१)

अव्यक्त (अप्रकटित) लक्षण ही वातव्याधि का पूर्वरूप होता है तथा व्यक्त लक्षण (दोषादि भेद से) उनके आत्मरूप कहलाते हैं। लक्षणों में लघुता (कमी) होना रोग के शमन का बोधक है॥ ५॥

पूर्वरूपादिकमाह—अव्यक्तमित्यादि। अव्यक्तमिति वक्ष्यमाणानां वातविकाराणां रूपमेवाव्यक्तं पूर्वरूपं; न तु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत्। आत्मरूपमित्यादि। तदेव व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक् प्रकाशितं स्वलक्षणमित्यर्थः। अपाय इति वायोश्चलत्वेन स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात् यदुक्तं—'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु' इति। लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातुशोषणात्। अथवा अपायो लघुता इति सर्ववातविकाराणाम-

पायोऽभावः, किं तदित्याह—लघुतेति। वातलिङ्गानां लघुताऽत्यल्पत्वेनावस्थानं, न तु निःशेषनिवृत्तिः, यथा—बहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—वातव्याधि का पूर्वरूप कहते हैं—अव्यक्तमित्यादि। आगे कहा जाने वाला वात रोगों का रूप ही जब तक अव्यक्तावस्था में रहता है, उसे पूर्वरूप कहा जाता है, न कि ज्वरादि रोगों के समान विशिष्ट पूर्वरूप होता है। आत्मरूपम्—वही पूर्वरूप दोषादि भेद से व्यक्त (सम्यक् प्रकाशन) होने पर आत्मरूप या लक्षण कहा जाता है। अपाय इति—वायु के चलत्व गुण होने से कदाचित स्तम्भ, संकोच, कम्पन आदि लक्षण का अभाव हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु'। अर्थात् आक्षेपक आदि सभी वात रोगों का वेग समाप्त होने पर रोगी अपने को स्वस्थ समझता है। लघुता शरीरस्य—अर्थात् वायु द्वारा धातुओं का शोषण होने पर शरीर हल्का मालूम पड़ता है। अथवा अपायो लघुता पुनः—सभी वातविकारों के लक्षणों का अभाव होने पर वात रोग भी हलके हो जाते हैं, बिलकुल समाप्त नहीं होते। जैसे बहिरायाम के वेग के निवृत्त होने पर भी रूक्षता आदि की निवृत्ति नहीं होती है। ऐसा आचार्यों का मत है ॥ ५ ॥

वातव्याधि का सामान्य लक्षण

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ॥ ६ ॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोथोऽङ्गनामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥

(च. चि. २८. २०/२-२५-१)

हाथ-पैर की अगुलियों के पर्वों में संकोच एवं जकड़न, अस्थियों एवं जोड़ों में स्फुटन (टूटने की वेदना), रोमांच, प्रलाप, हाथ-पीठ-शिर में जकड़न, लगड़ापन, पङ्गुता, कुब्जता, अङ्गों में शोथ, अनिद्रा, गर्भ-शुक्र-रज का नाश, अङ्गों का फड़कना, शरीरावयव में सुप्तता (संज्ञानाश), शिर-नासिका-नेत्र-जत्रु एवं ग्रीवा में विकृति, अङ्गों में भेदनवत् एवं सूई चुभने सी वेदना, आक्षेप एवं बार-बार थकावट का होना वायुप्रकोप का लक्षण है।

इस प्रकार कुपित वायु उपर्युक्त लक्षणों को उत्पन्न करती है, किन्तु कारण एवं स्थान-भेद से विभिन्न विशिष्ट रोगों को उत्पन्न करती है ॥ ९ ॥

करोति विविधान् व्याधीनिति यदुक्तं तद् व्याकरोति—संकोच इत्यादि । स्तम्भः पर्वणामेव । पांगुल्यं पङ्गुता । शोथोऽङ्गानामिति बाहुमुखादीनाम् । अनिद्रतेत्यनेनाल्पनिद्रतेत्याहुः । गर्भशुक्ररजोनाश इति । गर्भशय्याया वाताधिष्ठितत्वेन गर्भग्रहणमिति जेज्जटः; गर्भादिविकृतिरप्यत्र द्रष्टव्या । स्पन्दनं कम्पनम् । हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात् । अन्ये त्वाहुः—शिरोहुण्डनं केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं घ्राणनाशः, 'अक्षिहुण्डनमक्षिव्युदासः, जत्रुहुण्डनं वक्षउपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः । भेद इति ओष्ठदन्तश्रोण्यादीनाम्' । तोदः शूलम् । अर्तिः पीडा, सा च पादपार्श्वश्रोत्राक्षिवक्षसामिति जेज्जटः । आक्षेपश्च आक्षेपकादिषु वक्ष्यमाणः । आयासः श्रमः ॥ ६–८ ॥

हेत्वित्यादि । हेतुविशेष आवरणादिः, यथा—श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी; स्थानविशेषः कोष्ठादिः, यथा—पक्काशयस्थोऽन्त्रकूजमित्यादि ॥ ९ ॥

सरोज व्याख्या—जैसा कि पहले कहा गया है कि प्रकुपित वायु विविध व्याधियों को उत्पन्न करती है, उसको कहते हैं—संकोच इत्यादि । स्तम्भ से पर्वों (अँगुलियों के सन्धियों) का स्तम्भ समझना चाहिए । पाङ्गुल्यम्—पङ्गुता । शोथोऽङ्गानाम्—बाहु एवं मुख में सूजन हो जाता है, अनिद्रता—अल्पनिद्रा । गर्भशुक्रजोनाश—गर्भशय्या (गर्भानाश) में वायु के अधिष्ठित होने से गर्भ नहीं रुक पाता । ऐसा आचार्य जेज्जट का मत है । यदि गर्भ स्थिर होता है, तो उसमें विकृति पैदा हो जाती है । स्पन्दनम्—कम्पन । हुण्डनम्—शिर प्रभृति का अन्तःप्रवेश या वक्र हो जाना । धातु का अनेक अर्थ होने से अन्य आचार्य दूसरा अर्थ करते हैं । शिरोहुण्डनं—केशभूमि (सिर की त्वचा) का स्फुरन एवं शंख तथा ललाट में भेदवत् पीड़ा, नासाहुण्डनं—घ्राण शक्ति का नाश, अक्षिहुण्डनं—नेत्रों का पलटना, जत्रुहुण्डनं—छाती अवरोध (श्वास लेने में कष्ट), ग्रीवाहुण्डनं—ग्रीवास्तम्भ । भेद—ओष्ठ, दन्त, श्रोणि (कमर) आदि में फटने जैसी वेदना । तोदः—शूल, अर्ति—पीड़ा । यह पाद, पार्श्व, कर्ण, नेत्र और वक्ष आदि में होती है—ऐसा जेज्जट का मत है । आक्षेप—आगे कहा जाने वाला आक्षेपक रोग । अयासः-श्रम ।

हेत्वित्यादि—हेतुविशेष अर्थात् दोष से आवृत होने से । जैसे श्लेष्म से आवृत्त होने से मन्यास्तम्भ कर देता है । स्थानविशेषः कोष्ठादिः—जैसे पक्वाशय में कुपित होने पर आन्त्रकूजन आदि पैदा करता है । इत्यादि ॥ ९ ॥

कोष्ठाश्रित एवं सर्वाङ्गगत वायु के लक्षण

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥ १० ॥
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम्।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥ ११ ॥

(च. चि. २८. २४।२-२६।१)

वायु जब दूषित होकर कोष्ठ में स्थित होता है, तो मूत्र एवं मल का अवरोध, वंक्षण प्रदेश में शोथ, हृद्रोग, गुल्म, अर्श एवं पार्श्वशूल को उत्पन्न करता है।

सम्पूर्ण शरीर में जब वायु कुपित होता है तो शरीर में स्फुरण, भेदनवत् पीड़ा, सन्धियों में स्फुटन सी पीड़ा होती है ॥ १०-११ ॥

एतदेव विवृणोति (कोष्ठाश्रितवातलक्षणमाह)—तत्रेत्यादि। कोष्ठशब्देनाविशेषात् सर्व आमाशयादयो गृह्यन्ते, आमाशयादिगं तु पृथगपि वक्ष्यति। निग्रहोऽप्रवृत्तिः। ब्रध्नः कोशवङ्क्षणसन्धिः ॥ १०-११ ॥

सरोज व्याख्या—कोष्ठाश्रित वात के लक्षण विस्तार से कहते हैं--तत्रेत्यादि। कोष्ठ शब्द से आमाशय आदि सबका ग्रहण होता है। आमाशय आदि में प्रकुपित वायु का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया जायेगा। निग्रह—मलमूत्र की अप्रवृत्ति। ब्रध्नः से अण्डकोश एवं वंक्षण की सन्धि समझनी चाहिए ॥ १०-११ ॥

गुदा एवं आमाशय स्थित वायु के लक्षण

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ॥ १२ ॥
रुक् पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥ १३ ॥

(च. चि. २८.२६।२-२८।१)

गुदा में कुपित वात के स्थित होने पर मल, मूत्र एवं अधोवायु में रुकावट (अवरोध), उदर में शूल, आध्मान, अश्मरी एवं शर्करा रोग हो जाता है। जंघा, ऊरु, त्रिक एवं पृष्ठ में पीड़ा एवं शोष भी हो जाता है।

आमाशय में कुपित वायु पार्श्व, उदर, हृदय तथा नाभि प्रदेश में पीड़ा, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, कास, श्वास तथा कण्ठ एवं मुख में शोष उत्पन्न करता है ॥ १२-१३ ॥

गुदस्थितवातलक्षणमाह--ग्रह इत्यादि। अश्मा अश्मरी। रोगो रुजा। गुद इत्युत्तरगुदे पक्वाशय इत्यर्थः, नतु गुदमात्रे, तथा सत्यश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १२-१३ ॥

सरोज व्याख्या—गुदास्थित प्रकुपित वायु के लक्षण कहते हैं—ग्रह इत्यादि। अश्मा—अश्मरी, रोगो-रुजा। गुद शब्द से ऊपर की गुदा या पक्वाशय का ग्रहण होता है। न कि केवल गुद मात्र का। यदि केवल गुदा का ग्रहण होगा, तो अश्मरी का ग्रहण नहीं हो पावेगा ॥ १२-१३ ॥

पक्वाशयस्थ वात के लक्षण

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥ १४ ॥
(च. चि. २८.२८।२-२९।१)

कुपित वायु पक्वाशय में स्थित होने पर आँतों में गुड़गुड़ाहट, शूल, आटोप, मल-मूत्र की रुकावट, आनाह एवं त्रिक प्रदेश में वेदना होती है ॥ १४ ॥

पक्काशयस्थवातलक्षणमाह—पक्काशयस्थ इत्यादि। ननु पक्काशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात्? उच्यते, गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणं पक्काशयस्थ इति सुश्रुतस्य; उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः ॥ १४ ॥

सरोज व्याख्या—पक्वाशयस्थ वायु के लक्षण कहते हैं—पक्वाशयस्थ इत्यादि। अब शंका होती है कि पक्वाशयस्थ इत्यादि में पुनरुक्त दोष हो जाता है; क्योंकि ऊपर 'गुदे स्थिते' इत्यादि के कहने से ही पक्वाशय का ग्रहण हो जाता है? इसका समाधान करते हैं कि 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां' इत्यादि श्लोक दृढ़बल का है, एवं पक्वाशयस्थोन्त्रकूजम् इत्यादि सुश्रुतोक्त है। यहाँ पक्वाशय में स्थित वायु के सम्पूर्ण लक्षण का निर्देश करने के उद्देश्य से दोनों संहिताओं की बात कही गई है। इसलिए कोई विरोध नहीं है ॥ १४ ॥

श्रोत्रादि इन्द्रियगत वायु के लक्षण

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टः समीरणः।
(च. चि. २८.२९।२)

दूषित वायु के श्रवणेन्द्रिय में स्थित होने पर उनकी ज्ञान शक्ति को नष्ट (स्वविषयग्रहण की अशक्तता) कर देता है।

त्वचागत वात के लक्षण

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले ॥ १५ ॥
(च. चि. २८.३०)

प्रकुपित वायु के त्वचा में स्थित होने पर त्वचा रूक्ष, स्फुटित, (फटी हुई), सुप्त, कृश एवं कृष्ण वर्ण की हो जाती है। उसमें सूई चुभने सी पीड़ा, तनाव एवं लालिमा हो जाती है एवं हाथ-पैर की छोटी सन्धियों में पीड़ा होती है।

त्वग्गतवातलक्षणमाह—त्वगित्यादि। आतन्यते विस्तार्यत एव। त्वग्गत इति उपधातुरूपां त्वचं प्राप्ते; चन्द्रिकाकारस्तु त्वक्शब्देन रसमाह, तेन रसगत इत्यर्थः। हृदयस्थस्य च रसस्यामाशयसामीप्यादामशयगतवातलक्षणेनैव तदधिगते रसगतस्यानभिधानमिति कार्तिकः॥ १५॥

सरोज व्याख्या—त्वक्गत कुपित वायु के लक्षण कहते हैं—त्वगित्यादि। आतन्यते—त्वचा का फैलना या तनाव, त्वग्गत—अर्थात् उपधातु रूप त्वचा में प्राप्त विकृत वायु। चन्द्रिकाकार त्वक् शब्द से रस धातु का ग्रहण करते हैं। इसलिए त्वग्गते का अर्थ रसगत किया है। हृदयस्थ रस आमाशय के समीप होने से आमाशयगत विकृत वात के लक्षणों के समान ही विकृत रस का लक्षण होने से उनका पृथक् से उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसा आचार्य कार्तिक का कथन है॥ १५॥

रक्तगत वात के लक्षण

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥ १६॥

(च. चि. २८.३१)

कुपित वायु के रक्त में स्थित होने पर तीव्र वेदना, सन्ताप, शरीर के वर्ण में परिवर्तन, कृशता, अरुचि, त्वक्विकार (शरीर में फुन्सियों का निकलना) तथा खाया हुआ आहार ठीक से न पचना, ये लक्षण मिलते हैं॥ १६॥

असृग्गतवातलक्षणमाह—रुज इत्यादि। अरूंषि व्रणाः। भुक्तस्य स्तम्भो भुक्तवतो गात्रस्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तस्य वृद्धेः। अन्ये त्वसृग्गतवातलक्षणं न पठन्ति वातरक्तेन सहाभेदात्, तन्न; अत्र दुष्टो वायू रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते तु स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसम्प्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति॥ १६॥

सरोज व्याख्या—रक्तगत वायु के लक्षण कहते हैं—रुज इत्यादि। अरूंषि व्रण, भुक्तस्य स्तम्भो—भोजन करते समय गात्र स्तम्भ हो जाता है। इसीलिए सन्तर्पण से रक्त की वृद्धि हो जाती है। अन्य आचार्य 'रक्तगत वात' के लक्षण को नहीं मानते हैं क्योंकि 'वातरक्त' के साथ इनका अभेद होता है, किन्तु मधुकोशकार विजयरक्षित ऐसा नहीं मानते हैं; क्योंकि 'रक्तवात' में दुष्ट वायु रक्त से आवृत्त होकर प्रकुपित होता है और 'वातरक्त' में स्वतन्त्र कारणों से प्रकुपित वात और रक्त

इत्यादिगमन से कुपित होकर अपनी विशिष्ट सम्प्राप्ति द्वारा हाथ-पाँव में ही रहता हुआ 'वातरक्त' रोग को पैदा करता है ॥ १६ ॥

मांस, मेद अस्थि एवं मज्जागत वायु के लक्षण

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥ १७ ॥
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥ १८ ॥
(च. चि. २८.३२-३३)

कुपित वायु मांस एवं मेद में स्थित होने पर शरीर में भारीपन अत्यधिक तोद, डण्डे एवं मुक्के से पीटे हुए के समान पीड़ा एवं अत्यन्त थकावट का अनुभव होता है।

कुपित वायु अस्थि एवं मज्जा में स्थित होने पर हड्डियों एवं छोटी सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा, सन्धियों में शूल, मांस एवं बल की हानि, निद्रानाश एवं शरीर में निरन्तर पीड़ा बनी रहती है ॥ १७-१८ ॥

मांसमेदोगतवातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि। श्रमितं श्रान्तं निःसहमित्यर्थः। मांसमेदोगतवायोरेकलिङ्गत्वम्, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात्। एवं मज्जास्थिकुपितेऽपि वाच्यम् ॥ १७-१८ ॥

सरोज व्याख्या—मांस एवं मेदोगत वात के लक्षण कहते हैं—गुर्वित्यादि। श्रमितं—श्रान्त (थका हुआ) एवं सहनशीलता से रहित। मांस एवं मेदोगत वायु के लक्षण एक ही होते हैं, क्योंकि दोनों एक साथ रहते हैं। इसी प्रकार मज्जा एवं अस्थिगत वायु के लक्षण साहचर्य के कारण समान होते हैं। ऐसा समझना चाहिए ॥ १७-१८ ॥

शुक्रगत वायु के लक्षण

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥ १९ ॥
(च. चि. २८. ३४)

कुपित वायु शुक्र में स्थित होने पर शुक्र का स्खलन शीघ्र होता है और कभी वह देर तक रुक जाता है। इसी प्रकार कभी शीघ्र गर्भपात और कभी देर से प्रसव होता है अथवा शुक्र या गर्भ में विकृति उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥

शुक्रस्थवातलक्षणमाह—क्षिप्रमित्यादि। गर्भमिति दुष्टशुक्रारब्धत्वाद् गर्भस्य। विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च ॥ १९ ॥

सरोज व्याख्या—शुक्रगत वात के लक्षण कहते हैं—क्षिप्रमित्यादि। गर्भ दूषित शुक्र से बनने से दूषित शुक्र का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है। अथवा गर्भ एवं शुक्र दोनों को विकृत कर देता है।

सिरा एवं स्नायु गत वात के लक्षण

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।
(सु. नि. २७. ११)

स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापि वा ॥ २० ॥
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः।
(च. चि. २८. ३५)

सिरागत वायु से शूल, सिरा संकोच तथा सिरा पूरण (सिरा की स्थूलता या पूर्णता) होता है।

स्नायुगत दूषित वायु से बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता तथा अन्य सार्वदेहिक और स्थानीय रोग हो जाते हैं।

सिरागतवातलक्षणमाह—कुर्यादित्यादि। आकुञ्चनं सङ्कोचः। पूरणं स्थूलत्वं, यदुक्तमन्यत्र—'सुप्तास्तन्व्यो वृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते' इति। खल्लीं वक्ष्यमाणाम् ॥ २० ॥

सरोज व्याख्या—सिरागत वात के लक्षण कहते हैं—कुर्यादित्यादि। आकुञ्चन—सिराओं का सङ्कोच, पूरणं—सिराओं का भरकर फूल जाना या स्थूल हो जाना। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—सिरागत वायु के प्रकुपित होने पर सिराएँ शून्य, पतली अथवा मोटी हो जाती है। खल्ली का लक्षण आगे कहेंगे ॥ २० ॥

सन्धिगत वात के लक्षण

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥ २१ ॥
(सु, नि. १.२८॥१)

सन्धि में स्थित विकृत वायु सन्धियों को नष्ट कर देता है तथा उनमें शूल और शोफ उत्पन्न कर देता है ॥ २१ ॥

सन्धिगतवातलक्षणमाह—हन्तीत्यादि। हन्ति सन्धिगतः सन्धीनिति सन्धिविश्लेषं स्तम्भादिकं वा करोति ॥ २१ ॥

सरोज व्याख्या—सन्धिगत वात के लक्षण कहते हैं—हन्तीत्यादि। सन्धिगत विकृत वायु या तो सन्धियों को ढीला कर देता है या उनमें जकड़ाहट पैदा कर देता है। इस प्रकार सन्धि का कार्य नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

पित्तकफावृत प्राणादि वायु के लक्षण

(प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ।।)
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ।। २२ ।।
उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः ।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते ।। २३ ।।
स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते ।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते ।। २४ ।।
अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता ।
अधः काये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते ।। २५ ।।
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ।। २६ ।।

(सु. नि. १)

प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान—ये पाँचों वायु अपने-अपने स्थान पर सामान्यावस्था में रहते हुए शरीर का धारण-पोषण करती हैं ।

पित्तावृत प्राण—प्राणवायु के पित्त से आवृत होने पर छर्दि एवं दाह होता है ।

कफावृत प्राण—प्राणवायु के कफ से आवृत होने पर दौर्बल्य, आलस्य, तन्द्रा एवं मुख की विरसता हो जाती है ।

पित्तावृत उदान—उदान वायु के पित्त से आवृत होने पर दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा क्लम हो जाते हैं ।

कफावृत उदान—उदान वायु के कफ से आवृत होने पर स्वेद का न निकलना, रोमहर्ष, मदाग्नि तथा शीत का अनुभव होता है ।

पित्तावृत समान—समान वायु के पित्त से आवृत होने पर स्वेदाधिक्य, दाह, उष्णता एवं मूर्च्छा होती है ।

कफावृत समान—समान वायु के कफ से आवृत होने पर मल-मूत्र का अवरोध तथा शरीर में रोमाञ्च हो जाता है ।

पित्तावृत अपान—अपान वायु के पित्त से आवृत होने पर दाह और उष्णता के साथ-साथ मूत्र से रक्त आता है ।

कफावृत अपान—अपान वायु के कफ से आवृत होने पर शरीर के अधोभाग में भारीपन एवं शीतलता होती है ।

पित्तावृत व्यान--व्यान वायु के पित्त से आवृत होने पर दाह, अङ्गविक्षेपण (अङ्गों का पटकना) तथा क्लम होता है।

कफावृत व्यान—व्यान वायु के कफ से आवृत होने पर सारे शरीर में जकड़ाहट एवं दण्डक रोग हो जाता है, शूल एवं शोथ भी हो जाता है ॥ २२-२६ ॥

पित्तकफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—प्राण इत्यादि। गात्रहर्षो रोमाञ्चः। दण्डको दण्डवत् स्तम्भः। परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति। यदुक्तं चरके--'मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं श्रृणु' (च. चि. २८) इत्यादि। एषां च लक्षणं चरक एव द्रष्टव्यम्। विदेह एक एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चेत्याहुः, संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः। ईशानोऽप्याह-यथैको देवदत्तः स्थानभेदाद् गृहस्थो वानप्रस्थः, कर्मभेदात् कुम्भकारो मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति ॥ २२–२६ ॥

सरोज व्याख्या—प्राण, उदान, समान, अपान एवं व्यान पाँचों प्रकार के वायु पित्त एवं कफ से आवृत होने के लक्षण कहते हैं—प्राण इत्यादि। गात्रहर्ष—रोमाञ्च। दण्डकः—डण्डे के समान सीधा जकड़ जाना। प्राणादि के आवरण परस्पर मिलकर बीस प्रकार के होते हैं। जैसा कि चरक में कहा गया है—'मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं श्रृणु'। (च. चि. २८) इत्यादि। इनके लक्षण चरक में ही द्रष्टव्य हैं।

विदेहतन्त्र में एक ही वायु को स्थान एवं कर्म भेद से पाँच प्रकार का माना गया है। जैसे जल विना किसी आश्रय (अधिष्ठान) के नहीं रह सकता और अधिष्ठानुसार विभिन्न नामों से कहा जाता है ! ईशान भी कहीं कहते हैं कि जैसे एक ही देवदत्त व्यक्ति स्थानभेद से गृहस्थ या वानप्रस्थ तथा कर्मभेद से कुम्भकार या मालाकार कहा जाता है; वैसे ही एक ही वायु अधिष्ठान एवं कर्म के भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥ २२-२६ ॥

आक्षेपक (Convulsions)

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः॥ २७ ॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः।

(सु. नि. १.५०।२-५१)

जब कुपित वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों में पहुँचता है, तो शरीर में बार-बार आक्षेप (झटके) आते हैं और बार-बार आक्षेप के कारण इस रोग को आक्षेपक रोग कहते हैं ॥ २७ ॥

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—यदा त्वित्यादि। सर्वा इति। ऊर्ध्वा-धस्तिर्यग्गाः। आक्षिपति देहं हस्त्यारूढपुरुषस्येव गात्रं चालयति। मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणम्। 'बहिश्चर' इति पाठान्तरे कोष्ठाद् बहिःशाखागत-श्चरन्नाक्षेपकं करोतीत्यर्थः। चन्द्रिकाकारस्त्वेतन्नानुमन्यते, स्थानगाम्भीर्यादा-क्षेपकस्य तदारम्भकवायोर्बहिश्चरत्वायुक्तत्वात्॥ २७॥

सरोज व्याख्या—आक्षेपक के सामान्य लक्षण कहते हैं—यदा त्वित्यादि। सर्वा से ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् जाने वाली सभी धमनियों को लेना चाहिए। आक्षिपति देहं—हाथी पर आरूढ़ पुरुष के समान सारा शरीर हिलता है। मुहुश्चरः—यह हेतु (कारण) सम्बन्धी विशेषण है। अर्थात् बारम्बार वायु के चलने से आक्षेप आता है। 'बहिश्चरः' पाठान्तर का अभिप्राय है कि कोष्ठ से बाहर शाखाओं में सञ्चार करता हुआ आक्षेपक रोग को पैदा करता है। चन्द्रिकाकार इस अर्थ को नहीं मानते। स्थान (अधिष्ठान) के गाम्भीर्य (गहरा Deep) होने पर आक्षेपक में तदारम्भक वायु का बहिःसञ्चार अयुक्त मालूम पड़ता है॥ २७॥

अपतन्त्रक (Hysterical Convulsions) एवं अपतानक (Tetanus like Convulsions)

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रवर्तते॥ २८॥
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन्।
धनुर्वन्नमयेद् गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा॥ २९॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः॥ ३०॥
दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः॥ ३१॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्।

(च. सि. ९.१२-१५)

स्वप्रकोपक कारणों से कुपित वायु अपने स्थान (पक्वाशय) से ऊपर की ओर उठकर हृदय, शिर एवं शंख प्रदेश को पीड़ित करता हुआ शरीर को धनुष के समान झुका देता है तथा आक्षेप एवं मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। रोगी श्वास कष्ट से लेता है, उसके नेत्र स्तब्ध रहते हैं, पलकें कभी खुलती है और कभी बन्द हो जाती है। रोगी संज्ञारहित अवस्था में कबूतर के समान घुर-घुर शब्द करता है। आक्षेपक की इस अवस्था को अपतन्त्रक कहते हैं।

रोगी की दृष्टि स्तब्ध (रूप ग्रहण में असमर्थ) हो जाती है, संज्ञा (ज्ञान-विषयिणी बुद्धि) नष्ट हो जाती है, कण्ठ से कबूतर के समान घुर-घुर शब्द निकलता है, जब वायु हृदय से निकल जाता है, तब रोगी अपने को स्वस्थ समझने लगता है, जब पुनः वायु हृदय में चली आती है, तो पुनः रोग का दौरा होने लगता है या मूर्च्छा आ जाती है। वायु से होने वाले इस दारुण रोग को अपनातक कहा जाता है।

अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह—'क्रुद्ध' इत्यारभ्य 'एके तदपतानकम्' इत्यन्तेन। 'स्वैः कोपनैः' इत्यनेन रूक्षादिकुपितः स्वतन्त्रो न त्वावरणकुपित इति ईशानः। निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः। आक्षेपकश्चतुर्विधो भवति, दण्डापतानकोऽभ्यन्तरायामो बहिरायामोऽभिघातजश्चेति। दृढबलेन यद्यप्याक्षेपकात् पूर्वमन्तरायामबहिरायामौ पठितौ, तथाऽप्याक्षेपकविशेषावेतौ मन्तव्यौ, सुश्रुतदर्शनात् ॥ २८-३१ ॥

सरोज व्याख्या—आक्षेपक की विशेष अवस्था अपतन्त्रक एवं अपतानक के लक्षण कहते हैं—क्रुद्धः स्वैः, कोपनैः से लेकर एके तदपतानकम् तक अपतन्त्रक एवं अपतानक इन दोनों के लक्षण हैं। स्वैः कोपनैः—रूक्षादि कारणों से स्वतन्त्र रूप से कुपित हुआ—ऐसा आचार्य ईशान का कथन है। निमीलिताक्षः—स्तब्ध वा—नेत्र (पलकें) बन्द होती हैं या खुली होती हैं। आक्षेपक चार प्रकार का होता है—(१) दण्डापतानक, (२) अभ्यन्तरायाम, (३) बहिरायाम, (४) अभिघातज। यद्यपि दृढ़बल ने आक्षेपक से पहले अन्तरायाम और बहिरायाम बतलाया है, फिर भी इन दोनों को आक्षेपक का भेद ही मानना चाहिए, क्योंकि सुश्रुत ऐसा मानते हैं।

दण्डापतानक

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥ ३२ ॥
दण्डवत् स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः।

(सु. नि. १.५२।२-५३।१)

उन्हीं धमनियों (वात नाड़ियों) में यदि कफ से अत्यन्त युक्त होकर वायु रहती है, तो शरीर दण्ड के समान स्तब्ध (कड़ा) हो जाता है, इसे दण्डापतानक कहते हैं।

एषां लक्षणमाह--कफान्वित इत्यादि। भृशं कफान्वित इत्यनेन पित्तमपि न वार्यत इत्याहुः। चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम्। यदाह—'पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः। दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः' (च. चि. २८) इति। तास्विति सर्वधमनीषु ॥ ३२ ॥

सरोज व्याख्या—इसके लक्षण कहते हैं—कफान्वित इत्यादि। 'भृशं कफान्वित' इससे पित्त का भी अवरोध नहीं हो सकता। अर्थात् यदि कफ का संसर्ग होता है, तो पित्त का भी हो सकता है। चरक में इसकी असाध्यता केवल वातजन्य होने से कही गयी है। अर्थात् जो दण्डापतनक केवल वात से होता है, वही असाध्य होता है। जैसा कि कहा गया है कि "हाथ, पैर, सिर, पीठ और कमर को जब प्रकुपित वायु जकड़ देता है, जिससे सारा शरीर डण्डे के समान कड़ा हो जाता है, तो उसे दण्डापतानक कहा जाता है, यह असाध्य होता है।" (च. चि. २८) "तासु" से सभी धमनियों (वातनाड़ियों) का ग्रहण होता है।

धनुःस्तम्भ

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ॥ ३३ ॥

(सु. नि. १.५४.१)

जब प्रकुपित वायु शरीर को धनुष के समान झुका देता है, तो उसे धनुःस्तम्भ कहते हैं।

अन्तरायामबहिरामयोः साधारणं रूपमाह—धनुस्तुल्यमित्यादि ॥ ३३ ॥

सरोज व्याख्या—अन्तरायाम एवं बहिरायाम के साधारण लक्षण कहते हैं—धनुस्तुल्यमित्यादि।

अन्तरायाम धनुःस्तम्भ (Emprosthotonos)

अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥ ३४ ॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥ ३५ ॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली।

(सु. नि. १.५४।२-५६)

प्रकुपित एवं बलवान् वायु जब अंगुली (पादगत), गुल्फ (Calf Region), जठर (उदर), हृदय प्रदेश, वक्ष (स्तनों के मध्य) तथा गले (कण्ठ) में स्थित होकर वहाँ के स्नायुप्रतान में आक्षेप उत्पन्न करता है, तो रोगी की आँखें विष्टब्ध (निश्चल) हो जाती हैं, हनु (जबड़े) में जकड़ाहट, पसलियों में पीड़ा तथा कफ का वमन होता है। इस प्रकार के रोगी का शरीर भीतर (उदर) की ओर धनुष के समान झुक जाता है, तो इस अवस्था को अभ्यन्तरायाम कहा जाता है।

बाह्यायाम (Opisthotonos) धनुस्तम्भ

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकटयूरुभञ्जनम् ।
(सु. नि. १.५७)

जब प्रकुपित वायु बाह्य (पृष्ठ) भाग के स्नायुप्रतान (कण्डराओं एवं पेशियों) में स्थित होकर शरीर को बाहर (पीठ) की ओर झुका देता है, तो इसे बाह्यायाम कहते हैं। यह असाध्य होता है; क्योंकि इसमें वक्ष, कटि तथा ऊरु भाग के भग्न होने का भय होता है ॥

विशेषलक्षणमाह—अङ्गुलीत्यादि। वक्षो बाहुद्वयान्तरम्। हृदयं तदभ्यन्तरं द्व्यङ्गुलम्। स्नायुप्रतानं लतावदनेकप्ररोहं स्नायुरित्युपलक्षणम्, तेन सिराकण्डरयोरपि ग्रहणम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—'महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः' इत्यादि। अभ्यन्तरायामं क्रोडे नतं, बाह्यायामं पृष्ठे नतम्। अन्तरायामबहिरायामाभ्यां तन्त्रान्तरोक्तकुब्जस्यावरोधः। यदुक्तं—हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक्। क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्॥ ३४-३६॥

सरोज व्याख्या—इनका विशेष लक्षण कहते हैं—अङ्गुलीत्यादि। दोनों बाहुओं के मध्यस्थित प्रदेश को वक्ष कहा जाता है। वक्ष के अन्दर बायीं ओर हृदय प्रदेश होता है। स्नायुप्रतानम्—वन-लताओं के समान अनेक प्ररोह (छोटी लताओं) के जाल की तरह शरीर के अन्दर स्नायुजाल होता है। यहाँ स्नायु उपलक्षणमात्र है, उससे सिरा एवं कण्डराओं का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा गया है—

"महाहेतुर्बली वायुः शिराः सस्नायुकण्डराः।
मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः" ॥

अर्थात् वातप्रकोपक महा कारणों से प्रकुपित बलवान् वायु मन्या एवं पृष्ठ प्रदेश में आश्रित रहने वाली शिरा, स्नायु और कण्डराओं को सुखाकर बाह्य भाग में आयाम (तनाव) उत्पन्न कर देता है, इत्यादि। उदर (Ventral side) की ओर झुकाव को अभ्यन्तरायाम (Emprosthotonos) तथा पृष्ठ (Dorsal side) की ओर झुकाव को बाह्यायाम (Opisthotonos) कहा जाता है। अन्तरायाम एवं बाह्यायाम के उल्लेख से तन्त्रान्तरोक्त कुब्ज रोग का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है--जब प्रकुपित वायु हृदय प्रदेश अथवा पृष्ठ प्रदेश की ओर तनाव (उभार) उत्पन्न कर वेदना कर दें, तो उस रोग को 'कुब्ज' कहा जाता है।

विमर्श—विजयरक्षित ने इसी में कुब्ज रोग का अन्तर्भाव किया है—जब कि धनुस्तम्भ एवं कुब्ज रोग में निम्नलिखित भेद है—

धनुस्तम्भ	कुब्ज
१. आशुकारी	१. दीर्घकालानुबन्धी
२. आक्षेप विष्टब्धाक्षता, स्तब्धहनुता एवं कफवमन।	२. —
३. वेगवान्	३. स्थायी
४. वेग के समय झुकाव।	४. स्थायी झुकाव।
५. सहसा प्रारम्भ।	५. शनैः शनैः प्रारम्भ।
६. वेग के समय रोगी उठ भी नहीं सकता।	६. लाठी की सहायता से चलता है।
७. स्नायुमण्डल में संकोच।	७. पृष्ठवंश की विकृति।

आक्षेपक का कफपित्तानुबन्धकत्व

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः॥ ३७॥
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्।

(सु. नि. १.५८)

कफयुक्त या पित्तयुक्त वायु या केवल (स्वतन्त्र) वायु ही प्रकुपित होकर आक्षेपक रोग को उत्पन्न करता है तथा चोट लगने पर प्रकुपित वायु अभिघातज नामक चौथे आक्षेपक रोग को उत्पन्न करता है॥

उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह-कफपित्तान्वित इत्यादि। एतच्च दण्डापतानकलक्षणमेव जेज्जटेन व्याख्यातम्। पित्तकफानुबन्धश्चात्र शैत्यशोथगुरुत्वानीत्यादिनोक्तलक्षण एव बोध्यः। चतुर्थमभिघातजमिति दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वम् अभिघातजं दण्डाद्यभिघातकुपित-वातजम्, अस्य च लक्षणं 'यदा तु धमनीः सर्वाः' इत्यादिनोक्तसामान्यलक्षणं द्रष्टव्यम्॥ ३७॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त आक्षेपक के भेदों में कफ-पित्त का अनुबन्ध बतलाते हैं—कफपित्तान्वित इत्यादि। इस प्रकार दण्डापतानक के लक्षण की ही जेज्जट ने

व्याख्या की है। यहाँ पित्त-कफ का अनुबन्ध आगे कहे गये श्लोक सं० ४२ से समझ लेना चाहिए, जो निम्नलिखित है—

"दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते"॥

चतुर्थमभिघातजम्—पूर्वोक्त दण्डापतानकादि तीनों की अपेक्षा सिर पर डण्डा आदि द्वारा चोट लगने पर वात कुपित होकर अभिघातज आक्षेप उत्पन्न करता है। इसका लक्षण—'यदा तु धमनी सर्वाः' इत्यादि पूर्वोक्त सामान्य लक्षण होता है।

अपतानक की साध्यासाध्यता

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः॥ ३८॥
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्धयत्यपतानकः

(सु. नि. १.५९)

गर्भपात, अति रक्तस्राव या अभिघात से होने वाला अपतानक असाध्य होता है।

असाध्यत्वमाह—गर्भपातेत्यादि। गदाधरस्त्वाह-कफपित्तान्वित इत्यादिना निमित्तभेदेनाक्षेपकश्चतुर्धेति, तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन, द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातेनेति। अत्र पक्षे गर्भपातशोणितातिस्रावजौ केवलवातेन ग्राह्यौ। एतेषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोध्यम, आक्षेपकविशेषत्वात्॥ ३८॥

सरोज व्याख्या—आक्षेपक की असाध्यावस्था का उल्लेख करते हैं—गर्भपातेत्यादि। आचार्य गदाधर कहते हैं—'कफापित्तान्वितः' इत्यादि श्लोक द्वारा कारणभेद से आक्षेपक चार प्रकार का बतलाया गया है। जैसे (१) कफयुक्त वात से, (२) पित्तयुक्त वात से, (३) केवल वात से एवं (४) अभिघात से। यहाँ गदाधर के इस पक्ष में गर्भपातजन्य एवं अतिरिक्त स्राव से होने वाला आक्षेपक केवल वात से होता है। इन सबमें रोगी को बार-बार आक्षेप (झटके) आते हैं, इसलिए इसको 'आक्षेपक' कहा जाता है।

पक्षवध (Hemiplegia)

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च॥ ३९॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन्।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः॥ ४०॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः।
सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले॥ ४१॥

(अ. हृ. १५.३८।२-४०)

प्रकुपित हुआ (व्यान) वायु शरीर के आधे भाग में स्थित होकर सिराओं (वातनाड़ियों) एवं स्नायु में शोष उत्पन्न कर सन्धिबन्धनों को ढीलाकर उस भाग की क्रियाशक्ति एवं चेतना को नष्ट कर देता है, तो उस अवस्था को कुछ लोग 'एकाङ्गरोग' एवं कुछ आचार्य 'पक्षवध' कहते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर पर वायु का प्रभाव होने के कारण सर्वाङ्ग (वात) रोग हो जाता है।

पक्षवधमाह—गृहीत्वेत्यादि। अर्धमिति अर्धमर्यादयाऽर्धनारीश्वरवत्। पक्षं बाहुकक्षपार्श्वादिभागम्, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वा। सन्धिबन्धान् कफसहितस्नायुभिर्वृतान् मोक्षयन्निति गदाधरः; अत एव सिराः स्नायूर्वि-शोष्येत्युक्तम्। अर्धकाय इत्युक्तेऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत् सर्वार्धाङ्गव्याप्त्यर्थम्। अकर्मण्य ईषच्चेष्टाक्षमः। विचेतनोऽल्पचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः। तद्वच्चेत्यनेन सिराः स्नायूर्विशोष्य चेत्यादिसम्प्राप्ति लक्षणं चाति-दिशति ॥ ३९-४१ ॥

सरोज व्याख्या—पक्षवध का लक्षण कहते हैं—गृहीत्वेत्यादि। अर्धं— अर्थात् अर्धनारीश्वर के समान अर्ध मर्यादा से सिर से लेकर पैर तक दाहिना आधा भाग अथवा बाया आधा भाग रोगग्रस्त हो जाता है। पक्ष शब्द से बाहु, कक्ष से पार्श्व आदि शरीर के आधे भाग को लेना चाहिए। अन्यतरम्—वाम अथवा दक्षिण भाग को। सन्धिबन्धनम्—कफसहित स्नायुओं से आवृत सन्धिबन्धन को शिथिल या ढीला करता हुआ, ऐसा आचार्य गदाधर का मत है। इसलिये 'सिराः स्नायू-र्विशोष्य च'—ऐसा कहा गया है। अर्धकाय का उल्लेख करके भी पुनः कृत्स्न शब्द से शिर से लेकर पैर तक सम्पूर्ण अर्ध शरीर ग्रहण करना चाहिए। अकर्मण्य—ईषद् (अल्प) चेष्टावान्। विचेतनः—अल्पचेतन, अर्थात् स्पर्श आदि का अल्प ज्ञान होता है।

तद्वत् च—अर्थात् जिस प्रकार पक्षवध में सिरा एवं स्नायुओं का वात द्वारा शोषण होता है, वैसे ही सर्वाङ्ग (वात) रोग में समस्त देहगत स्नायुओं एवं सिराओं (वातनाड़ियों) का वात द्वारा शोषण होता है। उपर्युक्त सम्प्राप्ति एवं लक्षण सर्वाङ्ग वात के भी समझने चाहिए।

पक्षवध में पित्त-कफ का अनुबन्ध

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥ ४२ ॥

पक्षवध में जब वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध होता है, तो दाह, सन्ताप और मूर्च्छा होते हैं तथा जब कफ दोष का अनुबन्ध होता है, तो शीतलता, शोथ एवं गुरुता होती हैं ॥ ४२ ॥

तस्यैव साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह–दाहेत्यादि। एतच्च लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यम्, अत एव सामान्येन वायाविति कृतवान् ॥ ४२ ॥

पक्षवध की साध्यासाध्यता

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥ ४३ ॥
(सु. नि. १.६३)

जब केवल वात के कारण पक्षवध होता है, तो वह कृच्छ्रसाध्य होता है, किन्तु पित्त अथवा कफ का अनुबन्ध होने पर पक्षवध साध्य होता है तथा धातुक्षयजन्य असाध्य होता है ॥ ४३ ॥

शुद्धः केवलः। अन्येनेति कफेन पित्तेन वा क्षयहेतुकमिति धातुक्षय कुपितशुद्धवातजमिति ॥ ४३ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त पक्षवध की साध्यासाध्यता कहते हैं—दाहेत्यादि। यहाँ पर पक्षवध में दाह, सन्ताप आदि साध्यासाध्य अवस्था के लक्षण का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह लक्षण सामान्यतया अन्य वात रोगों में भी द्रष्टव्य होता है, इसलिए यहाँ पर सामान्य रूप से 'वायौ' पद का प्रयोग किया गया है। 'शुद्ध' पद से केवल वायु का ग्रहण करना चाहिए। अन्येन—कफ अथवा पित्त से संयुक्त। क्षयहेतुकम्—धातुक्षय से कुपित शुद्ध वात से उत्पन्न असाध्य होता है ॥ ४३ ॥

अन्य असाध्य लक्षण

(गर्भिणी सूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्स्रुते।
(सु. नि. १.६८.१)
पक्षाघातं परिहरेद् वेदनारहितो यदि ॥)

गर्भवती, सद्यःप्रसूता स्त्री, बालक, वृद्ध एवं क्षीण (अतिकृश) रोगी में होने वाला पक्षवध तथा रक्तस्रावजन्य पक्षवध में यदि वेदना (संज्ञा) नष्ट हो गयी हो, तो वह असाध्य होता है।

अर्दित (Facial Paralysis) रोग का निदानपूर्वक सम्प्राप्ति एवं लक्षण

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः ॥ ४४ ॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥ ४५ ॥

शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ।। ४६ ।।
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ।।)
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ।

(सु. नि. १.६८–७२)

अत्यधिक ऊँचे स्वर से बोलने, अत्यन्त कठिन (सुपारी आदि) पदार्थों के खाने, जोर से हँसने या जम्हाई लेने, सिर पर अधिक बोझ उठाने और विषम (ऊँचे-नीचे) भूमि पर शयन करने से मनुष्य के सिर, नासिका, ओष्ठ, हनु, ललाट तथा नेत्र को, जिससे सन्धियों में स्थित वायु कुपित होकर मुख को टेढ़ा कर देती है, अर्दित रोग उत्पन्न होता है।

मुख का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है, गर्दन भी मुड़ जाती है, सिर काँपने लगता है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्रादि में विकृति आ जाती है तथा ग्रीवा, चिबुक (हनु) और दाँतों में उसी ओर वेदना होती है।

पूर्वरूप—शरीर में रोमहर्ष, कम्पन, नेत्र का धूमिल होना, डकार, त्वचा का शून्य होना, मन्या एवं हनु में जकड़ाहट।

इस व्याधि को विद्वान् चिकित्सक अर्दित कहते हैं।

अर्दितमाह—उच्चैरित्यादि । अर्दयति पीडयति । अपवर्तते वक्रीभवति । चलति कम्पते । वाक्सङ्गोऽनिर्गमो वचनस्य । आदिशब्देन भ्रूगण्डादीनां ग्रहणम् । वैकृतं वेदनास्फुरणवक्रत्वादिकम् । ग्रीवेत्यादि, यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् ग्रीवादीनां वेदनेति योज्यम् । तन्त्रान्तरे तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्यर्दितः पठितः । यदाह दृढबलः—'अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्' (च. चि. अ. २८) इति । ननु, यद्येवं तदाऽर्दितार्धाङ्गवातयोः को भेदः ? उच्यते, वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धाङ्गवाते तु सर्वदैवेति भेदः; अथवा यथोक्तः सर्वलिङ्गोऽर्दितस्तद्विपरीतस्त्वर्धाङ्गवात इत्याहुः । सुश्रुतेन तु मुखमात्र एवार्दितः पठितः, अर्धशरीरस्यार्धाङ्गवातेन लब्धत्वात् । स एवात्र माधवेन लिखितः ।। ४४–४६ ।।

सरोज व्याख्या—अर्दित रोग के लक्षण कहते हैं—उच्चैरित्यादि । अर्दयति—पीडयति अर्थात् वायु पीड़ित करता है । अपवर्तते—मुख टेढ़ा (वक्र) हो जाता है । चलति—शिर काँपता है, वाक्सङ्गः—वाणी अवरुद्ध हो जाती है, ठीक-ठीक रोगी बोल नहीं सकता । आदि शब्द से भ्रू एवं गण्ड आदि अङ्गों को लेना चाहिए। वैकृतम्—वेदना होती है, पीड़ित प्रदेश में स्फुरण होता है और मुख का वह भाग

टेढा हो जाता है। ग्रीवेत्यादि—जिस ओर अर्दित हो, उसी ओर के ग्रीवादि अङ्गों में वेदना होती है। तन्त्रान्तर में मुखार्ध के समान शरीरार्धव्यापी अर्दित कहा गया है। जैसा कि आचार्य दृढ़वल कहते हैं—"अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम् ।" (च. चि. २८) इति। अर्थात् आधे शरीर में अथवा केवल मुखार्ध में अर्दित रोग होता है।

अब यहाँ शंका होती है कि यदि अर्दित भी पक्षवध के समान आधे शरीर में होता है, तो अर्दित एवं अर्धाङ्गवात में परस्पर क्या भेद हुआ? इसका उत्तर देते है कि अर्दित का वेग हुआ करता है और वेग के समय ही अर्दित में पीड़ा होती है। अर्धाङ्गवात में सदैव पीड़ा होती है। यही इन दोनों में भेद होता है। अथवा जैसे ऊपर लक्षण बतलाये गये हैं, ये लक्षण मिलें, तो अर्दित और उसके विपरीत अर्ध शरीर में व्याप्त होने वाले को अर्धाङ्गवात कहा जाता है। सुश्रुत के कथनानुसार अर्दित 'मुख मण्डल' तक ही सीमित होता है। उसी को माधवकर ने यहाँ लिखा है ॥ ४६ ॥

अर्दित की साध्यासाध्यता

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ।

(सु. नि. १.७३)

जो रोगी अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी आँख की पलकें न बन्द हों, जो बोलने में असमर्थ हो अथवा स्पष्ट रूप से बोल न पा रहा हो, जिसका रोग तीन वर्ष पुराना हो अथवा जिसके मुख, नाक और आँख से निरन्तर स्राव निकले तथा रोगी को कम्पन (Tremors) होता हो, तो वह असाध्य होता है ॥

तस्यासाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि। अनिमिषाक्षस्य निमेषासमर्थचक्षुषः। प्रसक्ताव्यक्तभाषिण इति प्रसक्तं प्रकर्षेण सक्तमप्रवृत्तम्, अव्यक्तं प्रपीडितवर्णपदं भाषितुं शीलं यस्य स तथा। अन्ये तु प्रसक्तं निरन्तरमाहुः, तन्न, चरके 'दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक्' (च. चि. २८) इति वचनात्। त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयम्; अथवा त्रयाणां मुखनासाचक्षुषां वर्षः स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ॥ ४७ ॥

सरोज व्याख्या—अर्दित के असाध्य लक्षण बतलाते हैं—क्षीणस्येत्यादि। अनिमिषाक्षस्य—रोगी आँख की पलक खोलने एवं बन्द करने में असमर्थ होता है। प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः—प्रसक्त अर्थात् प्रकर्ष से रुक-रुक कर और अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट बोलने की जिसकी आदत बन गयी हो। अन्य आचार्य प्रसक्त का अर्थ

निरन्तर कहते हैं, किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि चरक में कहा है—'दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक्' । (च. चि. २८) अर्थात् जिह्वा दीन (अशक्त) और उत्क्षिप्त हो जाती है, बात करते समय रुक जाती है। त्रिवर्षम्—तीन वर्ष के पश्चात् । अथवा मुख, नासा और नेत्र—तीनों का वर्ष अर्थात् स्रवण (स्राव) जिसमें हो, उसे त्रिवर्ष कहते हैं।

आक्षेपकादि का वेग

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥ ४८ ॥

(अ. हृ. नि. १५.२८।२)

आक्षेपक से लेकर अर्दित तक सभी रोगों में आवेग के बाद रोगी स्वस्थ अनुभव करता है ॥ ४६-५० ॥

आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां वेगित्वमाह—गत इत्यादि। स्वास्थ्यं पीडालाघवम्, भारापगमे सुखित्वव्यपदेशवत् ॥ ४८ ॥

सरोज व्याख्या—आक्षेपक से लेकर अर्दित तक के वेगों के सम्बन्ध में कहते हैं—गत इत्यादि। वेग (दौरा) के समाप्त होने पर पीड़ा में कमी आती है। जैसा सिर का भार उतर जाने पर सुख का अनुभव होता है, वैसे ही आवेग समाप्त होने पर अपेक्षाकृत स्वस्थता का अनुभव होता है। यद्यपि रोग की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती ॥ ४८ ॥

हनुग्रह (Dislocation of Jaw)

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥ ४६ ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुग्रहः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥ ५० ॥

(अ. हृ. नि. १५.२९-३०)

जिह्वा निर्लेखन (खुरचने) से, सूखे (कड़े) पदार्थ के अति भक्षण से एवं अभिघात से हनुमूल में स्थित वायु कुपित होकर हनुसन्धि को अपने स्थान से हटा देता है, जिससे मुख पूर्णतया खुला ही रह जाता है अथवा बिलकुल बन्द हो जाता है। इस रोग को हनुग्रह[1] या हनुस्तम्भ कहते हैं।

हनुग्रहमाह—जिह्वेत्यादि। हनुमूलस्थः कपोलमूलस्थः। हनुं स्रंसयि-

---

१. हनुस्रंस—इति पाठान्तरम्। (अ. हृ. १५-३०)

स्वाऽधः कृत्वा। विवृतास्यत्वमास्यविवृतिं, संवृतास्यतामास्यसंवृतिं; सा च वायोरनियतकारित्वात् ॥ ४९-५० ॥

सरोज व्याख्या—हनुग्रह का लक्षण बतलाते हैं—जिह्वेत्यादि। हनुमूलस्थः—कपोलमूलस्थ अर्थात् हनुसन्धि (Tempromandibular Joint)। स्रंसयित्वा[१]—हनु को अपने स्थान हटाकर नीचे कर देता है। विवृतास्यत्वम्—मुख पूर्णतया खुला ही रह जाता है, संवृतास्यताम् अथवा बिल्कुल बन्द हो जाता है। वायु के अनियतकारी होने से यह निश्चित नहीं होता कि मुँह खुला रहेगा या बन्द होगा, कोई भी स्थिति हो सकती है।

मन्यास्तम्भ (Neck Rigidity)

दिवास्वप्नासमस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥ ५१ ॥
(सु. नि. १.६७)

दिन में अधिक सोने, विषम (ऊँचा-नीचा) स्थान पर शयन करने तथा ऊपर की ओर अधिक देर तक देखने से श्लेष्मा से आवृत वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है ॥ ५१ ॥

मन्यास्तम्भमाह—दिवास्वप्नेत्यादि। स एवेति वातः ॥ ५१ ॥

सरोज व्याख्या—मन्यास्तम्भ के लक्षण कहते हैं—दिवास्वप्नेत्यादि। स एव अर्थात् वही पूर्वोक्त स्वहेतु प्रकुपित वायु ॥ ५१ ॥

जिह्वास्तम्भ (Paralysis of Tongue)

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥ ५२ ॥
(अ. हृ. नि. १५.३१)

वाणी-वहन करने वाली सिराओं (वात नाड़ियों) में स्थित वायु जिह्वा में स्तम्भ उत्पन्न कर देता है, इस अवस्था को जिह्वा-स्तम्भ कहते हैं, जिससे मनुष्य खाने-पीने एवं बोलने में असमर्थ हो जाता है ॥ ५२ ॥

जिह्वास्तम्भमाह—वागित्यादि। वाग्वाहिनीसिरासंस्थ इति। वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योज्यम्, समस्तपक्षे 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु'—इत्यनेन पुंवद्भावप्राप्तेः। अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति। अन्नपानाभ्यवहारवचनेष्वसामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

---

२. स्रंसयित्वा=स्थानाच्चालयित्वा, विवृतास्यत्वं प्रसारितमुखत्वमथवा संवृतास्यत्वं करोति। (अ. हृ. १५. २९ अरुणदत्त की व्याख्या)।

सरोज व्याख्या—जिह्वास्तम्भ के लक्षण कहते हैं—वागित्यादि। वाग्वाहिनी जो सिरा है, उसमें स्थित वायु। समस्त पक्ष में वाहिनी के जगह 'वाग्वाहि शिरामूल' ऐसा पाठ भी किया जा सकता है। अन्नपानवाक्येष्वनीशिता--खाने, पीने एवं बोलने में मनुष्य को असमर्थता प्रतीत होती है।

सिराग्रह

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः॥ ५३॥
(अ. हृ. नि. १५.६७।२.३८)

प्रकुपित वायु रक्त में स्थित होकर ग्रीवा की सिराओं में रूक्ष, वेदनायुक्त एवं काले रंग को कर देती है। इस रोग को सिराग्रह कहते हैं। यह असाध्य होता है॥ ५३॥

सिराग्रहमाह—रक्तमित्यादि। मूर्धधरा इति ग्रीवागताः, तासां रूक्षत्वं वेदनावत्त्वं कृष्णत्वं च कुर्यात्। सोऽसाध्य इति स्वरूपेणैव, काकणकुष्ठवत्। शिरोग्रह इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् 'शिरोग्रह' इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव॥ ५३॥

सरोज व्याख्या—सिराग्रह के लक्षण कहते हैं--रक्तमित्यादि। मूर्धधराः--ग्रीवागत सिराएँ। उनमें रूक्षता, वेदना एवं कालापन, वायु कुपित होने के कारण करता है। यह रोग स्वभाव से असाध्य होता है, जैसे काकणकुष्ठ। 'सिराग्रह' के स्थान पर 'शिरोग्रह' पाठान्तर मिलता है। शिर को धारण करने वाली सिराओं के होने से शिर में वेदना आदि होने से इसे 'शिरोग्रह' भी कहा जाता है, किन्तु यह लक्षण 'सिराग्रह' का ही है॥ ५३॥

गृध्रसी (Sciatica)

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसीस्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥ ५४॥
वाताद्वातकफात् तन्द्रागौरवारोचकान्विता।
(च. चि. २८.५६.५७।१)

गृध्रसी रोग में नितम्ब (Buttock) से प्रारम्भ होकर वेदना कटि के पृष्ठभाग, ऊरु (Thigh), जानु (Knee), जंघा एवं पाद तक क्रम से जाती है। इसके कारण टाँगों में जकड़ाहट, पीड़ा, सूई के समान चुभन एवं स्फुरण होता है। इसे वातिक गृध्रसी कहा जाता है, किन्तु वात कफज गृध्रसी में उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त तन्द्रा, भारीपन तथा अरुचि होती है॥ ५४॥

[वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता ।
जानुकट्यूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम् ।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥

वातज गृध्रसी में सूई के समान चुभन, सम्पूर्ण शरीर में टेढ़ापन, जानु, कटि एवं ऊरु की सन्धियों में स्फुरण एवं जकड़ाहट होती है। वातकफज गृध्रसी का कारण अग्निमान्द्य होता है तथा उसमें तन्द्रा, मुख से लालास्राव एवं अरुचि होता है।५५-५६।

गृध्रसीमाह—स्फिक्पूर्वेत्यादि। स्फिक्पूर्वा प्रथमतो ग्राह्या स्तम्भरुक्तोदैर्यस्याः सा स्फिक्पूर्वाः; ईशानस्तु पूर्वा प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति। एषा च व्याख्या स्फिक्शब्दस्य नपुंसकत्वेन 'पूर्वा स्फिक्कटीपृष्ठ' इत्यादिपाठेन वोपपद्यते, नान्यथा। 'स्फिक्पूर्वम्' इति पाठान्तरं जानुजङ्घापदमित्यनेन योज्यम्। क्रमादिति न युगपत्। वातादितिच्छेदः। वातकफारब्धा गृध्रसी, सोक्तवातलक्षणयुक्ताऽपि तन्द्रागौरवादियुक्ता भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥ ५५-५६ ॥

सरोज व्याख्या—गृध्रसी का लक्षण कहते हैं—स्फिक्पूर्वेत्यादि। स्फिक् प्रदेश (Gluteal Region) में सर्वप्रथम स्तम्भ (जकड़ाहट), पीड़ा एवं तोद (सूई के समान (चुभन) प्रारम्भ होता है, इसलिए इसे स्फिक् पूर्वा कहते हैं। आचार्य ईशान 'स्फिक्' एवं 'पूर्वा' दोनों शब्द का अर्थ पृथक्-पृथक् करते हैं। 'पूर्वा' अर्थात् पहले गृध्रसी वात से होती है। 'स्फिक्' शब्द को नपुंसकान्त मानने से ऐसी व्याख्या हो सकती है। स्फिक् पूर्वम्—ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। 'जानुजंघापदम्' के साथ इसका सम्बन्ध होता है। क्रमात् अर्थात् इसका लक्षण पीड़ा आदि क्रमशः होता है, एकाएक स्फिक् से पाद तक एक साथ नहीं फैलता। वातात्—इसका यहाँ विच्छेद करते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध 'स्पन्दते मुहुः' पाठ के साथ है।

वातकफज गृध्रसी में उपर्युक्त वात लक्षणों के अतिरिक्त तन्द्रा, गौरव आदि अरुचि होता है।

सम्प्राप्ति घटक—

दोष—वातदोष अथवा वात + वातानुबन्धित श्लेष्मा।
दूष्य—रस, मांस, मज्जा, सिरा, स्नायु एवं कण्डरा।
उद्भवस्थान—पक्वाशय।
संचार—रसायनियाँ।
स्रोतस्—रसवह, मांसवह, मज्जावह (संज्ञावह चेष्टावह नाड़ी)।

स्रोतोदुष्टि—संग।

अग्नि—जाठराग्नि एवं धात्वग्नि।

आम—दुष्ट, अग्निजन्य।

अधिष्ठान—स्फिक्, कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जंघा एवं पद (सम्पूर्ण गृध्रसी नाड़ी क्षेत्र)।

आधुनिक दृष्टि से सियाटिका (Sciatica) रोग को गृध्रसी कहा जा सकता है। सियाटिका में तीव्र वेदना सियाटिका नाड़ी (Sciatic Nerve) और इसकी Terminal Branches में मुख्य रूप से Common Peroneal Nerve के Cutaneous Distribution के क्षेत्र में होता है। उसमें पीड़ा स्फिक् क्षेत्र से प्रारम्भ होकर जंघा के पृष्ठ, पैर के पार्श्व तथा पाद (Foot) के ऊपरी भाग पर प्रसार करती है। यह पीड़ा प्रायः सियाटिका नाड़ी के एक या अधिक भागों पर दबाव (Irritation) के कारण होता है। स्टेटलेग रेसिङ्ग टेस्ट (Straight Leg Raising Test)—रोगी को सीधा लिटाकर जानु सन्धि की विना मोड़े पैर ऊँचा करने को कहा जाय, तो रोगी पैर उठाने में पीड़ा का अनुभव करेगा।

प्रयोगशालीय परीक्षा—

(१) मूत्र परीक्षा—गृध्रसी के साथ मधुमेह कारण रूप में होगा, तो Diabetic Neuritis में शर्करा की उपस्थिति प्राप्त होगी।

(२) रक्त परीक्षा—(अ) रक्त शर्करा परीक्षा मधुमेह के ज्ञानार्थ।

(ब) रक्त परीक्षा—हीमोग्लोविन प्रतिशत—धातुक्षय ज्ञानार्थ।

—T. L. C.
—D. L. C.
—E. S. R.
} जीर्ण शोथ या आमवातिक नाड़ीशोथ के ज्ञानार्थ।

(३) एक्सरे—Lumbosacral Region and Pelvis—गृध्रसी नाड़ी के क्षेत्र में विकृति या दबाव के ज्ञानार्थ तथा कटि त्रिककशेरुकाओं एवं उनके मध्य की अन्तश्चक्रिकाओं की विकृति के ज्ञानार्थ।

विश्वाची (Brachial Neuralgia)

तलं प्रत्यंगुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥ ५७ ॥
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते।

(सु. नि. १.७५)

बाहु के पृष्ठ भाग से प्रारम्भ होकर अंगुलियों के पृष्ठभाग तक तथा प्रकोष्ठ एवं

हाथ के ऊपरी भाग की नाड़ियों (कण्डराओं) को विकृत करके बाहु के आकुञ्चन एवं प्रसारण आदि कर्म का क्षय करने वाली व्याधि को विश्वाची कहते हैं।

विश्वाचीमाह—तलमित्यादि। तलं हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्रोपरिवचनः, यथा भूतलमिति गयदासः। तेनायमर्थः-बाह्वोः पृष्ठं बाहुपृष्ठं, तत आरभ्य हस्ततलं लक्षीकृत्यांगुलीनां याः कण्डरास्ताः सन्दूष्य बाह्वोः कर्मक्षयकरी या सा विश्वाची; बाह्वोः कर्म ग्रहणाकुञ्चनादि। द्वित्वं चात्र संभवपरं, तेनैकबाहावपि भवति वातरक्तवत्। विश्वाची चेति चकारेण गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीसञ्ज्ञां दर्शयति, तयोरपि करमूलावमोटनकारित्वात्; यदुक्तं हारीते—'विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता' इति गयदासः। चक्रस्त्वाह चरके--'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी' (च. चि. २८) इत्यनेन विश्वाच्याः पृथगेव खल्ली पठिता, सुश्रुतेन तु खल्ली न पठितैव; नहि तेन तन्त्रान्तरोक्तसर्वविकाराः पठ्यन्ते, चरकोक्तपरस्परवातावरणलक्षणमेव न पठितं, हारीतेन तु तीव्ररुजायोगाद्गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीत्वं पठितम्, भवति हि धर्मान्तरयोगात् कस्यचिद्विकारस्य रोगान्तरत्वं, यथा--अष्ठीलैव प्रत्यष्ठीला, अश्मर्येव शर्करा, पाण्डुरोग एव कामलेत्यादि॥ ५७॥

सरोज व्याख्या--विश्वाची का लक्षण बतलाते हैं—तलमित्यादि। तल शब्द यहाँ पर हाथ के ऊपरी भाग का बोधक है। जैसे कि भूतल से भूमि का ऊपरी भाग लिया जाता है। ऐसा गयदास का मत है। इसका यह अर्थ हुआ कि दोनों बाहुओं के पृष्ठभाग (Posterior Side) से आरम्भ करके हस्ततल (Anterior Side) को लक्षित करके अँगुलियों की जो कण्डरा होती है, उनको दूषित करके बाहुओं के ग्रहण एवं आकुञ्चन आदि कर्म का क्षय (Motor Function) करने वाले रोग को विश्वाची कहा जाता है। 'बाह्वोः' यह द्विवचन है, जो सम्भावनापरक है अर्थात् सामान्यतया वातरक्त के समान यह भी एक ही बाहु में होता है, किन्तु कदाचित् दोनों बाहु में भी हो सकता है। 'विश्वाची च' यहाँ पर चकार से गृध्रसी और विश्वाची को 'खल्ली' कहते हैं, क्योंकि इन दोनों में 'खल्ली' के समान हाथ और पैर में ऐंठन होती है। जैसा कि हारीत में कहा गया है—'विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता'। यह गयदास का मत है। चरक के मत को उद्धृत करते हुए चक्रपाणि कहते हैं—"खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोट्टनी" (च. चि. २८) अर्थात् पाद, जंघा, ऊरु एवं करमूल (Wrist Joint) में ऐंठन करने वाली खल्ली होती है। इससे खल्ली को विश्वाची से पृथक् कहा गया है। सुश्रुत ने तो खल्ली का लक्षण नहीं लिखा है, क्योंकि तन्त्रान्तर में सभी विकारों

का वर्णन नहीं किया गया है। इसी प्रकार चरकोक्त परस्पर वातावरण के लक्षण भी नहीं पढ़े। हारीत ने तो तीव्र पीड़ा होने के कारण गृध्रसी और विश्वाची में खल्ली माना है। किसी लक्षणविशेष (धर्मान्तर) के सम्बन्ध से एक रोग की दूसरी संज्ञा (रोगान्तर) हो सकती है। जैसे अष्ठीला ही प्रत्यष्ठीला, अश्मरी ही शर्करा एवं पाण्डुरोग ही कामला बन जाता है।

क्रोष्टुकशीर्ष (Synovitis of the Knee-Joint)

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥ ५८ ॥
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ।

(सु. नि. १.७६)

घुटने में वात और रक्त की विकृति से तीव्र वेदनायुक्त स्थूल शोथ जिससे जानुग्रन्थि गीदड़ के सिर के समान दिखाई पड़ती है, उसे 'क्रोष्टुकशीर्ष' कहते हैं।

क्रोष्टुकशीर्षमाह--वातेत्यादि। वातशोणितज इति वातरक्ताख्यविकारजः, चिकित्साभेदार्थं पृथक् पठित इति गयदासः। वातशोणिताभ्यां जात इति जेज्जटः। दृश्यते ह्ययं वातरक्तव्यतिरेकेणापि, जानुदेशनियतत्वेन विशिष्टलक्षणत्वेन चेतरवातरक्तशोथाद् भेद इति। क्रोष्टुकशीर्षवत् शृगालमस्तकवत् स्थूलः ॥ ५८ ॥

सरोज व्याख्या--क्रोष्टुकशीर्ष के लक्षण बतलाते हैं–वातेत्यादि। वातशोणितजः अर्थात् वातरक्त की विकृति से यह उत्पन्न होता है। चिकित्साभेद के लिये इसका पृथक् से उल्लेख किया गया है। ऐसा गयदास का कथन है। आचार्य जेज्जट इसे वात एवं रक्त से उत्पन्न मानते हैं। यह वातरक्त के विना भी नियतरूप से जानुप्रदेश में होता हुआ अपने विशिष्ट लक्षणों से वातरक्तजन्य शोथ से पृथक् होता है। क्रोष्टुकशीर्षवत्—शृगाल के सिर के समान शोथयुक्त होकर जानुसन्धि स्थूल हो जाता है।

खञ्ज एवं पङ्गु

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ।

(सु. नि. १.७७)

जब कटिप्रदेश में आश्रित कुपित वायु एक टाँग की कण्डरा (नाडी) को प्रभावित करता है, तो खञ्ज या लंगड़ापन हो जाता है और इसी प्रकार दोनों टांगों

की कण्डरा में विकृति होने पर पङ्गु हो जाता है। (इसमें टांगें धीरे-धीरे सूख जाती है)।

खञ्जमाह--वायुरित्यादि। सक्थ्न ऊर्ध्वजङ्घायाः, कण्डरां महास्नायुम्, आक्षिपेत् ईषत् क्षिपेत्, किंचिद् गतिमत्त्वादिति गयदासः। सक्थ्नोरिति द्विवचनेनैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति-सक्थिद्वयस्यैव वधात् पङ्गुः, एकसक्थिवधात् खञ्ज इति; वधश्चात्र गमनादिक्रियानाशः ॥ ५९ ॥

सरोज व्याख्या—खञ्ज के लक्षण बतलाते हैं--वायुरित्यादि। ऊर्ध्व जंघा को सक्थि (Thigh) कहते हैं। कण्डरा अर्थात् महास्नायु को वायु हल्का सा आक्षेप कर देता है। आक्षेप शब्द का अर्थ अचानक होने वाली किञ्चित् गति या झटका होता है। ऐसा गयदास का कथन है। 'सक्थ्नोः' से द्विवचन का बोध होता है। 'द्वयोः' पद से दोनों सक्थियों को समझना चाहिए। दोनों सक्थियों की क्रिया नष्ट होने पर उसे 'पङ्गु' कहते हैं और एक सक्थि के क्रियानाश को 'खञ्ज' कहते हैं। यहाँ वध शब्द से सक्थि की गमनादिक्रिया के नाश को समझना चाहिए।

कलायखञ्ज (Lathyrism)

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥ ६० ॥
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम्।

(सु. नि. १.७८)

जब रोगी चलते समय खञ्जन पक्षी की तरह काँपता और लँगड़ाता हो, तो उसे 'कलायखञ्ज' कहते हैं। इसमें टांग के सन्धिबन्धन शिथिल हो जाते हैं।

खञ्जविशेषमाह--प्रक्रामन्नित्यादि। प्रक्रामन्निति गमनमारभमाणो वेपते। प्रशब्दोऽयमादिकर्मणि। खञ्जन्निव गच्छति विकलयन्निव गच्छति, गमनारम्भे वेपते, तेन खञ्जादस्य भेदः। मुक्तसन्धिप्रबन्धनमिति शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम्। कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढा संज्ञा; अयमेवान्यत्र खञ्जवात इत्युक्तः ॥ ६० ॥

सरोज व्याख्या—खञ्ज के विशेष भेद को कहते हैं—प्रक्रामन्नित्यादि। प्रक्रामन्—चलना आरम्भ करने पर विशेष प्रकार का कम्पन होता है। 'प्र' शब्द यहाँ आदि कर्म का बोधक है। खञ्जन्निव गच्छति—लगड़ाता हुआ चलता है। गमन आरम्भ करते समय रोगी की टाँग विशेष प्रकार से कांपने लगती है। खञ्ज एवं कलायखञ्ज में यही भेद है। मुक्तसन्धिप्रबन्धनम्—टांग के सन्धिबन्धन शिथिल

हो जाते हैं। 'कलायखञ्ज' शास्त्र में रूढ़ संज्ञा है, अन्यत्र इस 'खञ्जवात' कहा जाता है।

वातकण्टक (Ankle Sprain)

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद् वा जायते यदा ॥ ६१ ॥
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।

(अ. हृ. नि. १५.५३)

विषम भूमि पर पैर रखने अथवा अत्यधिक परिश्रम से प्रकुपित वात जब गुल्फ सन्धि (Ankle Joint) में पीड़ा उत्पन्न करता है, तो उसे 'वातकण्टक' कहते हैं।

वातकण्टकमाह--रुगित्यादि। यदा विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फे वेदनां जनयति, तं वातकण्टकमित्याहुः, अयमेवान्यत्र 'खुड्डकवात' इत्युक्तः ॥ ६१ ॥

सरोज व्याख्या—वातकण्टक के लक्षण कहते हैं—रुगित्यादि। विषमपादन्यासकुपितः—पांवों के ऊँचे-नीचे स्थानों पर पड़ जाने से अथवा देर तक पांवों पर खड़े होने से कुपित हुआ वायु गुल्फ में वेदना पैदा कर देता है। इसको 'वातकण्टक' कहते हैं। इसे अन्यत्र 'खुड्डकावात' कहा है।

पाददाह (Burning Feet)

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ६२ ॥
विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् ।

(सु. नि. १.८०)

प्रकुपित वायु पित्त और रक्त से मिलकर पाँवों में दाह पैदा करता है, चलते समय इसका विशेष अनुभव होता है। इसे 'पाददाह' कहते हैं।

पाददाहमाह--पादयोरित्यादि। विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति। वैवर्ण्यादेरभावाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥ ६२ ॥

सरोज व्याख्या—पाददाह के लक्षण बतलाते हैं—पादयोरित्यादि। विशेषतः चङ्क्रमतः से स्पष्ट होता है कि चलते समय अधिक दाह होता है। बैठे होने पर या आराम करने पर अल्प दाह होता है। इसमें वातरक्त की विवर्णता नहीं होती। यही वातरक्त से इसका भेद है।

पादहर्ष

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥

पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ।

(सु. नि. १.८१)

जब रोगी के पैरों में हर्ष (झनझनाहट) और कभी-कभी सुप्तता (स्पर्श-ज्ञान का अभाव) हो, तो इस अवस्था को 'पादहर्ष' कहते हैं । यह प्रकुपित कफ एवं वात से होता है ।

पादहर्षमाह--हृष्येते इत्यादि । हृष्येते हर्षयुक्तौ भवतः, हर्षश्च रोमाञ्च-प्रायोऽन्तःशीतो झिणिझिणिवद्वेदनाविशेष इत्याहुः, झिणिझिणि तु न चिरानुबन्धिनी केवलवातजेति भेदः ॥ ६३ ॥

सरोज व्याख्या— पादहर्ष के लक्षण कहते हैं—हृष्येत इत्यादि । हृष्येते—हर्षयुक्त अर्थात् पाँवों में 'झनझनाहट' होता है । हर्ष का लक्षण कहते हैं कि जिसमें रोमाञ्च हो और अन्दर से पाँवों में शीतलता का अनुभव हो और झनझनाहट के समान वेदना हो । झनझनाहट अधिक समय तक नहीं होता और केवल वात से होता है । पादहर्ष अधिक समय तक होता है; क्योंकि इसमें कफ और वात का प्रकोप होता है ।

अंसशोष

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥ ६४ ॥

(सु. नि. १.८२।१)

अंसप्रदेश में स्थित वायु प्रकुपित होकर अंसबन्धन (मांसपेशी एवं स्नायु) में शोष उत्पन्न कर अंसशोष उत्पन्न करता है ।

अंसेत्यादि । अंसेत्यादिना श्लोकार्धेनांसशोषः केवलवातज उच्यते अंसबन्धकारकः श्लेष्मा अंसबन्धनः; एतदनतरम् 'अंसशोषं जनयेत्' इति शेष इति कार्तिकः ॥ ६४ ॥

सरोज व्याख्या—अंसशोष का लक्षण बतलाते हैं--अंसेत्यादि । अर्थात् । अंस देश (Supra Clavicular Region) में स्थित वायु । अंसेत्यादि श्लोकार्ध से अंसशोष का लक्षण कहते हैं, जो कि केवल वातजन्य होता है । अंस को बाँधने वाले श्लेष्मा को अंसबन्धन कहते हैं । यदि इस श्लोकार्ध के पश्चात् 'अंसशोषं जनयेत्' ऐसा पाठ जोड़ दिया जाय, तो लक्षण ठीक हो जायेगा । ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है ।

अवबाहुक

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदवबाहुकम् ।

(सु. नि. १.८२।२)

अंसप्रदेश में स्थित वायु प्रकुपित होकर वहाँ की सिराओं (वातनाड़ियों) को आकुञ्चित करके अवबाहुक रोग को उत्पन्न करता है ।

अवबाहुकमाह--सिराश्चेत्यादिना अवबाहुकम् । तत्रस्थोंऽसदेशस्थः, सिरा आकुञ्च्यावबाहुकं जनयेत् । अयं वातकफजः । अन्ये तु मिलित्वाऽवबाहुकलक्षणमाहुः, तन्न; यतः सुश्रुतेनोक्तम्--'अंसशोषावबहुकयोर्बाहुमध्ये सिराव्यधः' (सु. शा. ८) इति । एतदनन्तरं सुश्रुतेन बाधिर्यं पठितम्-'यदा शब्दवहं वायुः' (सु. नि. १) इत्यादिना । माधवेन तु प्रकरणानुरोधं मन्यमानेन कर्णरोग एवं तत् पठितं, किन्तु सुश्रुतेन वातव्याधौ बाधिर्यं पठित्वाऽपि बाधिर्यकर्णशूलौ शालाक्येऽपि पठितौ, पुनरुक्तमिति चेत्; न, सम्प्राप्तिभेदभिन्नत्वात्, वातव्याधौ शब्दवहमित्यनेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेश उक्तः, शालाक्ये च शब्दवहाः सिरा इत्युक्तम् । माधवेन तु कर्णरोगे शब्दाश्रवणत्वाविशेषादेतदेव तत्र पठितमित्यविरोधः ।।

सरोज व्याख्या—अवबाहुक के लक्षण बतलाते हैं–सिराश्चेत्यादिना । 'तत्रस्थ' अर्थात् पूर्वोक्त अंस प्रदेश में स्थित रहने वाला वायु सिराओं को आकुञ्चित करके अवबाहुक रोग उत्पन्न करता है । यह अवबाहुक रोग वात कफज होता है । कुछ विद्वान् इन दोनों श्लोकार्धों को मिलाकर 'अवबाहुक' का लक्षण कहते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि आचार्य सुश्रुत ने दोनों को पृथक् पृथक् मानते हुए कहा है कि अंसशोष एवं अवबाहुक दोनों रोगों में बाहु के मध्य में सिरावेध करना चाहिए । (सु. शा. ८) ।

अवबाहुक के पश्चात् सुश्रुत ने बाधिर्य का लक्षण बतलाया है—"यदा शब्दवहं वायुः ………" (सु. नि. १.८३) । माधवकर ने प्रकरणानुसार कर्णरोगनिदान के प्रसङ्ग में बाधिर्य रोग का उल्लेख किया है, किन्तु सुश्रुत ने वातव्याधि के अतिरिक्त शालाक्यतन्त्र के वर्णन के समय भी बाधिर्य एवं कर्णशूल का उल्लेख किया है । यहाँ पर आचार्य सुश्रुत द्वारा पुनरुक्त दोष नहीं हुआ है, क्योंकि दोनों की सम्प्राप्ति में विभिन्नता है । वातव्याधिप्रकरण में बाधिर्य की सम्प्राप्ति में कर्णशष्कुलि में नभोदेश, अर्थात् रिक्त प्रदेश जहाँ शब्दध्वनि होती है, उसका ग्रहण किया जाता है, जबकि शालाक्य प्रकरण में बाधिर्य के सम्प्राप्ति में शब्दवह सिराओं का ग्रहण किया जाता है । माधवकर ने शब्द के अश्रवणमात्र (बहिरापन) की विशेषता से इन दोनों का कर्णरोग में उल्लेख किया है । इसलिए सुश्रुत एवं माधवकर में कोई विरोध नहीं प्रतीत होता ।

मूक, मिन्मिन एवं गद्गद (Aphasia, Rhinophonia and Disarthria)

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः ॥ ६५ ॥
नरान् करोत्यक्रियकान् मूकमिन्मिनगद्गदान् ।

(सु. नि. १.८५)

कफयुक्त प्रकुपित वायु शब्दवाहिनी धमनी में अवरोध उत्पन्न करके मनुष्यों को बोलने के कार्य में किञ्चित् असमर्थ कर मूक, मिन्मिन और गद्गद स्वरयुक्त बना देती है ।

मूकादींस्त्रीनाह—आवृत्येत्यादि । अक्रियकान्; अवचनक्रियकान्, नञयमभावे ईषदर्थे च । आद्यो मूकोऽवचनः, द्वितीयो मिन्मिनः सानुनासिकसर्ववचनः, तृतीयो गद्गदो लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी । एषां च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षादिभिरदृष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम् ।। ६५ ॥

सरोज व्याख्या—मूक आदि तीनों के लक्षण कहते हैं—आवृत्त्येत्यादि । अक्रियावान् अर्थात् बोलने की क्रिया का ह्रास हो जाता है, जिससे मनुष्य बोलने में असमर्थ हो जाता है । अक्रियावान् में 'नञ' प्रत्यय 'अभाव' और 'ईषद्' अर्थ अर्थात् किञ्चित् भाव दोनों का बोधक है । जैसे मूक व्यक्ति का बिलकुल न बोलना वाक् क्रिया का अभाव तथा मिन्मिन एवं और गद्गद् कुछ-कुछ बोलना किञ्चित् अर्थ का द्योतक है । इनमें पहला 'मूक' (गूंगा) होता है, जो बिलकुल नहीं बोल सकता, दूसरा मिन्मिन होता है, जिसमें रोगी नाक के स्वर से बोलता है, इसे सानुनासिकवाक्यता कहते हैं । तीसरा गद्गद् होता है, इसमें रोगी रुक-रुक कर बोलता है और बोलते समय कुछ अक्षरों या शब्दों को छोड़ देता है । उपर्युक्त तीनों समान कारणों से एक स्थान में होते हैं, किन्तु कारणों में उत्कर्षादि होने अथवा अदृष्टवश परस्पर भेद होता है ।

तूनी रोग (Renal Colic)

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।। ६६ ॥
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः ।

(सु. नि. १.८६)

जो वेदना मलाशय और मूत्राशय से आरम्भ होकर नीचे की ओर गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय का भेदन करती हुई प्रतीत हो, उसे 'तूनी' कहते हैं ।

तूनीमाह—अध इत्यादि । अध इति गुदोपस्थम् । वेदना शूलम् । वर्चो-

मूत्राशयोत्थिता, पक्वाशयमूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता। उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम्। नामतः प्रसिद्धितः॥ ६६॥

सरोज व्याख्या––तूनी के लक्षण कहते हैं––अध इत्यादि। अधः अर्थात् नीचे की ओर गुदा और मूत्रेन्द्रिय तक जाने वाली। वेदना-शूल। वर्चोमूत्राशयोत्थिता––पक्वाशय और मूत्राशय से उत्पन्न होने वाली। यह वेदना कभी-कभी पक्वाशय और मूत्राशय––इन दोनों स्थानों से मिलकर उठती है और कभी-कभी केवल मूत्राशय या केवल पक्वाशय से प्रारम्भ होती है। उपस्थ से स्त्री एवं पुरुष का जनेन्द्रिय लिया जाता है। नामतः––तूनी नाम से प्रसिद्ध है।

प्रतितूनी (Urethral Colic)

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता॥ ६७॥
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते।

(सु. नि. १.८८)

जब वेदना गुदा एवं उपस्थ से प्रारम्भ होकर प्रतिलोम गति से वेगपूर्वक पक्वाशय की ओर जाय, तो उसे प्रतितूनी कहते हैं।

प्रतितूनीमाह—गुदेत्यादि। प्रतिलोममित्यूर्ध्वम्। वेगैर्वातकृततोद्गमैः। सेत्यनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते॥ ६७॥

सरोज व्याख्या—प्रतितूनी का लक्षण कहते हैं—गुदेत्यादि। प्रतिलोमम्—नीचे से ऊपर की ओर जाती है। वेगैः––वायु के तीव्र वेगों से। सा—वही पूर्वोक्त तूनी तीव्र पीड़ा उत्पन्न करती हुई।

आध्मान एवं प्रत्याध्मान (Tympanitis & Gastric Tympanitis)

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्॥ ६८॥
आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्।
विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्॥ ६९॥
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्।

(सु. नि. १. ८८-८९)

आध्मान—वात के निरोध के कारण सम्पूर्ण उदर में आटोप (गुड़गुड़ाहट), तीव्र वेदना एवं तनाव हो जाय, तो उसे आध्मान कहते हैं। यह कष्टप्रद होता है।

प्रत्याध्मान—पार्श्व एवं हृदय प्रदेश को छोड़कर उपर्युक्त लक्षण आमाशय में उत्पन्न हों, तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं। यह प्रकुपित कफ एवं वायु के कारण होता है।

आध्मानमाह—साटोपमित्यादि। आटोपमिति आटोपश्चलचलनमिति गयदासः, गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः। आध्मातं वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम्। उदरमिति पक्काशयः, प्रत्याध्मानस्यामाशयसम्भवत्वात्। घोरमिति कष्टप्रदम्। आमाशयसमुत्थत्वेन प्रत्यासत्त्या पार्श्वहृदययोरपि वेदनाशङ्का-निरासार्थमाह—विमुक्तेत्यादि। तदेवेत्यनेन साटोपादित्वमतिदिशति। कफव्याकुलितानिलं कफावृतवातम्॥ ६८-६९॥

सरोज व्याख्या—आध्मान का लक्षण बतलाते हैं—साटोपमित्यादि। आचार्य गयदास ने उदर में वायु चलने को आध्मान माना है। कार्तिक ने उदर में गुड़गुड़ाहट को आटोप कहा है। जैसे चर्मपुटक (चमड़े का थैला) वायु भरने से तन जाता है, वैसे ही उदर में वायु भर जाने को आध्मान कहा गया है। उदर शब्द से पक्वाशय का ग्रहण करना चाहिये। प्रत्याध्मान आमाशय में होता है। घोरं—अत्यन्त कष्टप्रद। प्रत्याध्मान आमाशय में होने से हृदय एवं पार्श्व में भी पीड़ा हो सकती है, इस शंका के निराकरण के लिये 'विमुक्तपार्श्वहृदयम्'—ऐसा उल्लेख किया गया है। 'तदेव' शब्द से उपर्युक्त आटोप, तीव्र वेदना एव तनाव आदि आध्मान के लक्षण इसमें भी मिलते हैं। कफव्याकुलितानिलम्—वात कफ से आवृत हो जाता है।

अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला (Enlarged Prostate)

नाभेरधस्तात् सञ्जातः संचारी यदि वाऽचलः॥ ७०॥
अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः।
वाताष्ठीलां विजानीयाद् बहिर्मार्गावरोधिनीम्॥७१॥
एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम्॥ ७२॥

(सु. नि. १. ९०-९१)

नाभि के नीचे चल अथवा अचल पत्थर के समान एक ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। यह ग्रन्थि ऊपर-ऊपर से चौड़ी अथवा उठी हुई होती है। इसे वाताष्ठीला अथवा अष्ठीला (Enlarger Prostate) कहते हैं। इससे मल-मूत्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

यदि यही ग्रन्थि उदर में तिर्यक् उठी हो, उसमें पीड़ा हो, अधोवायु मल एवं मूत्र को अवरुद्ध कर दे, तो इसको प्रत्यष्ठीला (Rectovesical Tumour) कहते हैं।

अष्ठीलामाह—नाभेरित्यादि। अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुवादी कार्तिकः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौहभाण्डीति गयदासः। ऊर्ध्वमायत उपरिदीर्घः। उन्नतस्तिर्यगुन्नतः। वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीलेति स्वरूपपरं, व्यावृत्त्यभावात्। बहिर्मार्गावरोधिनीं वातमूत्रपुरीषावरोधिनीम्। एतामित्यादि। सैव जठरे तिर्यगुत्थिता तिर्यगायता प्रत्यष्ठीलेति भेदः। वातविण्मूत्ररोधिनीमिति विशेषपरम् ॥ ७०-७२ ॥

सरोज व्याख्या—अष्ठीला के लक्षण कहते हैं—नाभेरित्यादि। उत्तरापथ (उत्तर भारत) में वर्तुल (गोल) पाषाण विशेष (सिल के लोढ़े) को अष्ठीला कहा जाता है। ऐसा जेज्जट मतानुवादी आचार्य कार्तिक का कथन है। गयदास के विचार से कर्मकारों[1] का गोल एवं दीर्घ लोहे का विशेष यन्त्र समझना चाहिए। ऊर्ध्वमोन्नतः—ऊपर की ओर चौड़ी। उन्नत—तिरछी उठी हुई। वातकृता अष्ठीला—वात से होने वाली अष्ठीला को वाताष्ठीला कहते हैं। अष्ठीला—स्वरूपसूचक नाम है, अर्थात् वाताष्ठीला अष्ठीला (पत्थर) के समान होता है। बहिर्मार्गावरोधिनीम्—अधोवायु, मूत्र, पुरीष के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है।

एतामित्यादि—यही अष्ठीला, जठरे तिर्यगुत्थिता—उदर में तिरछा उठा हो। यही अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला में भेद है। वातविण्मूत्ररोधिनीम्—यह विशेष लक्षण है।

वातविकृतिजन्य मूत्रावरोध

मारुतेऽनुगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चास्य प्रतिलोमे भवन्ति च ॥ ७३ ॥

(सु. नि. १)

वस्तिगत वायु के अनुलोम होने पर मूत्र-प्रवृत्ति सम्यक् रूप से होती है। किन्तु जब वायु का प्रतिलोम हो जाता है, तो वस्तिगत अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि वातविकृतिं मूत्ररोधिनीमाह—मारुत इत्यादि। अनुगुणेऽनुलोमे, प्रतिलोमे मारुत इति सम्बन्धः। विकारा अश्मरी-मूत्रकृच्छ्रादयः ॥ ७३ ॥

सरोज व्याख्या—अष्ठीला के विना भी वातविकृतिजन्य मूत्रावरोध के लक्षण कहते हैं—मारुत इत्यादि। अनुगुणे—वायु के अनुलोम होने पर। प्रतिलोमे—

---

१. चर्मकाराणां—इति डल्हणः।

वायु के प्रतिलोम होने पर। विकारः--अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र आदि विविध प्रकार के रोग हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

कम्पवात या वेपथु (Parkinsomism)

सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

सर्वाङ्गकम्प या शिर के कम्प को वेपथु या कम्पवात कहते हैं।

वेपथुवातविकारमाह—सर्वेत्यादि। शिरसः कम्प इति सम्बन्धः, शिर इत्यवयवोपलक्षणम्, तेन हस्तादेरपि कम्पो वेपथुरित्यर्थः ॥

सरोजव्याख्या—वेपथु वातविकार को कहते हैं-सर्वेत्यादि। शिर भी काँपता है। इस प्रकार सम्बन्ध कर लेना चाहिए। 'शिर' शब्द उपलक्षणमात्र है। इसमें शरीर के अङ्गों की ओर संकेत करता है। इससे हाथ एवं पैर आदि में भी कम्प होना समझना चाहिए।

खल्ली (Cramps)

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥ ७४ ॥

(च. चि. २८.५७२)

पैर, जंघा, ऊरू तथा हाथ के मूल में ऐंठन उत्पन्न करने वाली व्याधि को खल्ली कहते हैं।

ऊर्ध्ववात

(अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा ।
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते) ॥ ७५ ॥

कफ अथवा कुपित वायु से आवृत्त होने पर प्रतिलोम वायु अत्यधिक उद्गार को उत्पन्न करता है, तो उसे ऊर्ध्ववात कहते हैं।

खल्लीत्यादि। खल्ली सिरावमोट्टन इति लोके। 'अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च। करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातं प्रचक्षते' ॥ इत्यत्राधिकं केचित् पठन्ति ॥ ७४–७५ ॥

सरोज व्याख्या--खल्ली का लक्षण कहते हैं--खल्लीत्यादि। खल्ली को लोक में सिरामोटन कहते हैं। मधुकोशकार बिजयरक्षित ने यहीं पर ऊर्ध्ववात का लक्षण भी बतला दिया है। आतङ्कदर्पणकार ने 'मोटन' का अर्थ परिवर्तनशील किया है ॥ ७४-७५ ॥

अनुक्त (अवर्णित) वात रोग

स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत् ।
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥

(च. चि. ८२)

स्थान एवं नाम के अनुरूप लक्षणों द्वारा वायु के शेष व्याधियों को जान लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन सब में वायु के साथ पित्त, कफ, रक्त एवं आम आदि के संसर्ग की कल्पना लक्षणानुसार करनी चाहिए ॥ ७६ ॥

अनुक्तवातरोगसंग्रहार्थमाह-स्थानेत्यादि । स्थानानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा-कुक्षिशूलं नखभेद इत्यादि । नामानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—शूलमित्युक्ते कीलनिखातवद् वेदनाविशेष एव बोध्यते, तथा भेदतोदादिभिरपि पीडाविशेष एव गम्यते ॥ ७६ ॥

सरोज व्याख्या—अवर्णित वात रोग का उपसंहार करते हुए कहते हैं—स्थानेत्यादि । स्थानानुरूपैर्लिङ्गैः—स्थान के अनुरूप लक्षणों से व्याधि का नामकरण करना चाहिए। जैसे कुक्षिशूल, नखभेद इत्यादि। नामानुरूप लक्षण--जैसे शूल शब्द से कील गाड़ने के समान वेदना होती है। इसी प्रकार भेद, तोद आदि से वेदनाविशेष का ज्ञान होता है। कार्यकारण के अभेदविचार से यहाँ पर 'वात' शब्द से वातरोगों को लेना चाहिए। 'वातात्' इस पञ्चमी विभक्ति के पाठ से वायु से होने वाले हनुस्तम्भ आदि रोगों को लिया जाता है ॥ ७६ ॥

वातव्याधि की साध्यासाध्यता

हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः ।
कालेन महता वाता यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७७ ॥
नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

हनुस्तम्भ, अर्दित, आक्षेप, पक्षाघात तथा अपतानक रोग देर तक यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर अच्छे हो सकते हैं अथवा कभी नहीं भी। अतः रोगी बलवान् एवं उपद्रवरहित हो, तभी इनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

उपद्रव

विसर्पदाहरुक्सङ्गमूर्च्छाऽरुच्यग्निमार्दवैः ॥ ७८ ॥
क्षीणमांसबलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः ।
शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥ ७९ ॥

(सु. सू. ३३.७)

विसर्प, दाह, पीड़ा, मूत्र, पुरीष, अधोवात की अप्रवृत्ति, मूर्च्छा, अरुचि तथा अग्निमान्द्य ये वातव्याधि के उपद्रव है। इन उपद्रवों से पीड़ित तथा मांसबल से क्षीण रोगी को पक्षवध आदि वातविकार मार डालते हैं।

जिसके शरीर में शोथ हो गया हो, जिसकी त्वचा में स्पर्शज्ञान की शक्ति नष्ट हो गयी हो, जिसका अंगभंग हो गया हो, जो कम्पवात एवं आध्मान से पीड़ित हो तथा तीव्र वेदना से पीड़ित हो, वह रोगी भी वातव्याधि से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ७८-७९ ॥

वातोपद्रवानाह—विसर्पेत्यादि। वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। वातादिति पाठे तु वातात् पक्षवधादय इति योज्यम्। शूनमित्यादि शूनं सशोथम्। सुप्तत्वचं स्पर्शानभिज्ञत्वगिन्द्रियम् ॥ ७८-७९ ॥

सरोज व्याख्या—वात के उपद्रव कहते हैं—विसर्पेत्यादि। यहाँ पर भी वात शब्द से कार्यकारण अभेद से वातजन्य रोगों का ग्रहण होता है। 'वातात्' इस पञ्चमी विभक्ति के पाठ से पक्षवध आदि रोगों को लिया जाता है। शूनम्—शोथयुक्त। सुप्तत्वचम्—जो स्पर्शज्ञान से शून्य हो ॥ ७८-७९ ॥

प्रकृतिस्थ वायु के लक्षण

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ८० ॥

जिस मनुष्य के शरीर में वायु की गति अवरुद्ध न हो तथा वायु अपने स्थान स्थान पर प्रकृतिस्थ कार्य करे, तो वह मनुष्य निरोग रहते हुए एक सौ वर्ष पर्यन्त या उससे अधिक जीवित रहता है ॥ ८० ॥

इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोर्लिङ्गं कार्यं चाह—अव्याहतेत्यादि। यस्येति पुरुषस्य। अव्याहतगतिरनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतिस्थितोऽक्षीणश्च प्रवृद्धः, एतद्विशेषणत्रयं हेतुहेतुमद्भावेन योज्यम्। वीतरोगो नीरोगः; कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकवातेनान्तरीयकत्वात्। अधिकं समाः शतमिति पञ्चदिनाधिकं सविंशं वर्षशतम्। यदाह वराह आयुर्निरूपणे—'समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशाः' इत्यादि।८०।

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥ २२ ॥

सरोज व्याख्या—अब पञ्चविध प्रकृतिस्थ वायु के लक्षण कहते हैं—अव्याहतेत्यादि। जिस पुरुष की गति अवरुद्ध न हो अर्थात् मार्गावरोध न हो।

स्थानस्थः --अपने-अपने अधिष्ठान में स्थित हो, प्रकृतिस्थ—न क्षीण हो, न बढ़ा हो। ये तीनों विशेषण वायु के हैं। वीतरोग—निरोग। कफ एवं पित्त भी वायु द्वारा प्रेरित होकर दूषित होते हैं। अतः कफ एवं पित्त का भी वायु में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। अधिकं समाः शतम्—अर्थात् पाँच दिन अधिक एक सौ बीस वर्ष तक जीवित रहता है। जैसा कि आयुनिरुपण में आचार्य वाराह कहते है कि मनुष्य एवं हाथी स्वस्थ जीवन व्यतीत करने पर एक सौ बीस वर्ष और पाँच दिन तक जीवित रहता है ॥ ८० ॥

वातव्याधिनिदान समाप्त ॥



त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

वातरक्तनिदानम्

वातरक्तस्योत्पादकहेतुमाह—

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्ण भोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥ १ ॥

कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥ २ ॥

विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः (च. चि. २९ .५-७।१)
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणम् । (सु. चि. ५।५)
स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥ ३ ॥

लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण भोजन करने से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, क्लिन एवं शुष्क मांस, जलीय तथा आनूपदेशीय प्राणियों का मांस, तिल की खली, मूली, कुलथी, उड़द, सेम, विभिन्न प्रकार के शाक एवं मांस, गन्ना, दही, काँजी, सिरका, तक्र, सुरा तथा आसव, विरुद्ध भोजन के करने से, अध्यशन[1], क्रोध, दिन में शयन, रात्रि जागरण तथा मिथ्या आहार विहार से प्रायः सुकुमार, सुखी एवं स्थूल (मेदस्वी) लोगो में वात एवं रक्त दूषित होकर वातरक्त आदि को उत्पन्न कर देता है ।

वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह—ननु सुश्रुते वातरोगाध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र संग्रहे पृथक् पाठः ? उच्यते, सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव सम्प्राप्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम् । अत एव चरकेऽपि वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः । ननु 'रुजस्तीव्राः ससन्तापा' इत्यादिना रक्तगतस्य वातस्य लक्षणं वातव्याधावेवोक्तम्, ततश्च वातरक्ताभिधानं पुनरुक्तं स्यात्; नैवं, वातरक्तं हि दुष्टेन रक्तेन च विशिष्टसम्प्राप्तिकं विकारान्तरमेव । उक्तं हि चरके--'वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्' (च. चि. २९) इति । रक्तगतवाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतीति भेदः । लवणाम्लेत्यादि । क्लिन्नशुष्कशब्दौ मांसेन संबध्येते । पिण्याकस्तिलकल्कः । निष्पावः शिम्बिः,

---

१. भुक्तोपरिभोजनं इति आतङ्कदर्पणः ।

पललं मांसम् । प्रायश इत्यादि । सुकुमारा मृदुदेहावयवाः, तेषामल्पचेष्टत्वाल्लवणादिभी रक्तं कटुतिक्तप्रजागरादिभिश्च वातः कुप्यति इति ईशानः ॥ १–३ ॥

सरोजव्याख्या—'वातरक्त' वातव्याधि का विशेष भेद होने से वातव्याधि के अनन्तर इसका का वर्णन करते हैं।

शंका—सुश्रुत में वातरोगाध्याय में ही 'वातरक्त' का वर्णन किया गया है, तो यहाँ माधवकर ने इनका पृथक् अध्याय में क्यों उल्लेख किया है?

समाधान—'वातरक्त' 'वातव्याधि' होने पर भी निदानवैशिष्ट्य, दोष-दूष्य में विशिष्टता होने से उसका विशिष्ट निर्देश करने के लिये तथा हस्तपाद आदि में होने से विशिष्ट सम्प्राप्ति कथन के लिये एवं चिकित्साविशेष हेतु 'वातरक्त' का पृथक् अध्याय में उल्लेख किया गया है। इसलिए चरक में भी वातव्याधि के पश्चात् 'वातरक्ताधिकार' का निरूपण पृथक् से किया गया है।

शंका—'रुजस्तीव्राः ससन्तापाः'—(च. चि. २८–३१) इत्यादि श्लोक द्वारा 'रक्तगत' वायु का लक्षण वातव्याधि में बताया गया है, अब पुनः 'वातरक्त' का उल्लेख करने से पुनरुक्त दोष हो जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, वातरक्त तो दूषित वात और दूषित रक्त इन दोनों के विशिष्ट संयोग से विशिष्ट सम्प्राप्तिभेद से परस्पर भिन्न विकार है। जैसा कि चरक में कहा गया है—

> वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथिः ।
> क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्" ॥ (च० चि० २९)

अर्थात् प्रकुपित रक्त जब कुपित वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, तब उत्पन्न प्रकुपित वायु उस रक्त को भी अत्यधिक दूषित कर देता है। इस प्रकार इन दोनों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग को 'वातरक्त' कहा जाता है। इसके विपरीत पूर्वोक्त 'रक्तवात' में केवल वायु ही प्रकुपित होकर शुद्ध (अप्रकुपित) रक्त के साथ मिलता है, जबकि 'वातरक्त' (Gout) में कुछ कारण 'वात' को और 'रक्त' को प्रकुपित करते हैं। "वातरक्त' एवं 'रक्तगत दुष्ट वायु (रक्तवात)' में यही अन्तर है।

लवणाम्लेत्यादि—क्लिन्न एवं शुष्क शब्द का मांस से सम्बन्ध होता हो, तिल के कल्क को 'पिण्याक' कहते हैं। निष्पाव—सेम, पलल-मांस। प्रायशः इत्यादि—सुकुमार (मृदु) देहवाले थोड़ी चेष्टा करेंगे एवं लवण आदि पदार्थों का सेवन करेंगे, तो उनका रक्त दूषित हो जायगा। कटु, तिक्त पदार्थों के सेवन, रात्रिजागरण आदि से वात प्रकुपित हो जायगा, तत्पश्चात् इन दोनों के प्रकोप से 'वातरक्त' रोग हो जाता है—ऐसा आचार्य ईशान का कथन है।

वातरक्त की सम्प्राप्ति

**हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु।
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥ ४ ॥**

(सु. नि. १.४४।१)

हाथी, घोड़ा, ऊँट की सवारी तथा विदाहकारी अन्नों का सेवन करने वाले मनुष्य के भोजन का विदग्ध पाक हो जाता है, जो रक्त को दूषित कर देता है। वह दूषित रक्त सारे शरीर से आकर पैरों में एकत्र हो जाता है। अपने कारणों से दूषित वायु से मिला हुआ होने के कारण अथवा वायु की प्रबलता से इस रोग को 'वातरक्त' कहते हैं।

संप्राप्तिमाह—हस्त्यश्वेत्यादि। हस्त्यादिगमनं वातवृद्धौ विशेषेण रक्तस्य द्रवस्याधोगमनेऽपि हेतुः, विदाह्यन्नं च शोणितवृद्धौ। हस्त्यादिगमनं विशेषेण, पादेनापि गमनं हेतुरेव। तद्रक्तम्। संपृक्तं वायुना दूषितेन स्वहेतुवृद्धेन। तत्प्राबल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्याद्दोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्त-व्यपदेशः, नतु रक्तवात इति ॥ ४ ॥

सरोजव्याख्या—वातरक्त की सम्प्राप्ति कहते हैं—हस्त्यश्वेत्यादि। हाथी आदि की सवारी वातवृद्धि में और विशेष रूप से द्रव रक्त को अधोभाग (पैरों) में एकत्र करने का कारण होती है तथा विदाही अन्न रक्तप्रकोप में कारण होता है। हाथी आदि की सवारी विशेष रूप से कारण होती है, किन्तु पैदल चलना भी इस रोग का कारण होता है। तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन—अपने कारणों बढ़ा हुआ एवं दूषित वायु से मिला वह रक्त। तत्प्राबल्याद्—वात एवं रक्त दोनों के समान रूप से दुष्ट होने पर भी वायु प्रबल होता है, क्योंकि वायु दोष है और दोष दूष्य की अपेक्षा प्रधान होता है, अतः वात की प्रधानता से ही इस रोग को 'वातरक्त' कहा जाता है, न कि 'रक्तवात'।

वातरक्त की सम्प्राप्ति

वात प्रकोपक
तथा
रक्त प्रकोपक आहार विहार
सुकुमार प्रकृति के आलसी एवं स्थूल लोगों में } अन्नविदाह–रक्तदुष्टि + प्रकुपित वात

↓

सम्पूर्ण रक्तदुष्टि

↓

सर्वशरीर में प्रसरण

दुष्ट रक्त का पादमूल में संचय
|
वातरक्त रोग

१. उत्तान
(त्वचा एवं मांस में स्थित वातरक्त) }
२. गम्भीर ———
(सन्धि, अस्थि, मज्जा में स्थित वातरक्त) }

दोषदूष्य-अधिष्ठान—
दोष—वातप्रधान
दूष्य--रक्त
स्रोतस्—रसवह
अधिष्ठान—सन्धि
पक्वाशयोत्थ—चिरकारी व्याधि।

पूर्वरूप

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः॥ ५॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च॥ ६॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम्॥ ७॥
(च. चि. २९.१६-१८)

अत्यन्त स्वेद या स्वेद का बिलकुल न आना, शरीर में कालापन, स्पर्श की अनुभूति न होना, क्षत में अत्यधिक पीड़ा होना, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, शरीर में भारीपन, जानु, जंघा, ऊरु, कटि, अंस, हाथ एवं पैर की सन्धियों में पिण्डिकाओं की उत्पत्ति और इनमें तीव्र पीड़ा, फड़कन, फटने की सी पीड़ा, भारीपन, शून्यता और खुजली का होना तथा सन्धियों में पीड़ा का बार-बार होकर शान्त हो जाना तथा त्वचा में विवर्णता एवं उसमें चकत्ते पड़ना वातरक्त का पूर्वरूप है।

पूर्वरूपमाह--स्वेदेत्यादि। स्वेदोऽत्यर्थं न वेति धर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत्। क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं स्यात्तदाऽतिशयं रुजा स्यात्, तद्देशस्य दुष्टत्वात्॥ ५-७॥

सरोजव्याख्या—वातरक्त का पूर्वरूप बतलाते हैं—स्वेदेत्यादि। स्वेदोऽत्यर्थं न वेति—अर्थात् स्वेद बहुत निकलता है अथवा बिलकुल नहीं आता। रोग की यह

महिमा (प्रभाव) कुष्ठ के समान है। कुष्ठ में या तो स्वेद अत्यधिक निकलता है या बिलकुल नहीं। क्षतेऽतिरुक्—यदि कारणान्तर (अन्य कारण) से भी इस स्थान में क्षत हो जाय, तो उसमें अतिशय वेदना होगी, उस स्थान के दूषित होने से।

दोषान्तरसंसर्गजन्य लक्षण

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणभञ्जनम्।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावतावृद्धिहानयः॥ ८॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः॥ ९॥
रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः॥ १०॥
पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट्।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता॥ ११॥
कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः।
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरात्॥ १२॥
(अ. हृ. १६.१२-१६)

वाताधिक्य में शूल, स्फुरण तथा अङ्गों में टूटने के समान पीड़ा अधिक होती है। शोथ में रूक्षता, कालापन तथा लक्षणों में कभी वृद्धि और कभी हानि प्रतीत होती है। धमनी तथा अङ्गुलियों की सन्धियाँ संकुचित हो जाती हैं, शरीर जकड़ जाता है और उनमें अत्यधिक पीड़ा होती है, रोगी शीत से द्वेष करता है और यह रोगवृद्धि में अनुपशय स्वरूप होता है। शरीर में स्तम्भ, कफ तथा सुप्तता हो जाती है।

रक्त के दूषित होने पर शोथ अत्यधिक पीड़ायुक्त, सूई चूभने के समान एवं ताम्रवर्ण का होता है। उसमें चुनचुनाहट होती है। शोथ स्निग्ध तथा रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता, इसमें खुजली तथा व्रण में क्लेद (द्रवत्व—व्रणस्राव) होता है।

पित्त के आधिक्य से विदाह, मोह, स्वेद, मूर्च्छा, तृष्णा, स्पर्शासहत्व, वेदना, लालिमा, शोथ, पाक तथा अत्यधिक उष्णता के लक्षण मिलते हैं।

कफ के आधिक्य से शरीर गीले कपड़े से लिपटा हुआ सा प्रतीत होता है, शरीर में भारीपन, अङ्गों में सुप्ति, स्निग्धता एवं शैत्य होता है। इसके अतिरिक्त कण्डू एवं मन्द पीड़ा होता है।

दो दोषों का सम्बन्ध होने पर द्वन्द्वज एवं तीनों दोषों के होने पर तीनों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं ॥

वातरक्तस्य दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणमाह--वातेऽधिक इत्यादि। वृद्धिहानय इति वातरक्तलक्षणानाम्। रक्त इत्यादि। रक्त इत्यत्र 'अधिक' इत्यनुवर्तनीयम्, एवं वक्ष्यमाणपित्तादिषु। एतच्चारम्भकरक्तादन्यद्रक्तान्तरं बोध्यम्, रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति। यदुक्तं दुष्टरक्तलक्षणे--'पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णम्' (सु. सू. १४) इति। शमं नैति शान्ति न याति। कफ इत्यादि। द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरादिति संकराद् द्विदोषत्रिदोषमेलकाद्। द्वन्द्वलिङ्गसर्वलिङ्गं च क्रमाद्वातरक्तं भवति ॥ ८-१२ ॥

सरोजव्याख्या—वातरक्त के दोषान्तर संसर्ग से होने वाले लक्षण बतलाते हैं—वातेऽधिक इत्यादि। वृद्धिहानयः—वातरक्त के लक्षण कभी बढ़ जाते हैं और कभी घट जाते हैं।

रक्त इत्यादि—यहाँ 'रक्ते' इत्यादि श्लोक में 'अधिक' विशेषण और जोड़ लेना चाहिए। इसी तरह आगे कहे जाने वाले पित्तादि लक्षणों में भी अधिक-पद जोड़ लेना चाहिए। रक्त भी रक्तान्तर का दूषक होता है। जैसाकि सुश्रुत में कहा गया है—पित्त के समान रक्त से भी अतिकृष्ण वर्ण का रक्त हो जाता है (सु० सू० १४) इति। शमं नैति—अर्थात् स्निग्ध एवं रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता।

कफ इत्यादि—द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरात्—संकरात् अर्थात् दो दोषों के संसर्ग अथवा तीन दोषों के सन्निपात से द्वन्द्वज लक्षणों वाला अथवा त्रिदोषज लक्षणों वाला वातरक्त होता है ॥

वातरक्त का प्रसार

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥ १३ ॥

(सु. नि. १.४८)

वातरक्त पैरों के मूल (अंगूठा) अथवा कदाचित् हाथों के मूल से प्रारम्भ होकर चूहे के विष के समान शरीर के अन्य अङ्गों में फैलता है ॥

पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं देशान्तरं व्याप्नोति, पादवद्धस्तयोरपि भवतीति दर्शयन्नाह--पादयोरित्यादि। आखोर्विषमित्यनेन मन्दविसर्पितां दर्शितवान्; एतद्वातरक्तं चरकेण द्विविधमुक्तम्। यदाह--'उत्तानमथ गम्भीरं, द्विविधं वातशोणितम्। त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्' (च,

चि. २०) इति । सुश्रुतेन तु कुष्ठवदुत्पत्तौ उत्तानस्योत्तरकालं गम्भीरत्वमुक्तमिति मतभेद एव ॥ १३ ॥

सरोजव्याख्या—पैरों से होने पर यदि वातरक्त की उचित चिकित्सा न की जाय, तो वह सम्पूर्ण शरीर में फैल जायगा। पैरों के समान हाथों पर हो जाता है। इसको कहते हैं—पादयोरित्यादि। आखोर्विषमिव—चूहे के विष के समान इसकी मन्द विसर्पता (धीरे-धीरे फैलना) को बतलाते हैं। इस वातरक्त को चरक ने दो प्रकार का माना है, जैसा कि कहा है—"उत्तान एवं गम्भीर भेद से वातरक्त दो प्रकार का होता है। इसमें 'उत्तान' त्वक् और मांस-धातु में रहता है और 'गम्भीर' आभ्यन्तरीय धातुओं में" (च० चि० २९) इति। सुश्रुत तो कुष्ठ की उत्पत्ति के समान की उत्तरावस्था को गम्भीर बतलाते हैं। यही चरक एवं सुश्रुत में मतभेद है ॥

साध्यासाध्यता

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥ १४ ॥
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम्।
(सु. नि. १.४९, ५०।१)

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ॥ १५ ॥
संमूर्च्छामदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ।
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ॥ १६ ॥
अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः ।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥ १७ ॥
(च. चि. २९.३१-३३)

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्।
(च. चि. २९.३४।२)

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १८ ॥
(च. चि. २९.३०)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥ २३ ॥

जो वातरक्त घुटनों तक पहुँच गया हो, जिसमें त्वचा फट गयी हो एवं त्वचा के फटने से अत्यधिक स्राव हो रहा हो, जो प्राण(बल)क्षय एवं मांसक्षय आदि उपद्रवों से पीड़ित हो, उसे असाध्य समझना चाहिए। एक वर्ष से पुराना (उपद्रवरहित) वातरक्त याप्य होता है ॥

निद्रा का न आना, अरुचि, श्वास, मांस का सड़ना, शिरःशूल, मूर्च्छा, मद, शरीर में पीड़ा, तृष्णा, ज्वर, मोह, कम्पवात, हिक्का, पङ्गुता, विसर्प परक तोद, भ्रम, क्लम, अंगुलियों में टेढ़ापन, फफोले, दाह, मर्मों में जकड़न तथा अबुर्द—इन उपद्रवों से पीड़ित वातरक्त का रोगी असाध्य होता है। इन उपद्रवों में से केवल मोह रहने पर भी रोगी असाध्य होता है।

उपर्युक्त सभी उपद्रव न होने पर (अल्प उपद्रव) रोगी याप्य होता है तथा उपद्रवों से रहित रोगी साध्य होता है। एकदोषज नवीन वातरक्त साध्य द्विदोषज याप्य तथा त्रिदोषज एवं उपद्रवों से युक्त 'वातरक्त' असाध्य होता है॥

असाध्यत्वादिकमाह—आजान्वित्यादि। आजानु जानुपर्यन्तं गतमसाध्यम्। तथा स्फुटितादिकं स्फुटितं दलितत्वक्, प्रभिन्नं विदीर्णत्वक् उपद्रवैरित्यादौ आदिशब्देन वक्ष्यमाणानामस्वप्नादीनां ग्रहणम्। याप्यं संवत्सरोत्थितमित्यनेन संवत्सरादर्वाक् साध्यं, यदि स्फुटितत्वगादयो न भवेयुरित्याहुः। अस्वप्नेत्यादि। पाङ्गुल्यं पङ्गुता। मोहेनैकेनेति वचनात् पूर्वोक्तैः समस्तैर्द्वित्रादिभिश्चेति ज्ञापयतीति॥ १४-१८॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां
वातरक्तनिदानं समाप्तम्॥ २३॥

सरोजव्याख्या—वातरक्त की असाध्यत्वादि अवस्थाओं को बतलाते हैं—आजान्वित्यादि। अजानु अर्थात् जानुपर्यन्त पहुँचने वाला वातरक्त असाध्य होता है। इसी प्रकार स्फुटित (दलितत्वक्), प्रभिन्न (विदीर्णत्वक्) एवं प्रस्रुत वातरक्त असाध्य होता है। उपद्रव आदि शब्द से आगे कहे जाने वाले अस्वप्न, अरुचि आदि का ग्रहण होता है। याप्यं संवत्सरोत्थितम्—एक वर्ष से कम समय का वातरक्त साध्य होता है एवं एक वर्ष पुराना वातरक्त याप्य होता है। यदि एक वर्ष पहले भी स्फुटित त्वचा फट गयी हो, तो वह साध्य न होगा।

अस्वप्नेत्यादि—पाङ्गुल्यं अर्थात् पङ्गुता। मोहेनैकेन—इत्यादि वचन से पूर्वोक्त समस्त एवं दो-तीन उपद्रवों से युक्त को असाध्य बतलाया गया है।"

॥ वातरक्तनिदान समाप्त॥



चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

ऊरुस्तम्भनिदानम्

निदानपूर्वक सम्प्राप्ति

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥ १ ॥

सश्लेष्ममेदःपवनः साममत्यर्थसंचितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तःश्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति,

(अ. हृ. नि. १५.४७-४९)

अत्यधिक शीत, उष्ण, द्रव, शुष्क, गुरु एवं स्निग्ध पदार्थों के सेवन से, पूर्व में लिये गये आहार पचने और न पचने का विचार किये बिना ही भोजन करने से, अति परिश्रम से, क्षोभ, दिवास्वाप एवं रात्रिजागरण से अत्यन्त सञ्चित आम-मेद एवं श्लेष्म से युक्त वात अन्य दोष पित्त को अभिभूत करके ऊरु में आकर दोनों सक्थियों की अस्थियों को स्तिमित (अत्यधिक पिच्छिल) श्लेष्मा से पूरित कर देता है, जिससे दोनों ऊरु जकड़ जाते हैं।"

मिथ्या आहार विहार—आमसञ्चय
|
मेद+कफ (युक्त)
|
वात एवं पित्त (अभिभूत-अवरुद्ध)
|
ऊरु प्रदेश में सञ्चय
|
सक्थि की दोनों अस्थियाँ श्लेष्मा से पूरित
|
ऊरुस्तम्भ

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

दोष—कफप्रधान त्रिदोष

दूष्य—रस+मेद

अधिष्ठान—ऊरु

स्रोतस्—रसवह तथा मेदोवह

स्रोतोदुष्टिलक्षण—संग

ऊरुस्तम्भ का लक्षण

तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥

परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥ ४ ॥
संयुक्तौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढचवातमथापरे ॥ ५ ॥

(अ. हृ. नि. १५.४९-५१)

इससे दोनों ऊरुओं में जकड़ाहट, शैत्य और अचेतनता हो जाता है। रोगी अपने ऊरु को पराये (दूसरे को ऊरु) के समान भारी अनुभव करता है तथा इनमें अत्यधिक पीड़ा होती है। रोगी चिन्ता, अङ्गमर्द, स्तैमित्य, तन्द्रा, छर्दि, अरुचि तथा ज्वर से पीड़ित होता है। पैरों में अवसाद हो जाता है, रोगी अपनी टाँगों को कठिनाई से उठा पाता है, टाँगों में सुप्तता (स्पर्श ज्ञान का अभाव) हो जाता है। उपर्युक्त लक्षणों से युक्त रोग को 'ऊरुस्तम्भ' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'आढ्य-वात' कहते हैं।

वातव्याधिविशेषत्वादूरुस्तम्भमाह—शीतोष्णेत्यादि। शीतोष्णग्रहणम-नुक्तपरस्परविरोधिद्वन्द्वोपलक्षणार्थं, तेन गुरुस्निग्धाभ्यां लघुरूक्षयोर्ग्रहणं बोध्य-मिति जेज्जटः। संशुष्कं कठिनं, द्रवविरोधित्वात्। जीर्णाजीर्ण इति प्रभूतं जीर्णं, स्तोकमजीर्णमित्याहुः, तस्मिन्; 'भोजने' इति शेषः। अत एव दृढबलेन—'जीर्णाजीर्णे समश्नतः' (च. चि. २७) इति पठितम्। एते च यथासंभवं श्लेष्मादीनां हेतवः। सश्लेष्ममेदःपवन इति सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्चेति सश्लेष्ममेदःपवन इति विग्रहः। इतरं दोषं पित्तम्। अस्यां संप्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्तम्, अत एव सुश्रुतेन महावातव्याधावयं रोगः पठितः। चरके तु कफस्य प्राधान्यमुक्तम्। यदाह—'ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्ते-

ऽभिभूय तु' (च. चि. अ. २७) इत्यादि। तत्र चरके आवरकस्य श्लेष्मणः प्राक्चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते पवनस्येति न विरोधः। परकीयाविवेत्यनेनोत्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति। ध्यानादिभिर्ज्वरान्तैरुपलक्षितः 'पुरुष' इति शेषः ॥ १-५ ॥

सरोजव्याख्या—वातरक्त के समान 'ऊरुस्तम्भ' वातव्याधि का विशेष भेद होने से वातरक्त के पश्चात् ऊरुस्तम्भ का निरूपण किया जा रहा है—शीतोष्णेत्यादि। यहाँ 'शीतोष्ण' का ग्रहण अनुक्त परस्पर विरोधी द्वन्द्वों के लिये किया गया है। उसके आगे बतलाये गये 'गुरुस्निग्ध' से तद्विरोधि लघु एवं रूक्ष पदार्थों के ग्रहण का बोध हो जाता है। ऐसा आचार्य जेज्जट का कथन है। संशुष्क से कठिन द्रव्य का ग्रहण करना चाहिए, द्रव विरोधि होने से। जीर्णाजीर्णम्—अर्थात् आहार का प्रभूत (अधिक) अंश जीर्ण हो चुका होता है और थोड़ा सा अजीर्ण अवस्था में रहता है। 'जीर्णाजीर्णे' के साथ 'भोजने' यह जोड़ लेना चाहिए। इसीलिए आचार्य दृढबल ने कहा है—"जीर्णाजीर्णे समश्नतः" (च० चि० २७)।

ये ऊपर कहे गये यथासम्भव कफादि दोषों के प्रकोपक हेतु होते हैं। पवनः—कफ एवं मेद से मिश्रित पवन, इस प्रकार विग्रह किया जाता है। इतरं दोषम्—कफ एवं वायु से बचे हुए शेष पित्त दोष को अभिभूत करके। इस सम्प्राप्ति में वात की प्रधानता बतलायी गयी है। इसीलिए सुश्रुत में इसे 'महावातव्याधि' अधिकार में कहा गया है, किन्तु चरक में कफ की प्रधानता कही गयी है। जैसा कि कहा गया है—'मेदयुक्त कफ, वात और पित्त को अभिभूत करके ऊरु प्रदेश में प्रकुपित हो जाता है' (च० चि० २७) इत्यादि। चरक और सुश्रुत के विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करते हुए कहते हैं कि चरक में शेष दोषों को आवृत करने के कारण आवश्यक कफ की प्रधानता बतलायी गयी है और सुश्रुत में रोग को आरम्भ करने का प्रमुख दोष होने के कारण वायु को प्रधान कहा गया है। अतः उपर्युक्त दोनों मतों में कोई विरोध नहीं होता है।

परकीयाविव—अपनी टाँगों को उठाते एवं चलने में रोगी असमर्थ होता है, इसलिए कहा गया है अपनी टाँगे दूसरों की सी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त ध्यान, ज्वर आदि लक्षण मिलते हैं।

उरुस्तम्भ का पूर्वरूप

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः।
रोमहर्षोऽरुचिच्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥ ६ ॥

(च. चि. २७.२५)

निद्रा, अत्यन्त चिन्ता, शरीर का गीले कपड़े से ढका होने की प्रतीति, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि, छर्दि तथा जंघा एवं ऊरु में अवसाद होना ऊरुस्तम्भ का पूर्वरूप है।

ऊरुस्तम्भ के अनुपशय, रूप एवं साध्यासाध्यता

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात्पुनः।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः।
अन्यस्येव हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥ ९ ॥
यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम् ॥ १० ॥

(च. चि. २७.१६-१९)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ऊरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥२४॥

अज्ञानता से वातव्याधि की शङ्का करके यदि इस रोग में स्नेहन कर्म किया जाय, तो पैर में अवसाद एवं सुप्ति बढ़ जाती है। पैर उठाने में कष्ट होता है।

जंघा तथा ऊरु में अत्यन्त अवसाद, निरन्तर थोड़ा दाह तथा वेदना होती है। पैर रखने पर अत्यधिक पीड़ा होती है एवं शीत स्पर्श का अनुभव होता है।

इस रोग से पीड़ित मनुष्य खड़े होने, पैर से किसी वस्तु को दबाने, चलने तथा पैर को हिलाने में असमर्थ होता है। रोगी को प्रतीत होता है कि अपने पैर दूसरों के हैं अथवा अपने ही ऊरु टूटे हैं।

यदि ऊरुस्तम्भ में दाह, पीड़ा, तोद एवं कम्प हो, तो यह मारक होता है। इसके विपरीत उपद्रवहीन तथा नवीन ऊरुस्तम्भ भी साध्य होता है।

अनुपशयमाह--वातेत्यादि। वातशङ्किभिरिति सुप्तिसंकोचकम्पादिवातरोगसदृशलिङ्गदर्शनात्तच्छङ्किभिः। अज्ञानादनिश्चयात्, मोहादि इति ईशानः। तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं स्नेहनं, यदुक्तं चरके—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' (च. चि. ४) इति। ततः स्नेहनादनुपशयो भवतीत्याह—पादयोरित्यादि। उद्धरणम् ऊर्ध्वचालनम्। आदाहवेदने इति। आङ् ईषदर्थेः। अन्ये त्वीषदर्थ एव नञमाहुः; उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। 'अनाहवेप(द)ने, इति पाठान्तरमयुक्तं, चरकटीकाकारैः सर्वैरव्याख्यातत्वात्। व्याधिस्वभावादयं चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदोषारब्धः,

नतु वातादिभेदादनेकविधः। उक्तं हि चरके व्याधिसंख्यामाम्—'एक एवोरुस्तम्भः' (च. सु. अ. १९) इति। संभग्नाविति। संभग्नाविब संभग्नौ ॥ ७-१० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायाम्
ऊरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥ २४ ॥

सरोजव्याख्या--ऊरुस्तम्भ का अनुपशय बतलाते हैं--वातेत्यादि। सुप्ति, संकोच एवं कम्प आदि वात रोग सदृश लक्षण देखकर वात की आशंका करनेवाले। 'अज्ञानात्' अर्थात् बिना किसी रोगविनिश्चय के। आचार्य ईशान ने अज्ञान का अर्थ 'मोह' अदि किया है। इस अनिश्चय की अवस्था में उपशय एवं अनुपशय को जानने के लिए स्नेहन किया जाता है। जैसाकि चरक ने कहा है--'गूढ़लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत'। (च० वि० ४/८) स्नेह से लाभ न होने पर 'अनुपशय' का बोध होता है और कहते हैं—पादयोरित्यादि। 'उद्धरणम्' अर्थात् पैरों का ऊपर उठाना। आदाहवेदने--यहाँ 'आङ्' ईषत् (स्वल्प) अर्थ का ज्ञापक है। अन्य आचार्य 'शीतस्पर्शं न वेत्ति च' यहाँ 'नञ्' को भी 'ईषद्' अर्थ का बोधक मानते हैं, क्योंकि उद्भूत दाह को असाध्य होने से आगे बतलायेंगे। 'आनाहवेपने' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, किन्तु वह उचित नहीं है। स्वभाव से ऊरुस्तम्भ ऐसा रोग है, जो त्रिदोष से आरम्भ होने से एक प्रकार का होता है, न कि वातादि भेद से अनेक प्रकार का। चरक में व्याधि की संख्या बतलाते हुए कहा गया है--'एक एवोरुस्तम्भः', (च० सू० १६)। संभग्नौ--किसी दूसरे के पैर काटकर लगा दिये गये हों—ऐसा मालूम पड़ता है ॥

॥ ऊरुस्तम्भनिदान समाप्त ॥



पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

आमवातनिदानम्

निदानपूर्वक सम्प्राप्ति

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा॥ १॥

वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते॥ २॥

वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः॥ ३॥

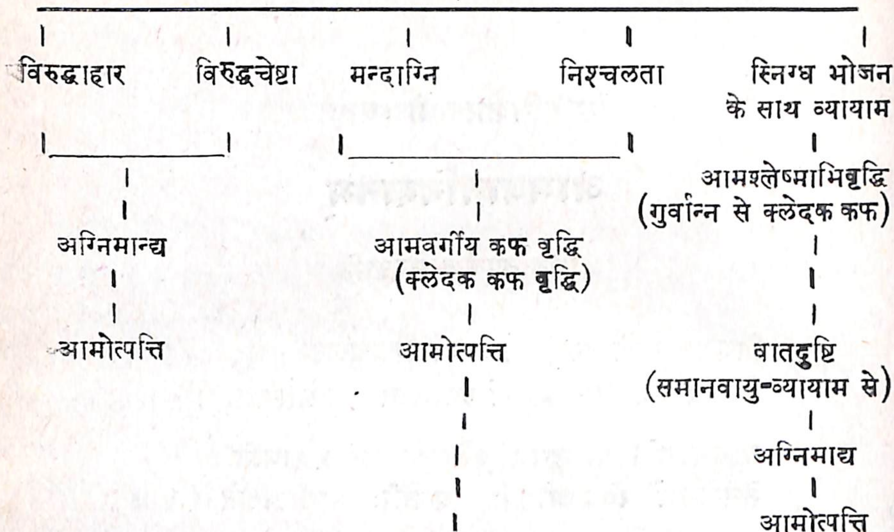
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः॥ ४॥

युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते॥ ५॥

विरुद्ध आहार-विहार करने वाले, मन्दाग्नि वाले, परिश्रम न करने वाले, स्निग्ध भोजन करने के पश्चात् तत्काल व्यायाम करने वाले मनुष्य का आमरस वायु से प्रेरित होकर कफ के स्थान वक्ष, आमाशय, सन्धियों एवं कण्ठ की ओर जाता है। वहाँ अत्यन्त विकृत होकर वह आमरस वायु द्वारा प्रेरित होकर धमनियों में पहुँच जाता है, धमनियों में स्थित वात पित्त कफ तीनों दोषों से मिलकर पुनः अत्यन्त दूषित होता हुआ वह अनेकों वर्ण वाला, अतिपिच्छिल आमरस (अन्नरस) विभिन्न स्थानों को अभिष्यन्दित (क्लेदयुक्त एवं अवरुद्ध) कर देता है। इससे दुर्बलता तथा हृदय में भारीपन हो जाता है। यह 'आमदोष' अनेक व्याधियों को आश्रय (उत्पादक) होने के कारण अत्यन्त भयङ्कर माना जाता है।

यदि 'आम' और 'वात' साथ-साथ कुपित होकर कोष्ठ, त्रिक प्रदेश एवं सन्धियों में प्रविष्ट होकर उन्हे स्तब्ध कर देते हैं, तो इस रोग को 'आमवात' कहते हैं।

आमवात सम्प्राप्ति



व्यान वायु द्वारा आमरस का हृदय में गमन एवं तत्रस्थ प्राण वायु दुष्टि

हृदय से धमनियों द्वारा आमरस का सर्वाङ्ग भ्रमण (हृदयगौरव, दौर्बल्योत्पत्ति)

संवहन काल में दोषदुष्टि विशेषतः श्लेष्माभिवृद्धि एवं तज्जन्य अंगमर्द, आलस्य एवं अरुचिप्रभृति लक्षणों की उत्पत्ति

सन्धियों में सूक्ष्म धमनियों का अभिष्यन्दन

धमनी उपलेप (पिच्छिल गुण से) कर आम संचयन, ज्वर, शूल, शोथादि प्रत्यात्म लक्षण होकर आमवातोत्पत्ति।

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

उद्भव स्थान—आमाशय
संचार—रसायनियाँ

अधिष्ठान—अस्थि-सन्धियाँ
मार्ग—मध्यम रोग मार्ग

अग्नि—जाठराग्नि एवं धात्वग्नि
दोष—वात-समानवायु
पित्त—पाचक पित्त

कफ—क्लेदक एवं श्लेषक
दूष्य—रस
स्रोतस्—रसवह एवं अन्नवह स्रोतस

ऊरुस्तम्भे वायुः साम इत्युक्तम्, अतस्तदनन्तरमामवातनिदानमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धाहारः संयोगादिविरुद्धः। विरुद्धा च चेष्टा यथा—अजीर्णे व्यायामव्यवायजलप्रतरणादि। स्निग्धं भुक्तवतो व्यायामं कुर्वत इति मिलितो हेतुः, न पृथक्त्वेन। श्लेष्मस्थानमामाशयसन्ध्यादि। तेन वातेन विदग्धो दूषितोऽसावामः 'धमनीः प्रतिपद्यते'। 'धमनीभिः प्रपद्यत' इति पाठान्तरे श्लेष्मस्थानमिति। सोऽन्नजो रस इति आमः, अन्नरसस्यैवापक्वस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात्। यदुक्तम्—'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते' (वा. सू. १३) इत्यादि। अन्यैरप्युक्तम्—'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः' इति। अपरे त्वाहुः—'अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते' इति। अन्ये त्वाहुः—'आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स मूलं सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते' इति। तथा चापरे—'आममन्नरसं केचित्, केचित्तु मलसंचयम्। प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते' इति। नानावर्ण इति वातादिदूषितत्वाद् बहुवर्णः। युगपदित्यादि, वातकफौ युगपत्कुपितावन्तः कोष्ठे त्रिकसन्धिप्रवेशकौ भवतः, अथवा गात्रं स्तब्धं कुरुतः; त्रिकसन्धिषु प्रवेशस्तद्गतवेदनया बोध्यः॥ १-५॥

सरोजव्याख्या—ऊरुस्तम्भ निदान अध्याय में वायु को 'साम' बतलाया गया है, अतएव ऊरुस्तम्भ के पश्चात् आमवात का निदान कहते है—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धाहार अनेक प्रकार का होता है। जैसे संयोगविरुद्ध, स्वभावविरुद्ध, मात्राविरुद्ध आदि। विरुद्धचेष्टा—जैसे अजीर्णवस्था में व्यायाम, व्यवाय एवं जल में तैरना आदि। स्निग्धं भुक्तवतो—व्यायाम इत्यादि मिलित हेतु है, पृथक्-पृथक् नहीं। अर्थात् स्निग्ध भोजन के पश्चात् तुरन्त व्यायाम करने वाले—ऐसा समझना चाहिए। तेन—वायु से, विदग्ध (दूषित) होकर वह 'आमरस' धमनियों में पहुँचता है, 'धमनीभिः प्रपद्य श्लेष्मस्थानम्' इस प्रकार पाठान्तर से अर्थ लगाना चाहिए। अर्थात् दूषित आमरस धमनियों द्वारा श्लेष्मस्थानों में पहुँच जाता है। अन्नज रस से आम समझना चाहिए, क्योंकि तन्त्रान्तर में इसी अपक्व अन्नरस को 'आम' कहा गया है। जैसाकि कहा गया है—

"ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते"॥ (अ० हृ० सू० १३)

अर्थात् पाचकाग्नि की दुर्बलता के कारण आहार के आद्य परिणाम रसधातु का जब ठीक-ठीक परिपाक नहीं होता, तब अपरिपक्वावस्था में ही आमाशय स्थित दूषित अन्न रस को 'आम' कहा जाता है।

अन्य आचार्य भी कहते हैं—

"आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः ।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः ॥

अर्थात् कायाग्नि की दुर्बलता से आमाशय में स्थित अविपाचित आद्य आहार-परिणामधातु को 'आम' कहा जाता है ।

अन्य लोग कहते हैं—

"अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम् ।
सदनं सर्वगात्राणाम् आममित्यभिधीयते ॥

अर्थात् अविपक्व, आहार गुण से हीन, दुर्गन्धित, अत्यधिक पिच्छिल (लेसदार) एवं सम्पूर्ण शरीर को निष्क्रिय बनाने वाले पदार्थ को 'आम' कहा जाता है । दूसरे लोग इस प्रकार कहते हैं—

"आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात् ।
स मूलं सर्वरोगाणाम् आममित्यभिधीयते" ॥

अर्थात् आहार का बचा हुआ वह रस जो अग्निलाघव से अपक्व रह गया हो, उसे 'आमरस' कहा जाता है, वह सभी रोगों का मूल कारण होता है ।

कुछ लोग 'अपक्व अन्न रस' को, कुछ लोग 'शरीर में सञ्चित होने वाले मल' को एवं कुछ लोग 'दोषों की प्रथम दूषित अवस्था' को 'आमरस' बतलाते हैं ।

नानावर्णः—वातादि दोषों के दूषित होने से अनेक वर्णवाला । युगपदित्यादि—वात और कफ दोनों एक साथ कुपित होकर कोष्ठ में पहुँच कर त्रिकसन्धि में प्रविष्ट हो जाते हैं अथवा शरीर को स्तब्ध (कठोर) कर देते हैं । त्रिक सन्धि में प्रवेश करने पर पीड़ा का अनुभव होता हैं । आमवात से (Rheumatoid Arthritis) समझना चाहिए ।

आमवात का सामान्य लक्षण

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः ।
अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ ६ ॥

शरीर में वेदना, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, भारीपन, ज्वर, अविपाक तथा अङ्गों में शोथ आमवात का लक्षण है ।

आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—अङ्गमर्द इत्यादि ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—आमवात का सामान्य लक्षण कहते हैं—अङ्गमर्द इत्यादि ।

प्रवृद्ध आमवात के लक्षण

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् ।
हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु ॥ ७ ॥
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ ८ ॥
जनयेत् सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥ ९ ॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्छर्दिभ्रमसूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् ।
जाड्यान्त्रकूजनानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥ १० ॥

आमवात जब प्रकुपित (प्रवृद्ध) होता है, तो सभी रोगों से कष्टकारी होता है। और हाथ, पैर, शिर, गुल्फ (Ankle Joint) त्रिक, जानु, (Knee Joint) तथा उसकी सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न कर देता है। जहाँ दोष पहुँचता है, वहाँ विच्छू के दंश के समान अत्यन्त पीड़ा होती है। इसमें अग्निमान्द्य लालास्राव, अरुचि, भारीपन, उत्साहहानि (कर्मांक्षमत्व) मुँह में विरसता, दाह, बहुमूत्रता, पेट में कड़ापन, शूल, निद्राविपर्यय (उचित समय पर नींद न आना), प्यास, वमन, भ्रम, हृद्ग्रह (हृदय प्रदेश में स्तब्धता), विड्विबद्धता (विड्ग्रह), जाड्यम् (अङ्गों में अकर्मण्यता), आन्त्रकूजन (गुड़गुड़ाहट) एवं आनाह होता है। इसके अतिरिक्त कष्टदायक अन्य उपद्रव होते हैं।

तस्यैवातिवृद्धस्य लक्षणमाह—स इत्यादि। वृश्चिकैः सविषकीटविशेषैः। स इति आमवातः। जाड्यमकर्मण्यत्वम्। अन्यानुपद्रवान् संकोचखञ्जत्वादीन् ॥ ७–१० ॥

सरोज व्याख्या—अत्यधिक बढ़े हुए उसी आमवात का लक्षण बतलाते है—स इत्यादि। विषयुक्त कीटविशेष को वृश्चिक (विच्छू) कहा जाता है। 'सः' से आमवात लेना चाहिए। जाड्य—अकर्मण्यता। अङ्गसंकोच और खञ्ज आदि अन्य उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है।

आमवात में दोषानुबन्ध के लक्षण

पित्तात् सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम् ।
स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥ ११ ॥

आमबात में पित्त का अनुबन्ध होने पर प्रभावित स्थान पर दाह एवं लालिमा,

वात की अधिकता होने पर शूल (व्यथा) तथा कफ की अधिकता होने पर स्तिमितता (जड़ता), भारीपन एवं कण्डू होता है।

तस्य विशेषलक्षणान्याह—पित्तादित्यादि ॥ ११ ॥

सरोजव्याख्या--आमवात का दोषानुबन्ध विशेष लक्षण बतलाते हैं--पित्तादित्यादि ।

साध्यासाध्यता

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने आमवातनिदानं समाप्तम् ॥२५॥

एकदोषानुग आमवात साध्य होता है, दो दोषों के अनुबन्ध वाला याप्य तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने वाला त्रिदोषज आमवात शोथ कष्टसाध्य होता है।

तस्य साध्यत्वादिकमाह—एकेत्यादि ॥ १२ ॥

श्रीविजयरक्षितकृतयां मधुकोशव्याख्यायामामवातनिदानं समाप्तम् ॥२५॥

सरोजव्याख्या--आमवात की साध्यासाध्यता बतलाते हैं—एकेत्यादि ।

सापेक्ष निदान

आमवात	वातरक्त	सन्धिवात
१. यह बड़ी सन्धियों में उत्पन्न होता है।	यह छोटी सन्धियों में उत्पन्न होता है।	यह किसी भी सन्धि में हो जाता है।
२. इसमें भ्रमणशील पीड़ा होती है।	इसमें भ्रमणशीलता नहीं होती है।	इसमें तीव्र पीड़ा केवल सन्धि के प्रसारण एवं संकोच के समय होती है।
३. इसमें आमरस एवं वायु की विकृति होती है।	इसमें रक्त एवं वायु की विकृति होती है।	इसमें वायु की विकृति होती है।
४. इसमें गुग्गुलु प्रयोग से लाभ होता है।	इसमें बहुत अल्प लाभ होता है।	इसमें अभ्यङ्ग एवं गर्म सेक से लाभ होता है।

॥ आमवातनिदान समाप्त ॥



षड्विंशतिमोऽध्यायः

शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम्

शूल के भेद

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् ।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥ १ ॥

पृथक्-पृथक् दोषों से--१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज; दो-दो दोषों से—४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज; ७. त्रिदोषज एवं ८. आमज भेद से शूल आठ प्रकार का होता है। किन्तु सभी शूलों में प्रायः वायु की प्रधानता होती है।

आमवातेऽपि शूलं भवतीत्यतस्तदनन्तरं शूलनिदानम्। ज्वरादिवच्छूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति। यदाह हारीतः—'अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च। तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः॥ स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः। स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः' इति। एतेन शूल (लि)-संभवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा, शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वाच्च। तदाह वृद्धसुश्रुतः—'शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना। शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते' (सु. उ. ४२) इति। कफपित्तादिशूलेष्ववश्यम्भावी वायुरित्याह—सर्वेष्वित्यादि। प्रभुः कर्ता॥ १॥

सरोजव्याख्या--आमवात में भी शूल होता है, अतः आमवात के अनन्तर 'शूल निदान' बतलाते हैं। ज्वरादि के समान शूल की प्रागुत्पत्ति का पौराणिक इतिहास है। जैसा कि हारीत ने कहा है—भगवान् शङ्कर ने कामदेव के नाश के लिये उस पर क्रोधित होकर त्रिशूल छोड़ा। अचानक अपने पर आते हुए त्रिशूल को देखकर भय से पीड़ित कामदेव भगवान् विष्णु के शरीर में प्रविष्ट हो गया। विष्णु के हुँकार द्वारा मूर्छित होकर त्रिशूल पृथ्वी पर गिरा, और वह शूल पाञ्चभौतिक शरीरों को कष्ट देने लगा। उसी से शूल रोग की उत्पत्ति हुई। चूँकि यह शूल से उत्पन्न हुआ, इसलिए इसकी 'शूल' संज्ञा हो गयी।

शूल अर्थात् कील गड़ने के समान इसमें वेदना होती है, इसलिए भी इसे शूल कहा जाता है। जैसाकि वृद्ध सुश्रुत कहते हैं—"शङ्कु (कील) गाड़ने के

समान इसमें तीव्र वेदना होती है, इसलिए इसे शूल कहा जाता है"। (सु० उ० ४२) कफपित्तादिजन्य शूल में भी वायु अवश्यम्भावी (प्रधान) होता है। 'सर्वेषु' इत्यादि से इसे स्पष्ट किया गया हैं। प्रभुः—शूल को उत्पन्न करने वाला।

वातिक शूल का निदान एवं लक्षण

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात्।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥ २ ॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्नविरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात् ।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥ ३ ॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकवस्तिदेशे ।
जीर्णे प्रदोषे च धनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥ ४ ॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः ।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥ ५ ॥

अत्यधिक व्यायाम, घोड़े एवं रथ आदि की सवारी, मैथुन (स्त्रीसेवा) रात्रि जागरण, शीतल जल का अधिक सेवन, कलाय (मटर), मुद्ग, अरहर, कोदों या अन्य अति रूक्ष पदार्थ का सेवन, अध्यशन (भुक्तस्योपरि भोजनं), अभिघात, कषाय तिक्त, अङ्कुरित अन्न, विरुद्ध अन्न, शुष्क मांस और शुष्क शाक का सेवन, मल-शुक्र-मूल एवं अपान बायु के वेगावरोध, शोक, उपवास, अत्यन्त हँसी एवं भाषण से बढ़ा हुआ वायु हृदय, दोनों पार्श्व, पीठ, त्रिक तथा वस्ति प्रदेश में शूल उत्पन्न कर देता है।

यह शूल भोजन के पचने पर, सायंकाल, बादल रहने पर तथा शीतकाल में विशेष रूप से बढ़ जाता है। यह शूल बार-बार शान्त होता एवं बढ़ता रहता है। इसमें मल तथा बात का अवरोध, सूई चुभने के समान एवं भेदनवत् पीड़ा होती है।

यह शूल स्वेदन, अभ्यङ्ग, मर्दन आदि से तथा स्निग्ध एवं उष्ण भोजन से शान्त होता है॥

वातिकमाह—व्यायामेत्यादि। शीतजलातिपानाच्छीतलजलस्य प्रभूतपानात्। आढकी तुवरी, कोरदूषः कोद्रवः, विरूढजान्नमङ्कुरितधान्यकृतमन्नं, विरुद्धं क्षीरमत्स्यादिकम्, वल्लूरं शुष्कमांसम्। यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैर्वातशूलं स्यात्तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद् दर्शयति, व्यायामादयो यथा वातहेतवस्तथा शूलहेतवोऽपीति; दोषव्याधिहेतव इत्यर्थः। एवं पित्तशूलादिषु

द्रष्टव्यम् । जीर्णे इत्याहारे । घनागमे वर्षासु मेघोदये च । मुहुर्मुहुरुपशमप्रकोपौ वायोश्चलत्वेन ॥ २-५ ॥

सरोजव्याख्या—वातिक शूल का निदान एवं लक्षण बतलाते हैं--व्यायामेत्यादि । शीतजलातिपानात्—अर्थात् अत्यधिक शीतल जल पीने से । आढकी--तुवरी (अरहर), कोरदूषः (कोद्रव), विरूढजान्न—अंकुरित धान्य से बनाया हुआ आहार । विरुद्ध आहार--दूध एवं मछली का एक साथ सेवन करना विरुद्ध आहार कहा जाता है । वल्लूरं--शुष्कमासं । यद्यपि सभी वातप्रकोपक आहार-विहार से वातिक शूल होता है, किन्तु 'व्यायाम आदि' के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि इनसे वातप्रकोप के साथ शूल रोग भी प्रायः होता है । अर्थात् ये कारण व्यायामादि दोष तथा व्याधि दोनों के उत्पादक कारण होते हैं । इसी प्रकार पैत्तिक शूलों आदि में समझना चाहिए । यह वातिक शूल भोजन पचने के पश्चात् एवं घनागम (वर्षाऋतु) या मेघाच्छन्न आकाश में होता है । वायु के चञ्चल होने से बार बार वातिक शूल का शमन एवं प्रकोप होता रहता है ॥

पैत्तिक शूल

क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः ।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः ॥ ६ ॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम् ।
तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम् ॥ ७ ॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च ।
शीते च शीतैः समुपैति शान्ति सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥ ८ ॥

क्षार, अतितीक्ष्ण, उष्ण, विदाही अन्न, तैल, सेम, सरसों या तिल की खली, कुलत्थी का यूष, कटु एवं अम्ल रस पदार्थ, सौवीर (काञ्जी), सुरा- विकार (मद्य), क्रोध (कोप), अनल (वह्निसेवा), आयास (श्रमकारी कर्म), रविप्रताप (धूप का अधिक सेवन) एवं मैथुन की अधिकता आदि कारणों से भोजन विदग्ध हो जाता है, और पित्त को उत्पन्न करता है । इस शूल में प्यास, मोह (नष्टचित्तता), दाह, पीड़ा, पसीना, मूर्च्छा, भ्रम एवं चोष (वेदनाविशेष) होता है ।

मध्याह्न, अर्धरात्रि, विदाहकाल (आहार के पाकावस्था) तथा शरद् ऋतु में पैत्तिक शूल की वृद्धि होती है । शीतऋतु, शीतवीर्य पदार्थ, मधुर रस एवं शीत- भोजन से शान्ति होती है ॥

पैत्तिकमाह--क्षारेत्यादि । क्षारो यवक्षारादिः मुष्ककादिकृतक्षारद्रव्यं च, तीक्ष्णोष्णं मरिचराजिकादि, विदाहि वंशकरीरादि, तैलं तिलविकृतिः, निष्पावः शिम्बिः, पिण्याको निःस्नेहः सर्षपादिकल्कः, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षणः । सौवीरं सन्धानविशेषः । रविप्रतापो रौद्रः । ग्राम्यातियोगो मैथुनातिसेवा । विदाहीति पूर्वं पठित्वाऽपि अशनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि दोषवशेन विदाहित्वं दर्शितम् । यदाह 'सुश्रुतः-स्रोतस्यन्नवहे पित्तमग्नौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते' (सु. सू. अ. ४६) इति । विदाहकाल इत्याहारस्य । जलदात्यये शरदि ॥ ६-८ ॥

सरोजव्याख्या—पैत्तिक शूल का निदान सम्प्राप्ति एवं लक्षण बतलाते हैं— क्षारेत्यादि । क्षार—यवक्षार आदि एवं मुष्ककादि क्षारों से सिद्ध द्रव्य । तीक्ष्णोष्ण मरिच राई आदि । विदाहि--बांस के अङ्कुर एवं करीर के फल आदि, तैल-- तिलविकार, निष्पावः—शिम्बि धान्य या सेम, पिण्याक—स्नेहरहित सर्षप आदि का कल्क (खली), कुलत्थयूष--कुलथी से बनी दाल, सौवीर--सन्धान विशेष, रविप्रताप—तीक्ष्ण धूप, ग्राम्यातियोगो—मैथुनातिसेवन । यद्यपि 'विदाही' शब्द पूर्व में कहा गया है, फिर भी पुनः 'विदग्धैः अशनैः' से समझना चाहिए कि अविदाही अन्न भी दोषप्रकोप के कारण विदग्ध हो जाता है । जैसा कि सुश्रुत ने कहा है-- अन्नवाही स्रोत में जब दूषित पित्त का अधिष्ठान हो जाता है, तब चाहे विदाही अन्न लिया जाय या सौम्य जो भी अन्न होगा, वह विदग्ध हो जायेगा । (सु० सू० ४६) विदाहकाल—आहार की पच्यमानावस्था में, जलदात्यये—(जलद+अत्यय) मेघ का नाश अथवा शरद् ऋतु में ।

शूल का सापेक्ष निदान

रोग	स्थान एवं विस्तार	लक्षण	आयु एवं लिङ्ग
१. पित्ताश्मरीजन्यशूल	दक्षिण आनुपार्श्विक प्रदेश में कन्धे की ओर ऊपर गति करने वाला, सतत् वेगयुक्त या सहसा।	तीव्र कामला यकृतीय लक्षण ।	स्वस्थ, मोटी बहुप्रसवा, उम्र चालीस वर्ष ।
२. आन्त्रशूल	नाभि के समीप भयङ्कर शूल, दबाने पर कम हो जाने वाला वेगयुक्त ।	मलावरोध, अतिसार और वमन ।	स्त्री और पुरुष दोनों को किसी भी आयु में ।

३. वृक्कशूल	पार्श्वभाग से नीचे वृषण या बीजकोष की ओर नीचे की गतिवाला।	मूत्रशर्करा, रक्तयुक्त मूत्र, बहुमूत्र या मूत्रकृच्छ्र।	प्रायः पुरुषों, बच्चों और युवा में।
४. आन्त्रपुच्छ शूल	भेकवर्नी बिन्दु पर दबाने पर।	वमन, स्थानिक, काठिन्य, दबाने पर शूल, तीव्रज्वर।	किसी आयु में, तथा दोनों लिङ्गों में।

श्लैष्मिक शूल

आनूपवारिजकिलाटपयोविकारै-
मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च-
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥९॥

हृल्लासकाससदनारुचिसंप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च॥ १० ॥

आनूपदेशज तथा जलचर प्राणियों का मांस, किलाट (तक्र कूर्चिका, सद्यः-प्रसूता महिषीक्षीर), पयोविकार--(दही आदि), मांस, (ग्राम्यमांस), इक्षुविकार, पिष्टान्न, कृशरा, (खिचड़ी), तिल, कचौड़ी तथा अन्य कफवर्धक कारणों से प्रकुपित हुआ श्लेष्मा प्रायः आमाशय में शूल में उत्पन्न करता है।

इसमें जी मिचलाना, कास, सदन (गात्रभङ्ग), अरुचि, सम्प्रसेक (लालास्राव), गीलापन एवं कोष्ठ तथा सिर में भारीपन होता है। यह भोजन करने पर, प्रातःकाल, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में विशेष रूप से होता है ॥

श्लैष्मिकमाह--आनूपेत्यादि। आनूपवारिजं मांसादिकं, किलाटं तक्रकूर्चिका, कृशरा तिलतण्डुलमाषयवागूः। सूर्योदये प्रातः। कुसुमागमे वसन्ते ॥ ९-१० ॥

सरोजव्याख्या—श्लैष्मिक शूल का लक्षण बतलाते हैं—आनूपेत्यादि। आनूप एवं वारिज से जलचर एवं जलज प्राणियों का मांस समझना चाहिए। किलाट तक्रकूर्चिका को कहा जाता है। तिल चावल और उड़द की खिचड़ी को 'यवागू' कहा जाता है। सूर्योदय=प्रातकाल। कुसुमागम=वसन्त ऋतु॥

सन्निपातज शूल

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम् ।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ११ ॥

तीनों दोषों से होने वाले सन्निपातज शूल में सभी दोषों के लक्षण मिलते हैं। यह शूल अत्यन्त कष्टप्रद होता है। विद्वान् लोग विष एवं वज्र के समान इस शूल को असाध्य मानते हैं ॥

आमज शूल

आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः ।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

आटोप (गुड़गुड़ाहट), हृल्लास, वमन, भारीपन, स्तैमित्य (गीलापन), आनाह (उर्ध्वाधोवातनिरोध), कफप्रसेक (कफस्राव) तथा श्लैष्मिक शूल के सदृश लक्षणों वाला शूल 'आमज शूल' होता है।

आमजशूलमाह—आटोपेत्यादि । कफस्य लिङ्गेन कफशूलोक्तलिङ्गेन ॥१२

द्विदोषज शूल

वस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः ।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥ १३ ॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

वस्ति (मूत्राशय), हृदय, पार्श्वद्वय एवं पृष्ठ में होने वाला शूल कफपित्तज; कुक्षि (उदर), हृदय और नाभि के मध्य का कफपित्तज; और दाह (सर्वाङ्गताप) तथा ज्वर से युक्त दारुण शूल वातपित्तज होता है ॥

वातपैत्तिकश्चरकोक्तवातपैत्तिकशूलस्थाने द्रष्टव्यः । एवं सान्निपतिकोऽपि । उक्तदोषत्रयस्थाने । यदुक्तं—'वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति, पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं, सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्' इति ॥ १३ ॥

सरोज व्याख्या—वातपैत्तिक शूल चरकोक्त वातपैत्तिक के स्थान पर समझना चाहिए। इसी प्रकार सान्निपातिक को भी त्रिदोषज शूल के समान समझना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

> वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति, पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् ।
> हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ॥

अर्थात् वस्तिगत शूल को वातात्मक, नाभि प्रदेश में होने वाले शूल को, पित्तात्मक, हृदय पार्श्व और कुक्षि में होने वाले शूल को कफात्मक तथा सम्पूर्ण शरीर में होने वाले शूल को सान्निपातिक शूल कहा जाता है।

साध्यासाध्यता

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

एकदोषज शूल साध्य, द्विदोषज शूल कृच्छ्रसाध्य, एवं त्रिदोषज और दारुण अनेक उपद्रवों से युक्त शूल असाध्य होता है ॥

साध्यत्वादिलक्षणमाह–एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति । उपद्रवास्तु वेदनादयः । यदुक्तं—'वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची । कासः श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवाः स्मृताः' इति ॥ १४ ॥

सरोजव्याख्या—शूल के साध्यासाध्य लक्षण कहते हैं—एकेत्यादि । भूरि-उपद्रवः—यहाँ उपद्रव से निम्नलिखित वेदना आदि उपद्रव समझना चाहिए । जैसे–पीड़ा, प्यास, मूर्च्छा, आनाह, भारीपन, अरुचि, कास, श्वास और हिक्का--ये शूल के उपद्रव बतलाये गये हैं ॥

परिणाम शूल (Duodenal ulcer)

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद् बली ।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥
तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते ।

अपने हेतुओं से कुपित वायु स्थानविशेष में अवस्थित होकर कफ एवं पित्त से आवृत्त होने पर अधिक बलवान् होता हुआ शूल को उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन के परिणाम (पाचनावस्था) काल में होता है, अतः इसे 'परिणामशूल' कहते हैं। संक्षेप में यही अर्थात् परिपाककाल में होना इसका लक्षण है ॥

परिणामशूलमाह--स्वैरित्यादि । अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणामकालसंभवत्वेन पित्तोल्वणत्वं द्रष्टव्यम्: यदुक्तमन्यत्र- 'बलासः प्रच्युतः स्थानात्पित्तेन सह मूर्च्छितः । वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने । कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ बस्तौ स्तनान्तरे । पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः ॥ भक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति । षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते ॥ तत्परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम् । तमाहू रसवाहानां स्रोतसां

दुष्टिहेतुकम् ॥ केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषतः । पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्'—इति । भुक्ते जीर्यत्याहारे पच्यमाने ॥ १५-१६ ॥

सरोजव्याख्या—परिणामशूल के विषय में कहते हैं—स्वैरित्यादि । परिणामशूल त्रिदोषज होने पर भी नियत रूप से भोजन के परिणामकाल में होता है, अतः इसे पित्तोल्वण त्रिदोषज समझना चाहिए । जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—"अपने स्थान (आमाशय) से च्युत कफ जब पित्तस्थान (ग्रहणी) में पहुँचता है, तो पित्त के साथ मूर्च्छित होकर समान वायु को भी साथ लेकर भोजन की पच्यमानावस्था में शूल पैदा कर देता है। यह शूल कुक्षि, जठर (उदर), पार्श्व, नाभिप्रदेश, वस्तिप्रदेश, मध्यवक्ष, तथा पृष्ठमूल (कटि) प्रदेश में से किसी एक में या सब में शूल उत्पन्न कर देता है । यह शूल भोजन के पश्चात् वमन कर देने से अथवा आहार पच जाने के पश्चात् शान्त हो जाता है । यह शूल चावल खाने से बढ़ता है । इस दुर्विज्ञेय एवं महागद को परिणामशूल कहा जाता है । यह शूल रसवाही स्रोतों को दूषित करने वाला होता है । कुछ विद्वान् इसको अन्नद्रवशूल, पक्तिदोष, पक्तिशूल, या अन्नविदाहशूल आदि मानते हैं" । इति । भुक्ते जीर्यति--आहार पचने के समय ॥

वातादिभेद से परिणाम के लक्षण

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः ॥ १७ ॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद् भिषक् ।
तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्ललवणोत्तरम् ॥ १८ ॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।
छर्दिहृल्लाससंमोहं स्वल्परुग्दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।
संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥
त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीणमांसबलानलम् ।

आध्मान (वातेनोदरपूरणम्), आटोप (गुडगुड शब्द), मल और मूत्र की अप्रवृत्ति, अरति (सुखाभाव) एवं वेपन (कम्प)--ये वातिक परिणामशूल के लक्षण है । यह शूल स्निग्ध एवं उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त होता है ।

तृष्णा, दाह, अरति, अधिक पसीना आना, कटु-अम्ल-लवण रस युक्त पदार्थों के सेवन से शूल की वृद्धि तथा शीतोपचार से शान्ति होना पैत्तिक परिणामशूल का लक्षण है ।

वमन, हृल्लास, मूर्च्छा, चिरकाल तक थोड़ा-थोड़ा शूल का बना रहना एवं

कटु-तिल पदार्थों से शूल का शान्त होना 'श्लैष्मिक परिणामशूल' का लक्षण है।

दो-दो दोषों के लक्षण मिलने पर 'द्विदोषज' और तीनों दोषों के लक्षणों के मिलने पर 'त्रिदोषज परिणामशूल' जानना चाहिए। त्रिदोषज परिणामशूल तथा जिसमें मांस, बल एवं अग्नि क्षीण हो, उसे असाध्य समझना चाहिए।

तस्य वातादिभेदेन लक्षणान्याह—आध्मानेत्यादि। तृष्णादाहारतिस्वेदा यत्र सन्ति तत्तृष्णादाहारतिस्वेदम्। कट्वम्ललवणोत्तरं कट्वम्ललवणैर्वृद्धम्। शीतशमप्रायं शीतलोपशम(य) बहुलम्। छर्दिहृल्लाससंमोहलिङ्गानि यस्मिन् सन्ति तच्छर्दिहृल्लाससंमोहम्। दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि॥ १७-२०॥

सरोजव्याख्या—वातादि भेद से परिणामशूल के लक्षण कहते हैं—आध्मानेत्यादि। तृष्णादाहारतिस्वेदम्—जहाँ तृष्ण, दाह, अरति एवं पसीना हो। कट्वम्ललवणोत्तरं—जो कटु, अम्ल और लवण रस प्रधान द्रव्यों के प्रयोग से बढ़े। शीतशमप्रायम्—प्रायः शीतल पदार्थों के प्रयोग से शान्त हो। छर्दिहृल्लाससंमोहम्—वमन, हृल्लास और मूर्च्छा आदि लक्षण जिसमें मिलते हों। दीर्घसन्तति—जो शूल चिरस्थायी हो॥

अन्नद्रवशूल (Gastric ulcer)

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते॥ २१॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च।
न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः॥ २२॥
(अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति)॥ १॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूलपरिणाम-
शूलान्नद्रवशूलनिदानं समाप्तम्॥ २६॥

जो शूल भोजन के जीर्ण हो जाने पर, जीर्ण होते समय या जीर्ण होने के पूर्व होता है तथा पथ्य और अपथ्य के प्रयोग से एवं भोजन करने या न करने पर भी नियमपूर्वक शान्त नहीं होता, उसे 'अन्नद्रव शूल' कहते हैं।

अन्नद्रव शूल में रोगी को तब तक आराम नहीं मिलता, जब तक वमन द्वारा विदग्ध पित्त को निकाल नहीं दिया जाता। वमन द्वारा पित्त के निकल जाने पर शीघ्र शूल शान्त हो जाता है।

त्रिदोषविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यं शूलमाह—जीर्ण इत्यादि। जीर्णे 'आहारे' इति शेषः, एवं जीर्यत्यजीर्णे वेति सर्वदेत्यर्थः। न शमं याति नोपशेत इत्यर्थः, न त्वसाध्यम्, चिकित्साविधानादिति॥ २१-२२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूलनिदानं समाप्तम् ॥ २६ ॥

सरोजव्याख्या—त्रिदोषज विकृतिविशेष अन्नद्रवशूल का लक्षण बतलाते हैं—जीर्णे इत्यादि। जीर्ण शब्द के साथ आहार शब्द जोड़ लेना चाहिए। इसी प्रकार जीर्यति (पच्यमानावस्था) एवं अजीर्ण (भुक्तावस्था) अर्थात् सर्वदा रहता है। न शमं याति--शान्त नहीं होता, तत्त्वसाध्यं —यह असाध्य नहीं होता; क्योंकि इसका चिकित्सा-विधान मिलता है।

॥ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलदिनिदान समाप्त ॥



सप्तविंशतितमोऽध्यायः

उदावर्तानाहनिदानम्

उदावर्त का हेतु

वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥
(सु. उ. ५५.४)

अपान वायु, मल, मूत्र, जम्हाई, अश्रु, छींक, उद्गार, वमन, इन्द्रिय (शुक्र), भूख, प्यास, श्वासोच्छ्वास एवं निद्रा आदि के स्वाभाविक वेग को रोकने से उदावर्त रोग की उत्पत्ति होती है ॥

उदावर्तेऽपि शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तमाह—वातेत्यादि। अस्रमश्रु, इन्द्रियशब्देनात्र शुक्रं, क्षुत् बुभुक्षा। धृत्या वेगविधारणेन। एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषां क्रोधादीनां वेगविधारणं न तद्धेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात्। यदाह चरकः—'लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्' (च. सू. ७) इत्यादि। सर्वोदावर्तेषु च वायुरेव कारणम्। यदाह सुश्रुतः—'सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः। वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये' (सु. उ. ५५) इत्यादि। उद्भूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः; अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमाहुः, तन्न; अश्रुस्रावादेरव्यापकत्वात्। छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समर्थनीयम् ॥ १ ॥

सरोजव्याख्या—उदावर्त में भी शूल होता है, अतः शूल के पश्चात् उदावर्त का वर्णन करते हैं—वातेत्यादि। अस्र—आँसू। इन्द्रिय शब्द से यहाँ शुक्र लेना चाहिए। क्षुत्—बुभुक्षा (भूख)। धृत्या—वेगविधारण से। ये वातादिवेग नियम से तेरह प्रकार के होते हैं। इनको धारण नहीं करना चाहिए। इससे भिन्न क्रोधादि अन्य वेगों का धारण उदावर्त का कारण नहीं होता, क्योंकि इन क्रोधादि वेगों का विधारण स्वास्थ्य का कारण कहा गया है। जैसा कि चरक ने कहा है—लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्। (च० सू० ७) इत्यादि। सभी उदावर्तों में वायु ही कारण होता है। जैसाकि सुश्रुत ने कहा है—

'सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः।
'वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये' (सु० उ० ५६)

अर्थात् सभी प्रकार के उदावर्तों में सब प्रकार से वायु को ही अपने मार्ग पर लाने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। इत्यादि।

उदावर्त की निरुक्ति—उद्भूतेन वेगविधारणेन आवृतस्य वायोर्वर्तनम् इति उदावर्तनिरुक्तिः। अर्थात् अधारणीय वेगों के धारण करने से आवृत आयु का विलोम गति इधर-उधर घूमना ही उदावर्त कहा जाता है। अन्य आचार्य वायु की ऊर्ध्व (प्रतिलोम) गति को 'उदावर्त' मानते हैं, किन्तु यह निरुक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि अश्रुस्राव आदि में वायु की प्रतिलोभ गति नहीं होती। अथवा 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से अन्तिम निरुक्ति का समर्थन कर लेना चाहिए।।

निदान-सम्प्राप्ति

अधारणीय वेगविधारण

।

वातप्रकोप

।

उदावर्त रोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

दोष—वायु

दूष्य—त्रयोदश वेग

अधिष्ठान—त्रयोदश वेगमार्ग

वातनिरोधज उदावत

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात्॥ २॥

(च. सू. ७. १२)

वात का वेग रोकने से वात, मूत्र एवं पुरीष का अवरोध (अप्रवृत्ति), आध्मान, क्लम (अनायास श्रम), उदर में पीड़ा एवं अन्य वातिक विकार होते हैं॥

उक्तवाताद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणान्याह-वातेत्यादि। अन्ये इति तोदशूलादयः॥

मलनिरोधज उदावर्त

आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य॥ ३॥

(सु. उ. ५५.८।२.९।१)

पुरीष का वेग रोकने से आटोप (गुड़गुड़ शब्द), पक्वाशय में शूल, परि-

कर्तिका (कर्तनवत् व्यथा), पुरीष की अप्रवृत्ति ऊर्ध्ववात (उद्गारबाहुल्य) अथवा कभी-कभी मुख से पुरीष-निर्गमन होता है ॥

मूत्रनिरोधज उदावर्त

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वंक्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥

(च. सु. ७.६)

मूत्र का वेग रोकने से वस्ति (मूत्राशय) एवं मेहन (शिश्न) में व्यथा, मूत्रकृच्छ्र (अल्प-अल्प कष्ट से मूत्रप्रवर्तन), शिरःशूल, शरीर का आगे की ओर झुक जाना एवं वंक्षण प्रदेश (वस्ति) में आनाह (तनाव) होता है ॥

मेहनं शेफः। विनाम आनाहपीडया (बन्धनवत्पीडया) नतगात्रत्वम्। वङ्क्षणयोरानाहो बन्धनवत्पीडा ॥ ४ ॥

जृम्भानिरोधज उदावर्त

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा जृम्भोपघातात् पवनात्मकाः स्युः।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥ ५ ॥

(सु. उ. ५५-११)

जृम्भा के वेग का उपघात करने से मध्यास्तम्भ, कण्ठस्तम्भ, वातजन्य शिरोरोग, अक्षिरोग, नासागत रोग, मुखरोग एवं कर्ण के तीव्र रोग हो जाते हैं ॥

अश्रुनिरोधज उदावर्त

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥ ६ ॥

(सु. उ. ५५-१२)

आनन्द अथवा शोक—दोनों ही प्रकार से लोचनजल (अश्रु) निकलता है। इनको रोकने में शरीर में भारीपन, तीव्र-त्रिरोग एवं प्रतिश्याय हो जाता है ॥

नेत्रोदकमश्रु, प्राप्तमागतममुञ्चतो 'नरस्य' इति शेषः। चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्यायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम् ॥ ६ ॥

क्षवथुनिरोधज उदावर्त

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ ७ ॥

(च. सू. ७.१६)

छींक रोकने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, अर्धावभेदक तथा इन्द्रिय-दौर्बल्य (विषय ग्रहण में असमर्थता) हो जाता है ॥

अर्धावभेदोऽर्धशिरःशूलम् ॥ ७ ॥

उद्गारनिरोधज उदावर्त

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः ।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥८॥
(सु. उ. ५५.१३।२, १४।१)

उद्गार का वेग रोकने से कण्ठ और मुख में पूर्णता (अवरोध) की अनुभूति, अत्यधिक तोद, आन्त्रकूजन, श्वासावरोध तथा अन्य वातजन्य घोर विकार हो जाते हैं ।

कूजोऽव्यक्तभाषणमिति कार्तिकः । वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वाससनिरोधः । घोरा विकाराः पवनजा हिक्कादयः ॥ ८ ॥

छर्दिनिरोधज उदावर्त

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः ।
कुष्ठवीसर्पहृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥ ९ ॥
(च. सू. ७.१४)

छर्दि का वेग रोकने से कण्डू, कोठ, अरुचि व्यङ्ग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प, तथा हृल्लास हो जाता है ।

शुक्रनिरोधज उदावर्त

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च ।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥१०॥
(सु० उ० ५५. १५)

शुक्र का वेग रोकने से मूत्राशय, गुद एवं अण्डकोष में शोथ तथा पीड़ा, मूत्र का अवरोध, शुक्राश्मरी का निर्माण, शुक्रस्राव तथा अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

मूत्राशये वस्तौ, 'मूत्रायन' इति पाठे स एवार्थः । वैशब्दः पादपूरणे । तत्स्रवण शुक्रस्य स्यन्दनम् ॥ १० ॥

क्षुधानिरोधज उदावर्त

तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात् कृशता च दृष्टेः ।
(सु० उ० ५५. १६।१)

क्षुधा का वेग रोकने से तन्द्रा, अङ्गमर्द, अरुचि, श्रम (कर्मेन्द्रियों का असामर्थ्य) तथा दृष्टिदौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं।

तृष्णानिरोधज उदावर्त

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद्धृदये व्यथा च ॥११॥

(सु० उ० ५५.१५।२)

तृष्णा का वेग रोकने से कण्ठ एवं मुख का सूखना, श्रवणावरोध (शब्द-ग्रहण में कठिनाई) एवं हृदय प्रदेश में वेदना आदि लक्षण होते हैं।

श्वासनिरोधज उदावर्त

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः।

(सु० उ० ५५.१७।१)

परिश्रम करने से बढ़े हुए श्वास का वेग रोकने से हृदय रोग, मूर्च्छा तथा गुल्म रोग हो सकते हैं।

निद्रानिरोधज उदावर्त

जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोऽतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥

(सु० उ० ५५.१७।२)

निद्रा का वेग रोकने से जृम्भा, अङ्गमर्द, आँखों तथा सिर में अत्यधिक गौरव एवं तन्द्रा होती है।

अतिजाड्यं गौरवम्। 'शिरोगात्राक्षिगौरवम्—' इति तन्त्रान्तरे पाठः ॥ १२ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त वातादिजन्य उदावर्त का क्रमशः लक्षण बतलाते हैं—वातेत्यादि। यहाँ अन्य शब्द से तोद, शूल एवं भेद आदि वात के अन्य उपद्रव समझने चाहिएँ। मेहन-शिश्न (शेफ), विनाम—आनाह में बन्धन के समान पीड़ा होने से रोगी झुक जाता है। वंक्षण (ऊरुसन्धियों) में भी आनाह के समान बन्धनवत् पीड़ा होती है। नेत्रोदक—अश्रु। आनन्द अथवा शोक—दोनों प्रकार से निकल रहे अश्रु के वेग को रोकने से शिर में भारीपन आदि रोग हो जाता है। चकार से तन्त्रान्तरोक्त प्रतिश्याय, हृद्रोग, अरुचि रोगों का ग्रहण करना चाहिए। अर्धावभेद—अर्धशिरःशूल। 'कूज' शब्द से आचार्य कार्तिक अव्यक्त भाषण लेते हैं। वायोः अप्रवृत्तिः—श्वासोच्छ्वासनिरोध। घोराः विकाराः—हिक्का आदि दारुण विकार हो जाते हैं। मूत्राशय से वस्ति समझना चाहिए। मूत्रायन का भी यही अर्थ होता है। 'वै' शब्द पादपूरण के लिये है। तत्स्रवणं—शुक्र का

स्राव होता रहता है। अतिजाड्यम्—शरीर भारी रहता है। शिरोगात्राक्षिगौरवम्—ऐसा पाठ तन्त्रान्तर में मिलता है।

वातज उदावर्त

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि॥ १३॥

वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत्॥ १४॥

ततो हृद्बस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः॥ १५॥

श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान्॥ १६॥

(सु० उ० ५५.३७-४१।१)

रूक्ष, कषाय, कटु तथा तिक्त भोजन करने से कोष्ठस्थित वायु शीघ्र कुपित होकर उदावर्त उत्पन्न करती है।

यह कुपित वायु वात, मूत्र, पुरीष, रक्त, कफ एवं मेदोवह स्रोतों को उदावर्तन (प्रतिलोम गति) कर देता है। मल सूख जाता है। इसके परिणामस्वरूप रोगी के हृत् प्रदेश एवं वस्ति प्रदेश में तीव्र शूल, हृल्लास और अरति (बेचैनी) होती है। रोगी वात, मूत्र तथा पुरीष का त्याग बड़े कष्ट से करता है। उसे श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, तृषा, ज्वर, वमन, हिक्का, शिरोरोग, मनोविभ्रम (विपरीत श्रवण) तथा वातप्रकोपजन्य अन्य अनेक विकार हो जाते हैं॥ १३-१६॥

वेगनिरोधजानुदावर्तानभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—वायुरित्यादि। उदावर्तयत्यावृणोति। अतिवर्तयेच्छोषयेत्। कृच्छ्रेण लभत इति कष्टेन प्रवर्तयति। अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति–'तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम्। शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्' (सु. उ. ५५) इति॥ १३-१६॥

सरोज व्याख्या—वेगनिरोधज उदावर्त का उल्लेख करने के पश्चात् रूक्षादि द्रव्यों के प्रयोग से प्रकुपित वातजन्य उदावर्त का वर्णन करते हैं—वायुरित्यादि। उदावर्तयति—आवृत कर लेता है। अतिवर्तयेत्—शोषयेत्, अर्थात् सुखा देता है। कृच्छ्रेण लभते—वात, मूत्र, पुरीष आदि कष्ट से निकलता है। यहाँ कुछ सुश्रोक्त असाध्य लक्षणों का उल्लेख करते हैं—

"तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम्।
शकृद् वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्"॥
(सु० उ० ५५)

अर्थात् तृष्णा से पीड़ित, क्लेशयुक्त, क्षीण, शूलादि उपद्रवों से पीड़ित एवं मल का वमन करने वाले उदावर्त रोगी की चिकित्सा बुद्धिमान् चिकित्सक को नहीं करनी चाहिए।

आनाह रोग

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ १७॥
(सु० उ० ५६. २०।२, २१।१)

आम अथवा मल क्रम से सञ्चित होकर तत्पश्चात् विकृत वायु से बँधकर भली प्रकार अपने मार्ग से प्रवर्तित नहीं होता, उस व्याधि को 'आनाह' कहा जाता है।

इदानीं विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्स्यत्वेनानाहमाह—आममित्यादि। नेति पूर्वेण संबध्यते।

आमज एवं पुरीषज आनाह

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च॥ १८॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥ १९॥
(सु० उ० ५६, २२-२३)

आमजन्य (आमाशयगत) आनाह में प्यास, प्रतिश्याय, शिरोविदाह, आमाशय में शूल एवं भारीपन, हृदय प्रदेश में स्तम्भ तथा उद्गार की अप्रवृत्ति आदि लक्षण होते हैं।

पुरीषजन्य (पक्वाशयगत) आनाह में कटि एवं पृष्ठ का स्तम्भ, पुरीष एवं मूत्र का अवरोध, शूल, मूर्च्छा, मल का वमन, श्वास तथा अलसक रोग के लक्षण होते हैं।

असाध्य उदावर्त

तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्॥ २०॥
(सु० उ० ५५.१८)

भयंकर तृष्णा से पीड़ित, बेचैन, क्षीण, तीव्र शूल से युक्त और मल का वमन करने वाला उदावर्त का रोगी बुद्धिमान् चिकित्सक द्वारा त्याग दिया जाना चाहिए।

छर्दिरित्येक एव छकारश्छन्दोऽनुरोधात्। स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धतावाची, मूत्रपुरीषयोश्चाप्रवृत्तिवाची। अलसोक्तानीति आध्मान-वातनिरोधादीनि॥ १७-२०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायाम्
उदावर्तानाहनिदानं समाप्तम्॥ २७॥

सरोज व्याख्या—विगुण वायु से उत्पन्न होने के कारण समान चिकित्सा वाले आनाह रोग का उल्लेख करते हैं—आममित्यादि। नेति का पूर्वेण सम्बध्यते—यहाँ पर नकार का सम्बन्ध पूर्व पर के साथ अर्थात् 'न प्रवर्तमानम्' इस प्रकार करना चाहिए। इसी तरह 'छर्दिः' में छन्दोनुरोध से एक ही छकार का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर 'स्तम्भ' शब्द कटि आदि की स्तब्धता का बोधक है तथा मल एवं मूत्र की अप्रवृत्ति (निरोध) का बोधक है। अलसोक्तानि—पीछे अलसक रोगाध्याय (६।१६-२०) में बतलाये गये शूल, आध्मान और वातनिरोध आदि लक्षण मिलते हैं।

आनाह—"णह् बन्धने" धातु से आङ् उपसर्ग लगाकर 'आनाह' शब्द की निष्पत्ति होती है।

॥ उदावर्त-आनाहनिदान समाप्त ॥



अष्टाविंशतितमोऽध्याय।

गुल्मनिदानम्

गुल्म का कारण एवं सम्प्राप्ति

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्।
तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः॥ १॥

मिथ्या आहार-विहार से अत्यन्त कुपित वातादि दोष कोष्ठ के अन्दर ग्रन्थि के रूप में पाँच प्रकार का गुल्म उत्पन्न करते हैं। गुल्म दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति--इन पाँच स्थानों में होता है॥ १॥

गुल्मेऽप्यानाहो भवतीत्यानाहानन्तरं गुल्ममाह--दुष्टा इत्यादि। पञ्चधेति। वातपित्तकफसन्निपातरक्तजाः। द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमवेतत्वान्न पृथग्गण्यन्ते, अर्शोरोगवत्। कोष्ठान्तरामाशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं गुडकाकारम्। तस्येत्यादि। एतदेव विवृणोति—पार्श्वेत्यादि। पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः। अत एव 'पार्श्वे' इति द्विवचनान्तमेव क्वचित् पठ्यते॥ १॥

सरोज व्याख्या—गुल्म में भी आनाह होता है, अतः आनाह के अनन्तर गुल्म का वर्णन करते हैं--दुष्टा इत्यादि। पञ्चधा--१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज एवं ५. रक्तज--इन पाँच भेदों से गुल्म पाँच प्रकार का होता है। प्रकृतिसमसमवेत होने से द्वन्द्वज गुल्म की पृथक् से गणना नहीं की गयी है। जैसे अर्श रोग में द्वन्द्वज अर्श रोग नहीं कहा गया है। कोष्ठान्तः—आमाशय आदि के मध्य ग्रन्थि रूप में 'गुडिकाकार' (गोलाकार) सा बन जाता है। इस गुल्म के स्थानों को बतलाते हैं--पार्श्वेत्यादि। पार्श्व शब्द से दोनों पार्श्वों को लेना चाहिए। इसीलिए 'पार्श्वे' द्विवचन का प्रयोग कहीं-कहीं किया गया है।

सम्प्राप्ति घटक--

दोष—मुख्यतया वात।
दूष्य--रक्त, पुरीष आदि।
स्रोत--महास्रोतस् (आमाशयादि)।
अग्नि--मन्द।

अधिष्ठान--पार्श्व, हृदय, नाभि, वस्ति ।

प्रधानतः वातप्रकोपक आहार-विहार— वात का स्वतन्त्र या परतन्त्र प्रकोप

पक्वाशय — आमाशय या पच्यमानाशय

उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अधः या दोनों पार्श्व में पिण्डित होकर व्याप्त प्रदेश को पीड़ित करना

गुल्म की उत्पत्ति

गुल्म का सामान्य लक्षण

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥ २ ॥

(सु० उ० ४२.४)

हृदय एवं वस्ति (मूत्राशय) के मध्य इधर-उधर संचारी (चलनशील) अथवा अचल (स्थिर), गोल, कभी घटने वाली एवं कभी बढ़ने वाली ग्रन्थि को 'गुल्म' कहा जाता है ॥ २ ॥

सामान्यगुल्मरूपमाह—हृदित्यादि । नाभिशब्देन वस्तिर्बोध्यः, सामीप्यात्; यथा गङ्गायां घोष इत्याहुः, वस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अत एव 'हृद्वस्त्योरन्तरे' इति पाठान्तरम् । अन्ये त्वाहुः--बस्तौ विद्रधिरेव स्यान्न तु गुल्म इति । तन्न, वस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात्; तथा च चरके—'पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः' इति । एतत् पञ्चस्थानकथनं दोषजाभिप्रायेण, रक्तजस्य तु गर्भाशयः स्थानम् । अथवा पार्श्वस्थितत्वाद् गर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणेनैव ग्रहणम् । वृत्तो वर्तुलः । चयापचयवानिति कदाचिदुपचीयते, कदाचिदपचीयते । एतच्च सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः; गयदासस्तु (इति) सामान्यलक्षणमाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् । 'चयोपचयवान्' इति पाठान्तरे दोषस्य चयेनोपचयवानिति वृद्धिमानित्यर्थः । गुल्म इति लतादिपिहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् संचितपरिपिण्डतदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः । वाप्यचन्द्रस्त्वाह—संपिण्डितदोषो गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

सरोज व्याख्या--सामान्य गुल्म का लक्षण कहते हैं—हृदित्यादि । 'नाभि' शब्द से वस्ति का बोध होता है; क्योंकि वस्ति एवं नाभि पास-पास होते हैं । जैसे—'गंगायां घोषः' इस वाक्य से गंगा के समीप उसके तट का बोध होता है । वस्ति

भी गुल्म का एक अधिष्ठान है, इसलिए हृद्वस्त्योरन्तरे--ऐसा पाठान्तर भी कहीं-कहीं देखा करता है। अन्य विद्वान् कहते हैं कि वस्ति में विद्रधि होता है, गुल्म नहीं, किन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि वस्ति प्रदेश में भी गुल्म के लक्षण मिलते हैं। चरक में गुल्म के पाँच स्थान बतलाये गये हैं--"पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्व-हृन्नाभिवस्तयः" इति। गुल्म के पाँच स्थान दोषानुसार बतलाये गये हैं। रक्तज गुल्म का स्थान गर्भाशय होता है अथवा पार्श्व में स्थित होने से गर्भाशय का पार्श्व से ग्रहण किया जाता है। वृत्तो—वर्तुल (गोल)। चयापचयवान्—कदाचित् घटता-बढ़ता रहता है। आचार्य जेज्जट चय-अपचय को 'वातिक गुल्म' का ही सामान्य लक्षण मानते हैं, किन्तु आचार्य गयदास ने सभी गुल्मों के वातमूलक होने से चय-अपचय को गुल्म का सामान्य लक्षण माना है। 'चयोपचयवान्' ऐसा पाठान्तर होने पर दोष के उपचय के साथ गुल्म का भी उपचय समझना चाहिए। लोक में अनेक लताओं (झाड़ियों) से गुच्छित स्थानविशेष को गुल्म कहा जाता है। गुल्म के समान सञ्चित दोषों से पिण्डित गुच्छाकार रचना को 'गुल्म रोग' कहा जाता है। आचार्य वाप्यचन्द्र गुल्म-निरुक्ति बतलाते हैं—सम्पिण्डितदोषैः गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः। अर्थात् दोषों से सञ्चित पिण्डाकार (गुडक—गोला) के समान प्रतीत होना 'गुल्म' है ॥ २ ॥

गुल्म रोग का भेद

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ ३ ॥

(सु० उ० ४२, ७।२, ८।१)

वह गुल्म वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त इन पाँच कारणों से पाँच प्रकार का होता है। इनमें प्रथम चार गुल्म पुरुष एवं स्त्री—दोनों में तथा रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों के गर्भाशय में होता है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वं विवृणोति--स इत्यादि। व्यस्तैरित्यनेनैकजो द्वन्द्वजोऽपि ग्राह्यः। पञ्चधा गुल्म इत्यनेन विरोध इति चेत्, न; न हि 'तत्रावधारणं कृतं, पञ्चधैवेति। अत एव सूत्रस्थाने चरकेण 'पञ्च गुल्माः' (च. सू. १९) इत्यभिधायापि 'संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्' (च. चि. ५) इत्युक्तम् समानचिकित्स्यत्वेन; तत्रान्तर्भावात्। रक्तेन चापर इति स्त्रीणामेव। वक्ष्यति हि—'स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः' (च. चि. ५) इति। रक्तं चात्रार्तवं न धातुरूपम्। धातुरूपरक्तजस्तु गुल्मो यद्यप्यन्योऽस्ति तथाऽपि नैतत्सम्प्राप्तिको भवतीति न पृथगुपदिश्यते। पृथग्ज्ञानानभिधानं तु पित्तगुल्मसमाननिदानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्,

सुश्रुते रक्तातीसारवत्। विशेषलक्षणं च यदाह चरक:—'तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्' (च. चि. ५) इति। धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवतीति भट्टारहरिश्चन्द्रः। तथा च क्षारपाणिः—'स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते'। इति। वाप्यचन्द्रस्त्वाह—वातादिदोषजस्यैवापचाराद्रक्ते दुष्टे रक्तजव्यपदेशः, यथा चरके कफपित्तमेहानामतिकर्षणादुत्तरकाले वातसंसर्गे सति वातमेहत्वमुक्तम्। यदुक्तम्—'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा। वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता'॥ (च. चि. ६)' इति। क्षारपाणेरप्येवमेवाभिप्रायः। यदि तु पृथक् स्यात्तदा तमपि नवमं लिङ्गस्थानादिभिरभिधीयात्, न चोक्तः। जेज्जटगयदासाभ्यां तु हरिश्चन्द्रमतमेवानुमतमिति। सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम्। यदुक्तं चरके—'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या। मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥' (च. चि. ५) इति सुश्रुतेऽप्युक्तं—'कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च। तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते'—(सु. उ. ४२) इति। न चैतावता नानात्मजत्वप्रसङ्गः; वातस्यानुबन्धरूपत्वात्, ज्वरे पित्तवत्। ननु वाताव्यभिचाराद् द्विदोषजस्त्रिदोषजो वा गुल्मः स्यान्न केवलं कफजः पित्तजो वेति, ततश्च पञ्चधेति विरोधः? नैतत्, अनुबन्धरूपेण वातजव्यपदेशः, न त्वनुबन्ध्यरूपेणेति ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—पूर्वोक्त पाँच प्रकार के गुल्मों का दोषानुसार वर्णन करते हैं—स इत्यादि। 'व्यस्तैः' पद से एकज एवं द्वन्द्वज गुल्म का भी ग्रहण किया जाता है, किन्तु तीन द्वन्द्वज गुल्म मानने पर 'पञ्चधा गुल्म' की संख्या में विरोध हो जायेगा, लेकिन पञ्चधा की अवधारणा कोई महत्वपूर्ण नहीं है। इसीलिये चरक ने सूत्रस्थान में 'पञ्चगुल्माः' (च० सू० १९।३) इत्यादि द्वारा पाँच प्रकार का गुल्म निर्दिष्ट कर भी चिकित्सा स्थान में "संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्माँस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्" (च० चि० ५।१६) के द्वारा तीन द्वन्द्वज गुल्मों का उल्लेख किया है। किन्तु समान चिकित्सा होने से द्वन्द्वज गुल्म का 'पञ्चधा गुल्म' में अन्तर्भाव कर लिया गया है।

रक्तज गुल्म स्त्रियों को ही होता है, क्योंकि चरक में कहा गया है—"स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः" (च० चि० ५)। अर्थात् रुधिरजन्य गुल्म स्त्रियों को ही होता है। यहाँ रक्त से आर्तव रूप रक्त समझना चाहिए, न कि धातुरूप रक्त। यद्यपि धातुरूप रक्त से भी एक प्रकार का गुल्म होता है, तथापि उसकी यह सम्प्राप्ति

नहीं होती, इसलिए उसको पृथक् से बतलाया गया है। धातुरूप 'रक्तज गुल्म' का 'पित्तज गुल्म' के निदान एवं चिकित्सा होने से उसका पृथक् वर्णन नहीं किया गया है, जैसे कि सुश्रुत में रक्तातिसार का पित्तातिसार में अन्तर्भाव कर लिया गया है। चरक ने रक्तधातुज गुल्म का स्पष्ट चिकित्सानिर्देश किया है—

"तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥" (च० चि० ५।३६)

अर्थात् तृष्णा, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमान्द्य एवं अरुचि आदि उपद्रवों से पीड़ित गुल्म रोगियों में रक्तमोक्षण कराना चाहिए। धातुरूप रक्तज गुल्म स्त्रियों एवं पुरुषों--दोनों को होता है। ऐसा भट्टारहरिचन्द्र का कथन है। आचार्य क्षारपाणि कहते हैं कि आर्तवज गुल्म स्त्रियों को होता है, पुरुषों को नहीं तथा रक्तज गुल्म स्त्री एवं पुरुष दोनों को होता है। आचार्य वाप्यचन्द्र कहते हैं कि वातिक आदि गुल्मों में अपथ्य का सेवन करने से रक्त दूषित हो जाने पर उसको रक्तज रोग मान लिया जाता है, जैसे चरक में कफपित्तप्रमेही रोगी के अतिकर्षण से वायु का संसर्ग हो जाने पर वातज प्रमेह कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है--

"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता" ॥
(च० चि० ६।५२)

अर्थात् जो वातज प्रमेहों की चिकित्सा बतलायी गयी है, वह वातोल्वण प्रमेहों की समझनी चाहिए, किन्तु प्रमेह रोग में धातुओं के अति क्षीण हो जाने पर बढ़ी हुई वायु जिन प्रमेहों को उत्पन्न करती है, वे असाध्य प्रमेह होते हैं, उनकी चिकित्सा नहीं करना चाहिए।

क्षारपाणि का भी यही मन्तव्य है। यदि धातुभूत रक्तज गुल्म पृथक् से मान्य होता, तो उसके लक्षण, स्थान आदि से नवम गुल्म की सत्ता स्वीकार की गयी होती, किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। जेज्जट एवं गयदास ने भी हरिचन्द्र का ही मत माना है।

सभी गुल्मों में वात ही कारण होता है। जैसा कि चरक ने कहा है--

"गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्" ॥

अर्थात् गुल्म रोगियों के गुल्म की शान्ति के लिये सब प्रकार से वायु को ही शान्त करने का उपाय करना चाहिए; क्योंकि वायु को जीत लेने पर शेष दो

दोषों को सामान्य विधि से शान्त किया जा सकता है। सुश्रुत में भी सभी गुल्मों में वायु को ही कहा गया है—

"कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च।
तुल्यत्वाद् वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते" ॥ (सु० ३।४२)

उपर्युक्त कथन के आधार पर गुल्म को नानात्मज भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी ज्वरों में पित्त के समान गुल्मों में वात भी अनुबन्ध (अनुप्रधान) रूप से ही रहता है। अब शङ्का होती है कि यदि प्रत्येक गुल्म में वायु का अनुबन्ध निश्चित रूप से होता है, तो प्रत्येक गुल्म द्विदोषज या त्रिदोषज होना चाहिए, न कि केवल कफज या पित्तज ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि वायु प्रत्येक गुल्म में अनुबन्ध (अप्रधान) रूप में रहता है, न कि अनुबन्ध्य (अप्रधान) रूप में ॥ ३ ॥

पूर्वरूप

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोप आध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥४॥
(अ० हृ० नि० ११. ६३)

उद्गार की बहुलता, विबन्ध, सर्वदा पेट भरा हुआ होना, प्रत्येक कार्य में अक्षमता, आन्तों में कूजन, आटोप, आध्मान, तथा पाचन शक्ति का मन्द होना—गुल्म का पूर्वरूप है।

पूर्वरूपमाह—उद्गारेत्यादि। पुरीषबन्धो विड्बन्धः। तृप्तिरनन्नाभिलाषः। सुश्रुतेऽपि हि—'द्वेषोऽन्ने' (सु. उ. ४२) इति पठितम्। अक्षमत्वमसामर्थ्यम्। आटोपोऽत्र रुजापूर्वकः क्षोभः, तनतनं वा; नतु गुडगुडाशब्दः, तस्यान्त्रकूजनेनैव गृहीतत्वात्; नाप्याध्मानं, तस्योपात्तत्वात्। अपक्तिशक्तिर्मन्दाग्निता; 'अपक्तृशक्तिः' इति पाठे स एवार्थः ॥ ४ ॥

सरोजव्याख्या—गुल्म रोग का पूर्वरूप कहते हैं—उद्गारेत्यादि। पुरीषबन्धो—मल का रुक जाना (विबन्ध), तृप्ति—अनन्नाभिलाष। सुश्रुत में भी कहा गया है—द्वेषोऽन्ने अर्थात् अन्न में द्वेष (अरुचि)। अक्षमत्वम्—असामर्थ्य, आटोप—उदर में पीड़ा पूर्वक क्षोभ को अथवा पेट में जो तरङ्ग उठती हैं, उनको आटोप कहते हैं। यहाँ 'आटोप' का अर्थ 'पेट में गुड़गुड़ शब्द होना' नहीं करना चाहिए, क्योंकि आन्त्रकूजन से उसका ग्रहण हो जाता है। आटोप का अर्थ आध्मान भी नहीं किया जाता, क्योंकि मूल श्लोक में आध्मान शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। अपक्तिशक्ति—मन्दाग्निता। 'अपक्तृशक्ति' पाठान्तर का भी यही अर्थ होता है।

गुल्म का सामान्य लक्षण

अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम् ।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

अरुचि, कष्ट से मल-मूत्र-वात का प्रवर्तन, आन्त्रविकूजन (गुड़गुड़ शब्द), आनाह (उर्ध्व-अधोवातनिरोध) एवं ऊर्ध्ववातत्व (उद्गारबाहुल्य) सभी गुल्म के लक्षण हैं ॥ ५ ॥

गुल्मसाधारणरूपमाह—अरुचिरित्यादि ॥ ५ ॥

सरोजव्याख्या—गुल्म के साधारण लक्षण कहते हैं—अरुचिरित्यादि ॥ ५ ॥

वातिक गुल्म

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ६ ॥
यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ ७ ॥
करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ ८ ॥
(च० चि० ५.९-११)

रूक्ष अन्नपान का विषम या अधिक मात्रा में सेवन, विरुद्ध चेष्टाएँ, वेगविनिग्रह, शोक, अभिघात, अतिमलक्षय एवं उपवास—ये वातगुल्म का कारण है ॥

जिस गुल्म के स्थान, स्वरूप एवं पीड़ाओं में परिवर्तन हो, मल एवं वात की अप्रवृत्ति हो, गला एवं मुख सूखता हो, शरीर का वर्ण श्याम या अरुण वर्ण का हो, शीतज्वर रहता हो, हृदय-कुक्षि-पार्श्व तथा शिर में वेदना हो, भोजन के पच जाने पर उक्त लक्षणों का प्रकोप बढ़ जाता हो, भोजन करने के तुरन्त बाद लक्षणों का शमन हो जाता हो, रूक्ष, कषाय, तिक्त तथा कटु भोजन का सेवन अनुकूल न होता हो, उसे वातिक गुल्म कहते हैं ॥ ८ ॥

वातिकमाह—रूक्षेत्यादि । विषमातिमात्रमित्यन्नपानविशेषणम् । विचेष्टनं विरुद्धचेष्टाः बलवद्विग्रहादि । अतिमलक्षयो विरेकादिना । निरन्नता निराहारता । विकल्पशब्दः स्थानादिभिः प्रत्येकं योज्यः । स्थानविकल्पो यथा—कदाचिन्नाभौ, कदाचित्पार्श्वयोः, कदाचिद् वस्तावित्यादिस्थानान्तरगमनम् । संस्थानविकल्पो यथा-कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, वृत्तो, दीर्घो वेति । रुजाविकल्पो यथा—कदाचिदल्पा, कदाचिन्महती, तोदरूपा, भेदरूपा, अनेकरूपा वेति । न च तत्रोपशेते न सुखयति ॥ ६-८ ॥

सरोजव्याख्या—वातिक गुल्म का लक्षण कहते हैं—रूक्षेत्यादि। विषमातिमात्रम्—यह अन्नपान का विशेषण है। आतङ्कदर्पणकार ने बहुत थोड़ा अथवा अकालभोजन को विषम भोजन बतलाया है। विचेष्टितम्—विरुद्ध चेष्टा एवं बलवान् व्यक्ति से लड़ना। अतिमलक्षयः—विरेचन आदि द्वारा मल का अधिक निकलना, निरन्नता—निराहार (उपवास)। विकल्प शब्द का स्थान, संस्थान एवं रुजा तीनों से सम्बन्ध है। स्थानविकल्पो—जैसे गुल्म कभी नाभि, कभी पार्श्व एवं कभी वस्ति प्रदेश में गमन करता है। संस्थानविकल्पो—जैसे कभी गुल्म छोटा, कभी बड़ा, कभी गोल एवं कभी लम्बा हो जाया करता है। रुजाविकल्पो—जैसे कभी कम या कभी तीव्र पीड़ा, कभी सूई चुभने जैसी पीड़ा, कभी भेदनरूप एवं कभी अनेक रूपों में होती है। वातिक गुल्म में रूक्ष आहार एवं कषाय, कटु एवं तिक्त रस सुखकारक नहीं होते हैं ॥ ६–८ ॥

पैत्तिक गुल्म

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥ ९ ॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥
(च० चि० ५.१२–१३)

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही तथा रूक्ष पदार्थों का सेवन, अत्यधिक क्रोध, अत्यधिक मद्यपान, सूर्य या अग्नि का सम्पर्क, विदग्धाजीर्ण जनित दुष्ट रस (आमरस) का प्रकोप, अभिघात एवं रक्त का दूषित होना पैत्तिक गुल्म का कारण है।

ज्वर, पिपासा, मुख एवं शरीर का अरुण रङ्ग होना, भोजन के परिपाककाल में तीव्र शूल, स्वेद, विदाह तथा व्रण के सदृश स्पर्श की असह्यता पैत्तिक गुल्म का लक्षण है ॥ ९–१० ॥

पैत्तिकमाह--कट्वित्यादि। आमाभिघात इति। विदग्धाजीर्णजनितदुष्टरसेनाभिभवः। अन्ये तु--'आमाभिघातौ' इति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः; अभिघातो लगुडादे रक्तदूषको ज्ञेयः। जीर्यतीति सप्तम्यन्तम्। व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् ॥ ९-१० ॥

सरोजव्याख्या--पैत्तिक गुल्म का लक्षण बतलाते हैं--कट्वित्यादि। आमाभिघात—अर्थात् विदग्धाजीर्ण जनित दुष्टरस से होनेवाला कष्ट। अन्य विद्वान् आमाभिघातौ--ऐसा पाठ मान कर आम और अभिघात को अलग-अलग मानते हैं।

आम से पूर्वोक्त विदग्धाजीर्ण एवं अभिघात शब्द से लाठी आदि का प्रहार जानना चाहिए, जो आम को दूषित कर देता है। जीर्यति पद सप्तमी विभक्ति में होता है। यह गुल्म व्रण के समान स्पर्श में असह्य होता है ॥ ९-१० ॥

श्लैष्मिक गुल्म

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य सर्वस्तु दृष्टो निचयात्मकस्य ॥ ११ ॥
स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ १२ ॥
(च० चि० ५.१४-१५)

शीत, गुरु एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन, अचेष्टन (व्यायाम न करना), भर पेट भोजन करना एवं दिन में शयन श्लैष्मिक गुल्म का कारण है। सभी दोषों के उपर्युक्त प्रकोपक कारण एक साथ मिल कर सन्निपातिक गुल्म को उत्पन्न करते हैं।

शरीर का गीला सा प्रतीत होना, शीतज्वर, अङ्गों से शिथिलता, हृल्लास, कास, अरुचि, भारीपन, शीतानुभूति, गुल्म प्रदेश में अल्प वेदना और गुल्म का कठिन एवं उठा हुआ होना श्लैष्मिक गुल्म का लक्षण है ॥ ११-१२ ॥

श्लैष्मिकमाह—शीतमित्यादि। संपूरणं तृप्तिभोजनम्। सर्व इति। वातजाद्युक्तः। निचयात्मकस्य सन्निपातजस्य। कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य ॥ ११-१२ ॥

सरोजव्याख्या--श्लैष्मिक गुल्म का वर्णन करते हैं--शीतमित्यादि। सम्पूरणम्--भर पेट भोजन करना। सर्व-वातादि सभी (तीनों) दोष प्रकुपित होकर, निचयात्मकस्य--सन्निपातिक गुल्म को उत्पन्न कर देते हैं। गुल्म कठोर एवं उठा हुआ होता है ॥ ११-१२ ॥

द्वन्द्वज गुल्म

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १३ ॥
(च० चि० ५. १६)

हेतु, लक्षण तथा दोषों के बलाबल के आधार पर मिश्रित लक्षण वाले तीनों द्वन्द्वज गुल्मों का उल्लेख ओषधि-कल्पना के लिये करना चाहिए ॥ १३ ॥

द्व्यात्मकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह—निमित्तेत्यादि। निमित्तानि च रूपाणि चेति द्वन्द्वः। दोषबलाबलं चेत्यनेन समद्विदोषद्वन्द्वज-

त्रयेशैकोल्वणादिद्विदोषजोऽपि ग्राह्य इति दर्शयति, अन्यथा बहुत्वापत्तेः। औषधकल्पनार्थमित्येकदोषजाभिहितचिकित्सामेलकेन तांश्चिकित्सेदित्यर्थः॥

सरोजव्याख्या—तीन प्रकार के द्वन्द्वज गुल्मों के हेतु एवं लक्षणों का उल्लेख करते हैं--निमित्तेत्यादि। निमित्तरूपाणि—यहाँ पर द्वन्द्व समास है। दोषबलाबलं च—सम द्विदोष द्वन्द्वजत्रय के अतिरिक्त एकोल्वणादि द्विदोषज गुल्म भी ग्राह्य होता है, इसको स्पष्ट करते हैं; अन्यथा बहुत गुल्म हो जायेंगे। औषधकल्पनार्थम्—एक-एक दोषज गुल्म की बतलाया गया है, उसी को मिलाकर द्वन्द्वज गुल्म की चिकित्सा करनी चाहिए।

सान्निपातिक गुल्म

महारुजं दाहपरीतमश्मवद् घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत्॥ १४॥
(च० चि० ५.१७)

सान्निपातिक गुल्म तीव्र पीडाकर एवं दाह से युक्त, पत्थर के समान कठिन, उन्नत, शीघ्र पाक वाला और दारुण (मारणात्मक) होता है। यह मन, शरीर, अग्नि एवं बल को क्षीण करने वाला तथा असाध्य होता है॥ १४॥

दोषानुसार गुल्मवैशिष्ट्य[1]

घटक	वातज	पित्तज	कफज	द्वन्द्वज/त्रिदोषज
१. स्थान	(विकल्पन स्थान बदलना) वस्ति, हृदय, पार्श्व	पित्ताशय (स्वसंश्रय)	कफाशय (स्वसंश्रय)	(१) दो दोष के कारण, लक्षण एव दोष बलाबल अनुसार। (२) त्रिदोष में वेदनाधिक्य।
२. स्पर्श	अनिश्चित	व्रणगत स्पर्शासहता	--	
३. संस्थान (गुल्म स्वरूप तथा आकृति)	विकल्प (अनिश्चित)	—	कठिन उन्नत	अश्मवत् कठिन उन्नत, तीव्र, विदाहयुक्त दारुण स्वरूप।
४. रुजा	विकल्प अनिश्चित हृदयवेदना, कुक्षिवेदना, पार्श्ववेदना, अंशवेदना, शिरोवेदना।	उदरदाह	अल्परुजा	तीव्ररुजा, तीव्रदाह।

१. कायनिदानचिकित्सा, धन्वन्तरि, वैद्य पी० एम० अंशुमान् १९६०

५. अन्य लक्षण शरीर अङ्गादि	गलमुखशोष, श्याव अरुण वर्ण, शीतपूर्वक ज्वर।	— रक्ताभस्वेद ज्वर, तृषा	हृल्लास, अरुचि, कास गुरु, शीत, स्तैमित्य, साद	मिश्र लक्षण मन, शरीर अग्निबल-नाशक।
६. वृद्धि (अनुपशय)	कषाय, तिक्त, कटु से वृद्धि, रूक्ष से वृद्धि	--	--	
७. क्षय (उपशय)	भोजन पचने पर वृद्धि, भोजन करने पर शान्ति।	पचते समय शूल वृद्धि		

सान्निपातिकमाह—महारुजमित्यादि। अश्मवद्घनोन्नतं पाषाणवत् कठिनमुन्नतं च। मन इत्यादि। मनोऽपहारिणं मनोवैकल्यकारिणं कृशत्व-वैवर्ण्यकरम्, अग्न्यपहारिणमग्निवैषम्यकरम्, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम्। ननु, असाध्यमिति विरुद्धं, 'सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः' (सु. उ. ४२) इति सुश्रुतवचनात्? नैवम्; अयं च विकृतिविषमसम-वेतोऽसाध्यः, प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्य इत्याहुः। ननु, सोऽप्यसाध्यः, यदाह सुश्रुतः--'सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिस्तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' (सु. उ. ४२) इति? उच्यते, तं चापीत्यपिशब्दादचिरोत्थितः साध्यो विश्वामित्रसंवादादिति गयदासः॥ १४॥

सरोजव्याख्या—सान्निपातिक गुल्म का वर्णन करते हैं--महारुजमित्यादि। अश्मवत् घनोन्नतम्--पत्थर के समान कठिन एवं उन्नत। मनोऽपहारिणं--मन को विकल करने वाला, शरीरापहारिणं--शरीर को कृश एवं विवर्ण करने वाला, अग्न्यपहारिणम्--अग्निवैषम्यकर। बलापहारिणम्--असामर्थ्यकर।

अब शंका होती है कि महर्षि सुश्रुत ने सन्निपातज गुल्म में त्रिदोषघ्न चिकित्सा का निर्देश किया है, जबकि यहाँ पर इसे असाध्य कहा गया है, इसलिए यहाँ परस्पर विरुद्ध कथन प्रतीत होता है?

इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर विकृतिविषमसमवेत गुल्म का उल्लेख होने से इसे असाध्य कहा गया है और सुश्रुत में प्रकृतिसमसमवेत त्रिदोष गुल्म होने से उसे साध्य कहा गया है। इसलिए परस्पर विरुद्ध कथन नहीं प्रतीत होता।

अब पुनः शंका होती है कि सुश्रुतोक्त प्रकृतिसमसमवेत भी असाध्य माना गया है, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

'सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिस्तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'।

(सु० उ० ४२) इति।

अर्थात् सर्वात्मक गुल्म में सम्पूर्ण त्रिदोषजन्य वेदनाएँ होती हैं, अतः उसे असाध्य मानते हैं !

इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर 'तं चापि' पद में अपि शब्द से अचिरोत्थ (नवीन) साध्य समझना चाहिए तथा पुराना असाध्य। विश्वामित्र यही मानते हैं—ऐसा आचार्य गयदास का कथन है ॥ १४॥

रक्तज गुल्म

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेद् ऋतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥ १५॥

(सु० उ० ४२.१३। २, १४)

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः॥ १६॥

(च० चि० ५.१९)

नवीन प्रसव के पश्चात्, गर्भस्राव के पश्चात् अथवा आर्तवप्रवृत्ति-काल में जो स्त्री अहित भोजन का सेवन करती है, उसमें गर्भाशयगत प्रकुपित वायु रक्त (मासिक स्राव) को अवरुद्धकर पीड़ा एवं दाह से युक्त गुल्म को उत्पन्न कर देता है। इसका लक्षण पैतिक गुल्म के समान होता है। अन्य विशिष्ट लक्षण निम्नलिखित हैं—

जो गुल्म पिण्ड के रूप में ही स्पन्दन करता हो, हाथ-पैर आदि अङ्गों का स्पन्दन न हो, शूल होता हो, प्रायः सभी गर्भ के लक्षण होते हों, वह आर्तवजन्य गुल्म स्त्रियों को ही होता है। इसकी चिकित्सा दस माह व्यतीत हो जाने पर करनी चाहिए ॥ १५-१६॥

रक्तगुल्ममाह—नवेत्यादि। आमगर्भं विसृजेदिति। नवममासादर्वाक् प्रसूतेः, ऋतावार्तवप्रवृत्तिकाले, अहितभोजनेति संबन्धः। एतच्चोपलक्षणार्थं, तेनाहाराचारादिकं ज्ञेयम्। यदाह चरकः—'ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च। संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियां रक्तभवोऽभ्युपैति' (च. चि. ५)। पैत्तस्य पैत्तिकगुल्मस्य। विशेषणं पैत्तिकगुल्माद्विशेषलक्षणम्। पिण्डितः समुदितः। एवकारोऽत्रावधारणे॥ एतदेव स्फुटयति--नाङ्गैर्नावयवैश्चिरात् स्पन्दत इति सम्बन्धः। समगर्भलिङ्ग इति।

आर्त्तवादर्शनमुखस्रवणस्तनमुखकृष्णत्वदोहदादिगर्भलक्षणयुक्तः। एतच्च व्याधिप्रभावात्; यथा—क्षयार्शसोः स्त्रीरिरंसाकृष्णत्वङ्नखादयः। अन्ये तु समगर्भलिङ्गोऽविकृतगर्भलिङ्ग इत्याहुः। उक्तविशेषणैरेव स्त्रीभवत्वे लब्धे स्त्रीग्रहणेन कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वात्तयोः। व्यतीतेऽतिकान्ते। गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः—गर्भो वा, रक्तगुल्मो वा इति ? तच्छङ्कानिरासार्थं दशमे मासे व्यतीते इत्युक्तं; नवमदशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके। तन्न; 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव विशेषदर्शनेन संशयस्य निर्वर्तितत्वात्। गर्भो हि निरन्तरं प्रत्यङ्गैर्नि.शूलं स्पन्दते, गुल्मस्त्वेतद्विपरीतेन। किंच नवमे दशमे प्रसूत इत्युत्सर्गः, नतु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च। उक्तं हि चरके--'तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्' (च. शा. २) इति; तस्मान्नेदं दशममासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनम्, किन्तु व्याधिमहिम्ना तावतैव कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेदनमिति। यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपानविरेचने। उक्तं हि तन्त्रान्तरे--'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'। पुराणता चास्य दशममासव्यतिक्रमेणैव भवति। जेज्जटेनाप्युक्तं--यद्यर्वाग्रक्तभेदनं क्रियते तथा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद्रक्तस्य; एकादशे मासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १५-१६ ॥

सरोज व्याख्या—रक्त गुल्म का वर्णन करते हैं—नवेत्यादि। आमगर्भं विसृजेत्—नव मास पूर्व ही प्रसव का होना 'आमगर्भस्राव' कहलाता है। ऋतौ—आर्तवप्रवृत्तिकाल में अहित भोजन करना। यहाँ ऋतु उपलक्षणमात्र है, विना ऋतु के भी जो स्त्री मिथ्या आहार-विहार करने वाली हो उसका भी ग्रहण है। जैसा कि चरक में कहा गया है—

"ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥
(च० चि० ५।१८)

अर्थात् ऋतुकाल में भोजन न करने से, भय से, रूक्ष आहार-विहार से, मल-मूत्र का वेग रोकने से, रक्तस्तम्भक आहार-विहार या औषधियों के सेवन से, वमन करने से एवं योनि रोग के कारण स्त्रियों को रक्तजन्य गुल्म होता है।

पैत्तस्य-पैत्तिक गुल्म के समान लक्षण वाला। विशेषणम्—पैत्तिक गुल्म से कुछ विशेष लक्षण होता है। पिण्डित--पिण्डाकार। एवकारो—यह निश्चत रूप से पिण्डित अवस्था में ही स्पन्दन करता है। इसमें हस्त-पाद आदि अङ्ग नहीं होता।

वह चिरकाल के पश्चात् वायु की विशेष गति से स्पन्दन करता है। समगर्भलिङ्गः—गर्भ के समान लक्षण पाये जाते है। जैसे-मासिक आर्तव स्राव का न होना, मुखस्राव, स्तनमण्डल का काला पड़ना तथा दौहृदादि ये सब लक्षण इसमें पाये जाते हैं। यह गर्भ का लक्षण विशेष व्याधिप्रभाव से होता है। जैसे क्षयरोग में मैथुन की इच्छा एवं अर्श में त्वचा, नख आदि कालापन हो जाता है। अन्य आचार्य 'समगर्भलिङ्गः' से 'अविकृत गर्भ' लक्षणों का उल्लेख मानते है।

उपर्युक्त विशेषणों से यह स्पष्ट होता है कि यह गुल्म स्त्रियों को ही होता है। स्त्री-शब्द से यह भी निर्दिष्ट है कि यह गुल्म कुमारी कन्या को रजोदर्शन न होने से अथवा अतिवृद्ध स्त्री को रजःक्षय के कारण नहीं होता। व्यतीते—दस माह व्यतीत होने पर। गर्भसमानलिङ्गत्वेन-गर्भ एवं रक्त गुल्म के लक्षण में समानता होने से, गर्भ एवं रक्त गुल्म में संशय पैदा हो जाता है। इस शंका के निराकरण हेतु दस माह व्यतीत हो जाने पर इसकी चिकित्सा करना उत्तम माना गया है। लेकिन कुछ आचार्य इस नियम को नहीं मानते। गर्भ-शंका का निराकरण तो 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' से हो जाता है। गर्भ निरन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्ग से स्पन्दित होता रहता है और उसमें शूल भी नहीं होता। गुल्म इसके विपरीत लक्षणों वाला होता है। अर्थात् यह पिण्डाकार होकर स्पन्दन करता है तथा इसमें शूल भी होता है, किन्तु गर्भ का नवम अथवा दशम माह प्रसवकाल होता है, न कि निश्चित नियम (-काल); क्यों कि दस माह के पश्चात् भी कभी-कभी प्रसव होता है। जैसाकि चरक में कहा है—

"तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्" (च० शा० २) इति।

अर्थात् ऐसा गर्भ जब पर्याप्त समय के पश्चात् पुष्ट होता है, तब उसका प्रसव होता है। इसलिए गर्भ की शंका के निवारणार्थ दस माह के पश्चात् चिकित्सा-विधान का उल्लेख इसका प्रयोजन नहीं, अपितु रोग की महिमा ही ऐसी है कि इतने समय के पश्चात् रक्तगुल्म की चिकित्सा में सुखसाध्यता होती है। जैसे ज्वर की पुराणावस्था में क्षीरपान एवं विरेचन की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इसलिए तन्त्रान्तर में कहा गया है—'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'। इति। अर्थात् पुराण (चिरकालीन) रक्तगुल्म सुखसाध्य होता है। यहाँ पुराण से अभिप्राय दस माह व्यतीत होने पर होता है। जेज्जट भी कहते है कि रक्तगुल्म की प्रारम्भिक अवस्था में भेदन (शस्त्रकर्म) करने से गर्भशैय्या में विकार पैदा हो जाता है; क्यों कि तब तक रक्त गर्भाशय में ही लीन होता है। ग्यारहवें माह में गुल्म पिण्डाकार हो जाता है, तब स्नेहन एवं स्वेदन करके शस्त्रकर्म करने से गर्भाशय में कोई विकार नहीं होता।

गर्भ एवं रक्तगुल्म में अन्तर

गर्भ	रक्तगुल्म
१. गर्भ निरन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्ग से स्पन्दित होता है।	१. यह पिण्डाकार होकर स्पन्दन करता है।
२. गर्भ में शूल नहीं होता है।	२. इसमें शूल होता है।
३. गर्भ का नवम अथवा दशम माह प्रसवकाल होता है।	३. इसमें दस माह पश्चात् चिकित्सा का विधान है।

रक्तगुल्म का दोष-दूष्य-अधिष्ठान

दोष—वात–अपान वायु (प्रमुखता से),
समानवायु
पित्त—पाचक पित्त
कफ—क्लेदक कफ
दूष्य—रक्त
स्रोतोदुष्टि-आर्त्तववह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टिप्रकार—संग
अधिष्ठान—गर्भाशय।

असाध्य गुल्म का लक्षण

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः॥ १७॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः।
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति॥ १८॥
गृहीत्वा सज्वरं श्वासच्छर्द्यतीसारपीडितम्।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम्॥ १९॥
(च० चि० ५.१६९-१७१)

श्वासः शूलपिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै॥ २०॥
(सु० उ० ३३.२१)

इति श्रीमाधकरविरचिते माधवनिदाने गुल्मनिदानं समाप्तम्॥ २८॥

जो गुल्म क्रमशः बढ़ता हुआ सकल उदर को व्याप्त कर ले, जिसने मूल (जड़) पकड़ लिया हो, जिसमें सकल उदर की सिराजाल दिखाई दें, कछुवे के समान

उभरा हो तथा जो दुर्बलता, अरुचि, मिचली, खाँसी, वमन, अरति, ज्वर, तृष्णा, तन्द्रा एवं प्रतिश्याय से ग्रसित हो, वह गुल्म असाध्य होता है ॥ १७-१८ ॥

जो गुल्मरोगी ज्वर, श्वास, वमन, एवं अतिसार से पीड़ित हो तथा जिसके हृदयप्रदेश, नाभिप्रदेश एवं हाथ-पैरों में शोथ आ गया हो, वह असाध्य होता है ॥

श्वास, उदर में शूल, पिपासा, अन्न से अरुचि, गुल्म की ग्रन्थि का अकस्मात् लुप्त हो जाना एवं दुर्बलता—ये गुल्म रोगी के मृत्युबोधक लक्षण हैं ॥ २० ॥

चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—संचित इत्यादि । महावास्तुपरिग्रहः सकलोदरव्यापी । कृतमूलो धात्वन्तरावगाही । सिरानद्धः सिराजालवान् । गृहीत्वेत्यादि । हृदयादौ गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं कर्षति, 'मरणाय' इति शेषः । श्वासेत्यादि । ग्रन्थिमूढता ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनमिति । ननु च अन्तर्विद्रधिगुल्मयोः को भेदः; समानस्थानसंभवत्वात् ? उच्यते; विद्रधिः पच्यते गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात् । यदाह सुश्रुतः—'न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः । गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मः क्वापि न पच्यते' (सु. नि. ९) इति । ननु गुल्मोऽपि पच्यत एव । यदाह चरकः—'विदाहमूलसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः । विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत्' (च. चि. ५) इति ? उच्यते—गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात्; यदा तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति तदा पच्यमानो विदाहनिमित्तकं विद्रधित्वमाप्नोति । उक्तं हि—'स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते' (च. सू. १७) इति । न हि यस्मात् विकाराद्य-दुत्पद्यते विकारान्तरं तत् स एव भवतीति; मा भूत् प्लीहैवोदरम्, अश्मर्येव शर्करा, इत्यादि शास्त्रोक्तविरोधविस्तरः । तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यत इति सिद्धान्तो निरपवादः । ये त्वन्तर्विद्रधिं न पठन्ति, तेषामयमभिप्रायः—गुल्मे पक्वे विद्रधौ च पाटनशोधनरोपणादेः, अपक्वे च विरेकलेपविम्लापनादेश्चिकित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणेति ॥ १७-२० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोषव्याख्यायां गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥२८॥

सरोज व्याख्या—चिरकालीन गुल्म की अवस्थानुसार असाध्यता का वर्णन करते हैं—सञ्चित इत्यादि । महावास्तुपरिग्रहः—सकल उदर व्यापी । कृतमूलः—रस इत्यादि धातुओं में पहुँचने वाला, सिरानद्ध—सिराजालवान् हृदय । नाभि (वस्ति) एवं हाथ-पैर से उठने वाला शोथ गुल्म रोगी को मार डालता है । ग्रन्थिमूढ़ता—ग्रन्थिरूप गुल्म का अकस्मात् विलयन (नाश) हो जाय ।

प्रश्न—समान स्थान में उत्पन्न होने से अन्तर्विद्रधि एवं गुल्म में क्या भेद है ?

उत्तर—विद्रधि निराश्रय होने से पक जाता है, गुल्म निराश्रय होने से नहीं पकता। इसलिए सुश्रुत कहते है-

"न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः।
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते॥
विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मः क्वापि न पच्यते।"

अर्थात् गुल्म का निबन्धन नहीं होता, जबकि विद्रधि निबन्धनयुक्त होता है। गुल्म अपने दोष में अधिष्ठित होता है और विद्रधि का अधिष्ठान मांस एवं रक्त होता है। इसीलिए विद्रधि पक जाता है, किन्तु गुल्म का पाक नहीं होता।

शंका—गुल्म का भी पाक हो जाया करता है। जैसा कि चरक ने कहा है कि विदाह, शूल, क्षोभ, निद्रानाश, बेचैनी, और ज्वर से पीड़ित रोगी का पच्यमान गुल्म जानना चाहिए और ऐसी स्थिति में गुल्म की उपनाह से चिकित्सा करनी चाहिए (च. चि. ५) इति ?

इसका समाधान करते हुए कहते है कि गुल्म के निराश्रय होने से इसका परिपाक नहीं होता, किन्तु जब वह कारणवश मांस आदि आश्रय में आश्रित होता है अथवा वातादि दोष के उपशमनार्थ अधिक स्वेदन आदि करने से रक्त दूषित हो जाता है, तब पच्यमान गुल्म विदाहनिमित्तक विद्रधि रूप को प्राप्त कर लेता है। कहा भी गया है—"स वै शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते" (च० सू० १७) इति। अर्थात् शीघ्र विदाही होने से उसे 'विद्रधि' कहते है।

जिस विकार से कोई अन्य विकार पैदा होता है, वह वही विकार नहीं होता। जैसे प्लीहा ही उदर रोग एवं अश्मरी ही शर्करा रोग इत्यादि शास्त्रोक्त विरोध विस्तार से मिलते हैं। इसलिए यह निरपवाद सिद्धान्त है कि विद्रधि का पाक होता है और गुल्म का पाक नहीं होता। जो विद्वान् अन्तर्विद्रधि को नहीं मानते, उनका अभिप्राय है कि गुल्म एवं विद्रधि की पक्वावस्था में पाटन (शस्त्रकर्म), शोधन एवं रोपण आदि और अपक्वावस्था में विरेचन, लेप एवं विम्लापन आदि चिकित्सा समान रूप से चलती है। अतः परस्पर विशेष अन्तर न होने से दोनों को पृथक् विकार स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

गुल्म	अन्तर्विद्रधि
१. गुल्म नहीं पकता है।	१. अन्तर्विद्रधि पक जाता है।
२. गुल्म का निबन्धन नहीं होता।	२. विद्रधि का निबन्धन होता है।
३. गुल्म अपने दोष में अधिष्ठित एवं निराश्रय होता है।	३. विद्रधि का अधिष्ठान मांस एवं रक्त होता है।

गुल्मनिदान समाप्त॥



एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

हृद्रोगनिदानम्

कारण

अत्युष्णगुर्वन्नकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

निरन्तर अत्यन्त उष्ण एवं अधिक गुरु भोजन करने, कषाय तथा तिक्त द्रव्यों के सेवन से, श्रम, चोट, अध्यशन, अधिक चिन्ता एवं वेगविधारण से पाँच प्रकार का हृदयरोग होता है ॥ १ ॥

गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तम्, अतो हृदयसंकीर्तनाद् हृद्रोगारम्भः । प्रसङ्गः सातत्येन सेवा । अत्युष्णादयो यथायोग्यं वातादीनां क्रिमेश्च निदानमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—गुल्म का स्थान हृदय प्रदेश बतलाया गया है इसलिए हृदय का उल्लेख होने से गुल्म के पश्चात् हृदय रोग का आरम्भ करते हैं। प्रसङ्गः—अति उष्ण आदि आहार-विहार का सतत (निरन्तर) सेवन करना। अतिउष्ण आदि आहार-विहार वातादि दोष को प्रकुपित करने वाला तथा क्रिमियों को उत्पन्न करने वाला होता है—यह जानना चाहिए।

विमर्श

निरुक्त में 'हृदय' शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार यह बतलाया गया है कि इसको हृदय इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह तीन प्रकार की क्रियाओं का सम्पादन करता है। 'हृ' से हरति, 'द' से ददाति, एवं 'य' से याति अर्थात् यह लेता है, देता है और चलता है। इससे हृदय की तीनों क्रियाओं—१.आहरण २. दान ३. गति को आसानी से समझा जा सकता है।

हृदय अशुद्ध रक्त को शरीर के समस्त भागों से लेकर फिर उस रक्त को फुफ्फुसों द्वारा शुद्ध कर शरीर के समस्त भागों में देता रहता है और इसी उद्देश्य से गतिमान् रहता है। इस प्रकार हृदय शब्द से रक्त-परिवहन (Blood Circulation) की बात समझ में आ जाती है। इस तथ्य की खोज यूरोप में सर्वप्रथम विलियम हार्वे (१६२८ ई०) नामक वैज्ञानिक ने की थी, परन्तु उससे

बहुत पहले अपने देश में 'हृदय का कार्य', जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, ज्ञात था।

हृदय का निर्माण रक्त एवं कफ से होता है। यह वक्षस् के फुफ्फुसों के मध्य में स्थित होता है। इसकी आकृति अधोमुख पुण्डरीक (कमल) के सदृश होती है। जाग्रत स्वरूप अर्थात् जागरण की अवस्था में हृदय विकसित होता है और निद्रित प्राणी का हृदय संकुचित हो जाता है—

"पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसितं स्वपतश्च निमीलति" ॥

(सु० सू० ४।३१)

यह हृदय परम (उत्तम) ओज का स्थान है, हृदय में ही चेतना के आश्रयभूत भावों का संग्रह है, इसलिए चिकित्सकों ने हृदय को महत् और अर्थ शब्द से कहा है —'तस्योपघातान्मूर्च्छाथ भेदान्मरणमृच्छति'। अर्थात् उस हृदय पर आघात लगने से मूर्च्छा एवं भेद (फट जाने) से मृत्यु हो जाती है।

(च० सू० ३०।६)

आयुर्वेद में हृदयरोग का वर्णन अति संक्षेप में मिलता है। चरक संहिता में हृदयरोग के लक्षण बतलाये गये हैं—

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः ।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥

(च० चि० २६।२८)

अर्थात् इसमें वैवर्ण्य, मूर्च्छा, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, आस्यवैरस्य, तृषा, प्रमोह, छर्दि, कफोत्क्लेश, रुजा, अरुचि तथा अन्य विविध लक्षण हो सकते हैं ॥

सम्प्राप्ति

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥

(सु. उ. ४३.४)

उपर्युक्त कारणों से विकृत हुए वातादि दोष रस को विकृत कर हृदय में विकार उत्पन्न कर देते हैं, इसे हृद्रोग कहा जाता है ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिं सामान्यलक्षणं चाह—दूषयित्वेत्यादि। दूषयित्वा रसमिति रसस्य हृदयाश्रयत्वात्। विगुणाः कुपिताः। हृद्रोगमिति वाच्ये

यद्बाधाग्रहणं, तद्दोषभेदेन बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थम्; बाधाशब्देन चात्र नानाविधा पीडेति जेज्जटः, भङ्गवत् पीडेति गयदासः। हृद्रोगमिति 'वा शोकष्यञ्रोगेषु—' इति रोगे परे हृदयस्य हृद्भावः, अथवा हृदो रोगो हृद्रोगः ॥

सरोज व्याख्या—हृदयरोग की सम्प्राप्ति एवं सामान्य लक्षण बतलाते है-दूषयित्वेत्यादि। रस का आश्रय (अधिष्ठान) हृदय होने से विकृत दोष रस को दूषित कर हृदय में विकार पैदा कर देते है। उपर्युक्त श्लोक में हृद्रोग न कह कर 'बाधा' शब्द का उल्लेख हृदयप्रदेश में दोषभेद से अनेकानेक प्रकार की विचित्र बाधाओं का ज्ञापक होता है। जेज्जट के अनुसार यहाँ बाधा शब्द से अनेक प्रकार की पीड़ाओं को लेना चाहिए, लेकिन गयदास भङ्गवत् (टूटने की सी) पीड़ा को बाधा मानते है। हृद्रोगः—'वा शोकष्यञ्रोगेषु' इत्यादि व्याकरण नियम द्वारा शोक, ष्यञ् प्रत्यय एवं रोग यदि पर (पश्चात्) में हो, तो हृदय शब्द को 'हृत्' आदेश हो जाता है। जैसे हृदयस्य शोक हृच्छोकः अथवा 'हृदो रोगः' अर्थात् हृदय के रोग को हृद्रोग कहा जाता है।

वातिक हृदयरोग

आयम्यते मारुतजे हृद्रोगं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोटयते पाटयतेऽपि च ॥३॥

(सु. उ. ४३.६)

वातिक हृद्रोग में खिंचाव तथा सूई के चुभने के समान पीड़ा होती है। रोगी को कभी-कभी प्रतीत होता है कि उसके हृदय को डण्डे से मथा जा रहा है अथवा उसका हृदय दो टुकड़ों में विभक्त हो रहा है अथवा आरे या कुल्हाड़ी से चीरा जा रहा है ॥ ३ ॥

वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते आकृष्यत इव। तुद्यते सूच्येव। निर्मथ्यते दण्डेनेव। दीर्यते द्विधेव क्रियते। स्फोटयते आरयेव। पाटयते कुठारेणेव ॥ ३ ॥

सरोज व्याख्या—वातिक रोग का लक्षण बतलाते हैं—आयम्यत इत्यादि। आयम्यत इव—हृदय में खिंचाव प्रतीत होता हो। तुद्यते सूच्येव—सूई चुभने सी पीड़ा होती है, निर्मथ्यते—दण्डे से मथा जा रहा हो, दीर्यते—हृदय दो टुकड़े में काटा जा रहा हो, स्फोट्यते—हृदय आरा से चीरा जा रहा हो अथवा कुल्हाड़ी से फाड़ा जा रहा हो। इस तरह सूई चुभने, डण्डे से मथने, दो टुकड़े होने, आरा से चीरने जैसी वेदना हृदय में होती है।

पैत्तिक हृदयरोग

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदक्लमः ।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥ ४ ॥

(सु. उ. ४३.७)

पैत्तिक हृद्रोग में प्यास, ऊष्मा (प्रादेशिक दाह), चोष (चूष्यत इव, वेदना विशेष) हृदय की व्याकुलता, धूम निकलने की सी प्रतीति, मूर्च्छा, पसीना एवं मुख का सूखना होता है ॥ ४ ॥

पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा किञ्चिद्दाहः । हृदयक्लमो हृदयाकुलत्वं ग्लानिरिति यावत् ॥ ४ ॥

सरोजव्याख्या—पैत्तिक हृदय रोग का लक्षण बतलाते हैं—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा—किञ्चित् दाह, हृदयक्लम—हृदय की व्याकुलता, ग्लानि इत्यादि ॥ ४ ॥

श्लैष्मिक हृद्रोग

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥ ५ ॥

(सु. उ. ४३.८)

हृदय के कुपित कफ से व्याप्त होने से शरीर एवं हृदय में भारीपन, मुँह से कफ आना, जड़ता, अग्निमान्द्य एवं मुख का मीठापन श्लैष्मिक हृद्रोग का लक्षण है ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकमाह—गौरवमित्यादि । बलासावतते कुपितकफव्याप्ते, 'दोषा दुष्टा दूषयितारो भवन्ति'—इत्यागमात् ॥ ५ ॥

सरोज व्याख्या—श्लैष्मिक हृद्रोग का लक्षण बतलाते हैं—गौरवमित्यादि । बलासावतते—कुपित कफ द्वारा हृदय के व्याप्त होने से । निज कारण से दुष्ट हुए दोष शरीर धातुओं को दूषित करने वाले होते हैं, ऐसा शास्त्रवचन है ॥ ५ ॥

त्रिदोषज हृदयरोग

विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गम्,

(च. चि. २६. ८०१२)

त्रिदोषज हृदय रोग में तीनों दोषों के सभी लक्षण मिलते हैं ।

क्रिमिज हृदयरोग

तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ।

(च. चि. २६. ८०१२)

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥ ६ ॥
(सु. उ. ४३-६)

क्रिमिज हृद्रोग में तीव्र पीड़ा, तोद, कण्डू, उत्क्लेद, ष्ठीवन, तोद, शूल, हृल्लास, आँखों के आगे अंधेरा छा जाना, अरुचि, आँखों में कालापन एवं शोथ के लक्षण मिलते हैं ॥ ६ ॥

सान्निपातिकमाह—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वमुक्तम्, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येकं वातादिजस्य या सा मिलितैव कार्या । अपचाराच्चेह ग्रन्थिरुत्पद्यते, ततः क्रिमिसंभवः । उक्तं हि चरकेण—'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः' ॥ (च० सू० १७) इति । तस्यैवेदं लक्षणमाह—तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूमिति । उत्क्लेद इत्यादिना तमोऽन्तं त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणम्; तत्र तोदशूले वातात्, उत्क्लेदहृल्लासौ कफात्, तमः पित्तात् ; ष्ठीवनं कफपित्तात् । अरुचिरित्यादिना क्रिमिजस्येति जेज्जटः । गयदासस्त्वाह—श्यावनेत्रत्वपर्यन्तेन त्रिदोषजलक्षणमिति । स्यादेतत्, त्रिदोषजपदं न तावदत्र सुश्रुतेन पठितम् ; अतः सर्वमेवोत्क्लेदादि शोथान्तं क्रिमिजलक्षणं भविष्यति ? नैवम्, 'विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्' (च० चि० २६) इति दृढबलस्य वाक्यात् ।

उत्क्लेद इत्यादिस्त्वेक एव श्लोकः सुश्रुतेन पठितः, न तु पृथक् सन्निपातलक्षणं, ततस्त्रिदोषजस्यानभिधाने सुश्रुते न्यूनत्वं स्यात् । त्रिदोषाश्मरीवत्तस्यासम्भव एवेति चेत् ? नैवम्, तन्त्रान्तरेषु पठितत्वात् । तथा च हारीतः—'सर्वाणि रूपाणि च सन्निपाताच्चिरोत्थितं चापि वदन्त्यसाध्यम्' इति, चरकेऽप्युक्तं—'हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः' (च० सू० १७) इति; तथा 'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते' (च० सू० १७) इत्यादि । कण्ठरवेण तु त्रिदोषजपदं यत्र पठितं सुश्रुतेन, तत् क्रिमिजस्यापि त्रिदोषजत्वख्यापनार्थमित्याचक्षते । ननु, दोषजावान्तरावस्थाविशेषत्वात् क्रिमिजोऽपि दोषज एव, तत् कथं हृदामयः पञ्चविध इति ? नैवं, रोगजस्यापि रोगस्य पृथक्त्वदर्शनात् । यदुक्तं—'निदानार्थकर' इत्यादि । द्विदोषजस्त्वनुक्तोऽपि प्रकृतिसमसमवायत्वाद् बोध्यः ॥ ६ ॥

सरोज व्याख्या—सान्निपातिक हृद्रोग के लक्षण कहते हैं—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गम्—इसे प्रकृतिसमसमवायारब्ध त्रिदोषज जानना चाहिए, इसीलिए इसकी

चिकित्सा बतलाई गयी है, वह भी वातादि दोषों की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिए। मिथ्या अपचार से हृदयकोष्ठ में ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है, उसमें क्रिमि पैदा हो जाती है। जैसा कि चरक में कहा गया है—

त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते।
तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते॥
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति।
संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः॥

(च० सू० १७)

अर्थात् त्रिदोषज हृद्रोग में जो अजितेन्द्रिय पुरुष तिल, दूध और गुड़ आदि आदि पदार्थों का सेवन करता हो, उसके हृदय में एक ग्रन्थि बन जाती है, उस ग्रन्थि में धीरे-धीरे क्लेद उत्पन्न हो जाता है और क्लेद से क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं।

उस क्रिमि रोग के 'तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्' इत्यादि लक्षण बतलाये गये हैं। उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः—यहाँ तक त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण कहा गया है। इसमें तोद एवं शूल वायु से, उत्क्लेश एवं हृल्लास कफ से, तम पित्त से एवं ष्ठीवन पित्त से होता है। 'अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत्' यह लक्षण जेज्जट के कथनानुसार क्रिमिज हृद्रोग का है, किन्तु गयदास श्यावनेत्रत्व तक त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण बतलाते हैं। ऐसा हो सकता है, किन्तु सुश्रुत में यहाँ त्रिदोषज पद नहीं लिखा है, अतएव उत्क्लेद से लेकर शोथ तक क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण होगा। लेकिन ऐसा भी नहीं है; क्योंकि 'विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गम्' इत्यादि दृढ़बल के वाक्य से ऐसा नहीं मालूम पड़ता। 'उत्क्लेदः' इत्यादि एक ही श्लोक सुश्रुत ने पढ़ा है, न कि पृथक् सन्निपात का लक्षण। त्रिदोषज हृद्रोग न कहने से सुश्रुत में न्यूनत्व हो जाता है। त्रिदोषज अश्मरी के समान यदि त्रिदोषज हृद्रोग को भी न माना जाय, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तन्त्रान्तर में ऐसा कहा गया है। जैसाकि आचार्य हारीत ने कहा है—

"सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् चिरोत्थितं चापि वदन्त्यसाध्यम्" इति।

अर्थात् सन्निपातज हृद्रोग में तीनों दोष के लक्षण मिलते हैं, पुराण त्रिदोषज असाध्य होता है। चरक में भी कहा गया है—

'हेतुलक्षणसंसर्गाद् उच्यते सान्निपातिकः।'

(च० सू० १७)

तथा पुनः कहा है—

'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते'।

(च० सू० १६)

सुश्रुत में त्रिदोषज हृद्रोग का कण्ठ से अर्थात् स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है, तो भी क्रिमिजन्य हृद्रोग त्रिदोषज होता है—ऐसा बिद्वानों का मत है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि दोषज हृद्रोग की अवान्तर अवस्थाविशेष होने से क्रिमिज हृद्रोग भी दोषज ही होता है, तब हृद्रोग पाँच प्रकार का कैसे हो गया? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है; क्योंकि एक व्याधि से पैदा होने वाली व्याधि भी हेतुभूत (कारण) व्याधि से पृथक् होती है। जैसा कहा गया है—

'निदानार्थकरो रोगः रोगस्याप्युपजायते'।

(च० नि० ८.१६)

द्विदोषज हृद्रोग का उल्लेख नहीं किया गया है तो भी प्रकृतिसमसमवाय से समझ लेना चाहिए।

चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्टानुसार हृच्छूल

क्रम संख्या	क्रिमिज	वातिक शूल	पैत्तिक शूल	कफज शूल
१.	सूची व तोद	आयम्यते	संत्रास	हृदय आस्यावृत्त
२.	शस्त्रच्छेद	तुद्यते	दाह	हृदय स्तैमित्य
३.	महारुजम्	निर्मथ्यते	चोष	
४.	शूल	दीर्यते		
		स्फोटयते		
		शुल्यतेऽत्यर्थं		
		भिद्यते		
		उत्तमरुजा		
		स्तम्भ		
		शून्यते		
		वेष्टनम्		
		जीर्णे अत्यर्थं वेदना		

हृदयरोग के उपद्रव

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः।
क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणा च ये मताः ॥ ७ ॥

(सु. उ. ४३.१०)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥ २९ ॥

क्लम, अवसाद, भ्रम तथा शोष हृदय रोग का उपद्रव है। कफज क्रिमियों के उपद्रव ही क्रिमिज हृद्रोग में होता है।

सर्वेषामुपद्रवानाह—क्लम इत्यादि। श्लैष्मिकाणां क्रिमीणां ये उपद्रवास्ते क्रिमिजहृद्रोगेऽपि स्युः। ते च हृल्लासास्यस्रवणाविपाकादयः॥ ७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥२९॥

सरोज व्याख्या—इन सबका उपद्रव बतलाते हैं—क्लम इत्यादि। श्लैष्मिक हृद्रोग का जो उपद्रव है, क्रिमिजन्य हृद्रोग में भी वही होता है। और वे हृल्लास, मुखस्राव एवं अविपाक आदि होते हैं॥ ७॥

हृद्रोगनिदान समाप्त॥

मूत्रकृच्छ्र (Dysuria) निदानम्

हेतु एवं सम्प्राप्ति

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमांसाध्यसनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥१॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ २ ॥
(च. चि. २६.३२-३३)

अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, रूक्ष आहार, मद्यपान, नित्य शीघ्र चलने, घोड़े आदि की सवारी, आनूप प्राणियों का मांससेवन, अध्यशन एवं अजीर्ण से आठ प्रकार मूत्रकृच्छ्र होता है ॥ १ ॥

अपने-अपने कारणों से कुपित हुए वातादि दोष पृथक्-पृथक् या एक साथ जब वस्ति में जाकर मूत्रमार्ग (मेढ्र) में पीड़ा कर देते है, तब मनुष्य कष्ट के साथ मूत्र-त्याग करता है ॥ २ ॥

निदान सेवन—वातादि दोष प्रकोप
|
वस्ति
|
मूत्रमार्ग में क्षोभ
|
मूत्रकृच्छ्र रोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

दोष—त्रिदोष वात प्रधान
दूष्य—मूत्र, जल ।
अधिष्ठान—वस्ति, मूत्रमार्ग ।

सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरोहृदयवस्तयः प्रधानानि । तत्र हृदयगतविकारानभिधाय वस्तिगतविकारानाह—व्यायामेत्यादि । मूत्रकृच्छ्राणीति, मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः । अष्टाविति । दोषैः पृथक् त्रीणि, सन्निपातेनैकम्, शल्यजपुरीषजशुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि । ननु शर्कराजं मूत्रकृच्छ्रं सुश्रुतेन पठितं; तच्चात्र संग्रहेऽपि पठितम्—'अश्मरी

शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे' इत्यादिना, तत् कथमष्टौ, नव प्राप्नुवन्ति ? उच्यते, शर्करा अश्मरी एव । यदाह दृढावलः--'एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती' (च० चि० २६) इति, अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढबलोऽष्टावित्यपठत् ॥ १-२ ॥

सरोज व्याख्या—शरीर के एक सौ सात मर्मों में शिर, हृदय एवं वस्ति तीन प्रधान मर्म है। पिछले अध्याय में हृदय गत रोगों का वर्णन करने के पश्चात् वस्तिगत विकारों का वर्णन करते है—व्यायामेत्यादि । मूत्रकृच्छ्राणि—मूत्र का बहुत कष्ट के साथ प्रवृत्त होना मूत्रकृच्छ्र कहलाता है। मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का होता है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. शल्यज, ६. पुरीषज, ७. अश्मरीजन्य तथा ८. शुक्रज।

शंका होती है कि सुश्रुत ने शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र माना है, यहाँ पर भी उल्लेख किया गया है कि अश्मरी और शर्करा इन दोनों के निदान एव लक्षण समान हैं, तो फिर संख्या में आठ कैसे होंगे, ये तो नौ हो जाते है !

इसका **समाधान** करते हुए कहते है कि शर्करा अश्मरी का ही एक भेद है। जैसा कि दृढवल कहते है-'एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्यात् शर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती' इति (च० चि० २६।३९) अर्थात् यही अश्मरी जब वायु द्वारा टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, तब यह अश्मरी छोटी-छोटी होकर कण के समान मूत्रमार्ग से निकलने लगती है, तो इसे शर्करा कहते है। अतः शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र को अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में ग्रहण (अन्तर्भाव) करते हुए दृढ़बल ने आठ मूत्रकृच्छ्र माना है ॥

दोषज मूत्रकृच्छ्र

तीव्रार्तिरुग्वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥ ४ ॥
(च. चि. २६.३४-३५)

वातज मूत्रकृच्छ्र में वंक्षण, वस्ति एवं मेढ्र में भयंकर वेदना और थोड़ा-थोड़ा तथा बार-बार मूत्रत्याग होता है।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में पीला अथवा रक्तयुक्त पीड़ा एवं दाह से कष्टपूर्वक बार-बार मूत्रत्याग होता है ॥ ३ ॥

कफज मूत्रकृच्छ्र में वस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में भारीपन एवं शोथ हो जाता है, मूत्र कुछ पिच्छिल हो जाता है।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में सभी दोषों के लक्षण मिलते हैं और यह अत्यन्त कष्टसाध्य होता है ॥ ४ ॥

शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥ ५ ॥

वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्।

(सु. उ. ५९.८, ९।१)

शकृद्विघातज मूत्रकृच्छ्र

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च।

(सु. उ. ५९.६.२, १०।१)

अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥ ७ ॥

(सु. उ. ५६.१०।२)

मूत्रवाही स्रोतों में शल्य अथवा अभिघात से क्षत होने पर भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न होता है। इसमें वातिक मूत्रकृच्छ्र के समान लक्षण होता हो।

पुरीष का रोग रोकने से वायु विगुण होकर आध्मान, शूल तथा मूत्रावरोध कर देता है।

अश्मरी के कारण होने वाला अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र कहलाता है ॥ ५-७ ॥

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते।
सशुक्रं मूत्रयेत् कृच्छ्राद् वस्तिमेहनशूलवान् ॥ ८ ॥

जब दोषों द्वारा दूषित शुक्र मूत्रमार्ग में पहुँचता है, तब रोगी को शुक्र सहित कष्ट से मूत्रत्याग होता है तथा वस्ति एवं मेढ में पीड़ा होती है ॥ ८ ॥

मूत्रकृच्छ्रस्य वातजादिभेदेन लक्षणान्याह—तीव्रेत्यादि। सलिङ्गस्य समेढ्रस्य। सपिच्छं पिच्छिलम्। कृच्छ्रतमं कष्टसाध्यम्। कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रम्। मूत्रवाहिष्विति मूत्रवहस्रोतःसु। अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति अश्मरीहेत्विति लक्ष्यपदम्, तत्पूर्वमिति लक्षणपदम्, तत्पूर्वमश्मरीपूर्वकम् ॥ ३-८ ॥

सरोजव्याख्या—मूत्रकृच्छ्र का वातादि भेदानुसार लक्षण बतलाते हैं—तीव्रे-त्यादि। सलिङ्गस्य—लिङ्गयुक्त वस्ति में भारीपन एवं शोथ होता है। सपिच्छं—पिच्छिलयुक्त। कृच्छ्रतम्—कष्टसाध्य। कृच्छ्रं—मूत्रकृच्छ्र। मूत्रवाहिषु—मूत्रवाही स्रोतों में यह लक्षण पद है। तत्पूर्वम्—अश्मरीपूर्वक, अर्थात् अश्मरी से होने वाला मूत्रकृच्छ्र।

अश्मरी एवं शर्करा में भेद

अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसम्भवलक्षणे।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम॥ ९॥
पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता॥ १०॥
हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम्॥ ११॥
(सु. उ. ५९.११-१४)

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम्॥ १२॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम्॥ ३०॥

अश्मरी एवं शर्करा का निदान एवं लक्षण समान होता है, अब मेरे द्वारा लक्षण सुनो।

अश्मरी ही पित्त द्वारा पच्यमान, वायु द्वारा शोषित एवं कफ द्वारा आपस में जोड़ने वाली वस्तु के नष्ट हो जाने पर छोटे-छोटे कण में बिखर कर मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकलती है, इसको शर्करा कहते हैं।

इस अवस्था में हृदय प्रदेश में पीड़ा, कम्प, कुक्षिशूल, अग्निदौर्बल्य, मूर्च्छा तथा भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र होता है।

मूत्र वेग के साथ शर्करा निकल जाने पर तब तक वेदना शान्त रहती है, जब तक पुनः गुड़िका (शर्करा का बड़ा कण) मूत्रवह स्रोतस् के मुख में नहीं आ जाता।

मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरीशर्करयोः समानतामवान्तरभेदं चाह--अश्मरीत्यादि। अश्मरी शर्करा चैवेत्यनन्तरम् 'एते' इत्यध्याहार्य तुल्य-संभवलक्षणे इत्यनेन द्विवचनान्तेन संबधनीयम्, यथा--'तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी'--इत्यादिवत्। तुल्यः संभव उत्पत्तिकारणं लक्षणं च ययोस्ते तथा। 'तुल्ये संभवलक्षणे' इति पाठान्तरे स एवार्थः विशेषणं

विशेषः। तमेव विवृणोति--पच्यमानेत्यादि। कफसंधानं कफेनावयव-संश्लेषः, कफ एव वा संधानं कफसंधानं, संधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या। तेन पित्तपाकवातशोषौ संधानविमोक्षहेतुत्वेनोक्तौ। क्षरन्तीति वस्तितः चरके हि-'स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती' (च० चि० २६) इत्येवं पठितम्। कुक्षौ शूलमिति संबन्धः। तया शर्करयेति॥ ९-१२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्रकृच्छ्र-निदानं समाप्तम्॥ ३०॥

सरोज व्याख्या—मूत्रकृच्छ्र में कारणरूप बतलाये गये अश्मरी एवं शर्करा की समानता एवं विषमता बोधक लक्षण कहते हैं—अश्मरीत्यादि। अश्मरी एवं शर्करा चैव के आगे 'एते' यह पद जोड़कर 'तुल्यसम्भवे लक्षणे' में मिला देना चाहिए। जैसे 'तयोः जग्रहतुः पादान्' इत्यादि पद में राजा एवं राज्ञी दोनों एकवचन होते हुए भी 'जग्रहतुः'--इस द्विवचनान्त क्रिया से सम्बन्धित है, वैसे ही अश्मरी शर्करा च, ये दोनों तुल्यसम्भव लक्षण होते हैं—ऐसा समझ लेना चाहिए। संभव—उत्पत्तिकारण। तुल्य संभव (उत्पत्तिकारण) एवं लक्षण जिनके समान हों 'तुल्ये सम्भवलक्षणैः'—ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, इसका भी वही अर्थ होता है। विशेषणम्—परस्पर भेद को विशेष कहा जाता है। विशेषावस्था का वर्णन करते हैं—पच्यमानेत्यादि। कफ द्वारा छोटे-छोटे कणों के परस्पर जुड़े रहने को कफसन्धान कहते हैं अथवा वमन सन्धानभूत होता है, इसलिए कफसन्धान कहते हैं। सन्धीयते अनेन इति सन्धानम्। अर्थात् जिससे कोई द्रव्य आपस में जुड़ता है, उसे सन्धान कहते हैं।

इससे पित्तज पाक एवं वातज शोष सन्धान (संश्लेषण) को विमुक्त (टुकड़े-टुकड़े) करने में हेतु (कारण) कहा गया है। क्षरन्ती—वस्ति से क्षरण करता है। चरक में ऐसा ही कहा गया है—'स्यात् शर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती' (च. चि. २६) कुक्षौ शूलम्—शूल का कुक्षि से सम्बन्ध करके शर्करा से शूल होता है, ऐसा अर्थ करना चाहिए॥ ९-१२॥

मूत्रकृच्छ्रनिदान समाप्त॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

मूत्राघातनिदानम्

मूत्राघातसंख्या

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥ १ ॥

मूत्र आदि के वेग को रोकने से कुपित हुए दोष वातकुण्डलिका आदि तेरह प्रकार के मूत्राघातों को उत्पन्न करते है।

मूत्रविकारसाधर्म्यान्मूत्राघातानाह--जायन्त इत्यादि। मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेषः--मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्धः; मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान्, कृच्छ्रत्वमल्पमिति। मूत्रविघाताद्यैर्मूत्रवेगविधारणादिभिः, आद्यशब्देन पुरीषशुक्रवेगविघातादीनां रूक्षाशनादीनां च ग्रहणम्। वातकुण्डलिकादयस्त्रयोदशेति संबन्धः ॥ १ ॥

सरोज व्याख्या—मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात दोनों में मूत्रविकारजन्य साधर्म्य होने से मूत्रकृच्छ्र के पश्चात् मूत्राघातसम्बन्धी रोगों का वर्णन करते है—जायन्त इत्यादि। मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात में यह विशेषता (भेद) है कि मूत्रकृच्छ्र में मूत्रत्याग के समय ईषद् विबन्ध (कम अवरोध) किन्तु कष्ट अधिक होता है, जबकि मूत्राघात में मूत्र का अवरोध विशेष किन्तु कष्ट अल्प होता है। मूत्रविघाताद्यैः—मूत्र के वेग विधारण से, आद्यशब्द से मल तथा शुक्र वेगविधारण एवं रूक्ष आहार-विहार ग्रहण करना चाहिए। वातकुण्डलिकादयः—वातकुण्डलिका आदि तेरह प्रकार का मूत्राघात होता है।

मूत्राघात

मूत्रविबन्ध			मूत्रनाश
१-वातकुण्डलिका २-वातवस्ति ३-मूत्रोत्सर्ग	Mechanical Urinary Obstruction		
४-मूत्रजठर	Distended Bladder	Atonia of Bladder	
५-मूत्रातीत ६-वस्तिकुण्डल	In continence of Urine		

७-अष्ठीला	Enlarged Prostate	] Bladder Neck Obstruction
८-मूत्रग्रन्थि	Stone Obstructing the Bladder Neck	
९-उष्णवात	Urinary Infection	

१०-मूत्रशुक्र] Stagnation of Semen

११-विड्विघात] Retention of Urine Due to Severe Costipation or Rectovesical Fistulla

१२-मूत्रसाद (Oliguria)

१३-मूत्रक्षय (Anuria)

सम्प्राप्तिचक्र--

वेगावरोध
|
वातप्रधान दोषप्रकोप
|
मूत्राघात

दोषदूष्य अधिष्ठान—

दोष-त्रिदोष, वातप्रधान
दूष्य-मूत्र
अधिष्ठान-वस्ति (Urinary Tract) ।

१. वातकुण्डलिका

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्वस्तौ सवेदनः ।
मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं सम्प्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणाम् ॥ ३ ॥
(सु० उ० ५८.५-६)

रूक्षता अथवा वेगों को रोकने से विगुण (दुष्ट) वस्तिगत वायु मूत्र के साथ मिलकर पीड़ा सहित कुण्डलाकार रूप में घूमने लगता है। इसमें मूत्र थोड़ा-थोड़ा वेदना के साथ निकलता है। इस दारुण व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं ॥ २-३ ॥

वातकुण्डलिकामाह—रौक्ष्यादित्यादि । आविश्येत्यावृत्य ; 'आविध्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः । चरति गच्छति । विगुणः कुपितः । कुण्डलीकृत इति वात्यावद्धस्तावेव भ्रमंस्तिष्ठतीति ॥ २-३ ॥

सरोज व्याख्या—वातकुण्डलिका का वर्णन करते हैं--रौक्ष्यादित्यादि। आविश्य--मूत्र को आवृत्त करता है। 'आविध्य' पाठान्तर का भी यही अर्थ होता है। चरति—भ्रमण या गमन करता है। विगुणः—कुपित। कुण्डलीकृत इति वात्या—वायु वस्तिप्रदेश में कुण्डलीकृत होकर चक्कर करता हुआ स्थित रहता है। इस अवस्था को Spasmodic Stricture कहते हैं।

२. अष्ठीला

आध्मापयन्वस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम्॥ ४॥

वायु वस्ति एवं गुदा के मार्ग को अवरुद्ध कर उनमें आध्मान उत्पन्न करते हुए चलनसील उभरी हुई तथा अतिव्यथायुक्त अष्ठीला ग्रन्थि को उत्पन्न करता है। इससे मूत्र एवं मल मार्ग में अवरोध होता है॥ ४॥

अष्ठीलामाह—आध्मापयन्नित्यादि। रुद्ध्वेति वस्तिगुदमेव। अष्ठीला-तुल्यत्वादष्ठीला, सा च वातव्याधावुक्ता॥ ४॥

सरोज व्याख्या—अष्ठीला का लक्षण बतलाते हैं—आध्मापयन्नित्यादि। रुद्ध्वेति--वस्ति एवं गुदा मार्ग को अवरुद्ध कर। वातव्याधि (२२।७०-७१) में बतायी गई वातष्ठीला के तुल्य होने से इसे भी अष्ठीला कहते है। इसे Enlarged Prostate कह सकते हैं॥ ४॥

३. वातवस्ति

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः॥ ५॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः।
वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः॥ ६॥

(सु० उ० ५८.९-१०)

जो मूर्ख मनुष्य मूत्र के वेग को रोकता है, वस्ति के मुख का वस्तिगत वायु उसके वस्ति के मुख में अवरोध उत्पन्न कर देता है। इससे मूत्र रुक जाता है तथा वस्ति एवं कुक्षि में पीड़ा होती है। इस कृच्छ्रसाध्य व्याधि को वातवस्ति कहते हैं॥ ५-६॥

वातवस्तिमाह—वेगमित्यादि। वस्तिकुक्षिनिपीडित इति वस्तौ कुक्षौ च निपीडितः संपिण्डितो वायुरिति संबन्धः, 'वस्तकुक्षि निपीडयन्' इति पाठान्तरे वस्तिकुक्ष्यो रुजाकर इति॥ ५-६॥

सरोजव्याख्या--वातवस्ति के लक्षण बतलाते हैं--वेगमित्यादि। वस्तिकुक्षिनिपीडितः--वस्ति एवं कुक्षि में निपीडित हुआ वायु। 'वस्तिकुक्षी निपीडयन्'--इस पाठान्तर का अभिप्राय है—प्रकुपित वायु वस्ति एवं कुक्षि में पीड़ा करता हुआ। इसे पूर्णमूत्रावरोध (Retention of Urine) कहते हैं।। ५-६ ॥

४. मूत्रातीत

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥ ७॥

चिरकाल तक मूत्र को धारण करने से वह वेगपूर्वक नहीं निकलता। यदि निकलता है, तो बहुत धीरे-धीरे। इसे 'मूत्रातीत' कहा जाता है॥ ७॥

मूत्रातीतमाह—चिरमित्यादि। त्वरया न प्रवर्तत इति मूत्रमित्यर्थः। मेहमानस्य मूत्रं त्यजतः। वहमानस्य' इति पाठान्तरं सुगमम्॥ ७॥

सरोजव्याख्या—मूत्रातीत का लक्षण बतलाते हैं—चिरमित्यादि। त्वरया न प्रवर्तते—देर तक मूत्र धारण करने पर मूत्रोत्सर्ग करते समय मूत्र शीघ्र नहीं निकलता। मेहमानस्य—मूत्रोत्सर्ग करने पर वह धीरे-धीरे होता है। 'वहमानस्य' इस पाठान्तर का भी यही अर्थ होता है। इसे अपूर्ण मूत्रावरोध (Partial Retention of Urine) कहते हैं॥ ७॥

५. मूत्रजठर

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम्॥ ८॥
नाभेरधस्तदाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम्॥ ९॥

मूत्र का वेग रोकने से उसके उदावर्त के कारण कुपित अपान वायु उदर को अतिशय रूप से पूर्ण कर देता है, जिससे नाभि के नीचे तीव्र वेदना एवं आध्मान हो जाता है। वस्ति के अधोभाग में अवरोध उत्पन्न करने वाले इस रोग को 'मूत्रजठर' कहा जाता है।। ८-९॥

मूत्रजठरमाह—मूत्रस्य वेग इत्यादि। तदुदावर्तहेतुक इति मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिमित्तः अधोवस्तिनिरोधनमिति वस्तेरधोभागे विबन्धकारकम्॥ ८-९॥

सरोज व्याख्या—मूत्रजठर का वर्णन करते हैं—मूत्रस्य वेग इत्यादि। तदुदावर्तहेतुकः—मूत्र का वेग धारण करने से उत्पन्न उदावर्त के कारण। अधोवस्तेः

निरोधनम्—वस्ति के अधोभाग में विबन्ध करता है। यह Distended Urinary Bladder का वर्णन है ॥ ८-९ ॥

६. मूत्रोत्सङ्ग

वस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥ ११ ॥
(सु० उ० ५८)

मूत्रत्याग करते समय मूत्र प्रवृत्त होकर भी वस्ति, शिश्ननाल (Urethra) अथवा शिश्नमणि (Glans Penis) में आता हुआ रुक जाय, या जोर लगाने पर रक्तसहित मूत्र थोड़ा-थोड़ा पीड़ायुक्त अथवा पीड़ारहित धीरे-धीरे निकलता है, इस रोग को 'मूत्रोत्सङ्ग' कहते हैं। यह रोग वायु की विकृति के कारण होता है ॥ १०-११ ॥

मूत्रोत्सङ्गमाह—वस्तावित्यादि। नाले मेढ्रे मणौ मेढ्राग्रे। प्रवृत्तं सज्जेतेति संसक्तं सन्न प्रवर्तते। सरक्तं वा प्रवाहत इति प्रवाहणकुपितवायुना वस्त्यादिभेदजनितरक्तयुक्तं मूत्रं प्रवर्तते ॥ १०-११ ॥

सरोज व्याख्या—मूत्रोत्सङ्ग का लक्षण कहते हैं—वस्तावित्यादि। नाल शब्द से शिश्नगत मूत्रनलिका (Urethra) एवं मणि से शिश्न का अग्रभाग (Glans Penis) समझना चाहिए। प्रवृत्तं सज्जेत—मूत्रोत्सर्ग की इच्छा होने पर मूत्र रुक जाता है। सरक्तं वा प्रवाहतः—प्रवाहण करने पर प्रकुपित वायु द्वारा वस्तिभेदजनित रक्तयुक्त मूत्र निकलता है। ऐसा Stricture of Urethra में मिलता है ॥ १०-११ ॥

७. मूत्रक्षय

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥ १२ ॥
(सु० उ० ५८.१७)

रूक्ष एवं क्लान्त (श्रान्त) शरीर वाले व्यक्ति में वस्तिस्थित पित्त एवं वायु होकर मूत्र का क्षय (मूत्रनाश), व्यथा एवं दाह कर देते हैं। इसे मूत्रक्षय कहा जाता है।

तदाह्वयमिति मूत्रक्षयाख्यम्, कारणे कार्योपचारात् ॥ १२ ॥

सरोजव्याख्या--मूत्रक्षय का वर्णन करते हैं--तदाह्वयमिति। कारण में कार्योपचार से इस रोग को मूत्रक्षय कहा जाता है। यह Suppression of Urine की स्थिति है ॥ १२ ॥

८. मूत्रग्रन्थि

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥ १३ ॥
(अ० हृ० नि० ९.३१)

वस्तिमुख के अन्दर गोल, स्थिर (अचल), अल्प (लघु आमलकाकार) अश्मरी के समान तथा पीड़ा देने वाली ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है, इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं ॥ १३ ॥

मूत्रग्रन्थिमा—

मूत्रग्रन्थिमाह—अन्तरित्यादि। अन्तर्वस्तिमुखे वस्तिमुखस्याभ्यन्तरे। ग्रन्थिर्गुडकाकारः। ननु, स्थानवेदनाकारणानामभिन्नत्वादश्मर्या सह को भेदः? उच्यते; अश्मर्या पित्तादिकं संहन्यते, अत्र तु रक्तमेव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे--'रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्। अश्मरीसमशूलं तं रक्त (मूत्र) ग्रन्थिं प्रचक्षते'॥ इति। विशेषज्ञानं तु कुत इति चेत्? अश्मरीपूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे बस्तसगन्धत्वादेर्भावाभावाभ्याम् ॥ १३ ॥

सरोजव्याख्या--मूत्रग्रन्थि का वर्णन करते है--अन्तरित्यादि। अन्तर्वस्तिमुखे-वस्तिमुख के अन्दर। ग्रन्थि--गोलाकार ग्रन्थि बन जाती है। अब शङ्का होती है कि स्थान, वेदना एवं कारणों की समानता होने पर अश्मरी एवं मूत्रग्रन्थि में क्या अन्तर है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अश्मरी में पित्तादि का संघात होता है और मूल ग्रन्थि में रक्तसंघात होता है। तन्त्रान्तर में कहा गया है--

"रक्तं वातकफाद्दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्।
ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ॥
अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते"।

अर्थात् वात तथा कफ से दूषित रक्त वस्ति द्वार में आकर दारुण ग्रन्थि को उत्पन्न करता है। ग्रन्थि के द्वारा मूत्रमार्ग के रुक जाने से कठिनाई से मूत्रोत्सर्ग होता है तथा अश्मरी होने के समान पीड़ा होती है। इसे रक्तग्रन्थि कहा जाता है। इन दोनों के सापेक्ष निदान में अश्मरी के पूर्वरूप में मूत्र में बकरे के समान गन्ध की उपस्थिति होती है और मूत्रग्रन्थि में नहीं होती है।

९. मूत्रशुक्र

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥ १४ ॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ।
(अ० हृ० नि० ९.३२-३३)

मूत्र का वेग रहने पर स्त्री के साथ मैथुन करने पर मनुष्य का शुक्र वायु दूषित एवं अपने स्थान से च्युत होकर वह मत्रत्याग के पहले या पश्चात् प्रवर्तित होता है, जिससे मूत्र भस्मोदक के समान (राख मिले पानी के समान श्वेत) होता हैं, इसे मूत्रशुक्र कहते है ॥

मूत्रशुक्रमाह—मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य मूत्रवेगितस्य । स्थानाच्च्युतं स्वस्थानाद् भ्रष्टं शुक्रम् ॥ १४ ॥

सरोज व्याख्या—मूत्रशुक्र का वर्णन करते है—मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य—मूत्रवेगयुक्त मनुष्य । स्थानात् च्युतम्-अपने स्थान शुक्राशय से स्खलित हुआ शुक्र यह Dysuria and Uninary obstruction due to semenal clots and phosphate sendiments की स्थिति है ॥

१०. उष्णवात

व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥१५॥
वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत् स्रावयेदधः ।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥
कृच्छ्रात् पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम् ।
(सु० उ० ५८. २१-२३)

अधिक व्यायाम, पैदल चलने तथा धूप लगने से प्रकुपित वातयुक्त पित्त वस्ति में पहुँचकर वस्ति, मेढ्र एवं गुदा में दाह उत्पन्न करता है और हरिद्रावर्ण अथवा रक्तमिश्रित मूत्र अथवा केवल रक्त का ही बहुत कष्ट से बार-बार स्राव होता है । इसे 'उष्णवात' कहा जाता है ।

उष्णवातमाह--व्यायामेत्यादि । व्यायामाद्विरोधिसौम्यधातुक्षयात्तेजोवृद्धया पित्तवृद्धिः । अनिलान्वितमनिलसंयुक्तम् । 'अनिलावृत्तम्' इति पाठान्तरं सुगमम् । सरक्तमोषल्लोहितम् ॥

सरोज व्याख्या—उष्णवात का वर्णन करते हैं-व्यायामेत्यादि । व्यायामाद्—अधिक व्यायाम से सौम्य धातु का क्षय एवं तेज धातु की वृद्धि होने से पित्त की वृद्धि हो जाती है । अनिलान्वितम्—वातसहित पित्त । अनिलावृत्तं--यह पाठान्तर आसान है । सरक्तम्--ईषद् लोहित वर्ण । यह स्थिति पूयमेह (Gonorrhoea) में होती है ।

११. मूत्रसाद

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत् ।
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत् ॥ १८ ॥
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।
(अ० हृ० नि० ९.३८-२९)

जब वस्तिस्थित केवल पित्त या कफ अथवा दोनों प्रकुपित वायु के द्वारा गाढ़े हो जाते हैं, तब मूत्र कष्ट से पीला, श्वेत अथवा रक्तवर्ण का, घना तथा दाहयुक्त, गोरोचना या शंखचूर्ण के वर्ण का शुष्क (अल्प) तथा समस्त दोषों के वर्ण के समान निकलता है, इस रोग को 'मूत्रसाद' कहा जाता है ।

मूत्रसादमाह—पित्तमित्यादि । संहन्येते स्त्यानीक्रियेते । शुष्कमल्पं तन्मूत्रं पित्तेन रोचनाभं कफेन शङ्खचूर्णाभं, समस्तवर्णमुक्तसकलवर्णं सन्निपातात् ॥ १७-१८ ॥

सरोज व्याख्या- मूत्रसाद का वर्णन करते हैं—पित्तमित्यादि । संहन्येते— गाढ़ा किया जाता है । शुष्क—स्वल्प । ऐसा मूत्र पित्त से गोरोचन के समान, कफ से शंखचूर्ण के समान तथा सन्निपात से समस्त वर्ण वाला होता है । इसे सान्द्र एवं अल्पमूत्रता (Concentrated and Scanty Urination) कह सकते हैं ।

१२. विड्विघात

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ १९ ॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।
विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥२०॥
(अ० हृ० नि० ९३, ३।२, ३४)

रूक्ष एवं दुर्बल व्यक्ति का मल जब वायु से उदावृत्त (विलोम) होकर मूत्रवह स्रोतस में पहुँच जाता है, तो रोगी मल से मिश्रित अथवा मल से युक्त गन्ध वाले मूत्र का कष्ट से त्याग करता है । इसे 'विड्विघात' कहा जाता है ।

विड्विघातमाह—रूक्षेत्यादि । अनुपद्येत प्राप्नुयात् । विड्गन्धमित्यत्र वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥

सरोज व्याख्या—विड्विघात का वर्णन करते हैं-रूक्षेत्यादि । अनुपद्येत-प्राप्त होने पर । विड्गन्धम्-यहाँ 'वा' शब्द का प्रयोग विकल्प अर्थ में किया गया है । इसे Rectovesical Fistulla कह सकते हैं ।

१२. वस्तिकुण्डल

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात् प्रपीडनात् ।
स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥२१॥

शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ २२ ॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ २३ ॥

तेज गति से चलना, उछल कूद, परिश्रम, अभिघात एवं दबाव पड़ने से वस्ति अपने स्थान से इधर-उधर हटकर गर्भ के समान स्थूल हो जाती है, उसमें शूल स्पन्दन एवं दाह होता है। विन्दु-विन्दु मूत्र भी निकलता है। वस्ति को दवाने से स्तम्भन एवं जकड़ाहट के साथ उसमें से मूत्रधारा निकलती है। यह शस्त्र एवं विष के समान भयङ्कर वातप्रधान व्याधि 'वस्तिकुण्डल' है। साधारण वैद्य इसकी चिकित्सा नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

वस्तिकुण्डलमाह—द्रुतेत्यादि। लङ्घनमुत्पतनम्। उद्वृत्तः स्वस्थानादूर्ध्वं गतः। गर्भवदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गतापत्यवत्; एतेन वस्तिपुटस्य पार्श्वगमनं दर्शितम्। पीडित इति नाभेरधः। उद्वेष्टनार्तिरुद्वेष्टनरूपाऽर्तिः। शस्त्रविषोपम् शस्त्रविषसदृशमिति विभिन्नार्थसूचनार्थं प्रसिद्धानुभवोपदर्शनार्थम् ॥ २१-२३ ॥

सरोज व्याख्या—वस्तिकुण्डल का वर्णन करते हैं-द्रुतेत्यादि। लङ्घनम्-उछलना कूदना। उद्वृत्तः--अपने स्थान से हटकर ऊपर की ओर गया हुआ। गर्भवत्-गर्भिणी के उदर में उठे हुए गर्भ के समान, इससे मूत्राशय का एक ओर पार्श्व में उठा हुआ दृष्टिगोचर होता है। पीड़ितः-नाभि के नीचे दवाने से मूत्र निकलता है। उद्वेष्टनार्तिः—ऐठन के समान व्यथा होती है। शस्त्रविषोपम्-शस्त्र एवं विष के समान, यह विभिन्नार्थ सूचनार्थ सथा प्रसिद्ध अनुभव बताने के लिये हैं। यह मूत्रातीत के समान In continence with overflow of urine की स्थिति है ॥

वस्तिकुण्डल के दोषों का अनुबन्धन

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥ २४ ॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

यदि वस्तिकुण्डल में पित्त का अनुबन्धन होता है, तो दाह, शूल तथा मूत्र में विवर्णता हो जाती है। कफ का अनुबन्धन होने पर शरीर में भारीपन व शोथ हो जाता है तथा मूत्र स्निग्ध, गाढ़ा एवं सफेद होता है।

वातस्यैव दोषान्तरानुबन्धिनो लक्षणमाह—श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्निति बोद्धव्यम् ॥ २४ ॥

सरोज व्याख्या—वस्तिकुण्डल में दोषान्तरानुबन्धन का वर्णन करते हैं—तस्मिन्नित्यादि । श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्—कफयुक्त वस्तिकुण्डल में ये लक्षण मिलते हैं ॥

वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता

श्लेष्मरुद्धबिलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ।
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥ २५ ॥

श्लेष्मा से मूत्रमार्ग अवरुद्ध होने पर एवं पित्त का प्राबल्य होने पर यह असाध्य होता है, किन्तु मूत्रमार्ग अवरुद्ध न होने पर या कुण्डलीकृत न होने पर साध्य होता है ।

तस्यैव साध्यत्वासाध्यत्वमाह—श्लेष्परुद्धबिल इत्यादि । बिलं वस्तिमुखशुषिरम् । पित्तोदीर्ण उपचितपित्तः, स एवाविभ्रान्तबिलोऽनावृतबिलः । कफेन कुण्डलीकृतोऽसाध्य इति बोध्यम् । अकुण्डलीकृतस्तु साध्यत्वेनोक्तः ॥ २५ ॥

सरोज व्याख्या—वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता बतलाते है—श्लेष्मरुद्धबिल इत्यादि । बिल शब्द से सुषिर वस्तिमुख समझना चाहिए । पित्तोदीर्णः—जिसमें बस्ति अत्यधिक बढ़ गया हो एवं वह भी जिसमें वस्ति का मुख खुला हो । कफेन—कफ से कुण्डलीकृत वस्ति असाध्य होती है । अकुण्डलीकृत वस्ति साध्य होती है ।

कुण्डलीभूत वस्ति का लक्षण

स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २६ ॥

श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥ ३१ ॥

बस्ति के कुण्डलीभूत होने पर प्यास, मूर्च्छा तथा श्वास के लक्षण होते हैं ॥२६॥

कुण्डलीभूतस्यैव लिङ्गमाह—स्यादित्यादि । एतौ विड्घातबस्तिकुण्डलौ सुश्रुतेन न पठितौ, तेन हि मूत्रोदकसादमेव द्विधा पठित्वा द्वादश मूत्राघाता इत्युक्तम्, सर्वानभिधानं सर्वानभिधानं तु पराधिकारत्वेनेति मन्तव्यम् ॥२६॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥

सरोज व्याख्या—कुण्डलीभूत वस्ति का लक्षण बतलाते हैं—स्यादित्यादि । एतौ—विड्विघात एवं वस्तिकुण्डल इन दोनों का सुश्रुत ने उल्लेख नहीं किया । सुश्रुत ने 'मूत्रोदकसाद' को दो प्रकार का मानकर बारह प्रकार का मूत्राघात बतलाया है । पराधिकार होने से सब अभिधान नहीं बतलाया गया है, ऐसा जानना चाहिए ।

मूत्राघातनिदान समाप्त ॥

⊙

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अश्मरीनिदानम्

अश्मरीभेद

वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥

अश्मरी वात, पित्त, एवं कफ से तीन प्रकार की एवं चौथी शुक्र द्वारा उत्पन्न होती है। प्रायः सभी अश्मरियाँ कफाश्रित होती है। ये यमराज के समान कष्टदायक होती है ॥ १ ॥

अश्मरी की सम्प्राप्ति

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुकं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ २ ॥
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः,

(च० चि० २६.३६)

वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त या कफ को वायु जब सुखा देता है, तो गाय के पित्ताशय में पित्त के सूखने से गोरोचन के समान क्रमशः अश्मरी की उत्पत्ति होती है। सभी अश्मरियाँ एक दोष से उत्पन्न नहीं होतीं ॥ २ ॥

मूत्ररोधित्वसाधर्म्यादश्मरीमाह—वातेत्यादि। श्लेष्माश्रया इति श्लेष्मसमवायिकारणाः, शुक्रजां विना; तत्र शुक्रस्यैव समवायिकारणत्वात्। तथा च दृढबलः—'विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रम्' (च० चि० २६) इत्यादि, एतच्च सामान्योक्तमपि विशेषेण संबध्यते ॥ यथा--हल्ङ्यादिसूत्रे 'दीर्घात्' इति विशेषणं ङ्याब्भ्यां संवध्यते, नतु हला। अत एवात्र प्रायोग्रहणं कृतवान्। अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात्। प्रायःशब्दश्चात्र विशेषार्थः। यमोपमा इति असति चिकित्सितेऽवश्यमेव मारकत्वात्। विशोषयेदित्यादि। पित्तेष्विवेति वातशोषितेषु। नैकदोषाश्रया इति त्रिदोषजाः, उद्गतदोषेण व्यपदेशः ॥ १-२ ॥

सरोजव्याख्या—अश्मरी में मूत्राघात के समान मूत्रावरोध होने से मूत्राघात के पश्चात् अश्मरी रोग को बतलाते हैं—वातेत्यादि। श्लेष्माश्रया—कफ इसका समवायिकारण होता है। जैसाकि आचार्य दृढ़बल कहते है—'विशोषयेद् वस्तिगतं

सशुक्र' (च० चि० २६) इत्यादि। यह सामान्य रूप से बतलाया गया है, फिर भी इसका सम्बन्ध विशेष रूप से कफ से होता है। जैसे 'हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्' सूत्र में दीर्घात् का सम्बन्ध 'ङी' और 'आप' से रहता है न कि 'हल्' से। अतएव यहाँ 'प्रायः श्लेष्माश्रया' सर्वाः' इत्यादि श्लोक से प्रायः को लेना चाहिए। अन्य विद्वान् शुक्राश्मरी में भी कफ को कारण मानते हैं, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं दिखलाई पड़ता। यहाँ पर प्रायः शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है।

यमोपमा—यदि समय से चिकित्सा नहीं की जाय, तो अवश्य ही मारक होता है। पित्तेष्विवेति—गोपित्त के वायु के द्वारा सुखने के समान कफ के सुखने पर अश्मरी बन जाती है। नैकदोषाश्रयाः—अश्मरी केवल एक दोष आश्रित नहीं होती, बल्कि त्रिदोषज होती है। जिस दोष को अधिकता होती है, उसी दोष के अनुसार उसका नामकरण हो जाता है!

सम्प्राप्ति

निदानसेवन—वातप्रधान त्रिदोषप्रकोप
|
मूत्रवह स्रोतस् में स्थानसंश्रय
|
मूत्रघनत्व वृद्धि
|
अश्मरी रोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान

दोष--वातप्रधान त्रिदोष
दूष्य--मूत्र
स्रोतस्--मूत्रवह स्रोतस्
अधिष्ठान--वस्ति, वृक्क, गवीनी

रोग--पक्वाशयोत्थ

पूर्वरूप

अथासां पूर्वलक्षणम्।
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्॥ ३॥
मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः।
(अ० हृ० नि ९. ७-८)

वस्ति का आध्मान, उसके समीपस्थ भागों में अत्यधिक वेदना, मूत्र में बकरे के समान गन्ध होना, मूत्रकृच्छ्रता, ज्वर तथा अरुचि अश्मरी रोग का पूर्वरूप होता है।

पूर्वरूपमाह—अथेत्यादि। बस्तसगन्धत्वं बस्तसमानगन्धत्वम्॥ ३॥

सरोजव्याख्या--अश्मरी का पूर्वरूप बतलाते हैं--अथेत्यादि। वस्तगन्धत्वम्-मूत्र में बकरे के समान गन्ध होती है।

सामान्य लक्षण

सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीवस्तिमूर्धसु ॥ ४ ॥
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥
तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत्।
(अ० हृ० नि० ९.९,१०)

नाभि सेवनी (Perineal Raphe) एवं वस्तिशिर में वेदना होती है। अश्मरी के द्वारा मूत्र मार्ग अवरुद्ध होने पर मूत्र कई धाराओं में निकलता है। मूत्र मार्ग से अश्मरी के हट जाने पर गोमेद के समान एवं स्वच्छ मूत्र आसानी से प्रवृत्त होता है। अश्मरी के क्षोभ से क्षत होने पर मूत्र में रक्त आने लगता है और इसके साथ अत्यन्त वेदना होती है ॥ ४-५ ॥

तासां सामान्यलक्षणमाह--सामान्येत्यादि। रुक् शूलम्, बस्तिमूर्धा नाभेरधोदेशः। विशीर्णधारं सविच्छेदधारम्। तया अश्मर्या। मार्गो मूत्रवाहि स्रोतः। तद्व्यपायाद्वायुना कदाचिदश्मरीकृतमार्गरोधव्यपगमात्। मेहेत् मूत्रयेत्। अच्छमनाविलम्। गोमेदकोपममिति। गोमेदको लोहितमणिस्तद्वर्णम्। तत्संक्षोभान्निरुद्धमार्गमूत्रेण पीडनादश्मरीसंपाताद्वा क्षते जाते मूत्रवहादौ, सास्रं सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते आयासात् प्रवाहणादिजनितक्लमात् ॥ ४-५ ॥

सरोज व्याख्या--अश्मरी के सामान्य लक्षण बतलाते हैं--सामान्येत्यादि। रुक-शूल। वस्तिमूर्धा--नाभि के नीचे वस्ति के ऊपरी भाग को वस्तिमूर्धा कहा जाता है। विशीर्णधारं--मूत्र की फटी हुई (अनेक) धाराएँ। तया--अश्मरी कारण। मार्गो--मूत्रवाहीस्रोत। कदाचित् वायु से मूत्रमार्ग में अवरूद्ध अश्मरी इधर-उधर होने पर। अच्छ-स्वच्छ, गोमेदकोपम--गोमेदक मणि के समान लोहित वर्ण का मूत्र सुखपूर्वक निकलता है। अश्मरी के क्षोभ से अथवा अश्मरी से अवरुद्ध मार्ग में मूत्र का दबाव पड़ने से मूत्र मार्ग में क्षत हो जाता है, जिससे रक्तयुक्त मूत्र निकलता है। आयासात्--प्रवाहण अर्थात् बलपूर्वक मूत्रोत्सर्ग करने पर रोगी क्लान्त (व्यथायुक्त) हो जाता है।

वातज अश्मरी

तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥
गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन्।

सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥ ७ ॥
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव ।
(अ० हृ० नि० ९. ११-१२)

वातज अश्मरी में अत्यन्त वेदना के कारण रोगी दाँत किटकिटाता है और काँपता है, वह मूत्रेन्द्रिय को पकड़े रहता है और कराहता हुआ नाभि को दबाता है। अपान वायु के साथ मल निकल आता है और बार-बार बूँद-बूँद मूत्रत्याग करता है। इस अश्मरी का वर्ण कुछ काला एवं लाल रग का होता है और इसमें काँटों के समान उभार होता है।

वातजामाह--तत्रेत्यादि। क्वणन् आर्तनादं सानिलं कुर्वन्। सशब्दं, मत्रप्रवृत्त्यर्थं कृतातिकुन्थनात्। मेहति बिन्दुश इति बिन्दुं ब्रिदुं मूत्रयति, 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्' इति अल्पार्थे शस्प्रत्ययः। श्यावेत्यादि। अश्मर्या आकारकथनम्; एतच्चाकृष्टानां प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्र-प्रमाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टासु दोषोचितचिकित्सार्थमित्यन्ये ॥

सरोजव्याख्या--वातज अश्मरी का लक्षण बतलाते हैं--तत्रेत्यादि। क्वणन्--रोगी आर्तनाद करता हुआ अपान वायु के साथ मल निकलता है। सशब्द--मूत्रप्रवृति के लिये कुन्थन करने से रोगी कराहता है। मेहति बिन्दुशः--बूँद-बूँद मूत्र आता है। विन्दुशः--यहाँ अल्प (थोड़ा) अर्थ में शस् प्रत्यय होता है। श्यावेत्यादि—श्यावादि से अश्मरी का आकार बतलाया गया है। शस्त्रप्रमाण को बतलाने के लिये श्यावादि कहा गया है तथा इन आकृतियों से दोष विनिश्चय होने पर चिकित्सा-हेतु इसका निर्देश किया वया है। ऐसा अन्य आचार्यों का कथन है ॥

पित्तज अश्मरी

पित्तेन दह्यते बस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताश्मरी ।
(अ० हृ० नि० ९.१३)

पित्तज अश्मरी के कारण वस्ति में दाह एवं पच्यमान व्रण के समान ताप होता है। इसका आकार भल्लातक की गुठली के समान होता है तथा इसका रंग लाल, पीला एवं काला होता है।

पित्तजामाह—पित्तेनेत्यादि। पच्यमानः क्षारेणेव। ऊष्मवान् उष्णस्पर्शः। असिता कृष्णा ॥

सरोजव्याख्या--पितज अश्मरी के लक्षण कहते हैं—पित्तेनेत्यादि। पच्यमान--क्षार से जलते हुए के समान, उष्मवान्—ऊष्णस्पर्श, असित—कृष्णवर्ण।

कफज अश्मरी

बस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥ ८ ॥
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता ।
(अ० हृ० नि० ६.१४)

कफज अश्मरी में वस्ति में तोद (सूई चभने की पीड़ा), शीतलता एवं भारीपन मालूम पड़ता है । यह अश्मरी बड़ी एवं चिकनी होती है । इसका रंग मधु के समान या श्वेत होता है ।

श्लेष्मजामाह—बस्तिरित्यादि । श्लक्ष्णा मसृणा । मधुवर्णा ईषत् पिङ्गलशुक्ला ॥ ९ ॥

सरोजव्याख्या--वस्तिरित्यादि । श्लक्ष्णा—चिकना, मधुवर्णा--कुछ पीला एवं श्वेत ।

साध्यता

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥ १० ॥
आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः ।
(अ० हृ० नि० ९.१५)

ये दोषज अश्मरियाँ बालकों को अधिक होती है । आश्रय (वस्तिस्थान) एवं उपचय (स्थूलता) की कमी के कारण शल्यक्रिया के द्वारा आसानी से पकड़ी एवं निकाली जा सकती हैं ॥

एता इति त्रिदोषजा बालानां स्युः, तेषां तन्निदानाभ्यासात् । भूयसा प्रायेण, तेन महतामपि त्रिदोषजा भवन्ति । तेषामेव बालानां ग्रहणाहरणे सुखा इति सम्बन्धः । आश्रयोपचयाल्पत्वादिति आश्रयो बस्तिः, उपचयः स्थौल्यम्, तयोरल्पत्वम्; तच्च तद्देहाल्पत्वात् । आहरणं पाटनादिपूर्वकमाकर्षणं, ग्रहणं तदर्थमेवाङ्गुलिभ्यां धारणम् । उक्तं हि सुश्रुते—'प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति' (सु० नि० ३) इति ॥ १० ॥

सरोजव्याख्या--एता इत्यादि--एता अर्थात् ये वातज, पित्तज, कफज अश्मरियाँ प्रायः बालकों को होती है; क्योंकि उनमें केवल दोष ही निदान (कारण) रूप से मिलते हैं, अर्थात् त्रिदोषज तीनों होता है, शुक्राश्मरी नहीं होता । तेषामेव--बालकों की अश्मरी ग्रहण (पकड़ने) एवं आहरण (बाहर निकलने) में सुविधा होती है; क्योंकि अश्मरी का आश्रय (वस्ति) छोटा होता है, अश्मरी छोटी होती

है। और बालकों का शरीर स्थूल नहीं होता है। आहरण—शस्त्र से चीरकर बाहर निकालना। ग्रहण—अङ्गुलियों से पकड़ना। जैसाकि सुश्रुत में कहा गया है—

"प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धमधुराहारप्रियत्वाद् विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च वस्ते। सुखग्रहणाहरणा भवन्ति।" (सु० नि० ३।११) इति।

अर्थात् प्रायः तीनों प्रकार की अश्मरियाँ दिन में शयन, समशन (हिताहित भोजन), अध्यशन (भोजन करने पर पुनः भोजन करना), शीत, स्निग्ध, गुरु, मधुर प्रिय होने से विशेष रूप से बालकों में होती है यथा बालकों की वस्ति तथा शरीर छोटा होने से उनमें मांस का उपचय अधिक न होने से उन अश्मरियों को आसानी से पकड़ा जा सकता है और निकाला जा सकता है ।। १७ ।।

शुक्राश्मरी

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ।। ११ ।।
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः ।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ।। १२ ।।
बस्तिरुङ्मूत्रकृच्छ्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी ।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ।। १३ ।।
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्,

(अ० हृ० नि० ९.१६-१८)

शुक्र का वेग धारण करने से वयस्कों में शुक्राश्मरी हो जाती है। स्थानच्युत शुक्र जब बाहर नहीं निकलता है, तो दोनों अण्डकोषों के मध्य में रुककर वायु द्वारा सुखा दिया जाने पर वह शुक्र अश्मरी के समान हो जाता है। इससे वस्ति में वेदना, मूत्रकृच्छ्र तथा अण्डकोषों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। अश्मरी के स्थान पर दबाने पर वह विलीन (अदृश्य) हो जाती है तथा रुका हुआ शुक्र मूत्रमार्ग द्वारा निकल जाता है।

शुक्राश्मरीमाह--शुक्रेत्यादि। तुशब्दोऽवधारणे; तेन महतामेव, ननु बालानां, तेषां वक्ष्यमाणसंप्राप्तेरभावात्; ननु शुक्राभावात्, अन्यथा षड्धातुकत्वं स्यात्। शुक्रधारणादुपस्थितशुक्रवेगस्य मैथुनाकरणात्। मुष्कयोरन्तरे 'मेढ्रेण सह' इति शेषः। सुश्रुते हि 'मेढ्रवृषणयोरन्तरे' (सु० नि० ३) इत्येवोक्तम्। मेढ्रवृषणमध्यगतबस्तिमुख इत्यर्थः, तत्रैव शुक्रवहस्रोतसो बस्तिमुखेन सह सम्बन्धात्। तथाभूतं शुक्रमेवाश्मरीति। बस्तिरुग्बस्ति-

शूलम्, मुष्कश्वयथुकारिणी वृषणयोः शोथकारिणी। तस्यां शुक्राश्मर्याम्। इति वर्तते। तुशब्दोऽवधारणे। अवकाशेऽस्मिन्निति मेढ्रवृषणयोरन्तरे। अस्मिन्नेव पीडिते सति विलीयते प्रविलयमापद्यत इत्यर्थः। अत एव सुश्रुतः--'पीडितमात्रे च तस्मिन्नेवावकाशे प्रविलयमापद्यते' (सु० नि० ३) इति॥ ११-१३॥

सरोज व्याख्या—शुक्राश्मरी का लक्षण कहते हैं—शुक्रेत्यादि। 'तु' शब्द यहाँ निश्चय का बोधक होता है, अतः निश्चित रूप से कहा जाता है कि शुक्राश्मरी वयस्कों को होता है, न कि व बालकों को; क्योंकि बालकों में यह कही जाने वाली सम्प्राप्ति का अभाव होता है। बच्चों में शुक्र का अभाव नहीं होता, यदि ऐसा होता तो, छः ही धातु होते।

शुक्रधारणात्—उपस्थित शुक्रवेग को मैथुन न करने से रोकने से। मुष्कयोरन्तरे—यहाँ 'मेढ्रेण सह' और जोड़ लेना चाहिए, क्योंकि सुश्रुत में मेढ्रवृषणयोरन्तरे (सु० नि० ३) ऐसा कहा गया है। लिङ्ग एवं वृषण के मध्यगत वस्तिमुख में। वहाँ पर शुक्रवाहि स्रोत का वस्तिमुख के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार अपने स्थान से च्युत (स्खलित) शुक्र वस्तिमुख में रुककर सूखने से शुक्राश्मरी कहा जाता है। वस्तिरुक्—वस्तिशूल, मुष्कश्वयथुकारिणी--वृषण में शोथ हो जाता है। तस्यां--उस शुक्राश्मरी में, एति—रहता है। तु-शब्द अवधारणार्थक होता है। अवकाशेऽस्मिन्—मेढ्र एवं वृषण के बीच अवकाश में। इस अवकाश को दबाने से वह विलीन हो जाता है। अतएव सुश्रुत ने कहा है--'पीडितमात्रे च तस्मिन्नेवावकाशे प्रविलयमापद्यते' (सु० नि० ३) इति।

शर्करा

अश्मर्येव च शर्करा।

(अ० हृ० नि० ९.१८)

अश्मरी को ही शर्करा कहते हैं। च—शब्द से सिकता लेना चाहिए।

कैसे अश्मरी शर्करा बनती है ?

अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे॥ १४॥
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते।

(अ० हृ० नि० ९.१९)

अश्मरी ही वायु के द्वारा टुकड़े-टुकड़े होकर वायु के अनुलोक होने पर मूत्र के साथ बाहर निकलता है और वायु के प्रतिलोभ होने पर वह रुक जाता है।

सैवावस्थाभेदादश्मरी शर्करा, पञ्चमी च भवतीत्याह--अश्मर्येव चेति। चकारात् सिकताऽपि भवतीति मन्तव्यम्। अत एव 'शर्करा सिकतान्विता' इति वक्ष्यति। शर्करासिकतयोश्च महत्त्वाल्पत्वाभ्यां भेदः॥

सरोजव्याख्या—यहा शंका होती है कि शर्करा को पाँचवीं अश्मरी क्यों न कहा गया? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—सैव, अर्थात् वह अश्मरी ही टूट-टूट कर शर्करा हो जाती है, न कि कोई पाँचवीं अश्मरी। इसी से 'अश्मर्येव च शर्करा' कहा गया है। च-कार से सिकता लेना चाहिए। इसी से शर्करा सिकता-न्विता—ऐसा आगे कहा गया है। शर्करा कुछ मोटी एवं सिकता बारीक होती है। यही इन दोनों में परस्पर अन्तर है।

शर्कराजन्य उपद्रव

मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्॥ १५॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम्।
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम्॥ १६॥
(सु० नि० ३. १६।२, १७)

वह शर्करा मूत्रवह स्रोतस् में अवरुद्ध होकर दौर्बल्य, सदन (ग्लानि), कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डुता, उष्णवात, तृष्णा, हृतपीड़ा (हृदयशूल) एवं वमन आदि उपद्रवों को करता है।

कथमश्मरी शर्करा भवतीत्याह—अणुश इत्यादि। अणुशोऽल्पशः। अत्रार्थे सुश्रुतः—'पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः। सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते' (सु० नि० अ० ६) इति। मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्तेति मूत्रमार्गगा सती संलग्नेत्यर्थः॥ १४-१६॥

सरोजव्याख्या--अश्मरी शर्करा कैसे बनती है? इसको बतलाते हैं—अणुशः इत्यादि। अणुशः--छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में बदल जाता है। शर्करा का लक्षण सुश्रुत ने बतलाया है--

पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः।
सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते॥ (सु० नि० ३।१४)

अर्थात् जब वायु अनुकूल होता है, तब अश्मरी टुकड़े-टुकड़े होकर मूत्र द्वारा बाहर निकलती है। वायु टुकड़े-टुकड़े करता है। इन बारीक टुकड़ों को ही शर्करा कहते हैं। इस तरह मूत्रमार्ग में पहुँच कर वहीं रुक जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

अश्मरी की असाध्यता

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम् ।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥ १७ ॥
(सु० सू० ३३. १२)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽश्मरीनिदानं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

जिस रोगी की नाभि एवं वृषण में शोथ आ गया हो, मूत्र का अवरोध हो, अत्यधिक वेदना हो और अश्मरी के साथ शर्करा एवं सिकता का अनुबन्ध हो, वह असाध्य होता है ॥ १७ ॥

असाध्यलक्षणमाह—प्रशूनेत्यादि । रुजातुरं शूलपीडितमित्यर्थः ॥ १७ ।

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्याया-
अश्मरीनिदानं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

सरोज व्याख्या—अश्मरी के असाध्य लक्षण कहते हैं—प्रशूनेत्यादि ॥ रुजातुरम्—अर्थात् शूल से पीडित रोगी।

अश्मरीनिदान समाप्त ॥

●


वाराणसेय संस्कृत संस्थान
वाराणसी

वाराणसेय संस्कृत संस्थान
सी २७/६४ जगतगंज, वाराणसी - २
दूरभाष - ४४१७०